प्रकाशक
संचालक,
क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

इस अंक का, मूल्य १५)

भारतीय साहित्य
वर्ष ५, अंक १-२

मुद्रक :
हरिकृष्ण कपूर
आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस,
आगरा।
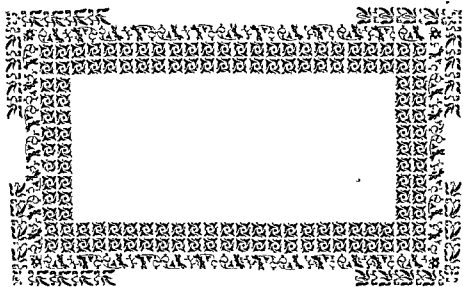
निवेदन

यह अभिनन्दन अंक हमारे विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर के प्रति हमारी श्रद्धा और कृतज्ञता का प्रतीक है। वे पिछली जनवरी, १९६१ ई० को कार्यमुक्त हुए हैं। उनके पाँच वर्षों के कार्यकाल में हमारे विद्यापीठ पर उनकी विशेष कृपा रही। यों विद्यापीठ की मूल भावना तो श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की थी, जो आगरा विश्वविद्यालय के तत्कालीन (जून १९५७ ई० तक) कुलपति थे और उसका शिलान्यास उत्तर प्रदेश के तत्कालीन गृह-मंत्री और अब भारत के स्वराष्ट्र-मंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने किया था, परन्तु उस नींव पर मुंशी जी की भव्य भावना को साकार रूप देने का श्रेय भटनागर साहब को ही है। यही नहीं, उन्होंने ही उसकी प्राण-प्रतिष्ठा भी की। केवल कार्यालय रूप में ही नहीं वरन् व्यक्तिगत रूप में भी वे हमारे विद्यापीठ के विकास में दत्तचित्त रहे। वे बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में ऐसे विषयों की शिक्षा तथा ऐसी पद्धतियों की व्यवस्था हो जैसी देश में अन्यत्र सुलभ नहीं है। तदनुसार उनके संरक्षण में हमने अपने विद्यापीठ में आधुनिक भाषाविज्ञान तथा भाषावैज्ञानिक प्रणालियों के प्रयोग द्वारा हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं और साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसंधान को एक नयी दिशा में प्रवर्तित किया, जिससे हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ सुलझ सकें और हम ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ सकें।

भटनागर साहब के प्रति समादर की भावना से प्रेरित होकर हमारे विद्यापीठ के प्राध्यापक-मंडल ने सर्व सम्मति से अपनी एक गोष्ठी में यह निर्णय किया कि उसके कार्यकाल की समाप्ति के अवसर पर उनके अभिनन्दनार्थ 'भारतीय साहित्य' का एक विशेषांक 'अभिनन्दन-ग्रंथ' के रूप में उनकी सेवा में प्रस्तुत किया जाय। हमें इस बात का संतोष है कि अपने उस निश्चय को हमलोग इतना कम समय रहते हुए भी पूरा कर सके हैं। इस ग्रंथ के द्वारा भटनागर साहब जैसे अनुभवी प्राध्यापक, सफल प्रशासक, सुविज्ञ विचारक और कर्मठ तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति का सम्मान करके हमारा विद्यापीठ स्वयं सम्मानित हो रहा है।

श्रद्धेय भटनागर साहब के शिष्यों, सहयोगियों और प्रेमियों की बड़ी विस्तीर्ण मंडली है। इस ग्रंथ के प्रकाशन में हमें उनमें सबका नहीं तो अधिक लोगों का सहयोग मिल सका है। उन सबके प्रति हम कृतज्ञ हैं। सबसे बड़े गौरव की

बात तो हमारे लिए यह है कि इसके लिए हमें पूज्यचरण राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद की शुभाशंसा प्राप्त हुई है, जो अपने देश के सर्वोच्च नागरिक और प्रथम राष्ट्रपति ही नहीं वरन् सच्चे अर्थ में समस्त जन-गण-मन के अधिनायक और इस युग के बड़े से बड़े महापुरुषों में अग्रगण्य हैं। हमें इसका भी परम आनन्द है कि उन्हीं के वरद हस्तों से द्वारा यह विनम्र समर्पण सम्पन्न हो रहा है। इस अवसर पर विद्यापीठ में आपका पदार्पण विश्वविद्यालय तथा हमारे लिए एक ऐतिहासिक घटना के रूप में स्मरणीय रहेगा और हमारी श्रद्धाभिभूत भारती मानस-मन्दिर में चिरकाल तक आपकी आरती उतारती रहेगी।

आगरा
१७-१-६१

विश्वनाथ प्रसाद

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद

अनुक्रमणिका

खण्ड १

अभिनन्दन और वन्दन

खण्ड २

आगरा

(साहित्य सस्कृति)

खण्ड ३

रचनामृत

चित्र-सूची

खण्ड १

अभिनन्दन और वन्दन

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

उपराष्ट्रपति
भारत
नई दिल्ली

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर को उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट कर रहे हैं। मैं उनकी दीर्घ आयु के लिए अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ।

वी० रामकृष्ण राव

राज्यपाल भवन
उत्तर प्रदेश।
२४ दिसम्बर, १९६०

मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, अपने त्रैमासिक "भारतीय साहित्य" का एक विशेषांक आगरा विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्ति के अवसर पर उसके उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर के अभिनन्दनार्थ प्रस्तुत कर रहा है। श्री भटनागर ने उत्तर प्रदेश में शिक्षा-प्रसार के लिए अत्यन्त मूल्यवान सेवाएँ की हैं। उपकुलपति के रूप में भी उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय के बहु-विध विकास के लिए अपनी पूरी शक्ति लगायी है, इस उपलक्ष्य में विश्वविद्यालय उनकी अमूल्य सेवाओं के प्रति सदा ऋणी रहेगा।

मुझे आशा है कि यह अभिनन्दन ग्रंथ उनकी प्रतिभा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करेगा। मैं उनके दीर्घ आयुष्य की कामना करता हूँ।

वी० वी० गिरि

भूतपूर्व राज्य पाल
उत्तर प्रदेश ।

मैं वस्तुतः बड़ा प्रसन्न हूँ कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर के मित्र एवं प्रशंसक उनकी शिक्षा सम्बन्धी दीर्घकालीन एवं योग्य सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन कर रहे हैं। जब मैं उत्तर प्रदेश का गवर्नर और आगरा विश्वविद्यालय का कुलपति हुआ तो श्री भटनागर से सम्पर्कित होने के कम अवसर मिले हैं, लेकिन जब भी मैं उनके सम्पर्क में रहा मैं उनके मानसिक और हार्दिक गुणों से प्रभावित हुए बिना न रहा तथा उनमें ऐसे समुचित दृष्टिकोणों और भावों को पाया जिनके द्वारा विश्वविद्यालयों का नियोजन और प्रशासन सम्भव है। डी० ए० वी० कॉलिज के आचार्य, उत्तर प्रदेश की माध्यमिक समिति में अर्थशास्त्र अध्ययन-समिति के संयोजक, उत्तरप्रदेश की अर्थशास्त्रीय परामर्श समिति तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सदस्य, इन विभिन्न दिशाओं में इनकी सेवाएँ हैं। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इनकी अभिरुचि तथा आल-इण्डिया इकॉनोमिक्स एण्ड लेबर कान्फ्रेंस में इनका मुख्य कार्य प्रत्येक के द्वारा स्तुत्य रहा। अतः मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ कि मित्रजन उनकी सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें सम्मानार्थ एक अभिनन्दन-ग्रंथ अपनी अभिलाषा के साथ भेंट कर रहे हैं।

श्रीप्रकाश

राज्यपाल
राजभवन
बम्बई ।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर को शिक्षा के क्षेत्र में उनकी बहुमूल्य सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। श्री भटनागर अत्यन्त सम्मानित प्रधानाचार्य रहे हैं और वे अब आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में सेवा कर रहे हैं।

वर्तमान युग में हमारे देश में शिक्षाधिकारियों के कार्य सरल नहीं हैं। श्री भटनागर के लिए यह कहना बड़ी श्रद्धांजलि नहीं है कि शिक्षा के हित साधन के लिए उत्कृष्ट प्रयासों की दीर्घ अवधि में इन्होंने सदा अपने सहकर्मियों से इच्छापूर्ण सहयोग तथा अपने विद्यार्थियों से सम्मान पाया है।

मैं श्री कालका प्रसाद भटनागर के सतत स्वास्थ्य, आनन्द तथा कर्मशीलता के लिए अपनी शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

गुरमुख निहाल सिंह

राज्यपाल
राजभवन
(राजस्थान) जयपुर

मैं श्री के० पी० भटनागर को, उनके मित्रों एवं प्रशंसकों द्वारा उनकी विशेषतः उत्तर-प्रदेश में दीर्घ एवं योग्यता पूर्ण शैक्षणिक सेवा के उपलक्ष्य में अभिनंदन ग्रंथ भेंट किये जाने के अवसर पर हार्दिक बधाई देता हूँ।

मैं श्री भटनागर से, इस शताब्दी के द्वितीय शतक में, उत्तर-प्रदेश माध्यमिक बोर्ड में अर्थशास्त्र के सह-परीक्षक के रूप में पहली बार परिचित हुआ। उस समय, मैं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र और राजनीति-विज्ञान का प्राध्यापक था और श्री के० पी० भटनागर डी० ए० वी० कॉलेज कानपुर में, जहाँ कि इन्होंने १६१० से लेकर १६५५ के अंत तक अपनी अनुपम निष्ठा और योग्यता से संस्था की सेवा की है, अर्थशास्त्र के प्राध्यापक थे। मुझे विगत पैंतीस वर्षों में श्री के० पी० भटनागर के निकट सम्पर्क में आने के कई अवसर मिले। गत पहली जनवरी १६५६ से श्री भटनागर आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति हैं और अपनी उसी पुरानी निष्ठा से अपने उच्च पद के उत्तरदायित्वों को सँभाल रहे हैं। उन्होंने अपने को एक समर्थ प्रशासक सिद्ध किया है और बड़ी कुशलता एवं निपुणता से एक ऐसे विश्वविद्यालय के कठिन कार्य-व्यापार की व्यवस्था की है जहाँ बहुत सख्या में, दूरस्थ और विभिन्न समस्याओं, स्तर और विशिष्ट महत्त्वाकांक्षाओं से पूर्ण मान्यता प्राप्त महाविद्यालय हैं।

मैं आशा और प्रार्थना करता हूँ कि श्री के० पी० भटनागर को आनेवाले अनेक वर्ष देखेंगे और वे राष्ट्र की शिक्षा के हितसाधनार्थ अपनी सेवा अविच्छिन्न रखेंगे।

एच० वी० पाटस्कर

राज्यपाल
राजभवन, भूपाल।
मध्य प्रदेश

गत चालीस वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में श्री के० पी० भटनागर ने जो महान् सेवाएँ की हैं, उनके विषय में जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। यह अत्यन्त आनन्द का विषय है कि उनके मित्र एवं प्रशंसक उन जैसे विद्वान और शिक्षाशास्त्री के सम्मानार्थ उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर रहे हैं।

मैं श्री भटनागर के दीर्घ जीवन की शुभ कामनाएँ करता हूँ ताकि शिक्षा के लिए वे अपनी सेवाएँ देते रहें।

एस० फजलअली

भूतपूर्व राज्यपाल
राजभवन
शिलोंग (असम)

शिक्षा, अर्थशास्त्र तथा तत्सम्बन्धी अन्य क्षेत्रों में मैं श्री भटनागर जी की सेवाओं से अवगत हूँ। इन क्षेत्रों में इन्होंने इतना आदर उपार्जित किया है कि जिनके बीच वे रहे हैं और कार्य किया है, वे उनको एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करके उनका सम्मान कर रहे हैं। मेरी शिक्षा अधिकांश रूप में प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई थी, जो उस समय वर्तमान उत्तर-प्रदेश का एक मात्र विश्वविद्यालय था, अतः मेरे लिए यह अति हर्ष का विषय है कि मैं श्री भटनागर को बधाई दूं, जो अतीत में प्रयाग विश्वविद्यालय से भी सम्बन्धित थे। मैं राष्ट्र की सेवार्थ उनकी दीर्घ कार्यशीलता की कामना करता हूँ। संकीर्ण भावना से ऊपर उठने की क्षमता रखने वाले और उदार दृष्टि वाले विशेषतः आप जैसे पुरुषों की राष्ट्र को आज पूर्वापेक्षा अधिक आवश्यकता है ताकि उठती हुई पीढ़ी को समुचित रूपेण प्रेरणा एवं पदनिर्देशन मिल सके।

विष्णुराम मेधी

राज्यपाल
राजभवन
मद्रास

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को उनके मित्र तथा प्रशंसक उनकी शिक्षा सम्बन्धी सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट कर रहे हैं। मैं इस पुण्य अवसर पर अपनी पुनीत सद्भावनाएँ भेजता हूँ।

वाई० एन० सुकथनकर

राज्यपाल
राजभवन कटक
उड़ीसा

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को उनकी दीर्घकालीन एवं योग्य सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। मैं इस अवसर पर श्री भटनागर को अपनी शुभ कामनाएँ भेजते हुए अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ।

क० मा० मुन्शी

भूतपूर्व राज्यपाल
उत्तर प्रदेश
नई दिल्ली

मुझे प्रसन्नता है कि श्री कालकाप्रसाद भटनागर को हिंदी विद्यापीठ अभिनन्दन ग्रंथ उन्हें भेंट कर रहा है। यह मेरा सौभाग्य रहा है कि मैंने उनकी मैत्री का अनेक वर्षों तक आनन्द उठाया है और मुझे उनके साथ कार्य करने का अवसर भी मिला था जब कि मैं आगरा विश्वविद्यालय का कुलपति था और वे उपकुलपति थे।

श्री भटनागर एक तेजस्वी शिक्षा-शास्त्री रहे हैं और अपने आज के पद के लिए डी० ए० वी० कॉलेज उनके सचेतन कार्य का ऋणी है। यद्यपि मैं उत्तर प्रदेश से दो वर्ष से दूर हूँ परन्तु मुझे विश्वास है कि श्री भटनागर के निर्देशन में आगरा विश्वविद्यालय और भी अधिक शक्ति सम्पन्न बना होगा।

भीमसेन सच्चर

राज्यपाल
राजभवन आंध्रप्रदेश
हैदराबाद

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के०पी० भटनागर की शिक्षा-क्षेत्र में दीर्घ एवं योग्य सेवाएं हैं। अतएव, उन्हें उनके मित्रों एवं प्रशंसकों द्वारा सम्मानार्थ एवं अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किये जाने का प्रस्ताव सर्वथा उपयुक्त है। इस प्रशंसनीय कार्य में सहयोग देते हुए मुझे हर्ष हो रहा है और मैं इसकी पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

वी० के० कृष्ण मेनन

प्रतिरक्षा मंत्री
नई दिल्ली

मुझे श्री के० पी० भटनागर जैसे गण्यमान्य उपकुलपति के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करने का सौभाग्य नहीं मिला है। फिर भी, मैं राष्ट्रनिर्माण तथा शिक्षा के लिए की गयी उनकी सेवाओं से परिचित हूँ। मुझे यह सोचकर प्रसन्नता होती है कि देश तथा शिक्षा के लिए उनकी सेवाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। मैं उनकी अविच्छिन्न सेवा-लग्न दीर्घ आयु की कामना करता हूँ।

हुमायूं कबीर

मंत्री
वैज्ञानिक अनुसंधान तथा सांस्कृतिक कार्य।
भारत
नई दिल्ली।

मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि श्री के० पी० भटनागर को, शिक्षा के क्षेत्र में उनकी दीर्घ तथा गण्यमान्य सेवाओं की अभिज्ञा में, एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। मैं उनसे आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में परिचित हूँ तथा उसके उन्नयन के लिए उन्होंने जिस उत्साह तथा लगन से काम किया है उससे मैं प्रभावित हुआ हूँ। देश की व्यावहारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने शिक्षा को लाभान्वित किया है तथा शिक्षकों की स्थिति एवं स्तर को उठाने के लिए वे प्रयत्नशील रहे हैं। सभी प्रकार के शैक्षणिक विकास का यही एक मात्र साधन है, क्योंकि योग्य शिक्षकों के अभाव में शिक्षा की न उन्नति हो सकती है, न सुधार। मुझे आशा है कि देश तथा शिक्षा को सेवाएँ अर्पित करने के लिए श्री के० पी० भटनागर दीर्घजीवी होंगे।

लाल बहादुर शास्त्री

वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री
भारत
नई दिल्ली,

श्री कालका प्रसाद जी का शिक्षा क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वह एक कर्मठ व्यक्ति हैं जिन्होंने जहाँ भी और जिस रूप में भी काम किया अपना विशेष प्रभाव डाला। उनकी सेवाएँ सदा स्मरण की जायगी। उनके दीर्घायु होने की शुभ कामना सहित।

के० एस० थिमैया

जनरल
मुख्य सैन्य शिविर
नई दिल्ली।

श्री के० पी० भटनागर को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किये जाने के उपलक्ष्य में, स्वागत-भाव सहित मुझे अपना सहयोग देते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है। शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ही लोग अपने सम्पूर्ण जीवन-काल को अर्पित करने का गर्व कर सकते हैं तथा उनमें श्री भटनागर का नाम अग्रगण्य है, यह जानकर मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। आशा करता हूँ उनकी उद्देश्य के प्रति तत्परता तथा इस देश की निरक्षरता के उन्मूलन में उनकी वास्तविक निष्ठा इस देश में अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय और आदर्श सिद्ध होगी।

मैं ऐसे विख्यात उपकुलपति के लिए, इसलिए कि उनसे देश को सेवा अधिकाधिक हो सके, बहुत बहुत वर्षों तक उनके सुखमय जीवन की कामना करता हूँ।

राजेश्वर दयाल

सुरक्षा सचिव
कांगो

मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता है कि के० पी० भटनागर को हिंदी विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय, उनके सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का सराहनीय कदम उठाया है। श्री भटनागर ने शिक्षा के क्षेत्र में जो महान सेवाएँ की हैं वे सबको ज्ञात और स्वीकार हैं।

श्री भटनागर केवल महान शिक्षा-शास्त्री ही नहीं अपितु मानव प्रकृति के बड़े पारखी भी हैं। शिक्षा का ध्येय केवल किताबी ज्ञान प्राप्त करना नहीं है अपितु मानव के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करना है। श्री भटनागर की व्यक्तिगत विशेषताएँ, चारित्रिक दृढ़ता, उदारता तथा पांडित्य केवल विद्यार्थियों के लिए ही प्रेरणा नहीं हैं अपितु उन व्यक्तियों के लिए भी हैं जो उनके सम्पर्क में आते हैं।

श्री भटनागर का क्षेत्र अब व्यापक हो गया है अतः देश की युवक-सतति के निर्माण में फलीभूत होने के लिए वे और अनेकों वर्ष जीवित रहें, यही कामना करता हूँ।

चंद्रभानु गुप्त

मुख्य मंत्री
उत्तर प्रदेश

मुझे आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को देश में शिक्षा-सम्बन्धी महत्वपूर्ण सेवाएँ अर्पित करने के उपलक्ष्य में उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में सहयोग देते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है। यद्यपि श्री भटनागर को मैंने निकट से नहीं जाना है, तथापि उनके कार्यों को देखते हुए और उनके सम्बन्ध में सुनते हुए मुझे कहना पड़ता है कि श्री भटनागर शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने अपने पूर्वज एवं महान शिक्षाविद् लाला दीवानचन्द की परम्परा में योग देते हुए महान उत्तरदायित्व को सँभाला है। वे विद्यार्थियों के प्रति अत्यन्त उदार रहे हैं और उनके जीवन को सतत अनुप्राणित करते रहे हैं। उनका साधारण रहन-सहन एक पथ-प्रदान करने वाला आदर्श है जिसका प्रभाव विद्यार्थियो पर पडता है। वे चिरजीवी हो ताकि युवक-पीढ़ियाँ उन व्यक्तियों की परम्पराओं का अनुसरण करें जिन्होंने स्वर्णिम भारत के निर्माण के लिए अपने जीवन को सौंप दिया है।

कमलापति त्रिपाठी

भूतपूर्व शिक्षा मंत्री
उत्तर प्रदेश

परम हर्ष का विषय है कि क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय अपने वर्तमान उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने का आयोजन कर रहा है। अपने शिष्ट और सरल व्यक्तित्व द्वारा श्री भटनागर ने शिक्षा-जगत में जो योगदान दिया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में आपने जिन स्वस्थ परम्पराओं का सृजन किया है वह हमारे लिए गर्व का विषय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मानवता के हित के लिए, उच्चतर शिक्षा के प्रसार एवं उन्नयन में, श्री भटनागर इसी प्रकार जीवन-पर्यन्त निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे।

चंद्रभानु गुप्त

मुख्य मंत्री
उत्तर प्रदेश

मुझे आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पो० भटनागर को देश में शिक्षा-सम्बन्धी महत्वपूर्ण सेवाएँ अर्पित करने के उपलक्ष्य में उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में सहयोग देते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है। यद्यपि श्री भटनागर को मैंने निकट से नहीं जाना है, तथापि उनके कार्यों को देखते हुए और उनके सम्बन्ध में सुनते हुए मुझे कहना पड़ता है कि श्री भटनागर शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने अपने पूर्वज एवं महान शिक्षाविद् लाला दीवानचन्द की परम्परा में योग देते हुए महान उत्तरदायित्व को सँभाला है। वे विद्यार्थियों के प्रति अत्यन्त उदार रहे हैं और उनके जीवन को सतत अनुप्राणित करते रहे हैं। उनका साधारण रहन-सहन एक पथ-प्रदान करने वाला आदर्श है जिसका प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है। वे चिरजीवी हों ताकि युवक-पीढ़ियाँ उन व्यक्तियों की परम्पराओं का अनुसरण करें जिन्होंने स्वर्णिम भारत के निर्माण के लिए अपने जीवन को सौंप दिया है।

कमलापति त्रिपाठी

भूतपूर्व शिक्षा मंत्री
उत्तर प्रदेश

परम हर्ष का विषय है कि क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय अपने वर्तमान उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने का आयोजन कर रहा है। अपने शिष्ट और सरल व्यक्तित्व द्वारा श्री भटनागर ने शिक्षा-जगत में जो योगदान दिया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में आपने जिन स्वस्थ परम्पराओं का सृजन किया है वह हमारे लिए गर्व का विषय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मानवता के हित के लिए, उच्चतर शिक्षा के प्रसार एवं उन्नयन में, श्री भटनागर इसी प्रकार जीवन-पर्यन्त निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे।

के० एस० थिमैया

जनरल
मुख्य सैन्य शिविर
नई दिल्ली।

श्री के० पी० भटनागर को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किये जाने के उपलक्ष्य में, स्वागत-भाव सहित मुझे अपना सहयोग देते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है। शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ही लोग अपने सम्पूर्ण जीवन-काल को अर्पित करने का गर्व कर सकते हैं तथा उनमें श्री भटनागर का नाम अग्रगण्य है, यह जानकर मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। आशा करता हूँ उनकी उद्देश्य के प्रति तत्परता तथा इस देश की निरक्षरता के उन्मूलन में उनकी वास्तविक निष्ठा इस देश में अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय और आदर्श सिद्ध होगी।

मैं ऐसे विख्यात उपकुलपति के लिए, इसलिए कि उनसे देश की सेवा अधिकाधिक हो सके, बहुत बहुत वर्षों तक उनके सुखमय जीवन की कामना करता हूँ।

राजेश्वर दयाल

सुरक्षा सचिव
कांगो

मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता है कि के० पी० भटनागर को हिंदी विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय, उनके सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का सराहनीय कदम उठाया है। श्री भटनागर ने शिक्षा के क्षेत्र में जो महान सेवाएं की हैं वे सबको ज्ञात और स्वीकार हैं।

श्री भटनागर केवल महान शिक्षा-शास्त्री ही नहीं अपितु मानव-प्रकृति के बड़े पारखी भी हैं। शिक्षा का ध्येय केवल किताबी ज्ञान प्राप्त करना नहीं है अपितु मानव के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करना है। श्री भटनागर की व्यक्तिगत विशेषताएँ, चारित्रिक दृढ़ता, उदारता तथा पांडित्य केवल विद्यार्थियों के लिए ही प्रेरणा नहीं हैं अपितु उन व्यक्तियों के लिए भी हैं जो उनके सम्पर्क में आते हैं।

श्री भटनागर का क्षेत्र अब व्यापक हो गया है अतः देश की युवक-संतति के निर्माण में फलीभूत होने के लिए वे और अनेकों वर्ष जीवित रहें, यही कामना करता हूँ।

चंद्रभानु गुप्त

मुख्य मंत्री
उत्तर प्रदेश

मुझे आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर की देश में शिक्षा-सम्बन्धी महत्वपूर्ण सेवाएँ अर्पित करने के उपलक्ष्य में उनके अभिनन्दन ग्रन्थ में सहयोग देते हुए अत्यधिक प्रसन्नता है। यद्यपि श्री भटनागर को मैंने निकट से नहीं जाना है, तथापि उनके कार्यों को देखते हुए और उनके सम्बन्ध में सुनते हुए मुझे कहना पड़ता है कि श्री भटनागर शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक हैं। उन्होंने अपने पूर्वज एवं महान शिक्षाविद् लाला दीवानचन्द की परम्परा में योग देते हुए महान उत्तरदायित्व को सँभाला है। वे विद्यार्थियों के प्रति अत्यन्त उदार रहे हैं और उनके जीवन को सतत अनुप्राणित करते रहे हैं। उनका साधारण रहन-सहन एक पथ-प्रदान करने वाला आदर्श है जिसका प्रभाव विद्यार्थियों पर पड़ता है। वे चिरजीवी हों ताकि युवक-पीढ़ियाँ उन व्यक्तियों की परम्पराओं का अनुसरण करें जिन्होंने स्वर्णिम भारत के निर्माण के लिए अपने जीवन को सौंप दिया है।

कमलापति त्रिपाठी

भूतपूर्व शिक्षा मंत्री
उत्तर प्रदेश

परम हर्ष का विषय है कि क० मुं० हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय अपने वर्तमान उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने का आयोजन कर रहा है। अपने शिष्ट और सरल व्यक्तित्व द्वारा श्री भटनागर ने शिक्षा-जगत में जो योगदान दिया है, वह अत्यन्त सराहनीय है। आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में आपने जिन स्वस्थ परम्पराओं का सृजन किया है वह हमारे लिए गर्व का विषय है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मानवता के हित के लिए, उच्चतर शिक्षा के प्रसार एवं उन्नयन में, श्री भटनागर इसी प्रकार जीवन-पर्यन्त निरन्तर प्रयत्नशील रहेंगे।

मोहनलाल गौतम

भूतपूर्व सहकारिता मंत्री
लखनऊ

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया गया है।

किसी भी राष्ट्र का भविष्य उनके निवासियों के चरित्र पर निर्भर करता है, जिसका निर्माण मनुष्य के शैशवकाल तथा विद्यार्थी-जीवन में ही होता है। राष्ट्र के चरित्र-निर्माण में अध्यापक वर्ग का योग बड़े महत्व का है। श्री के० पी० भटनागर ने शिक्षा के क्षेत्र में जो सेवाएँ की है वे सराहनीय तथा अन्य लोगों के लिए अनुकरणीय है।

मुझे आशा है कि यह अभिनन्दन-ग्रन्थ उनकी सेवाओं का मूल्यांकन करने के साथ-साथ इसके पाठकों, विशेषकर अध्यापक वर्ग के लिए, पथ-प्रदर्शन तथा प्रेरणा का स्रोत साबित होगा।

विचित्र नारायण शर्मा

भूतपूर्व स्वायत्तशासन मन्त्री
उत्तर प्रदेश।
लखनऊ

एक साधारण स्तर से प्रारम्भ करते हुए श्री के० पी० भटनागर ने किसी भी शिक्षाविद के काम्य प्रकर्ष को प्राप्त कर लिया है। कठिन परिश्रम, कर्त्तव्यनिष्ठा, और योग्यता के फल स्वरूप ही वे अपने साथियों से आगे बढ़ने में सफल हो सके हैं। अपने प्रदेश में ही नहीं अपितु भारत वर्ष की कितनी ही महत्वपूर्ण परिषदों और समितियों का वे योग्यता पूर्वक कार्य-निर्वाह कर रहे हैं। इसलिए उनकी आदर्श सेवाओं के उपलक्ष्य में अभिनन्दन-ग्रन्थ की भेंट उपयुक्त है। मैं इस अवसर पर अपनी अत्यन्त शुभ कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

लक्ष्मीरमण आचार्य

भूतपूर्व समाज कल्याण मन्त्री
लखनऊ

श्री के० पी० भटनागर को उनकी शिक्षा सम्बन्धी विशेष एवं दीर्घकालीन सेवाएँ अर्पित करने के उपलक्ष्य में अभिनन्दन समर्पित किये जाने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है।

श्री के० पी० भटनागर का इस प्रदेश के शिक्षाविदों में प्रमुख स्थान है। ये हृदय और मस्तिष्क के उत्तम गुणों के कारण ही देश के अत्यन्त विशाल विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के पद को संभाले हुए हैं। श्री भटनागर मेधावी, विद्वान, देशभक्त और समाजसुधारक हैं तथा इन विशेषताओं के अतिरिक्त उनका व्यक्तित्व भी आकर्षक है। प्रत्येक व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आता है वह उनके शिशु के से सारल्य और पारदर्शी सच्चाई से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। ये बड़े ही चरित्रवान् और विश्वासी हैं।

इन सब के अतिरिक्त मेरी धारणा यह है कि श्री भटनागर एक बहुत बड़े शिक्षक हैं। वास्तव में हम ऐसे बड़े शिक्षकों का अभाव आज अनुभव कर रहे हैं। मैं अनुभव करता हूँ कि हमारे देश में महान शिक्षकों के कुछ महान गुण थे जिनका अटल प्रभाव हृदय और मस्तिष्क पर पड़ता था और उन्हीं के कारण हम जीवन-संग्राम में विचलित नहीं होते थे। राष्ट्रीय जीवन की व्यापकता में राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में एक शिक्षक का महान उत्तरदायित्व होता है। श्री भटनागर में ये सब गुण विद्यमान हैं। मुझे ऐसे विद्यार्थियों से मिलने का अवसर मिला है जिनको उनसे शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन्होंने मुझे यही बताया कि उन्होंने उनके जीवन को ज्ञान से आलोकित करते हुए सातत्य ज्ञान प्राप्ति की उत्कंठा पैदा की है। मैं समझता हूँ, श्री भटनागर जी की, उन हजारों व्यक्तियों के लिए जो उनके सम्पर्क में आये, यह एक महानतम देन थी।

आगरा विश्वविद्यालय ने उनके उपकुलपतित्व में पथ प्रदर्शनकारी उन्नति की है। जब आगरा विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्था थी उस समय मैंने इस विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की थी। जब कभी मुझे आगरा विश्वविद्यालय जाने का अवसर मिलता है तो मुझे अपार हर्ष होता है कि आगरा विश्वविद्यालय वास्तविक अर्थ में ज्ञान के स्थान का रूप धारण कर रहा है। इसका अधिकतम श्रेय श्री भटनागर के प्रयत्नों और उनके निर्देशन को है।

मैं अभिनन्दन ग्रन्थ प्रदान करने वाली संस्था के सदस्यों को इस समुचित निर्णय के उपलक्ष्य में बधाई देता हूँ तथा शुभेच्छा है कि श्री भटनागर सच्चाई और उदारमना प्रवृत्ति के साथ चिरकाल तक जीवित रहें और सामान्यतः विद्यार्थी समाज की ज्ञान-वृद्धि और कल्याण के लिए अपना बहुमूल्य योग देते रहें।

मोहनलाल सुखाड़िया

मुख्य मन्त्री
राजस्थान ।
जयपुर

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर को शीघ्र ही एक अभिनन्दन-ग्रन्थ देने का निश्चय किया गया है । श्री भटनागर गण्यमान अर्थशास्त्री तथा सुविख्यात शिक्षाशास्त्री रहे हैं । शिक्षाक्षेत्र में शैक्षणिक जीवन के लिए उनका योगदान महत्वपूर्ण तथा बहुमुखी रहा है । विभिन्न शैक्षणिक परिषदों के साथ-साथ उन्होंने सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भी जन-सेवा करने का यत्न किया है । शिक्षक रूप में अपने दीर्घ जीवन में इन्होंने विद्यार्थियों से आत्मीयता स्थापित की है । शैक्षणिक प्रशासक के रूप में आज भी वे अपने सहकर्मियों तथा सम्पर्क में आये हुए व्यक्तियों के लिए वही शालीनता तथा उदारता रखते हैं । इस अभिनन्दन के साथ सम्बद्ध होने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है । मैं श्री के० पी० भटनागर को समाज-सेवा के हित में उनके दीर्घ जीवन के लि' अपनी बधाइयाँ तथा शुभकामनाएँ भेजता हूँ ।

प्रताप सिंह कैरों

मुख्य मन्त्री
पंजाब

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है । इन जैसे शिक्षा-शास्त्री, शिक्षक तथा लेखक ने सामाजिक सेवा, शिक्षा तथा मानवीय अध्ययन के हित में सचमुच गण्यमान्य सेवाएँ की हैं ।

मुझे आशा है कि महत् ग्रन्थ में श्री भटनागर के प्रगल्भ व्यक्तित्व का विशद विवेचन होगा और वह हमारे विद्यार्थियों को शिक्षा के उत्कृष्ट हित में लगन एवं ज्ञानपिपासा विकसित करने में अवश्यमेव प्रेरणा देगा ।

ई० एम० निम्बूदिरीपाद

भूतपूर्व मुख्य मन्त्री
त्रिवेन्द्रम, केरल

मैं यह जानकर प्रसन्न हूँ कि आपने श्री के० पी० भटनागर को उनकी शिक्षा सम्बन्धी सेवाओं के लिए एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का विचार किया है। मैं आश्वस्त हूँ कि आपका यह प्रकाशन एक प्रमुख शिक्षाविद की महान सेवाओं से अपरिचित लोगों को परिचित होने का अवसर देगा। मैं आपके प्रेरक प्रयत्नों को बधाई देता हूँ तथा श्री भटनागर के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ।

के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर

भूतपूर्व उपकुलपति
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को उनके सहयोगियों, मित्रो और प्रशसको की ओर से एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। मुझे श्री भटनागर के परिचय का सौभाग्य पिछले कई वर्षों से है। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक विभागों के सगठन में सक्रिय कदम उठाये हैं। उनके सहयोग और उत्साह वर्द्धन से हिन्दी तथा समाज-शास्त्र के विद्यापीठ अत्यधिक लाभान्वित रहे हैं।

मेरी प्रार्थना है कि श्री भटनागर शिक्षा क्षेत्र में सफल जीवन के अनेको वर्ष व्यतीत करें।

टी० एम० अडवानी

उपकुलपति
बम्बई विश्वविद्यालय
बम्बई

मैं आगरा विश्वविद्यालय क उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर के उत्तर भारत के शिक्षा क्षेत्र में उनकी सेवाओं के अभिज्ञाय आपका प्रस्ताव तथा इस उपलक्ष्य में उनके सम्मान में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रदान करने के प्रस्ताव को सुनकर हर्षित हूँ। एक शिक्षा विशेषज्ञ के रूप में उनके सुयश को मैंने बहुत सुना है। मैं अपने अभिनन्दन तथा शुभकामनाएँ भेज रहा हूँ, कृपया उन्हें पहुँचा दें।

वी० के० आर० वी० राव

ॐ

भूतपूर्व उपकुलपति
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

मैं श्री कालकाप्रसाद भटनागर उपकुलपति आगरा विश्वविद्यालय को बधाई देता हूँ। उन्होंने उत्तर प्रदेश में शिक्षा के लिए डी० ए० वी० कालेज कानपुर के प्रिंसीपल के रूप में और आगरा विश्वविद्यालय में उपकुलपति के रूप में अमूल्य सेवाएँ की हैं। आगरा विश्वविद्यालय उनके समय में बहुत अच्छी तरह प्रत्येक दिशा में उन्नति करता रहा है। अब यह केवल परीक्षण संस्था ही नहीं है। आगरा विश्वविद्यालय में कुछ शिक्षण विभाग स्थापित हुए हैं और ज्ञान की अनेक दिशाओं में शोध-कार्य को प्रोत्साहन दिया गया है। प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री के लिए यह सन्तोष का विषय है और मुझे प्रसन्नता है कि आगरा विश्वविद्यालय श्री के० पी० भटनागर के नेतृत्व में अपना निज का स्वरूप प्राप्त कर रहा है।

मेरी यह कामना है कि श्री भटनागर अमूल्य सेवाएँ करते हुए दीर्घजीवी हों।

डा० धीरंजन

ॐ

उपकुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि श्री के० पी० भटनागर को उनकी सुदीर्घ तथा श्लाघ्य सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रदान किया जा रहा है। श्री भटनागर ने शिक्षा के क्षेत्र में उच्च स्तर के ठोस निर्माणात्मक कार्य किये हैं तथा उन लोगों का परम हित किया है जिनकी उन्होंने सेवा की है। उनका जीवन एक समर्पण है, आगरा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के रूप में उन्होंने विशेष ख्याति प्राप्त की है। वे देशभर में एक महान अर्थशास्त्रज्ञ तथा लेखक के रूप में प्रख्यात हैं। उन्होंने भारत के सबसे बड़े विश्वविद्यालयों में से एक के कार्य व्यापारों का सञ्चालन किया है तथा इस दिशा में उन्होंने अपने को महान शासक प्रमाणित किया है। शिक्षा के हेतु एक महान योद्धा के रूप में उनका नाम प्रेम और आदर से लिया जाता है। मेरी प्रार्थना है कि देश की सेवा करने के लिए श्री भटनागर अनेक वर्ष जीवित रहें।

ए० सी० जोशी

उप-कुलपति
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को उनकी सुदीर्घ तथा श्लाघ्य सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन प्रदान किया जा रहा है। यह वास्तव में उनके लिए योग्य उपहार है। उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य वर्ष आदर्शपूर्ण निस्वार्थभावना तथा प्रचारक उत्साह के साथ देश में माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा की प्रगति के हेतु अर्पित किये हैं।

एक पाण्डित्यपूर्ण व्यक्ति तथा सफल प्रशासक के रूप में श्री भटनागर की सुविख्याति का वर्णन करना पुनरुक्ति मात्र होगा। इतना ही कहना पर्याप्त है कि परम परिवर्तनशील इस युग में हमारे राष्ट्र को ऐसे ही अनेक महान व्यक्तियों की आवश्यकता है। श्री भटनागर शिक्षा की सेवा के हेतु चिरकाल जीवित रहें।

मगन भाई पी० देसाई

उप-कुलपति
गुजरात विश्वविद्यालय
अहमदाबाद

प्रस्तावित श्री के० पी० भटनागर अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रकाशन में मैं भी अपना सहयोग देता हूँ। यह वस्तुत प्रसन्नता का विषय है कि उन श्री भटनागर की मूल्यवान सेवाएँ जिन्होंने उत्तर प्रदेश की माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा हेतु अपने को समर्पित कर दिया है, उनके साथियों द्वारा यथायोग्य रूप में प्रशंसित की जा रही हैं।

मैं आशा करता हूँ कि श्री भटनागर ने विभिन्न मंडलों एवं समितियों के कार्यों में जिस निष्ठा, परिश्रम तथा साफल्य को अनुप्रेरित किया है वे, तथा, उनका पांडित्य एवं सामाजिक सुधार के प्रति उनका असीम उत्साह, ये दोनों ग्रन्थ की दोनों जिल्दों में पवित्र स्थान प्राप्त करेंगे, ताकि यह ग्रन्थ उनके लिए एक उपहार तथा नवयुवकों के लिए प्रेरणा प्रद ग्रंथ बन सकें।

वे और अधिक उपयोगी सेवाएँ कर सकें इसके लिए मैं उनके चिर जीवन की कामना करता हूँ।

डा० रार श्री रघुनाथ परांजपे

उपकुलपति
पूना विश्वविद्यालय,
पूना—७

यह प्रसन्नता का विषय है कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर के अनेक मित्र तथा प्रशंसक उनकी सेवाओं को अभ्यर्थ्य कर रहे हैं। श्री भटनागर द्वारा की गयीं सुदीर्घ एवं श्लाघ्य सेवाएँ, विशेषत: शिक्षा-क्षेत्र में विख्यात हैं। मैं आशा करता हूँ वे अपनी मूल्यवान सेवाएँ अविच्छिन्न बनाये रखने के लिए दीर्घ काल तक आरोग्य और सुख प्राप्त करेंगे।

डा० दुखन राम

उप-कुलपति
बिहार विश्वविद्यालय,
पटना

युवक वर्ग को देश की निस्वार्थपूर्ण सेवाहेतु जीवन की प्रेरणा देने के लिए भारत को श्री के० पी० भटनागर जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों की आवश्यकता है। श्री भटनागर का सुधार के प्रति उत्साह श्री स्वामी दयानन्द के उस दिव्य ज्ञान से प्रभावित है जिसकी श्रेष्ठ पताका के नीचे वे अपने शैशव से पोषित थे। अत ऐसे व्यक्ति का एक आदर्श शिक्षक, कार्यक्षम व्यवस्थापक तथा समर्थ प्रशासक होना, कोई विस्मय का विषय नहीं है। उत्तर प्रदेश की शिक्षा-संस्थाओं के भाग्य-संरक्षण के लिए वे चिरकाल जीवित रहें।

कुंजीलाल दुबे

उप-कुलपति
जबलपुर विश्वविद्यालय।
जबलपुर

मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आगरा विश्वविद्यालय के वर्तमान उप-कुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर को क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, श्रद्धांजलि रूप में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर रहा है।

श्री भटनागर जी ने शिक्षा-जगत में—विशेषतः विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए जो कार्य किया है, वह सर्व विदित है। सहस्रों अध्यापक और विद्यार्थी उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए हैं। उत्तर प्रदेश की उच्च शिक्षा सम्बन्धी नीति के निर्धारण में भी उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

इस अवसर पर मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ तथा परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि चिरकाल तक हम सब को, विशेषतः हिन्दी भाषियों को उनके द्वारा निर्देशन और प्रेरणा प्राप्त होती रहे।

के० एम० मंगलमूर्ति

नागपुर
६-१२-१९६०

श्री कालका प्रसाद भटनागर की शिक्षा एवं जनहित के विभिन्न क्षेत्रों की कार्य विधियाँ यह स्पष्ट करती हैं कि एक सच्चा अध्यापक मूल रूप में एक सच्चा विद्यार्थी ही है। वह चाहे कितना ही उच्च पद क्यों न प्राप्त करले अपने इस अन्योन्याश्रित स्वरूप को कभी नहीं भूल सकता।

प्रोफेसर भटनागर का जीवन वास्तव में तेजस्वी रहा है।

राम प्रसाद त्रिपाठी

अध्यक्ष
हिन्दी समिति, उत्तर-प्रदेश
लखनऊ।

मुझे प्रसन्नता है कि आपका विद्यापीठ, वर्तमान उप-कुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर के लिए अभिनन्दन-ग्रन्थ की रचना कर रहा है। आशा है कि आप अपने ध्येय में पूर्ण सफल होंगे।

डा० त्रिगुण सेन,

जादवपुर विश्वविद्यालय,
कलकत्ता ३२

प्रत्येक व्यक्ति को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आगरा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति श्री के० पी० भटनागर को हिंदी विद्यापीठ ने देश के प्रति उनकी सुदीर्घ तथा श्लाघ्य सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का प्रबन्ध किया है। विशिष्ट लक्षणों से युक्त एक शिक्षक एवं विद्या के उपासक श्री भटनागर ने शिक्षा के निमित्त अपने जीवन को समर्पित किया है। एक देश-भक्त, दृढ़ निश्चयी, स्पष्ट द्रष्टा तथा शिक्षा-विशेषज्ञ के रूप में आगरा विश्वविद्यालय के विकास में उनका अमूल्य योगदान रहा है।

श्री भटनागर अधिक वर्षों तक देश की सेवा करने के लिए चिरकाल जीवित रहें।

जी० सी० चटर्जी

राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर,
राजस्थान।

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर, एक अनुभवी वयोवृद्ध शिक्षाविशेषज्ञ हैं तथा इन्होंने एकचित्त और उत्साह से शिक्षार्थ अपना जीवन समर्पित किया है, मुझे यह जानकर अत्यन्त आनन्द हुआ है कि उनके सम्मान में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ निकाला जा रहा है। उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त अन्य राज्यों में मेरी सेवा का क्षेत्र होने के कारण श्री भटनागर को अतिपरिचय के स्तर पर जानने का विशेष लाभ नहीं प्राप्त कर सका हूँ। मेरे उनसे निजी सम्बन्ध आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में उनकी नियुक्ति के बाद ही प्रारम्भ हुए हैं। किन्तु मेरे भाइयों में से दो—स्वर्गीय डा० जे० सी० चटर्जी जो एक समय आगरा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति थे तथा श्री एस० सी० चटर्जी जो अनेक वर्षों तक क्राइस्ट चर्च कालेज कानपुर के प्रिन्सिपल थे—इनके पाण्डित्य और लक्ष्य के प्रति इनकी ईमानदारी का बहुत आदर करते थे। गत तीन वर्षों से उनके साथ मेरे ऐसे ही व्यक्तिगत सम्बन्ध होने से मेरे मन में भी उसी प्रकार का प्रभाव अंकित हुआ है।

उन्हें समर्पण किये जाने वाले उपहार में मुझे भी सहयोग देने का अवसर मिला है इससे प्रसन्नता होती है तथा मेरी अभिलाषा है कि अपने अति प्रिय विषय शिक्षा के विकास में योगदान देने के हेतु वे चिरकाल तक जीवित रहें।

एस० आर० कण्ठी

अध्यक्ष
मैसूर विधान सभा
विधान सौध बंगलौर-१

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को हिंदी विद्यापीठ ने उनकी शिक्षा-सम्बन्धी महत्वपूर्ण सेवाओं के उपलक्ष्य में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है। मैं उसके संचालक का आभारी हूँ कि उन्होंने सन्देश भेजने के लिए मुझे भी चुना। राष्ट्र के प्रति श्री भटनागर की सेवाओं को ध्यान में रखते हुए विश्वास करता हूँ कि उन्हें उपयुक्त सम्मान प्राप्त होगा। मैं अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता की कामना करता हूँ।

आर० वी० धुलेकर

अध्यक्ष
विधान सभा
उत्तर प्रदेश।
लखनऊ

यह कहना आवश्यक है कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर उत्तर प्रदेश की महान विभूतियों में से एक है।

यद्यपि प्रचार का महत्व है परन्तु इसी के माध्यम से किसी को स्थायित्व नहीं मिलता। अहमन्यता और बाह्याडम्बर से परे इनका एक निजी व्यक्तित्व है, जिसमें ठोस पांडित्य होता है उसी में इसकी प्रमुखता होती है। वरन मुझे यों कहना चाहिए कि ऐसा ही व्यक्ति जीवित शिक्षा विदो में अग्रगामी होता है। वर्तमान उत्तर प्रदेश के निर्माणकर्त्ता के रूप में हम इन्हें स्मरण करेंगे। हृदय की सहानुभूति इनमें विद्यमान है और माध्यमिक शिक्षा समितियों से लेकर विश्वविद्यालयी स्तर तक हमारे शिशुओ और युवको की ठोस शिक्षा के लिए इन्होंने स्तुत्य कार्य किये हैं।

शिक्षाविद, प्रशासक, विद्यार्थियो में प्रख्यात शिक्षक तथा विद्वज्जनों में उच्च स्तर के अर्थशास्त्रज्ञ के रूप में वे हमारे सम्मान के पात्र है—

आगामी बहुत बहुत वर्षों के लिए मैं उनके महान उज्ज्वल जीवन की पुनीत कामनाएँ करता हूँ और पूरी-पूरी हार्दिकता के साथ विद्यापीठ को सहयोग देता हूँ जिसने उन्हें सम्मानार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने का निश्चय किया है।

बी० डी० जत्ती

अध्यक्ष
बंगलौर विधान सभा
बंगलौर

मैं अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक अपना संदेश आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को अर्पित किये जाने वाले अभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए भेज रहा हूँ।

डॉ० भटनागर का व्यक्तित्व बहुविध दिशाओं से सम्बंधित है। वे अर्थशास्त्री, शिक्षाविद, समाज-सुधारक तथा विचारक हैं। उनका आदर्श जीवन शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए ही अर्पित हुआ है। विद्या के सच्चे समर्थक होने के नाते उन्होंने अपने बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग देश के युवकों की बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए व्यतीत किया है।

ऐसे महान व्यक्तित्व का सम्मान सौभाग्य की बात है। मेरे लिए तो यह भी कहना क्षम्य होगा कि आप डा० भटनागर का सम्मान कर स्वयं को सम्मानित कर रहे हैं।

मैं उनके चरम उत्कर्ष और प्रसन्नता के अतिरिक्त राष्ट्रीय सेवाओं के लिए उनके दीर्घ आयुष्य की कामना करता हूँ

रामनिवास मिरधा

अध्यक्ष
राजस्थान विधान सभा
जयपुर

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। श्री भटनागर राष्ट्र के एक महान् शिक्षाविद हैं। उनका जीवन शिक्षा सम्बन्धी कार्यों और संस्थानों को अर्पित हुआ है। जिन्हें उनकी सेवाएँ प्राप्त हुई हैं वे उन्हें सदैव स्मरण रखेंगे।

उज्ज्वल भविष्य की कामना रखने वाले राष्ट्र को अपने शिक्षाविदों को स्मरण करना ही चाहिये क्योंकि उन्हीं के हाथों राष्ट्र के विविध उत्तरदायी पदों पर काम करने वाले युवकों का चरित्र गठित होता है। महान् विद्वान् और शैक्षणिक प्रशासकों के प्रति ज्ञापित विनम्र सम्मान में स्वयं को सम्मिलित करते हुए मैं अत्यन्त हर्षित हूँ।

आर० शंकरनारायन

भूतपूर्व अध्यक्ष
केरल विधान सभा
त्रिवेन्द्रम

हमारे देश के श्रेष्ठ शिक्षाविदों में से एक के सम्मान में एक-दो शब्द कहने का अपूर्व अवसर प्रदान करने के कारण मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। भारत की आत्मा और प्राण आज जनता के भौतिक एवं आत्मिक उन्नयन में संलग्न हैं। राष्ट्र के उत्थान में हमारी उपलब्धियाँ बहुत कुछ ऐक्य एवं पारस्परिक सहयोग पर आधारित हैं। इस ऐक्य और पारस्परिक सहयोग में सच्ची देशभक्ति तथा पारस्परिक सौहार्द्र वांछनीय है। इस ओर उन्मुख करने वाली शिक्षा ही एक मात्र ऐसी प्रेरक शक्ति है जो व्यक्ति तथा समाज की चेतना को समुचित व्यवस्था तथा कल्याण-भावना से भर देगी। तथा सच्चा देशभक्त और आदर्श नागरिक वह है जो इस आधारभूत सचाई को समझे और अनुभव करें तथा भारत के लाखों अबोधों के हृदयों में ज्योति जगाने के यशस्वी कार्य के लिए अपने आप को तय्यार करता है। इस सम्बन्ध में श्री के० पी० भटनागर अपूर्व दृष्टान्त के रूप में प्रकाशवान हैं और प्रत्येक भारतवासी के प्रभूत सम्मान के पात्र हैं।

एक ही व्यक्ति में उत्तम हार्दिक एवं बौद्धिक लक्षण अद्भुत रूप में ढले हुए मिलना असंभव ही है। प्राय दुर्लभ है। ऐसे व्यक्तियों से इतिहास भरा पड़ा है जो देशभक्त थे और उच्च बौद्धिकता से युक्त थे। परन्तु ऐसे बहुत कम मिलते हैं जिनमें, इनमें से एक से अधिक गुण समन्वित हो। हम यह सगर्व कह सकते हैं कि हमारी मातृभूमि को ऐसे पुत्र को जन्म देने का सौभाग्य मिला है जिसमें विद्वान एवं शिक्षाशास्त्री, दार्शनिक एवं समाज सुधारक के गुण विद्यमान हैं।

जाति की सेवा में एक नागरिक किस प्रकार अपने जीवन की आहुति दे सकता है इसके लिए श्री भटनागर जी का उदाहरण हमारे सामने है। कार्य की सीमाओं और कठिनाइयों के बीच उन्होंने अपने कार्य में सच्चा आनन्द लिया और यही कारण है कि उनके विद्यार्थी जीवन की गहराइयों में प्रवेश कर सके और उनको नयी आशा, और उत्साह मिल सका।

श्री भटनागर के जीवन की बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने जिस पद पर भी काम किया वे समाज के निकटतम सम्पर्क में रहे। यह एक ऐसा विशेष महत्व पूर्ण लक्षण है जिसे हमारे युवकों को ग्रहण करना चाहिये तथा जीवन में इसका अभ्यास करना चाहियें।

इस महान व्यक्ति के विषय में कुछ ही शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता। वे शक्ति के अजस्र स्रोत तथा उच्च आदर्श और सिद्धान्तों से युक्त व्यक्ति हैं। उनकी विनम्रता तथा उच्च विचारों ने उनके साथियों तथा विद्यार्थियों में प्रेम और आदर का संचार किया है।

भारत के इस यशस्वी पुत्र के लिए आरोग्यपूर्ण जीवन की कामना करने में हमारे हृदय स्वभावत प्रार्थना करने को उमड़ पड़ते हैं।

डा० पी० पी० चेरियन

अध्यक्ष
मद्रास विधान सभा
फोर्ट सेण्ट जार्ज
मद्रास

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को हिंदी विद्यापीठ उनकी विशिष्ट शिक्षा-सम्बन्धी महान सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर रहे हैं। श्री भटनागर का जीवन केवल विद्यार्थियों या अपने आत्मीय व्यक्तियों के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत के लिए उपादेय रहा है। उनका जीवन प्रत्येक विद्यार्थी तथा भारतीय नागरिक के लिए स्पर्धा करने योग्य है। शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में राष्ट्र-सेवा की इतनी लम्बी अवधि एक स्तुत्य उपलब्धि है। मैं उपकुलपति के पद की कठिनाइयों से अवगत हूं। प्रसिद्धि और क्षमता से युक्त सफल उपकुलपति का होना कठिन है : श्री भटनागर दोनों दृष्टियों से सफल हैं।

अमूल्य राष्ट्र-सेवाओं में प्रमुख सहयोगी के रूप में उनकी पत्नी को विस्मृत नहीं किया जा सकता। देश-सेवा से ओतप्रोत पति-पत्नी के सम्मिलित प्रयास सदैव ही सफल होंगे। श्री भटनागर और उनकी पत्नी इसके महान उदाहरण हैं।

मैं राष्ट्र सेवा के लिए श्री भटनागर तथा श्रीमती भटनागर के दीर्घ जीवन की कामना करता हूं।

◈ ◈ ◈

नरायन प्रसाद अरोडा

कानपुर

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री कालकाप्रसाद भटनागर को शिक्षा के क्षेत्र में की गयी सेवाओं के लिए एक अभिनदन ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। श्री भटनागर का शिक्षा शास्त्री के रूप में किया गया कार्य सर्व विदित है। यह उचित ही है कि उन्हें इस प्रकार जनता की ओर से अभिनन्दित किया जाय। मैं हर्ष के साथ आपको इस शुभकामना में योग देता हूँ कि वे आने वाले अनेक वर्षों तक देश की लाभदायक सेवा कर सकें।

देवी शंकर तिवारी

अध्यक्ष
सेवा आयोग
राजस्थान
जयपुर

श्री के० पी० भटनागर का जीवन एक मूर्तिमान शिक्षा है। उन्होंने सन् १६१६ में डी० ए० वी० कालेज में अर्थशास्त्र का अध्यापन कार्य शुरू किया और फिर वहीं प्रिंसिपल के पद को सुशोभित किया। आप वहाँ ३६ वर्ष तक रहे। सन् १६५६ में आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति का पद सम्भाला।

उनका जीवन शिक्षा के लिए ही अर्पित रहा है। जीवन के ४० वर्ष अर्पित करने के बाद भी वे सक्रिय हैं। मैं उनके जीवन की एक शती के लिए उनके स्वस्थ रहने की कामना करता हूँ जिससे कि वे अपने जीवन का शेष भाग भी शिक्षा के लिए अर्पित कर सकें। वे स्वस्थ और सानन्द है, ईश्वर उन्हें ऐसा ही बनाये रखे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।

आगरा विश्वविद्यालय के वर्तमान वाइस चांसलर श्री कालका प्रसाद जी भटनागर उन शिक्षाव्रती सहृदय विद्वानों में अन्यतम हैं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन शिक्षा और ज्ञान के प्रसार कार्य को अर्पण कर दिया। भटनागर साहब जब कानपुर के डी० ए० वी० कालेज के प्रिंसिपल थे, तभी से मैं उनको जानता हूँ। वे जितने ही सुपंडित व्यक्ति हैं उतने ही सहृदय भी। यह मणि काञ्चन योग बड़ा दुर्लभ है। उनका हृदय विशाल और निश्छल है। बड़ा काम वही कर सकता है जिसका हृदय विशाल हो। अपनी सहृदयता, सहजभाव, निर्मल चरित्र से ही उन्होंने शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में लोगों को आकृष्ट किया है और लगन से काम करने की प्रेरणा दी है। सच्चे गुरु का शासन शिष्य के हृदय पर होता है। ऐसे ही गुरुओं को केन्द्र करके संस्थाएँ समृद्ध होती हैं और सच्चे 'गुरुकुलों' की प्रतिष्ठा होती है। भटनागर जी का जन्म ऐसे कुल में हुआ है जो साहित्यिक कहा जा सकता है। उनके पूर्व पुरुषों में अच्छे कवि हुए हैं। यद्यपि उनका अपना क्षेत्र सामाजिक विज्ञान का है पर साहित्य के प्रति अनुराग उनके रक्त में है। यही कारण है कि साहित्य और साहित्यकार के प्रति उनके मन में बड़ा मान है। आगरा विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर रहते समय उनके हाथों साहित्यकारों का बहुत सम्मान हुआ है। यह उचित ही है कि उनके अवकाश ग्रहण के अवसर पर 'भारतीय साहित्य' का यह संवर्द्धन अंक प्रकाशित हो। मैं इस अवसर पर भटनागर जी को अपनी सश्रद्ध प्रणति निवेदन करता हूँ। परमात्मा उन्हें सुन्दर स्वास्थ्य और दीर्घायु प्रदान करें।

धीरेन्द्र वर्मा

संपादक
हिन्दी विश्वकोष
नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी।

श्री कालका प्रसाद भटनागर उत्तर प्रदेश के अत्यंत सीनियर प्रोफेसरों तथा शिक्षा क्षेत्र के विशेषज्ञों में से एक हैं। मुझे उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने का तो अवसर नहीं मिल सका किन्तु उनसे परिचय अनेक वर्षों से है। प्रथम साक्षात्कार में ही व्यक्ति उनकी सादगी और सहज मधुर व्यक्तित्व से प्रभावित होता है। सामाजिक स्तर पर वे बड़े छोटे में भेद करना जानते ही नहीं हैं। आगरा विश्वविद्यालय के वायसचांसलर पद के भार को जिस सहज ढंग से आपने इतने दीर्घकाल तक उठाया यह आपकी शासन सम्बन्धी असाधारण प्रतिभा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि वे स्वस्थ रहें और दीर्घजीवी हों। उत्तर प्रदेश को उनके जैसे अनुभवी शिक्षाविदों की अत्यन्त आवश्यकता है।

रघुवीर सिंह

सीतामऊ,
(मालवा)

श्री कालकाप्रसाद भटनागर बहुत अरसे तक आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे हैं और बहुत कठिन समय में उन्होंने इस विश्वविद्यालय को ठीक तरह से चलाया है एवं इनके कार्य काल में उसकी विशेष प्रगति भी हुई है अतः उक्त आयोजन सर्वथा समीचीन तथा भारतीय परम्परा के अनुरूप ही है।

अहमद सईद

राहत मंजिल
अलीगढ़

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री के० पी० भटनागर को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। श्री भटनागर उन लोगों में से हैं जिन्होंने उत्तर प्रदेश में युवकों के प्रातिभ विकास और चरित्र-निर्माण के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया है।

वे पुष्ट निर्णय वाले अर्थशास्त्री हैं। उनकी सेवाएँ शिक्षा-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं अपितु उनका बहुमूल्य योगदान अन्य क्षेत्रों में भी रहा है। वे उत्तर प्रदेश में अर्थशास्त्रीय परामर्श-समिति तथा विश्वविद्यालय अनुदान समिति के सदस्य और माध्यमिक शिक्षा परिषद में आर्थिक अध्ययन समिति के संयोजक रहे हैं। ऐसे व्यक्ति राष्ट्रीय सम्मान के भागी होते हैं। मैं उनकी दीर्घ आयु और सफल जीवन की कामना करता हूँ।

◈ ◈

डा० एन० पी० अस्थाना

भूतपूर्व उपकुलपति
आगरा विश्वविद्यालय
२३, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद।

मैं लेफ्टीनेण्ट कर्नल कालका प्रसाद भटनागर को डी० ए० वी० कालेज, कानपुर, के योग्य एवं शक्ति-सम्पन्न शिक्षक के रूप में तीस से अधिक वर्षों से जानता हूँ। जब मैं दो सत्रों तक उपकुलपति रहा तब मैं सतत रूप से उनसे महत्वपूर्ण अवसरों पर योग्य एवं सुदृढ़ परामर्श लेता रहा था। वे अधिक समय से कार्य-समिति के सदस्य तथा फैकल्टी ऑफ आर्ट्स एण्ड कामर्स के डीन रहे हैं। डीन के रूप में आपने अत्यधिक योग्यता के साथ निर्देशन किया है। कार्य-समिति में उनकी गति-विधियाँ अत्यन्त सराहनीय रहीं और परिणामतः आप विश्वविद्यालय के उपकुलपति निर्वाचित हुए। उनके उपकुलपतित्व ने पांच वर्षों में विश्वविद्यालय ने अत्यन्त उन्नति की है और यह उन्हीं के सक्रिय योग का फल है कि उसकी आर्थिक स्थिति अत्यधिक सुदृढ़ हुई है। उत्तर प्रदेश में उच्चतर शिक्षा-प्रसार के वे बड़े समर्थक रहे हैं तथा कठिनाइयों और रुकावटों के होते हुए भी वे नवीन कालेजों के खुलवाने में समर्थ रहे हैं। ये कालेज सुचारु रूप से उच्चतर-शिक्षा प्रदान कर रहे हैं।

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति-पद से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त लफ्टीनेण्ट कर्नल भटनागर के अनुभवों, उनके ज्ञान तथा उच्चतर-शिक्षा में शक्तिवर्द्धक समर्थन का लाभ जनता तथा उत्तरप्रदेश को प्राप्त करने का अवसर है। मैं देश की आवश्यकता और सेवा के लिए उनके दीर्घजीवन की कामना करता हूँ।

'प्रशस्ति'

शिक्षा-ध्येय धुरीणा, सुधी सद ज्ञान-प्रसारक,
लेखक, वक्ता, नेता, चेता, विमल विचारक।
अर्थशास्त्र-मर्मज्ञ, प्राध्यापक, बुध-पण्डित,
सुरुचि, स्नेह, शुचिता, ऋजुता, यश-महिमा-मण्डित,
कर्म्मण्य, धीर, धर्म्मज्ञ नय--नैतिकता-मर्याद हैं,
गुण-सागर, भटनागर-प्रवर, श्री कालका प्रसाद हैं।

डा० हरिशङ्कर शर्मा

श्री गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

पुष्पोपहारः

भद्रं भूयाद्गुपकुलपते विश्वविद्यालयस्य
सेवाकालं नियतमधुना शोभमानं समाप्य।
यास्यत्येष प्रचुर-मधुरां स्वस्मृतिं नः प्रदाय—
तस्मादद्य प्रियसहचरे रभ्यनुज्ञा प्रदेया॥

आदर्शरूपः किल शिक्षकेषु
श्रीशारदाराधन-लग्नचित्तः।
अन्वर्थनामा 'भटनागरे' ति
प्रख्यात-कीर्तिश्च गुणानुरक्तः॥

समं समागम्य सरस्वती स्वयं
द्वयं सदा श्रीश्च मुदाऽपि चञ्चला।
परस्परं प्रेम-परम्परां परां—
वितन्वदेतं वृणुतेतराङ्घ्रिराम्॥

श्री कालकाप्रसादस्य भटनागर धीमतः।
कण्ठे समर्प्यते माला श्री गजानन शास्त्रिणा॥

श्री कालका प्रसाद भटनागर

"श्रद्धाञ्जलि"

हिन्दू धर्म में पत्नी के लिये, उसका पति ही परम गुरु एवं परम देव बताया जाता है। इस दृष्टि से, प्रभु के मंगलमय विधान में, श्री भटनागर जी, पति रूप में मुझे एक सच्चे पथ प्रदर्शक, एक सच्चे गुरु मिले हैं।

स्वभावतः मुझे, अपने जीवन पथ में, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक घटना, सर्वदा गुरुरूप मेंही दिखाई देती है, क्योंकि प्रत्येक से किसी न किसी प्रकार की शिक्षा ही मिली है, जिसने मेरे कर्तव्य के पाठ को और अधिक पुष्ट बनाया है।

सद्ग्रन्थों अथवा सद्गुरुओं ने तो साधक को उसके कल्याण के लिये, अपने "सीमित अहं भाव" और "मिथ्या ममत्व", इन दोनों से विवेक और वैराग्य द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद करना ही एक मात्र कर्तव्य बताया है।

मेरे झूठे "अहं के अणु को" और "ममता के कठिन बन्धन को" तोड़ने में मेरे पतिदेव सदैव ही सहायक रहे हैं, और एक सच्चे हितैषी के नाते आपने मेरे जीवन की कोई भी त्रुटि कभी भी उपेक्षा से नहीं देखी। यही एक सच्चे 'गुरु का लक्षण है।'

आपकी ही पवित्र प्रेरणा से मैंने "विवेक और वैराग्य" का मार्ग अपनाया और फलस्वरूप कुछ काल बिठूर रहकर अब निर्वाण को प्राप्त सद्गुरु, ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी शंकरानन्द भारती द्वारा, वेदान्त का श्रवण-मनन कर शान्ति लाभ की है।

लेफ्टिनेन्ट कर्नल श्री कालकाप्रसाद भटनागर

एम० ए०, एल-एल० बी०

(संक्षिप्त जीवन परिचय)

भटनागर, कालकाप्रसाद

जन्म-स्थान—मुहल्ला गरमाया कुँआ, अलीगढ़ ।

जन्म-तिथि—मई २४, १८६६ ई०

संक्षिप्त परिचय—पिता का नाम श्री भवानीप्रसाद जी और माता का नाम श्रीमती रामदेवी जी । आपकी पत्नी का नाम श्रीमती सुमति भटनागर । तीन पुत्र हुए । ज्येष्ठ पुत्र स्व० श्री आनन्दस्वरूप थे जो डिप्टी डेवलपमेन्ट कमिश्नर थे—श्री मदनमोहन भटनागर, सुपरिन्टेंडिंग इंजीनियर, हैवी मशीनरी कार्पोरेशन, राँची—श्री कृष्णकान्त भटनागर, रीडर सर्जरी, मेडीकल कालिज कानपुर ।

बड़े भाई बाबू द्वारिकाप्रसाद पर आर्य समाज का प्रभाव था । सन् १९०२ और १९०३ में श्री छोटेलाल जी भार्गव जो उन दिनों गवर्नमेन्ट स्कूल में साइन्स मास्टर थे जो आर्यसमाज अलीगढ़ के मंत्री थे इनके पश्चात श्री द्वारिकाप्रसाद मंत्री हुए और डी० ए० वी० हाई स्कूल की नींव डाली ।

१९०-७-८ ई० मे अंग्रेजी सत्ता ने आपको राजनीतिक बागी समझा और आपके घर की तलाशी हुई । एक बार १९०८-९ ई० में जब लाला लाजपतराय जेल से छूटकर आए तो आपने स्कूल छोड़कर इनकी गाड़ी खींची थी ।

१९११ में दिल्ली दरबार हुआ जिसमें आप ५००० स्वयसेवकों सहित विद्यार्थी सदस्य के रूप में गए थे । खुर्जा के रायबहादुर नत्थीमल सेठने ४-५ दिन तक इन सभी स्वय सेवकों की खाने आदि की व्यवस्था की ।

१९१२, हाई स्कूल, गवर्नमेन्ट हाई स्कूल, अलीगढ़ ।

१९१४, इंटरमीडिएट, आगरा कालिज, आगरा ।

इसी समय आगरे में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ और आप आर्य-सभा हींग की मंडी के सदस्य थे ।

१९१६, बी० ए०, अलीगढ़ ।

१९१८, एम० ए०, अलीगढ़ ।

१९१९, एल-एल० बी० अलीगढ़ ।

१९१८, में सहायक अध्यापक, डी० ए० वी० हाईस्कूल अलीगढ़ ।

१९१९, में अध्यक्ष अर्थशास्त्र विभाग तथा वार्डन छात्रावास डी० ए० वी० कालेज, कानपुर ।

इसी समय में गाँधी जी डी० ए० वी० कालेज में आए और विद्यार्थियों की ओर से एक थैली भेंट करने का आयोजन किया गया ।

१९२२ ई० में डी० ए० वी० कालेज के 'अध्यापकों की ओर से आप 'काउन्सिल ऑफ ऐसोसिएटेड कालिजेज ऑफ इलाहाबाद यूनीवर्सिटी' के सदस्य निर्वाचित हुए। उसी समय आप इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की कोर्ट तथा एकनॉमिक्स कमेटी के सदस्य भी चुने गए।

१९२७ ई० में आप आगरा यूनिवर्सिटी की सीनेट के सदस्य निर्वाचित हुए। पहले आप आर्ट्स फैकल्टी के सदस्य हुए और फिर अर्थशास्त्र समिति के सदस्य निर्वाचित हुए।

१९२८ ई० में आप 'बोर्ड ऑफ हाईस्कूल एण्ड इंटरमीडिएट एजूकेशन' उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद के सदस्य निर्वाचित किए गए। पिछले कुछ वर्षों तक आप बोर्ड की परीक्षा समिति के भी संयोजक रहे।

१९३१ ई० में ट्रेड यूनियन कांग्रेस की बैठक, हुई यतीन्द्रनाथदास की मृत्यु, जवाहरलाल आदि रात को सब लोगों के साथ स्टेशन पर गए। कानपुर के अंग्रेज कलक्टर सभी भटनागर जी के खिलाफ रहते थे इन्हें इसी कारण बन्दूक का लाइसेन्स नहीं मिला।

१९३३ ई० से १९४२ ई० तक कॉमर्स फैकल्टी के डीन रहे और १९४० ई० में इकॉनॉमिक्स कमेटी के संयोजक चुने गए। प्रत्येक बार १९३३ से आगरा विश्वविद्यालय की कार्य-समिति के सदस्य चुने जाते रहे।

१९४० ई० में लाला दीवानचन्द जी के अवकाश ग्रहण कर लेने पर डी० ए० वी० कालज कानपुर के प्रिंसिपल बनाए गए।

१९४९ ई० से आप आर्ट्स फैकल्टी के डीन रहे।

आप यूनीवर्सिटी ग्रान्ट्स कमेटी उत्तर प्रदेश तथा इण्डियन एकनामिक्स एसोसिएशन की कार्यकारिणी के सदस्य रहे और इलाहाबाद से प्रकाशित इण्डियन जनरल ऑफ एकनॉमिक्स के सम्पादक मंडल में रहे।

१९५६ ई० में आप आगरा विश्वविद्यालय के उप कुलपति के पद पर नियुक्त हुए और आप भारत के प्रथम कोटि के शिक्षाविदों में आपको स्मरण किया जाता है। आपने गुरुकुल कांगड़ी और गुरुकुल वृन्दावन काशी विद्यापीठ की उपाधियों को यू० पी० बोर्ड से मान्य कराया। उत्तर प्रदेश के शिक्षा आयोग के सचिव तथा सदस्य भी रहे।

अर्थ शास्त्र में आपने अमूल्य ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उनके नाम हैं— 'हिस्ट्री ऑफ एकनॉमिक थाट्स', 'ट्रांसपोर्ट इन मॉडर्न इंडिया'', "कोआपरेशन इन इण्डिया एन्ड एब्रोड', "रूरल एकनॉमी एण्ड फाइनेंशियल ऑर्गेनाइजेशन", 'श्रम और उसकी समस्याएँ", "अर्थशास्त्र के सिद्धान्त', तथा "भारतीय अर्थशास्त्र"। इनके अतिरिक्त आपके दस यूनिवर्सिटी एक्सटेन्शन लेक्चर्स भी प्रकाशित हुए हैं। "भारतीय अर्थशास्त्र" नामक पुस्तक पर उत्तर प्रदेश सरकार ने आपको ६००) का पुरस्कार प्रदान किया।

प्रसन्नता का विषय है कि आप ने लीक लीक पर चलने वाले दायरों से हटकर एक स्वस्थ धारा को समाज में फैलाने का अद्भुत प्रयास किया है। समाज में एक

वर्गहीन भावनाको प्रोत्साहन देने के लिए आर्य-समाज में कार्य किया। महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों को आपने अपने जीवन का आधारभूत लक्ष्य बनाया और दयानन्द महाविद्यालय में रहकर सक्रिय रूप से उनके सिद्धान्तों का प्रचार किया। आर्य-समाज, मेस्टन रोड, कानपुर के आप अनेक वर्षों तक मंत्री रहे और इस प्रकार आपने जो-जो सेवाएँ की हैं, वे स्तुत्य हैं।

जब राष्ट्रीय आन्दोलन ने जोर पकड़ा तो उसमें डी० ए० वी० कालिज के छात्रों ने भाग लिया और शिववर्मा, जैदेव कपूर, महावीरसिंह, ब्रह्मदत्त दीक्षित आदि पकड़े गए। लाहौर-काण्ड में अंग्रेज पुलिस सुपरिन्टेन्डेंट मारा गया इसी काण्ड में महावीरसिंह की मृत्यु हुई। सन् ४२ में और राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ डी० ए० वी० कालेज कानपुर, जिसमें अनेक विद्यार्थी पकड़े गए। इन हलचलों का प्रभाव आप पर पड़ा। आप कांग्रेस सभा कानपुर के उपप्रधान भी रहे, सरदार भगतसिंह आदि आपके यहाँ आते-जाते थे।

प्रारम्भ से ही, जब आप डी० ए० वी० कालेज के बोर्डिंग हाउस के वार्डन थे, तभी से आप इतने लोकप्रिय होगए थे कि शिक्षक और शिक्षित दोनों ही आपको अपना कहने में गौरव प्राप्त करते थे। इसी कालेज के अनेक विद्यार्थियों ने आपसे प्रेरणा ग्रहण कर भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में अपना पूरा जीवन लगा दिया। उन दिनों डी० ए० वी० छात्रावास एक राजनीतिक शिविर भी था जिसमें 'हिन्दुस्तानी समाजवादी क्रान्तिकारी पार्टी'' के अनेक सदस्य एकत्र हुआ करते थे।

लगभग ६५ वर्ष के हो जाने पर भी भटनागर साहब में बालकों जैसा भोलापन एवं युवकों जैसा उत्साह है। आप की वाणी के ओज से आज कौन अपरिचित है? एक विद्वान लेखक होने के साथ साथ आप, उच्चकोटि के वक्ता भी हैं। उत्तर भारत के शिक्षित जन-मानस पर आपका पूर्ण अधिकार हो चला है। लोगों की यथाशक्ति सहायता प्रदान करना आपकी विशेष अभिरुचि है। यही कारण है कि प्रतिद्वन्दी भी आपकी प्रशंसा करते हिचकिचाते नहीं हैं।

आज कल आप स्नातकोत्तरीय विधान क्षेत्र से राज्य सभा के सदस्य निर्वाचित हुए हैं।

श्री जवाहर लाल नेहरू तथा श्री मुंशी के साथ श्री कालकाप्रसाद भटनागर

डॉ० गुलाबराय

भटनागर साहब

भटनागर साहब से मेरा कोई दीर्घकालीन परिचय नहीं है किन्तु जो कुछ मैं दो-चार बार के क्षणिक सम्पर्क में देख सका हूँ उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। उनकी सादा रहन-सहन तदनुरूप सादी वेश-भूषा एवं स्पष्ट और छल-छद्म शून्य वार्तालाप उनको एक कर्मठ आर्यसमाजी नेता की भूमिका में रख देता है। वे महाशय ही नहीं सदाशय भी हैं। सादा जीवन और उच्च विचार उनके जीवन का प्रेरक सिद्धान्त है।

भटनागर जी की प्रसन्न मुख-मुद्रा उनके पद से आतङ्कित व्यक्ति को भी एकदम विश्रब्ध और प्रश्वस्त कर देती है। यथा शक्ति वे सबका भला करना चाहते हैं। उनका शासन मृदु और सौहार्दपूर्ण रहा है। उनके उद्देश्य किसी से छिपे नहीं रहते वरन् वे स्वयं उनके उद्घाटन में सहायक होते हैं। वे गुण ग्राहक हैं और अपनी आर्यसमाजी सीमाओं के भीतर रसिक और कलाप्रिय भी हैं।

भटनागर साहब उपकुलपति के रूप में विश्वविद्यालय के उन्नत्याकांक्षी रहे हैं। वे उसको विस्तारोन्मुख देखना चाहते हैं, देखना ही नहीं चाहते वरन् उसके लिए सदा प्रयत्नशील भी रहते हैं। ज्ञान में अद्यतन रहने में इच्छुक रहते हुए भी वे अंग्रेजियत की बाढ़ में बहे नहीं हैं। उनके पैर भारतीयता की दृढ़ आधार भूमि पर जमे हुए हैं। वे भारतीय संस्कृति के हिमायती हैं। खेद है कि भटनागर साहब अपने कार्यकाल को सफलतापूर्वक समाप्त कर विराम ले रहे हैं, एक स्थान से विराम लेकर दूसरे स्थान में व्यस्त रहने के लिए। वे देश और समाज की सेवा के लिए चिरायु हों। शुभास्तेपन्थानः।

डा० गुलाबराय

भटनागर साहब

भटनागर साहब से मेरा कोई दीर्घकालीन परिचय नहीं है किन्तु जो कुछ मैं दो-चार बार के क्षणिक सम्पर्क में देख सका हूँ उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ। उनकी सादा रहन-सहन तदनुरूप सादी वेश-भूषा एवं स्पष्ट और छल छद्म शून्य वार्तालाप उनको एक कर्मठ आर्यसमाजी नेता की भूमिका में रख देता है। वे महाशय ही नहीं सदाशय भी हैं। सादा जीवन और उच्च विचार उनके जीवन का प्रेरक सिद्धान्त है।

भटनागर जी की प्रसन्न मुख-मुद्रा उनके पद से आतङ्कित व्यक्ति को भी एकदम विश्रब्ध और प्रश्वस्त कर देती है। यथा शक्ति वे सबका भला करना चाहते हैं। उनका शासन मृदु और सौहार्दपूर्ण रहा है। उनके उद्देश्य किसी से छिपे नहीं रहते वरन् वे स्वयं उनके उद्घाटन में सहायक होते हैं। वे गुण ग्राहक हैं और अपनी आर्यसमाजी सीमाओं के भीतर रसिक और कलाप्रिय भी हैं।

भटनागर साहब उपकुलपति के रूप में विश्वविद्यालय के उन्नत्याकांक्षी रहे हैं। वे उसको विस्तारोन्मुख देखना चाहते हैं, देखना ही नहीं चाहते वरन् उसके लिए सदा प्रयत्नशील भी रहते हैं। ज्ञान में अद्यतन रहने में इच्छुक रहते हुए भी वे अंग्रेजियत की बाढ़ में बहे नहीं हैं। उनके पैर भारतीयता की दृढ़ आधार भूमि पर जमे हुए हैं। वे भारतीय संस्कृति के हिमायती हैं। खेद है कि भटनागर साहब अपने कार्यकाल को सफलतापूर्वक समाप्त कर विराम ले रहे हैं, एक स्थान से विराम लेकर दूसरे स्थान में व्यस्त रहने के लिए। वे देश और समाज की सेवा के लिए चिरायु हों। शुभास्तेपन्थानः।

श्रीमती सुमति भटनागर

आप श्री कान्ता प्रसाद जी भटनागर की धर्मपत्नी हैं। आप का जन्म एक समृद्ध एव सुसंस्कृत परिवार में सन् १८९९ ई० मे देहरादून में हुआ था। आप के पिता श्री भवानी प्रसाद जी बिहार में डिप्टी कलेक्टर थे। आपकी प्रारंभिक शिक्षा 'महादेवी कन्यापाठशाला' देहरादून में हुई थी। कुछ समय तक आपने थियोसोफिकल वीमेन्स कालेज बनारस में भी विद्याध्ययन किया और काशी विश्वविद्यालय से बी० ए० तथा बी० टी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की और आगरा विश्वविद्यालय से राजनीति में एम० ए० पास किया। माटेसरी शिक्षा पद्धति का आपने विशेष रूप से अध्ययन किया है। आपका प्रकृति प्रेम भी सराहनीय है। बागवानी में आपको विशेष अभिरुचि है। कानपुर म्युनिसिपल बोर्ड की सदस्या भी रह चुकी हैं।

आप परमसाध्वी उदारमना एव धार्मिक प्रवृत्ति की महिला हैं। दंभ, झूंठ और आडम्बर से आप को बडी चिढ है। सर्व श्री पड्या जी, तैलंग जी, अरुण्डेल जी, पद्माबाई एव थियोसोफिकल सोसायटी ने जहाँ आपके जीवन पर सादगी की अमिट छाप डाली है और आपके जीवन में शुचिता, निर्मलता, आदर्शवादिता, कलाप्रियता एव सत्यनिष्ठा का पावन स्रोत प्रवाहित किया है वहीं भारतीय संस्कृति से अनेक तत्व ऐसे परिपुष्ट कर दिए हैं कि जिनके प्रभाव से आपने भारतीय वेदान्त के ग्रंथो का परिशीलन इस उत्तमता से किया है, जो प्रत्येक भारतीय महिला के लिए अनुकरणीय है। भक्ति और ज्ञान की भारतीय-परपरा आप में ऐसी साकार हो उठी है कि आप ससार को गुरु रूप में ही देखती हैं। श्रीमद्भगवद् गीता एव अद्वैतवाद ने आपको परम ज्ञानवान एव निस्पृह बना दिया है।

श्री भटनागर साहब की सभी गतिविधियों में पूर्णरूप से योगदान देते हुए अपने कौटुम्बिक जीवन को इतनी सुघराई से परिचालित रखतीं हैं जिसे देखकर गृहस्थाश्रम की मर्यादा मूर्त्त हो उठती है।

श्रीमती सुमतिदेवी भटनागर

श्रीमती सुमति भटन

आप श्री कान्ता प्रसाद जी भटनागर की धर्मपत्नी हैं
एवं सुसंस्कृत परिवार में सन् १८९९ ई० में देहरादून में
श्री भवानी प्रसाद जी बिहार में डिप्टी कलेक्टर थे। आपकी
कन्यापाठशाला' देहरादून में हुई थी। कुछ समय तक
कालेज बनारस में भी विद्याध्ययन किया और काशी
बी० टी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की और आगरा विश्वविद्यालय से ए.
किया। माटेसरी शिक्षा पद्धति का आपने विशेष रूप से
प्रकृति प्रेम भी सराहनीय है। बागवानी में आपको विशेष
म्युनिसिपल बोर्ड की सदस्या भी रह चुकी हैं।

आप परमसाध्वी उदारमना एवं धार्मिक प्रवृत्ति की महिला
आडम्बर से आप को बड़ी चिढ़ है। सर्व श्री पड्या जी, तैलंग जी,
एवं थियोसोफिकल सोसायटी ने जहाँ आपके जीवन पर सादगी
आपके जीवन में शुचिता, निर्मलता, आदर्शवादिता, कलाप्रियता एवं
स्रोत प्रवाहित किया है वहाँ भारतीय संस्कृति के अनेक तत्त्व ऐसे
कि जिनके प्रभाव से आपने भारतीय वेदान्त के ग्रंथों का परिशीलन इस उ
है, जो प्रत्येक भारतीय महिला के लिए अनुकरणीय है। भक्ति और ज्ञान
परंपरा आप में ऐसी साकार हो उठी है कि आप संसार को गुरु रूप में
श्रीमद्भगवद गीता एवं अद्वैतवाद ने आपको परम ज्ञानवान एवं निस्पृह बना

श्री भटनागर साहब की सभी गतिविधियों में पूर्णरूप से योगदान देते
कौटुम्बिक जीवन को इतनी सुघराई से परिचालित रखतीं हैं जिसे देखकर गृहस्थ
मर्यादा मूर्त हो उठती है।

इस से पूर्व सारा परिवार सनातन धर्मानुयायी था। इस परिवार में मुन्शी साहबसिंह भटनागर बड़े भगवद्भक्त और धर्मप्रेमी सन्त हुए हैं। ये श्री कालकाप्रसाद जी के पितामह थे। इन प्रपिता महोदय ने अब से प्राय एक शताब्दीपूर्व 'प्रेम-अभिलाष' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ ब्रज भाषा में लिखा गया है। उस में श्री कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाली विविध कविताएँ हैं, जो प्राचीन कृष्ण काव्य कथाओं पर आधारित हैं। इस सौ वर्ष पुराने काव्य ग्रन्थ की हस्तलिपि प्राप्त कर श्री कालकाप्रसाद जी ने उसका सुसम्पादित सुन्दर सस्करण, चार-पाँच वर्ष पूर्व ही प्रकाशित कराया है। 'प्रेम-अभिलाष' छोटी-मोटी पुस्तिका नहीं, प्रत्युत लगभग पाँच सौ पृष्ठों का सुमुद्रित काव्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य में ब्रज-भाषा काव्य की महत्त्वपूर्ण अभिवृद्धि हुई है। इसका श्रेय श्री कालकाप्रसाद भटनागर के सुदुद्योग और उनके साहित्य-कार एवम् कवि प्रपिता महोदय को है। 'इस प्रकार भटनागर महोदय की सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रभा का प्रकाश प्रसारित हुआ, शिक्षोन्नति, समाज-सेवा, धर्म-साधना, साहित्य-रचना, सज्जनता', मानवता, नैतिकता, उदारता, किसी भी दृष्टि से देखिए, उनका व्यक्तित्व आदरणीय, अनुकरणीय और महान् है। ऐसे उदार चेता पुण्यश्लोक का अभिनन्दन-वन्दन करते हुए हम उनके 'दीर्घायुष्य' के लिये परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थी हैं।

हो शतायु जीवन-भर उज्ज्वल ज्योति जगाएँ,
वन विवेक वारिद सद्भाव-सुधा बरसाएँ।
हे प्रभु विनती-विनय हमारी पूरी कीजे,
भटनागर का सब विधि शुभ-मगल कीजे!

डा० हरिशंकर शर्मा

श्री कालकाप्रसाद भटनागर

हो सजीवता जीवन मे वह वृद्ध नही है,
बिना धर्म्म के कोई सुखी-समृद्ध नही है।
सहृदयता से धर्म्म-कर्म्म कर सुयश कमाता
वही वस्तु 'मानव' या 'मनुष्य' कहलाता।

श्री कालकाप्रसाद भटनागर धार्मिक नैतिक, सास्कृतिक और निष्ठावान विद्वान् और शिक्षा-शास्त्री है। आप के ज्येष्ठ भ्राता श्री द्वारकाप्रसाद जी परम्परागत रूढियो से मुक्त पक्के वैदिक धर्म्मानुयायी थे। सारे परिवार पर आप का ही प्रभाव था। श्री द्वारकाप्रसाद जी की समाज-सेवा और धर्म्म-प्रियता की प्रशसा अलीगढ नगर में ही नहीं, जिले भर में होती थी, सन् १६०८ ई० में, आपके ही सदुपयोग से अलीगढ में दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक पाठशाला की स्थापना हुई जो अब इण्टर कालिज के रूप में विद्यमान है। श्री कालकाप्रसाद भटनागर पर अपने विद्यार्थी जीवन से ही, बडे भाई द्वारकाप्रसाद जी के कार्य-कलाप का प्रशसनीय प्रभाव पडा, जो अब तक है और आजन्म रहेगा।

श्री भटनागर साहब का जन्म २४ मई १८६६ ई० को अलीगढ के एक प्रतिष्ठित कायस्थ परिवार में हुआ। आपने १६१६ ई० में बी० ए०, १६१८ मे एम० ए० और १६१६ ई० में एल एल० बी० परिक्षाएँ पास कीं। शिक्षा-कार्य में प्रारम्भ से ही रुचि रखने के कारण, सर्व प्रथम आपने अपनी धार्मिक शिक्षा-सस्था डी० ए० वी० हाई स्कूल, अलीगढ में अध्यापन-कार्य किया। आप के सराहनीय सहयोग से उक्त स्कूल उन्नति पथ पर अग्रसर हुआ। सन् १६१६ ई० में आप डी० ए० वी० कालिज कानपुर में, अर्थशास्त्र-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए और फिर १६४० ई० में आप अपनी योग्यता एवम् कर्त्तव्य-निष्ठा के कारण इसी महाविद्यालय के प्रिंसिपल पद पर प्रतिष्ठित किये गये। इस पद पर नियुक्त होते ही आप की कार्य-क्षमता की चारु चर्चा सारे शिक्षा-जगत् में होने लगी और आप बडे आदर से प्रयाग तथा आगरा विश्वविद्यालयो की विविध सभा-समितियो एवम परिपदो के भी सम्मान्य सदस्य चुने गये। प्रादेशिक शिक्षा बोर्ड (प्रयाग) के मेम्बर निर्वाचित हुए। सन् १६३३ से आप आगरा विश्वविद्यालय की कार्य-समिति के सदस्य

प्रति बार निर्वाचित होते रहे। परीक्षा-समिति के संयोजक और 'फैकल्टी ग्राफ आर्ट्स' के 'डीन' रहे। प्रादेशिक सरकार ने भटनागर साहब की योग्यता से प्रभावित होकर, आपको यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमेटी का सदस्य नियुक्त किया।

प्रिंसिपल कालकाप्रसाद भटनागर अपनी महती योग्यता और शिक्षा सम्बन्धिनी अनुभवशीलता के कारण १९६० ई० में आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति (वायस चान्सलर) नियुक्त हुए। इस क्षेत्र में भी आपकी प्रबन्ध-पटुता, कार्य-कुशलता दूरदर्शिता, सहृदयता, उदारता, कर्त्तव्य-संलग्नता का शिक्षा-जगत् पर यथेष्ठ प्रभाव पड़ा और आपकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। जहाँ आपने अपने प्रभाव पूर्ण व्यक्तित्व और सुयोग्यता से डी० ए० वी० कालिज कानपुर को देश की सर्वोच्च शिक्षा संस्थाओं में परिगणित कराया, वहाँ आगरा विश्वविद्यालय का स्तर ऊँचा करने में भी आपकी क्षमता, दक्षता और क्रिया कुशलता की बड़ी प्रशंसा रही।

भटनागर साहब सुप्रसिद्ध और सुयोग्य शिक्षा शास्त्री होने के साथ-साथ साहित्यकार भी हैं। आप ने अंग्रेजी में कई पुस्तकों की रचना की है। उसमें 'हिस्ट्री आफ एकनॉमिक्स थाट्स,' 'ट्रांसपोर्ट इन मॉडर्न इण्डिया', 'को-ऑपरेशन इन इण्डिया एण्ड एब्रॉड' आदि मुख्य हैं। 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' नामक आप की एक पुस्तक हिन्दी में भी प्रकाशित हुई है। प्रयाग से प्रकाशित 'इण्डियन जनरल ऑफ एकनॉमिक्स' नामक पत्र के सम्पादक-मण्डल में रहकर आपने एक पत्रकार या निबन्धकार के रूप में भी शिक्षा-संसार की स्तुत्य सेवा-सहायता की। आप अंग्रेजी एवम् हिन्दी के प्रभावशाली वक्ता हैं। अपने प्रतिपाद्य विषय को श्रोताओं के समक्ष बड़े सुन्दर, समुचित और संक्षिप्त रूप से रखते हैं। आपके 'यूनीवर्सिटी एक्सटेंशन लेक्चर्स' भी प्रकाशित हो चुके हैं। यो तो विविध विषयों में आपकी सम्यक् गति-मति रही है, परन्तु अर्थशास्त्र आपका प्रधान और प्रिय विषय है। अतः इस पर आपने विशेष बल दिया है और इसी सम्बन्ध में आपने ग्रन्थों एवम् निबन्धो की रचना भी की है।

प्रिंसिपल भटनागर और उपकुलपति भटनागर दोनों दृष्टियों से आपका व्यक्तित्व महान् और ज्ञान एवम् अनुभव व्यापक है। आप बड़े स्नेहशील तथा मिलनसार हैं। उचित और वैधानिक रूप से सोत्साह सब की सेवा-सहायता करने को सर्वदा समुद्यत रहते हैं। आप धार्मिक अभिरुचि एवम् सांस्कृतिक कर्त्तव्य-निष्ठा के सात्विक सज्जन हैं। अतएव आपके विमल व्यक्तित्व का प्रभाव, शिक्षा जगत् पर ही नहीं जनता और परिवार पर भी है। भटनागर जी का परिवार बड़ा शान्त और सात्विक है। आप की धर्मशीला धर्मपत्नी श्रीमती सुमति भटनागर, एम० ए०, बी० टी० अपने पूज्य पतिदेव के चरण-चिन्हों पर चलने वाली सच्ची साधिका हैं। धार्मिक एवम् सात्विक माता-पिता का प्रभाव सन्तान पर पड़ता ही है, अतः आपके सुपुत्र भी सुशिक्षित, सुयोग्य, सुशील, सुसंस्कृत और सरकारी उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया श्री कालकाप्रसाद भटनागर के परिवार पर उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री द्वारकाप्रसादजी के आर्य्यसमाजी होने के समय से, आर्य्यसमाज का प्रभाव पड़ा।

इस से पूर्व सारा परिवार सनातन धर्मानुयायी था। इस परिवार में मुन्शी साहबसिंह भटनागर बड़े भगवद्भक्त और धर्मप्रेमी सन्त हुए हैं। ये श्री कालकाप्रसाद जी के पितामह थे। इन प्रपिता महोदय ने अब से प्राय एक शताब्दीपूर्व 'प्रेम-अभिलाष' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ ब्रज भाषा में लिखा गया है। उस में श्री कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाली विविध कविताएँ हैं, जो प्राचीन कृष्ण काव्य कथाओं पर आधारित हैं। इस सौ वर्ष पुराने काव्य ग्रन्थ की हस्तलिपि प्राप्त कर श्री कालकाप्रसाद जी ने उसका सुसम्पादित सुन्दर संस्करण, चार-पाँच वर्ष पूर्व ही प्रकाशित कराया है। 'प्रेम-अभिलाष' छोटी-छोटी पुस्तिका नहीं, प्रत्युत लगभग पाँच सौ पृष्ठों का सुमुद्रित काव्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हिन्दी साहित्य मे ब्रज-भाषा काव्य की महत्त्वपूर्ण अभिवृद्धि हुई है। इसका श्रेय श्री कालकाप्रसाद भटनागर के सुदुद्योग और उनके साहित्यकार एवम् कवि प्रपिता महोदय को है। इस प्रकार भटनागर महोदय की सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रभा का प्रकाश प्रसारित हुआ, शिक्षोन्नति, समाज-सेवा, धर्म्म-साधना, साहित्य-रचना, सज्जनता', मानवता, नैतिकता, उदारता, किसी भी दृष्टि से देखिए, उनका व्यक्तित्व आदरणीय, अनुकरणीय और महान् है। ऐसे उदार चेता पुण्यश्लोक का अभिनन्दन-वन्दन करते हुए हम उनके 'दीर्घायुष्य' के लिये परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थी हैं।

हो शतायु जीवन-भर उज्ज्वल ज्योति जगाएँ,
बन विवेक वारिद सद्भाव-सुधा बरसाएँ।
हे प्रभु विनती-विनय हमारी पूरी कीजे,
भटनागर का सब विधि शुभ-मगल कीजे।

डा० मुन्शीराम शर्मा

श्री कालकाप्रसाद भटनागर

(एक व्यक्तित्व)

आदरणीय भटनागर साहब से मेरा सम्पर्क १९२१ ई० में हुआ। मैं दयानन्द कालेज कानपुर में इण्टर का छात्र था, वे अध्यापक थे। मैं छात्रावास में रहता था, वे छात्रावास के निरीक्षक थे। मैं आर्यकुमार सभा का मन्त्री था, वे उसके प्रधान थे। पद के कारण दूर रहते हुए भी वे स्वभाव से सबके समीप थे। विद्यार्थियों में इतने घुलमिल जाते थे कि कभी-कभी किसी आगन्तुक को वे, प्राध्यापक नहीं, विद्यार्थी ही जान पड़ते थे। उनके शरीर की गठन भी कुछ इसी प्रकार की थी। स्वभाव से तो वे अतीव सास्कृतिक रहे हैं। जो मद से दूर भागता है, मुझे उसकी संस्कृति में कहीं विकार जान पड़ता है। भटनागर साहब के स्वभाव में सभी के लिये नैकट्य है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, सभी उनका इस सांस्कृतिक विशेषता के कारण अपना समझते रहे हैं।

भटनागर साहब के स्वभाव में ब्राह्मणोचित सरलता है। यह ऐसा गुण है जो अनेक जन्मों के निरन्तर अभ्यास के कारण सिद्ध हो पाता है। ब्राह्मणत्व का विशेष चिन्ह ही, आर्जव, ऋजुता या सरलता है क्षत्रिय दाँव-पेंच छोड़कर जब सीधे सरलता के साथ छाती खोलकर मैदान में खड़ा हो जाता है, तो समझ लीजिये, वह ब्राह्मणत्व में प्रवेश कर गया।

ऋजुता के साथ उनका ज्ञान भी उच्च कोटि का है। अपने विषय अर्थशास्त्र के वे मर्मज्ञ माने जाते हैं। ज्ञान के साथ उनकी वाग्मिता भी प्रख्यात है। भाषण कला जब ज्ञान दीप्त तथा भाव प्रमुखता के कारण उदग्र हो उठती है तब उसे वाग्मिता कहा जाता है। भटनागर साहब जब कहीं व्याख्यान देते हैं, तो इसी वाग्मिता के कारण उनका स्वर दूर से सुनाई पड़ने लगता है। कक्षा में जब बोलने लगते थे, तो सड़क पर से ही विद्यार्थी पहचान जाते थे कि उनका भाषण हो रहा है।

उनके स्वभाव में उदारता भी बड़ी है। न जाने कितने चपरासी क्लर्क और अध्यापक उनकी उदारता से उपकृत होकर अपने को आभारी अनुभव कर रहे होंगे। उनकी उदारता का एक पक्ष और भी है जो व्यक्ति किसी कारण वश उनसे खिन्न हो जाता है, वह उन्हीं के मुख पर, जब वे सभापति के आसन पर भी विद्यमान हों, उन्हें
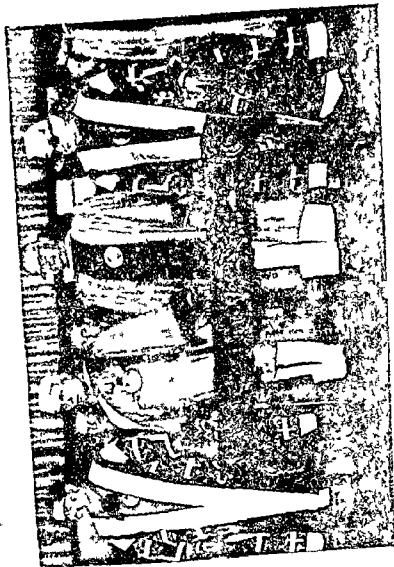
श्री कान्ताप्रसाद भटनागर श्री जवाहरलाल नेहरू तथा श्री मुंशी

अपशब्द कहने लगता है तो वे अपने सभापति होने के विशेष अधिकार का प्रयोग तो करते ही नहीं उल्टे हँसते हुए उसकी गालियाँ सुनते रहते हैं। न उसे टोकते हैं और न भाषण बंद करने के लिये कहते हैं। यह उदारता-जन्य ऐसी सहनशीलता है जो विरल है और सब में आ भी नहीं सकती।

उनका शिष्य मंडल भारतवर्ष भर में फैला हुआ है। दयानंद कालेज कानपुर में अर्थशास्त्र के विभाग के अध्यक्ष और प्रिंसिपल के पद पर रह कर उन्होंने शिक्षा-विस्तार में तो योग दिया ही, दयानंद कालेज को भी उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा कालेज बना दिया है। जिसने अर्थशास्त्र नहीं भी पढ़ा है, वह कालेज के नाते न जाने कितना कुछ उनसे प्राप्त करता रहा है।

• भटनागर साहब की झिड़कियाँ भी प्रसिद्ध हैं। जिसने सहली, उसे मानो मुँह माँगी वस्तु मिल गई। जो सहन न कर सका, अंदर के अहंकार को जागृत कर प्रतिक्रिया में लीन हुआ, वह कभी-कभी पागल होते हुए भी देखा गया है। 'अनागसो हत्या वै भीमा' वेद की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है।

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर प्रतिष्ठित होकर आपने उत्तर प्रदेश में डिग्री कालेजों की संख्या बढ़ा दी है। पूर्व के संबद्ध कई कालेज राजस्थान में चल गये, कुछ मध्यप्रदेश में निकल गये, कुछ उत्तर प्रदेश में ही गोरखपुर विश्वविद्यालय के साथ संलग्न हो गये, फिर भी आगरा विश्वविद्यालय कालेजों की संख्या की दृष्टि से हीन प्रतीत नहीं होता।

भटनागर साहब ने जहाँ शिक्षा के विस्तार में योग दिया है, वहाँ विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की दशा को सुधारने में भी श्लाघनीय कार्य किया है। विद्यार्थियों ने उनके चरित्र से शिक्षा ग्रहण की है और प्राध्यापकों ने उनके आदर्श जीवन से। आर्थिक दृष्टि से आज का अध्यापक यदि पूर्वापेक्षा कुछ सम्पन्न दिखाई देता है तो उसमें भी भटनागर साहब का प्रमाद हीन किन्तु सक्रिय साथ रहा है।

आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ इंस्टिट्यूट ऑव सोशल साइंसेज, तथा इकना मिक्स के विभाग खोलकर तथा उन्हें प्रगति के पथ पर अग्रसर करके उन्होंने जो कार्य किया है, वह विश्वविद्यालय के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। यह सब करके भी जो पद्म पत्र मिवाम्भसा बना हुआ है, वह कितना आकर्षणकारी व्यक्तित्व है, यह सहज ही समझा जा सकता है। भगवान् उन्हें चिरायु करें।

डा० विश्वनाथ प्रसाद

समादर

शिक्षक के रूप में

'वह मेरा विद्यार्थी है' इस वाक्य को कभी एक वचन में, कभी बहुवचन में, कभी पुंलिग में, कभी स्त्रीलिंग में, कभी हिन्दी में, कभी अंगरेजी में, मैंने श्रद्धेय भटनागर साहब से कई बार सुना है और प्रत्येक बार उसमें अदम्य उल्लास और गर्व के स्वर की तरंग उद्वेलित पाई है। इस उल्लास, गर्व और गौरव का मूल केन्द्र है शिक्षक का वह स्नेह पूर्ण हृदय जो अपने शिष्य के सुख और समुन्नति में ही अपना सुख और समुन्नति मानता है। शिक्षक के जीवन की सफलता इसी में है कि वह अपनी गरिमा अपने शिष्यों के जीवन में उतारकर स्वयं लघिमा का अनुभव करे। सच्चा शिक्षक वस्तुतः एक स्रष्टा होता है, जो भावी परम्परा को अधिकाधिक समृद्ध करने के लिए त्याग और तप का आदर्श उदाहृत करता है। वह स्वयं पुस्तकों के प्रणयन का लोभ न करके अनेक पुस्तक-प्रणेताओं का प्रणयन करता है। वह स्वयं लेखक, कवि और साहित्यकार होने का मोह न करके अनेक लेखकों, कवियों और साहित्यकारों की सृष्टि करता है। वह सारी शक्तियों का वितरण अपने विद्यार्थियों में करता है और कृषक जैसे अपने बोए हुए बीज को अंकुरित होते देखकर प्रसन्न होता है, वैसे ही अपने विद्यार्थियों में अपने वितरित ज्ञान के बीजों को अंकुरित होते देखकर शिक्षक भी प्रसन्नता का अनुभव करता है। वह अपने से भी अधिक योग्यता अपने शिष्यों में विकसित करना चाहता है और इस प्रयास में उसे सफलता मिलती है तो उसे अत्यधिक आनन्द होता है। प्रसिद्ध ही है—"सर्वस्मात् जयमिच्छेत (शिष्य) पुत्रादिच्छेत् पराजयम्।"

इस सद्भावना और सदिच्छा का अनुकरणीय उदाहरण मुझे भटनागर साहब में मिलता है। आपने क्लास के प्रवचनों में ही नहीं वरन् जीवन के व्यावहारिक क्षेत्रों में भी अपने विद्यार्थियों को सदा प्रोत्साहन दिया है और अपने आचरण के द्वारा उनके समक्ष चरित्र के उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किए हैं। इसी कारण आपके पुराने विद्यार्थी विद्यालय से निकलने के वर्षों बाद भी श्रद्धापूर्वक आपका स्मरण करते हैं और परोक्ष में भी मुक्त कंठ से आपकी प्रशंसा करते हैं। किसी शिक्षक के लिए इससे अधिक गौरव की बात

और क्या हो सकती है ! ऐसे शिक्षकों को मैं किसी देश के बड़े से बड़े महापुरुषों और नेताओं में गिनता हूँ ।

भटनागर साहब के जीवन का चार दशकों से अधिक समय शिक्षण-कार्य में बीता है । इस लम्बी अवधि में जितने विद्यार्थी आपके सम्पर्क में आए हैं, उन सबको अपनी स्मृति में आपने इस प्रकार बसा लिया है कि वर्षों बाद भी उन्हें देखते ही उनकी याद हो आती है और आप उनसे कुशल-वार्ता करके गद्गद् हो जाते हैं ।

शिक्षक के रूप में आपका विगत कार्य-काल एक भीषण राष्ट्रीय संघर्ष का युग था । देश की और अनेक शिक्षण संस्थाओं के समान कानपुर की शिक्षण संस्थाओं ने भी नवयुवकों के उमड़ते हुए हिलकोरों का अनुभव किया, अनेक आन्दोलनों, आँधियों और तूफानों, हलचलों और उत्पातों को सहा और उनका सामना किया । ऐसी परिस्थियों में आपका सहयोग बराबर राष्ट्रीयता के पुजारियों और विद्यार्थियों के पक्ष में रहा । स्व० श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के साथ राष्ट्रीय और सामाजिक सेवा में आपने उत्साहपूर्वक भाग लिया था । उस समय की स्वानुभूत कई घटनाओं का जब आप वर्णन करते हैं तो रोमांच हो आता है । ऐसे भी हृदय द्रावक प्रसंग आए जब कि आपने अपने कॉलेज के निकट ही अपनी आँखों के सामने विदेशी आततायियों की गोली के शिकार बने अपने प्रिय छात्रों के बलिदान का दृश्य देखा था । उसका स्मरण आने पर अब भी आपकी मुखमुद्रा पर विषाद की एक छाया सी छा जाती है । वह भी कैसा दर्दनाक जमाना था ! एक ओर विदेशी सरकार के बर्बर और भीषण अत्याचार और दमन का आतंक तथा दूसरी ओर देश के नवजाग्रत् जीवन के अदम्य विस्फुरण, हौंसले और अरमान ! इन दो पाटों के बीच विरले ही ऐसे विचारवान् शिक्षक थे, जो साबित बच सके हों उनमें से ऐसे भी कुछ त्यागी और बड़भागी थे, बिना पिसे विद्यालयों से बाहर निकलकर आन्दोलन के खुले मैदान में आ उतरे थे । उनकी बात मैं नहीं कहता । वे तो महान् थे ही और उनमें से बहुतों को बड़प्पन का सेहरा भी मिला । परन्तु जो विद्यालय के प्रांगण से पृथक् हुए बिना अपने देश की नवीन आशाओं और अभिलाषाओं को सींचने तथा पल्लवित पुष्पित करते रहने में ही संलग्न रहे, उनकी तो कुछ विचित्र दशा थी । अपनी सारी उमंगों को अपने हृदय की धड़कनों में छिपाए उन्होंने मौन भाव से उस राष्ट्रीय महासमर में जो सक्रिय योगदान दिया था, वह किसी साहित्यकार की लेखनी पर भले न उतर पाए, पर उसका भी कुछ महत्व था । उनकी भावनाओं को ठीक-ठीक समझ पाना उन्हीं के लिए सम्भव है, जो कुछ भुक्तभोगी हों । भटनागर साहब की स्मृति में देशानुराग और राष्ट्रसेवा की वे पुरानी अनुभूतियाँ मूल्यवान सम्पत्ति के समान अब भी संचित हैं । इसी कारण उत्तर प्रदेश क्या,समस्त देश के जानकार और अग्रणी नेताओं के हृदय में आपके प्रति परम आदर और सम्मान का भाव है । आप जैसे अनुभवी शिक्षक के प्रति भला किसे श्रद्धा न होगी !

प्रवक्ता के रूप में

भटनागर साहब के चरित्र में जैसा प्रभाव है, वैसा ही प्रभाव उनकी वाणी में भी है । उनको सच्चे अर्थों में वाग्मी कहा जा सकता है । वे अंग्रेजी और हिन्दी में बड़े ओजस्वी

भाषण देते हैं। देश के कई प्रमुख वक्ताओं की मंडली में भी मैंने उनकी वाणी में समकक्ष प्रभावशालिता के प्रमाण पाए हैं। कई ऐसे अवसर आए हैं जब कि उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् तथा डा० देशमुख के भाषणों के बाद भटनागर साहब को भाषण करना पड़ा और फिर भी उनके भाषण अपने पूर्ववक्ताओं के भाषणों से कुछ कम विचारोत्तेजक और प्रेरणापूर्ण नहीं हुए। उनके भाषणों में उनका प्रत्युत्पन्नमतित्व, निर्भीकता तथा मौलिकता स्पष्ट झलकती है। हिन्दी में बोलने का विशेष अभ्यास न होते हुए भी प्रसंग आने पर वे बहुत अच्छी और मुहावरेदार भाषा में अपने विचार व्यक्त करते हैं और उनसे श्रोताओं को सहज ही प्रभावित कर लेते हैं। उनके कई विद्वत्तापूर्ण भाषण श्रोताओं को इतने सुन्दर प्रतीत हुए कि उन्हें लोग रेकार्ड करके सुरक्षित करने का प्रस्ताव करने लगे थे।

हिन्दी-प्रेमी के रूप में

भटनागर साहब स्वयं अपने को हिन्दी-वेत्ता मानने का दावा नहीं करते। उन्होंने हिन्दी में कहानियाँ, उपन्यास और नाटक लिखने का कभी प्रयास नहीं किया। फिर भी उनकी सेवाओं का महत्व किसी साहित्यकार से कम नहीं। उन्होंने बराबर हिन्दी के पक्ष का प्रबल समर्थन किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में मुझ एक मनोरंजक घटना बताई थी। राजभाषा कमीशन में अपने विचार करने के लिए उनको बुलाहट हुई थी। उसके कुछ ही दिन पहले वे आगरा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के पद पर आसीन हुए थे। कमीशन के सामने जाते ही उनके समक्ष आगरा विश्वविद्यालय से पहले की भेजी हुई कुछ टिप्पणियाँ और कागज-पत्र प्रस्तुत किए गए। वे पहले के उप-कुलपति द्वारा प्रेषित थे। तब तक भटनागर साहब ने यद्यपि पहले से उन्हें देखा नहीं था और बिना किसी प्रकार की तैयारी के गए थे, तो भी कमीशन के सामने उन्हें एक सरसरी निगाह से देखकर भटनागर साहब ने उनकी ऐसी व्याख्या की, जिससे वे सारे मतव्य हिन्दी के पक्ष में पलट गए। सदस्यों ने कहा—तब तो इसका अर्थ यह है कि आपका विश्वविद्यालय हिन्दी के प्रयोग के पक्ष में है। भटनागर साहब ने कहा—'बेशक'। उनके इस निर्भीक, दृढ़ और स्पष्ट भावों से द्विवेदी जी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने संस्कृत में तुरन्त एक श्लोक बनाकर और उनके नाम के 'भट' और 'नागर' इन दोनों शब्दों को लेकर उनकी बुद्धि की 'प्रखरता' और 'चतुरता' की सराहना की।

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति होने के बाद उनके कार्य-काल में कार्यकारिणी की जो पहली बैठक हुई, उसीमें भटनागर साहब ने यह प्रस्तावित कराया कि हमारे विद्यापीठ का अपना भवन होना चाहिए और उसके लिए आवश्यक द्रव्य की भी व्यवस्था कराई। स्मरण रहे कि इस विद्यापीठ की नींव उसके तीन वर्ष पहले हमारे उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री और अब भारत के स्वराष्ट्र मंत्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त जी के द्वारा डाली जा चुकी थी। फिर भी उस नींव पर भवन खड़ा करके तत्कालीन कुलपति श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की भावनाओं को साकार करना भटनागर साहब का ही बूता था। आपके सदुद्योगों से थोड़े समय में ही विद्यापीठ का दुमंजिला भवन निर्मित हो गया। हमारे विद्यापीठ के बालचरणों ने आपसे ही पोषण पाकर शक्ति और स्थिरता प्राप्त की। आपके संरक्षण में हमारा हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ दिनानुदिन

उन्नति करता गया और आपके कार्य-काल में ही यह देश की उच्चस्तरीय शिक्षा और अनुसन्धान संस्थाओं में अग्रिम स्थान प्राप्त करने के योग्य बन सका। यों तो आपका उपकुलपतित्व आगरा विश्वविद्यालय के इतिहास में कई दृष्टियों से स्मरणीय रहेगा पर इसमें सन्देह नहीं कि यह हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ आपकी महिमा और सत्कीर्ति का सबसे अधिक सार्थक जयघोष माना जायगा।

प्रत्येक वर्ष विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोहों पर आपकी दृष्टि हिन्दी के विद्वानों की ओर जाती रही और आप हिन्दी के विद्वानों को विद्याविषयक सम्मानास्पद उपाधियों से विभूषित करते रहे। इनमें डा० गुलाबराय, डा० वृन्दावनलाल वर्मा तथा डा० हरिशंकर शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

भटनागर साहब बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि आगरा विश्वविद्यालय में ऐसे विषयों के पठन पाठन की व्यवस्था हो, जिनके लिए अन्यत्र प्रबंध सुलभ नहीं है। भाषाविज्ञान की ओर उनका प्रारम्भ से ही ध्यान था। इसी कारण उपकुलपति होने के तुरन्त बाद उन्होंने रॉकफैलर फाउन्डेशन के तत्त्वावधान में सचालित पूना के भाषाविज्ञान पीठ के ग्रीष्मकालीन सत्र को अपने यहाँ निमंत्रित किया, जिसके अनुसार सन् १९५७ ई० में देहरादून में उसका आयोजन किया गया। उस समय तक हमारे विद्यापीठ के भवन का निर्माण नहीं हो सका था। इसी कारण यह सत्र अन्यत्र करना पड़ा था। अपने कार्य-काल के अन्त में भी उन्होंने विदा होने से पहले भाषाविज्ञान के एक प्रौढ़ और उच्चस्तरीय सत्र का प्रवर्तन करके हमें प्रगति-पथ पर आगे बढ़ाया है। उत्तर भारत में अब तक केवल दो बार इन सत्रों का आयोजन हो सका है और इन दोनों आयोजनों का श्रेय आगरा विश्वविद्यालय तथा उसके तत्कालीन उपकुलपति के रूप में भटनागर साहब को ही है।

स्वभाव

ऐसा कोई बिरला ही व्यक्ति होगा जो श्रद्धेय भटनागर साहब के सम्पर्क में आकर उनकी सादगी और आकर्षण के वश में न आ जाय। होठों पर प्रभात की सुनहली किरण-सी मृदुल मुसकान की रेखा, बातों में शीतल फुहारे-सी खिलखिलाहट भरी हँसी, स्वभाव में बच्चों का-सा भोलापन—इस मूर्ति के सामने किसका सिर श्रद्धा से न झुक जायगा। भटनागर साहब के व्यवहार में एक ओर जहाँ असाधारण दृढ़ता तथा उदारता का समावेश है, वहाँ दूसरी ओर एक आडम्बरहीन अक्खड़ता भी है। किसीसे सच्ची बात कहने में आप कभी नहीं हिचकते। मधुरता के साथ स्पष्टवादिता का आपमें संतुलित समन्वय है। छल-प्रपंच के दाँव-पेंच तो आपके सामने चल ही नहीं सकते। आपके पवित्र निष्कपट व्यवहार के सामने चुगलखोरी और दुर्भाव की बातें प्रकाश के सामने अंधकार के समान आप ही-आप विलीन हो जाती हैं। कार्य-व्यस्तता के क्षणों के अतिरिक्त भटनागर साहब कभी अकेले रहना नहीं चाहते। दो चार संगी-साथियों तथा शिष्यों से घिरे रहने में ही उन्हें आनन्द आता है। उनके मिलनसार स्वभाव के सम्बन्ध में यहाँ एक प्रसंग का उल्लेख करना समीचीन होगा। एक बार कानपुर में प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज

भाषण देते हैं। देश के कई प्रमुख वक्ताओं की मंडली में भी मैंने उनकी वाणी में समकक्ष प्रभावशालिता के प्रमाण पाए हैं। कई ऐसे अवसर आए हैं जब कि उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् तथा डा० देशमुख के भाषणों के बाद भटनागर साहब को भाषण करना पड़ा और फिर भी उनके भाषण अपने पूर्ववक्ताओं के भाषणों से कुछ कम विचारोत्तेजक और प्रेरणापूर्ण नहीं हुए। उनके भाषणों में उनका प्रत्युत्पन्नमतित्व, निर्भीकता तथा मौलिकता स्पष्ट झलकती है। हिन्दी में बोलने का विशेष अभ्यास न होते हुए भी प्रसंग आने पर वे बहुत अच्छी और मुहावरेदार भाषा में अपने विचार व्यक्त करते हैं और उसमें श्रोताओं को सहज ही प्रभावित कर लेते हैं। उनके कई विद्वत्तापूर्ण भाषण श्रोताओं को इतने सुन्दर प्रतीत हुए कि उन्हें लोग रेकार्ड करके सुरक्षित करने का प्रस्ताव करने लगे थे।

हिन्दी-प्रेमी के रूप में

भटनागर साहब स्वयं अपने को हिन्दी-वेत्ता मानने का दावा नहीं करते। उन्होंने हिन्दी में कहानियाँ, उपन्यास और नाटक लिखने का कभी प्रयास नहीं किया। फिर भी उनकी सेवाओं का महत्व किसी साहित्यकार से कम नहीं। उन्होंने बराबर हिन्दी के पक्ष का प्रबल समर्थन किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध में मुझे एक मनोरंजक घटना बताई थी। राजभाषा कमीशन में अपने विचार करने के लिए उनकी बुलाहट हुई थी। उसके कुछ ही दिन पहले वे आगरा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति के पद पर आसीन हुए थे। कमीशन के सामने जाते ही उनके समक्ष आगरा विश्वविद्यालय से पहले की भेजी हुई कुछ टिप्पणियाँ और कागज-पत्र प्रस्तुत किए गए। वे पहले के उप-कुलपति द्वारा प्रेषित थे। तब तक भटनागर साहब ने यद्यपि पहले से उन्हें देखा नहीं था और बिना किसी प्रकार की तैयारी के गए थे, तो भी कमीशन के सामने उन्हें एक सरसरी निगाह से देखकर भटनागर साहब ने उनकी ऐसी व्याख्या की, जिससे वे सारे मंतव्य हिन्दी के पक्ष में पलट गए। सदस्यों ने कहा—तब तो इसका अर्थ यह है कि आपका विश्वविद्यालय हिन्दी के प्रयोग के पक्ष में है। भटनागर साहब ने कहा—'बेशक' ! उनके इन निर्भीक, दृढ़ और स्पष्ट भावों से द्विवेदी जी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने संस्कृत में तुरन्त एक श्लोक बनाकर और उनके नाम के 'भट' और 'नागर' इन दोनों अंशों को लेकर उनकी बुद्धि की 'प्रखरता' और 'चतुरता' की सराहना की।

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति होने के बाद उनके कार्य-काल में कार्यकारिणी की जो पहली बैठक हुई, उसीमें भटनागर साहब ने यह प्रस्तावित कराया कि हमारे विद्यापीठ का अपना भवन होना चाहिए और उसके लिए आवश्यक द्रव्य की भी व्यवस्था कराई। स्मरण रहे कि इस विद्यापीठ की नींव उसके तीन वर्ष पहले हमारे उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री और अब भारत के स्वराष्ट्र-मंत्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त जी के द्वारा डाली जा चुकी थी। फिर भी उस नींव पर भवन खड़ा करके तत्कालीन कुलपति श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की भावनाओं को साकार करना भटनागर साहब का ही बूता था। आपके सदुद्योगों से थोड़े समय में ही विद्यापीठ का दुमंजिला भवन निर्मित हो गया। हमारे विद्यापीठ के बालचरणों ने आपसे ही पोषण पाकर शक्ति और स्थिरता प्राप्त की। आपके संरक्षण में हमारा हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ दिनानुदिन

उन्नति करता गया और आपके कार्य-काल में ही वह देश की उच्चस्तरीय शिक्षा और अनुसन्धान-संस्थाओं में अग्रिम स्थान प्राप्त करने के योग्य बन सका। यों तो आपका उपकुलपतित्व आगरा विश्वविद्यालय के इतिहास में कई दृष्टियों से स्मरणीय रहेगा पर इसमें सन्देह नहीं कि यह हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ आपकी महिमा और सत्कीर्ति का सबसे अधिक सार्थक जयघोष माना जायगा।

प्रत्येक वर्ष विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोहों पर आपकी दृष्टि हिन्दी के विद्वानों की ओर जाती रही और आप हिन्दी के विद्वानों को विद्याविषयक सम्मानास्पद उपाधियों से विभूषित करते रहे। इनमें डा० गुलाबराय, डा० वृन्दावनलाल वर्मा तथा डा० हरिशंकर शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

भटनागर साहब बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि आगरा विश्वविद्यालय में ऐसे विषयों के पठन-पाठन की व्यवस्था हो, जिनके लिए अन्यत्र प्रबंध सुलभ नहीं है। भाषाविज्ञान की ओर उनका प्रारम्भ से ही ध्यान था। इसी कारण उपकुलपति होने के तुरन्त बाद उन्होंने रॉकफेलर फाउन्डेशन के तत्त्वावधान में संचालित पूना के भाषाविज्ञान-पीठ के ग्रीष्मकालीन सत्र को अपने यहाँ निमंत्रित किया, जिसके अनुसार सन् १९५७ ई० में देहरादून में उसका आयोजन किया गया। उस समय तक हमारे विद्यापीठ के भवन का निर्माण नहीं हो सका था। इसी कारण वह सत्र अन्यत्र करना पड़ा था। अपने कार्य-काल के अन्त में भी उन्होंने विदा होने से पहले भाषाविज्ञान के एक प्रौढ़ और उच्चस्तरीय सत्र का प्रवर्तन करके हमें प्रगति-पथ पर आगे बढ़ाया है। उत्तर भारत में अब तक केवल दो बार इन सत्रों का आयोजन हो सका है और इन दोनों आयोजनों का श्रेय आगरा विश्वविद्यालय तथा उसके तत्कालीन उपकुलपति के रूप में भटनागर साहब को ही है।

स्वभाव

ऐसा कोई बिरला ही व्यक्ति होगा जो श्रद्धेय भटनागर साहब के सम्पर्क में आकर उनकी सादगी और आकर्षण के वश में न आ जाय। होठों पर प्रभात की सुनहली किरण-सी मृदुल मुसकान की रेखा, बातों में शीतल फुहारे-सी खिलखिलाहट भरी हँसी, स्वभाव में बच्चों का-सा भोलापन—इस मूर्ति के सामने किसका सिर श्रद्धा से न झुक जायगा। भटनागर साहब के व्यवहार में एक ओर जहाँ असाधारण दृढ़ता तथा उदारता का समावेश है, वहाँ दूसरी ओर एक आडम्बरहीन अक्खड़ता भी है। किसीसे सच्ची बात कहने में आप कभी नहीं हिचकते। मधुरता के साथ स्पष्टवादिता का आपमें संतुलित समन्वय है। छल-प्रपंच के दाँव-पेंच तो आपके सामने चल ही नहीं सकते। आपके पवित्र-निष्कपट व्यवहार के सामने चुगलखोरी और दुर्भाव की बातें प्रकाश के सामने अंधकार के समान आप ही-आप विलीन हो जाती हैं। कार्य-व्यस्तता के क्षणों के अतिरिक्त भटनागर साहब कभी अकेले रहना नहीं चाहते। दो-चार संगी-साथियों तथा शिष्यों से घिरे रहने में ही उन्हें आनन्द आता है। उनके मिलनसार स्वभाव के सम्बन्ध में यहाँ एक प्रसंग का उल्लेख करना समीचीन होगा। एक बार कानपुर में प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज

कपूर अपनी मडली के साथ आए थे। भटनागर साहब को मालूम हुआ तो उन्हें तुरन्त अपने यहां बुलाया और सम्मानित किया। रचनात्मक साहित्य से विशेष सम्पर्क न

श्री पृथ्वीराज कपूर अपनी स्वागत गोष्ठी में भाषण करते हुए

रखते हुए भी वे उनके साथ नाटक के सम्बन्ध में काफी देर तक चर्चा करते रहे। वे स्वयं तो अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ हैं, पर उनकी रुचि अधिक व्यापक है। अर्थशास्त्र के तो उन्होंने हिन्दी में कई ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिन्हें उत्तर प्रदेशीय सरकार ने पुरस्कृत किया है, और जो कोई विश्वविद्यालयों के पाठ्य क्रम में निर्धारित हैं। विद्यार्थियों के लिए वे बहुत उपादेय सिद्ध हुए हैं। कहने को तो मैंने कह दिया कि रचनात्मक साहित्य से भटनागर साहब का विशेष सम्पर्क नहीं रहा है, परन्तु अभी कुछ ही वर्ष हुए भटनागर साहब ने अपने पूर्वज स्व० श्री मशी साहबसिंह भटनागर की (जिनका रचना काल बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था) उर्दू लिपि में लिखी गई 'प्रेम अभिलाष' नामक सुन्दर काव्यकृति का नागरी रूपान्तर तैयार कराके १९५५ ई० में प्रकाशित किया। श्री साहबसिंह की रचनाओं में कृष्ण की लीलाओं का बड़ा सुन्दर वर्णन है और कई ऐसी उद्भावनाएँ है, जो बहुत ही सरस और सर्वथा मौलिक हैं। भटनागर साहब ने इसको अपने पास से कोई पाँच हजार रुपए लगाए। भक्ति साहित्य के अनुरागियों के लिए 'प्रेम अभिलाष' सग्रहणीय है।

भटनागर साहब की साहित्यिक अभिरुचि का परिचय इस बात से भी मिलता है कि वे उर्दू कविता के बड़े शौकीन हैं। उनके सबसे अधिक प्रिय शायर ग़ालिब हैं। उनके कई चुने हुए शेर उन्हें कण्ठस्थ हैं। यह भी एक भले सयोग की बात है कि भटनागर साहब के समधी, भारत के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता स्व० सर शान्तिस्वरूप

भटनागर के पूर्वज थी रामगोपाल तुफ्ता गालिब के प्रिय शिष्यों में थे। उनके पास ग़ालिब के कई ख़त भी सुरक्षित थे, जिनमें से कुछ तो प्रकाशित हो चुके हैं। एक बार बातचीत के प्रसग में सर शान्तिस्वरूप ने मेरे मित्र प्रोफ़ेसर सैयद हसन अस्करी से इस बात की चर्चा की थी कि उनका एक सन्दूक जिसमें ग़ालिब के हाथ के लिखे ख़त थे, लाहौर में छूट गया था, जिसे उन्होंने स्व० लियाक़तअली साहब को ख़त लिखकर मँगवाया था।

भटनागर साहब धर्म के ढकोसलों में कभी विश्वास नहीं करते। अन्धविश्वासों से उन्हें चिढ़ है। परन्तु सामाजिक सुधार और धर्म के उज्ज्वल आदर्शों में आपकी दृढ आस्था है। किसी मतमतान्तर को न मानते हुए भी ऋषि दयानन्द के प्रति आपके हृदय में अत्यन्त श्रद्धा है। किसी राजनैतिक दल में सम्मिलित न होते हुए भी आप गांधी जी के प्रति पूर्ण आस्थावान् हैं। उनके लिए एक बार थैली भी एकत्र की थी। आपके चरित्र में हम इस बात के दृष्टान्त पाते हैं कि यश अपयश का विचार किए बिना आप सदा न्याय पथ पर अविचल रहे। कठिन से कठिन विपत्तियों के सामने भी आप कर्त्तव्य से कभी विमुख नहीं हुए। सत्य और सकल्प के पालन में वज्र से भी कठोर और दूसरों के दुख-दर्द को सुनने और समझने में कुसुम से भी कोमल स्वभाव आपके व्यक्तित्व की ऐसी विभूति है, जिसके सामने हमारा सिर श्रद्धा से आप ही आप झुक जाता है।

•

डा० सत्येंद्र

श्रद्धा के सुमन

पाटल

श्री कालका प्रसाद भटनागर का नाम डी० ए० वी० कालेज के प्रिंसिपल के रूप में बहुत पहले ही अपने कुछ उन विद्यार्थियों के द्वारा सुन चुका था जो कानपुर में उनके कालेज में प्रवेश पा चुके थे। उस समय उनके नाम को किस श्रद्धा से उन विद्यार्थियों ने लिया था यह मुझे स्मरण नहीं, पर उनकी श्रद्धा से मुझे भी श्रद्धा हुई ऐसा संस्कार आज मन में विदित होता है।

कदम्ब

आगरा में महावीर दिगंबर जैन कालेज में आप का नाम बार बार कान में पडने लगा। कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल महोदय ने अपने पत्र के साथ कई अध्यापकों को आप से मिलने भेजा। और मुझे स्मरण पड़ता है कि वे जिस कार्य के लिए उनके दर्शनार्थ गये थे, वह कार्य पूर्ण ही हुआ। संभवतः कोई भी निराश नहीं लौटा। विचारे दरिद्र अध्यापकों को लगा कि उनका भी हितैषी कोई है। इससे भी मेरे मन में आपके प्रति श्रद्धा का भाव और पुष्ट हुआ। यह सब बिना साक्षात्कार के हुआ।

बेला

मुझे आप का प्रथम साक्षात्कार भी महावीर दिगंबर जैन कालेज में ही मिला। आप जब कभी आगरा विश्वविद्यालय की किसी कार्यकारिणी या अन्य समिति में सम्मिलित होने आते थे, तभी एक समय के भोजन के लिए आपको निमंत्रित अवश्य किया जाता था। इस भोजन के अवसर पर मुझे भी उपस्थित होना ही पड़ता। आप अत्यन्त ही बेतकल्लुफी से आते और उसी बेतकल्लुफी से भोजन करते, भोजनों की प्रशंसा करते भी न थकते। कोई भी देखनेवाला कह सकता था कि आप को न गर्व छू गया है, न दिखावट। आप की बातों का मैं तो श्रोता मात्र ही होता था; मुझे बातें करना न तब आता था, न आज आता है। पर मैं उनके दर्शनों से आनंद अवश्य अनुभव करता था।

जूही

फिर मैं इस विद्यापीठ में बुला लिया गया। अभी मुझे आये कुछ महीने ही हुए थे कि आप आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त किये गये। मुझे इसी काल में कुछ समय के लिए एक्टिंग डायरेक्टर की भाँति कार्य करना पड़ा। मैंने आप की सेवा में विद्यापीठ का एक संक्षिप्त विवरण भेजा और अनुसंधान-प्रणाली का भी

विवरण भेजा। उस पर आपने ता० १४।५।५६ को लिखा कि Seen, it is a creditable record of work-आप की इस प्रशंसा का मुझपर बहुत प्रभाव पड़ा। मैंने समझा कि ये काम को परखना भी जानते हैं और उसकी कद्र करना भी जानते हैं।

कुंद

हिन्दी विद्यापीठ के एक सामान्य कार्यकर्त्ता के रूप में मैंने श्री भटनागर जी के व्यक्तित्व और कार्य-प्रणाली को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में बहुत निकट से देखा है। मैंने देखा कि हिन्दी विद्यापीठ के प्रति बहुत से व्यक्तियों में घोर विरोध की भावना थी। आपने बहुत शीघ्र ही उस विरोध की उग्रता को समाप्त कर दिया। विरोधियों से ऐसे कौशल से व्यवहार किया कि वे विरोध छोड़ बैठे। आपके कार्यकाल में इस प्रकार विरोध से बचकर हिन्दी विद्यापीठ ने प्रगति के और भी कई महत्वपूर्ण कार्य किये। विद्यापीठ में अनुसधान विषयक ठोस कार्य प्रारम्भ से ही हो रहा था, पर अनुसधान कार्य तो प्रारम्भ में हो सबको दिखायी नहीं पड़ता, कक्षाओं में विद्यार्थियों की भीड़ सबको दिखायी पड़ती है। भटनागर साहब ने विद्यार्थियों की सख्या बढ़ाने के हमारे प्रयत्नों में उल्लेखनीय प्रोत्साहन दिया। आज हम कह सकते हैं कि हिन्दी विद्यापीठ अब दृढ़ भूमि पर खड़ा होगया है। इसकी आज चतुर्मुखी प्रगति सभी को दृष्टिगोचर हो रही है।

गेंदा

मुझे डी० लिट्० की उपाधि आपके ही उपकुलपतित्व में प्राप्त हुई। मैं समझ सकता हूँ कि मेरी इस डी० लिट्० उपाधि की प्राप्ति पर आपको एक प्रकार का गर्व हुआ था। क्योंकि एक दिन हम दो चार व्यक्ति आपके साथ ही विश्वविद्यालय के नये रेस्त्रा को देखने चले गये—वहाँ आपने कहा कि सत्येन्द्र के डी० लिट० होने के उपलक्ष्य में आज मेरी ओर से चाय पीजिये। मैं कुछ भी नहीं कह सका, इनकी महानता पर श्रद्धावनत हो गया। इसी प्रकार मेरे डी० लिट्० होने के उपलक्ष्य में एक प्रीतिभोज का आयोजन किया गया, उसमें आपने भी सम्मिलित होने की कृपा की और वहाँ उस बड़ी भीड में डके की चोट आपने कहा कि मैंने सत्येन्द्र की इस परीक्षा के सम्बन्ध में ऐसा प्रयत्न किया था कि खरी से खरी परीक्षा हो और सत्येन्द्र ने अपनी योग्यता सर्वथा सिद्ध कर दी है। एक उपकुलपति के ऐसे शब्द मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति के लिए कितने गौरव के शब्द थे। इन बातों से मैंने अनुभव किया कि विश्वविद्यालय के उपकुलपति जैसे मेरे कोई निजी वरदाता बुजुर्ग हों।

चम्पा

मैंने आपके कई भाषण भी सुने हैं और उन्हें सदा ही प्रेरणाप्रद और खरा पाया।

कमल

आप महान हैं मैं लघु हूँ। लघु महान् की महानता को यथार्थतः कैसे समझ सकता है? वस्तुत मैंने आपसे कभी कुछ भी चाहा नहीं, पर बिना चाहे भी मुझे बहुत

कुछ मिलता रहा। मुझ जैसा दीन व्यक्ति संसार में सभी के प्रति कृतज्ञता का भाव रखता है, तो श्री भटनागर के प्रति वह कृतज्ञता का भाव यदि विशेष प्रबल है तो वह अकारण नहीं, आपके उपकुलपतित्व में मैं डी०-लिट्० हुआ, अपने चेतन के उच्चतर मान पर पहुँच सका और डटकर अनुसंधान और शोध का कार्य कर सका। अतः मैं बराबर अपने सुमन-श्रद्धा से समन्वित सुमन, आपको चढ़ाता हूँ।
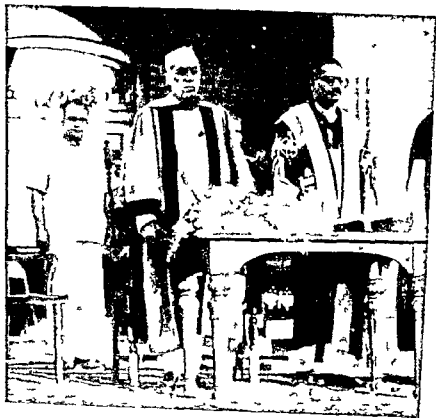
श्री कालकाप्रसाद भटनागर तथा श्री नेहरू जी

डा० वृन्दावन लाल वर्मा

श्री कालकाप्रसाद जी भटनागर

चालीस-बयालीस साल हो गये तब की बात है। मेरे छोटे भाई रामनाथ वर्मा कानपुर के दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज के विद्यार्थी थे। बोर्डिंग हाउस में रहते थे। मैं इनके पास गया और थोडी देर के लिये बोर्डिंग में ठहरा। कई विद्यार्थी आ गये और बातें करने लगे। इतने मे तीस-चालीस डग की दूरी वाले कमरे से एक युवक निकले और हमारी तरफ़ बढे। विद्यार्थी खड़े हो गये।

धीरे से एक ने मुझसे कहा,—यह हमारे अर्थशास्त्र के प्राध्यापक हैं, नाम है—श्री कालकाप्रसाद भटनागर।

वह निकट आ गये। मेरी उनकी परस्पर नमस्ते हुई। मैं और वहाँ के वे विद्यार्थी चारपाइयों पर बैठे थे। विद्यार्थी उनके लिए कुर्सी लाने को हुए कि श्री भटनागर ने हँसकर कहा—'नही भाई मैं तो चारपाई पर ही बैठूंगा।' और वह बैठ गये।

खुला चेहरा, खिली हँसी—ऊँची खिलखिली हँसी—मुक्त व्यवहार।

मैं प्रताप प्रेस में ठहरा था और श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी जी से बातचीत करके आया था। राजनैतिक आन्दोलन गर्मागर्मी के साथ चल रहे थे। विद्यार्थियो पर भी काफी प्रभाव पड़ा था। कुछ ऐसे ही प्रसगो पर बातचीत होती रही। बोर्डिंग मे स्वतन्त्रता की लहर पर विशेष प्रतिबन्ध नही थे। श्री भटनागर बोर्डिंग के उस भाग के अधीक्षक थे। विद्यार्थियो के साथ उनका बर्ताव बहुत उदारता और स्नेह का था। यह नही कि विद्यार्थियो की 'हरकतो' के निरखने परखने में उनकी निगाह चूक जाती हो—सब देख-परख लेते थे। बस तरह दे जाते थे, और कभी-कभी सावधान भी कर देते थे। स्मरण-शक्ति ऐसी कि ब्यौरे के साथ सब याद रक्खें।

उस बैठक में जितनी बातें हुई उनसे, मैं अपने मन में सब सँजोकर लाया। तब उन्हें दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज में काम करते कुछ महीने ही हुए थे, शायद उसके साल-छह महीने पहले उन्होंने एम० ए०, एल-एल० बी० परीक्षाएँ पास की थी।

इसके उपरान्त हम दोनो, कभी कानपुर में, कभी लखनऊ में, कई बार मिले। वही खुला चेहरा, वही ऊँची खिलखिलाहट, वही मुक्त और स्नेहिल व्यवहार। मित्रता बढती गई। मेरे मन में उनके व्यक्तित्व के प्रति आदर चढ़ता गया। सिद्धान्तो के दृढ

और अटल, धैर्य के प्रचण्ड, निर्भय और उदार, कर्मठ, कार्यकुशल और सहानुभूति से ओत-प्रोत, गहरे विद्वान् और मनीषी—इतने गुण एक ही व्यक्ति में इकट्ठे कम देखे हैं, मेरे अनुभव में बहुत कम आये हैं। स्मरण-शक्ति श्री भटनागर की आश्चर्यजनक है। हजारों विद्यार्थी इनके सम्पर्क में आये हैं। न जाने कितनों के नाम और उनके 'करिश्मे' इन्हें याद हैं!

श्री भटनागर कानपुर के उक्त कालेज के प्रिन्सिपल भी रहे हैं। प्राध्यापक और प्रिन्सिपल के पदों पर जब थे, अनगिनत विद्यार्थियों की इन्होंने किसी न किसी रूप में सहायता की है। जब आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति हो गये, वही स्वभाव, वही रहन-सहन बना रहा।

दो वर्ष हुए जब श्री भटनागर झाँसी आये। मैं और मेरे भाई उनसे मिले।

उसी खिली-खुली ऊँची हँसी के साथ उन्होंने मेरे भाई को चालीस वर्ष पुरानी बोर्डिंग जीवन की उनकी एक 'करामात' सुना दी! सभी सुनने वाले हँस पड़े। उनके और भी कई पुराने विद्यार्थी उन्हें मिले! उन्हें नाम याद और उनके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली कोई न कोई घटना भी!

श्री भटनागर के जीवन में कई दुःखद घटनाएँ घटी हैं। उन्हें वह कैसे भूल सकते हैं? ऐसी स्मरण-शक्ति और वैसा भावपूर्ण हृदय! इस पर भी उनके आध्यात्मिक स्वभाव, अचल दृढ़ता और अटल धैर्य ने उन्हें वह सब कुछ सहने की शक्ति इतनी दी है कि उन्होंने अपने दुःखों को दबा दिया और स्मृति को अपने दृढ़ मन के न जाने किस कोने में धकेल दिया।

श्री भटनागर बड़े ही कर्तव्य परायण हैं इन्होंने विद्यार्थियों की तो सहायता की ही है, अनेक कॉलेजों और छोटी-बड़ी शिक्षा-संस्थाओं की भी सहायता उठने, खड़े होने और आगे बढ़ने में की है।

बोलते बहुत अच्छा हैं। हिन्दी पर तो अधिकार है ही, अंग्रेजी भाषा पर भी अधिकार है।

सबसे बड़ी बात यह कि सबके साथ बर्ताव मिठास भरा, खिली-खुली ऊँचे स्वर वाली हँसी और साथ ही कर्तव्य परायणता।

श्री जगदीश वाजपेयी

स्मृति के वातायन से

बात आज से लगभग दो दशक पूर्व--सन् १६४० के जूलाई मास की है। तब का डी० ए० वी० कॉलेज आज से बहुत भिन्न-अपेक्षाकृत कम कार्यसंकुल तथा शान्त वातावरण से युक्त था। उसके प्रिंसिपल थे साधुमना दार्शनिक प्रवर ला० दीवानचंद और वाइस-प्रिंसिपल थे हमारे वर्तमान उपकुलपति श्री भटनागर। जूलाई का दूसरा सप्ताह। कॉलेज-हॉस्टेल सभी जगह प्रवेशार्थियों की भीडभाड और इनके बीच कुछ दबा-दबा, सहमा-सकुचा सा मैं भी (City of hills) से चलकर (City of mills) के उक्त कॉलेज के बी० ए० प्रथम वर्ष में प्रवेश पाने का इच्छुक था और प्रवेश-कार्य में कोई असुविधा न हो इस कारण भटनागर साहब के नाम डी० ए० वी० कॉलेज, देहरादून के तत्कालीन प्रिंसिपल श्री ए० डी० बनर्जी से परिचय पत्र भी लाया था। देहरादून में पढते समय ही इस कॉलेज की गरिमा तथा महिमा के विषय में बहुत कुछ सुन रक्खा था, अतः वहाँ के आचार्य, उपाचार्य तथा प्राध्यापकों के अध्ययन-अध्यापन, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि के विषय में मन पर बड़ा आतंक था। सोचता था कि कहाँ तो गुरुकुलों से बहुत कुछ मिलता-जुलता डी० ए० वी० कॉलेज, देहरादून, का वातावरण और कहाँ पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों के नगर-कानपुर के प्रान्त-विख्यात कॉलेज का ठाठ-बाठ। दोनों में वैषम्य ही अधिक था। अतः मन कुछ धुकुर-पुकुर कर रहा था। भटनागर साहब कैसे आदमी होंगे; विद्यार्थियों से और विशेषकर नये अपरिचित छात्रों से कैसे मिलते होंगे; उनका वेश-भूषा कैसी होगी; यहाँ तक कि उनका बँगला तथा ड्राइंगरूम किस प्रकार का होगा—आदि अनेक जिज्ञासायें प्रश्नचिन्ह के रूप में अनवरत गति से मन में उठ रही थी। वस्तुतः उन दिनों का मैं आज की भाँति मुखर तथा वाचाल नहीं था और यदि सच पूछा जाय तो मेरे अन्दर कुछ-कुछ दब्बूपना भी विद्यमान था। अतः तीन-चार दिन तो इसी संकल्प-विकल्प में बीत गये कि भटनागर साहब से कहाँ मिला जाय—घर पर, कॉलेज में या बोर्डिंग में? पर एक दिन सहसा ऐसी घटना घटी कि जिसने मेरे सारे भय, सकोच, दब्बूपन आदि को निमिषमात्र में ही छू-मंतर कर दिया।

बात यूँ हुई कि 'राउण्ड' करते हुए वे एक दिन ठीक उसी कमरे के सामने आ रुके, जिसमें देहरादून के ही एक अन्य विद्यार्थी के साथ मैं भी रहता था और कमरे के

अधबंद दरवाजे को ठेल कर झांकते हुए मैंने एक सांस में कई एक प्रश्न--कहाँ से आये हो; क्या नाम है; क्या-क्या विषय लिये हैं--आदि पूछ गये। प्रश्नकर्ता के कंठ-स्वर-भाव-भंगी, वेश-भूषा आदि की सरलता से अभिभूत एक क्षण के लिए तो मैं हक्का-बक्का-सा रह गया, पर दूसरे ही पल कुछ सँभल कर बोला--'देहरादून से आया हूँ, बी० ए० प्रथम वर्ष का विद्यार्थी हूँ और हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी ली है।'

'अच्छा तो तीनों लिट्रेचर लिए हैं; क्या कुछ कविता-वविता भी लिखते हो'--यह कह उन्होंने मुझे यूँ देखा मानो उनकी सूक्ष्म दृष्टि के लिए मेरा व्यक्तित्व एक पारदर्शक पदार्थ था और जिसके गोपन से गोपन तन्तुओं को उन्होंने परख लिया हो। हाँ तो चोर पकड़ा जा चुका था। मेरी. सिट्टी-पिट्टी गुम थी। क्षण भर को ऐसा लगा कि यदि यह व्यक्ति ज्योतिषी या दैवज्ञ नहीं तो कम से कम इसमें आदमी को गहराई से पहचानने की सूक्ष्म शक्ति तथा उसके व्यक्तित्व की पर्तों को उघाड़कर देख लेने की अपूर्व क्षमता अवश्य विद्यमान है। रही, परिचय-पत्र वाली बात--वह तो अवचेतन मन में न जाने कहाँ पड़ी रह गई है।

किसी अपरिचित विद्यार्थी से पहली-पहली जान-पहचान में इतना अपनापन, इतनी आत्मीयता उँड़ेली जा सकती है--इस बात की मैंने स्वप्न में भी कल्पना न की थी और फिर मेरे जैसे तो वहाँ एक-दो, सौ पचास, नहीं, पूरे पाँच सौ विद्यार्थी थे।...और तब से आये दिन अपराह्न में वार्डिंग के वार्डेन' के कमरे में उनके दर्शन होते और हर बार मानो उनके मुक्त हास्य, आत्मीयता-चर्चित वार्तालाप के शत-शत सीकरों से अभिसिक्त होते हुये मन-प्राण मानो नई जगह जाकर सहज ही में होने वाली अकुलाहट, ऊबन और उदासी से मुक्ति पाकर तरो-ताजा हो उठते।

मैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कभी भी भटनागर साहब के विषय अर्थात् अर्थशास्त्र का विद्यार्थी नहीं रहा; मुझे कभी भी उनकी कक्षा में बैठ कर उनके व्याख्यान सुनने का सुयोग नहीं मिला, पर सच यह है कि उनके जीवन की पाठशाला से, उनके कार्य-कलाप की प्रयोगशाला से मैंने क्या कुछ नहीं सीखा। सहयोग उनकी सम्पत्ति एवं विश्वास उनका बल है। सरलता उनकी शक्ति और प्रेम उनका जीवन-सबल है। अर्थशास्त्र के शिक्षक होने के नाते मानो उसमें आने वाले Taxation के प्रकरण को पूर्णरूपेण भुलाकर Co-operation के अध्याय को ही उन्होंने भली-भाँति हृदयगम किया है। स्वयं एक प्रख्यात अर्थशास्त्री होने के कारण वे अर्थ की महत्ता से सम्यक रूपेण अवगत हैं, पर उसकी अनर्थकरी प्रवृत्तियों से भी अपरिचित नहीं। उनके यहाँ रुपये भी नगण्य हैं, यदि वे सुकार्य अथवा सुपात्र के हेतु व्यय किये गये हैं और पाइयाँ भी गण्य हैं यदि वे अनधिकारी-व्यक्ति अथवा अनुचित कार्य के लिये खर्च की गई हैं।

हाँ तो मैं कह रहा था उनके जीवन के सबलतम पक्ष-छात्रों के प्रति उनके अपार प्रेम की बात। घटना शायद अगले साल यानी १९४१ के अंत की है। विद्यार्थियों के एक आन्दोलन में मेरे कमरे में रहने वाले--श्री जगदीश प्रसाद गुप्त अपने अन्य अनेक

साथियों के साथ पकड़ लिये गये थे और सारी रात हवालात में रहे। छात्रावास में रहने वाले हम सभी लोग इन साथियों के लिये बहुत चिन्तित थे। परदेश की बात, पुलिस वालों से झगड़ा और उन्हीं की हवालात—बड़ी कठिन समस्या थी। पर एक बात को लेकर हम सभी अत्यधिक आश्वस्त तथा परितुष्ट थे कि जिस व्यक्ति के संरक्षण में हम लोग यहाँ रह रहे हैं, वह हम से भी अधिक परेशान होगा तथा इस समस्या का कोई न कोई समाधान निकाल कर ही मानेगा। और हुआ भी यही। प्रातः होते-होते पता चला कि जमानत की व्यवस्था हो गई है और अपराह्न तक हमारे वे साथी हमारे बीच में थे। भगवान झूठ न बुलवाये यदि कोई और अध्यापक होता तो हमें उपकार के बोझ से लाद देता और अफसरों तथा अधिकारियों के बीच अपने प्रभाव की विरुदावली बखानते न चूकता, पर भटनागर साहब, उन्होंने इस 'मुक्ति प्रसंग' की चर्चा तक न की। हाँ, इस घटना से ४-५ दिन बाद एक दिन हँसते हँसते उन्होंने मुझसे कहा—'वाजपेयी, तुम हो बड़े चालाक! बेचारे गुप्ता को फँसवा कर खुद अलग।' उनकी इस बात में शुद्ध हास्य का जो निष्कपट पुट था उसने मानो घटना की गम्भीरता को बहिष्कृत कर उसे ऐसा रूप दे दिया कि सारी बात ही आई-गई सी हो गई।

यहाँ उनकी हास्यप्रियता के सबंध में पिछले साल ही घटी एक ताजी घटना अप्रासंगिक न होगी। गत वर्ष आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति के रूप में वे हमारे कॉलेज में पधारे। शिक्षक-वर्ग की ओर से उनके सम्मान में एक 'पार्टी' का आयोजन किया गया था, पर पार्टी शुरू होने में कुछ विलम्ब होने के कारण अध्यापक-कक्ष में हम सभी शिक्षकों के साथ भटनागर साहब भी बैठे थे और इधर-उधर की कुछ बातें चल रही थीं। एकाएक मोटापे का प्रसंग आने पर मैंने एक निरी मनगढन्त कहानी उन्हें सुना डाली, जो इस प्रकार थी, कि मेरे एक मित्र की सद्‌गृहिणी ने अपने घर की छत पर बन्दरों द्वारा कहीं से लाकर डाला गया एक कपड़ा पड़ा पाया और अपनी सूझ-बूझ द्वारा कतर-ब्योंत कर उसमें अपने आध दर्जन बच्चों के पतलून बना डाले। कुछ दिनों बाद गृह-स्वामी के खोज-बीन करने पर पता चला कि उक्त कपड़ा उनके एक अति कृशकाय पड़ोसी की 'हाफ पैंट' थी जिसमें से ६ बच्चों की 'फुल-पैन्टें' सिली जा सकीं। मुझे स्मरण है कि इस कहानी को सुन कर मेरे कई एक शुभ चिन्तक, ज्ञानवृद्ध तथा पद-वृद्ध महानुभावों ने मुझ मौका-महाल देख कर बात न करने तथा विश्वविद्यालय के उप-कुलपति जैसे समादरणीय व्यक्ति के सामने इस प्रकार की अगम्भीर बात कहने की धृष्टता करने के लिये झिड़का भी था, पर भटनागर साहब की विनोदप्रिय प्रकृति से पिछले २० वर्षों से परिचित मैं यह बात भलीभाँति जानता था कि उन्हें इस कथा में रस आया है और उन्होंने—'शैतान कहीं के' कह कर मेरे इस विश्वास का परोक्ष समर्थन ही किया था।

उपरिलिखित पंक्तियों को लिखते-लिखते मेरी मानस-मंजूषा में सुरक्षित भटनागर साहब की यह उक्ति अब तक स्मरण है 'दुइ जगदीस कहाँ ते आये अल्ला राम करीमा', जो वे मुझे चिढ़ाने के लिये इस कारण कहते थे कि जगदीश नाम के हम दो लड़के एक ही कमरे में रहा करते थे और यह एक विचित्र संयोग की बात थी कि नामों का यह

साम्य बी० ए० (प्रथम वर्ष) और बी०ए० (द्वितीय वर्ष) दोनों ही सालों में रहा। अन्तर केवल इतना पड़ा कि पहले साल जगदीश वाजपेयी के साथ जगदीश गुप्त रहते थे और दूसरे वर्ष गुप्त के स्थान पर जगदीश द्विवेदी आ गये। पर लगातार दो साल तक दो-दो जगदीश एक साथ रहे और भटनागर साहब को यह बहु भर चिढ़ाने का अवसर मिलता रहा—

'दुइ जगदीस कहाँ ते आये अल्ला राम करीमा।'

श्री जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी

भटनागर साहब

मुझको यह सौभाग्य प्राप्त रहा है कि जब से मैंने दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज, कानपुर में प्रवेश किया, भटनागर जी का मेरे ऊपर वरद हस्त रहा। वे अर्थशास्त्र के अध्यापक थे और मैंने अर्थशास्त्र लिया नही था, इसलिए मैं उनका छात्र तो कभी नही रहा पर वे हमारे कालेज होस्टल के वार्डन थे और प्रथम वर्ष में ही मुझे जो कमरा मिला वह उनके घर के ठीक सामने था। इसलिए मुझे उनके अधिक निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

भटनागर साहब की जो सब से बडी विशेषता हम छात्रो को आते ही ज्ञात हो जाती थी वह यह थी कि वे अपने प्रत्येक छात्र में निजी दिलचस्पी लेते थे। होस्टल में उस समय लगभग ३०० छात्र थे और कोई भी ऐसा नहीं था जिसको वे उसके निजी नाम से न पुकारते हों। समय का प्रभाव स्मृतियों को लोप कर देता है पर भटनागर साहब को यह दैवी वरदान प्राप्त है कि जिसका उन्होंने एक बार नाम जान लिया उसको कभी भूलते नही। इसका हम नए छात्रों के ऊपर बडा भारी प्रभाव पडा।

उनकी दूसरी छाप जो मेरे मन पर पडी और जो इनके प्राय प्रत्येक छात्र पर पडी, वह उनकी निरभिमानता है। कालेज और विश्वविद्यालयो में खास तौर से पढे लिखे वर्ग में बडप्पन की बू अस्वाभाविक नही। बहुत से लोग तो अपने अहं का सम्मान ही अपनी मौलिकता का मानदड समझते हैं। परन्तु एक कालेज के उपकुलपति की हैसियत से ही नही, विश्वविद्यालय की एक बहुत शक्तिशाली सत्ता के रूप में भी भटनागर साहब में अहकार की मात्रा रत्ती भर भी नही रही। उनका यह गुण कम होने के बजाए उत्तरोत्तर निखरा है, चाहे वे डी० ए० वी० कालेज के प्रिंसिपल रहे हो या आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति।

हम लोगो के लिए सब से बडा आश्चर्य यह था जब हम से कहा जाता था कि श्री भटनागर साहब विवादास्पद व्यक्ति है। हमारा अनुभव ऐसा रहता था कि जैसे वे विवाद से कोसो दूर हो। हमने उन्हें कभी लडते नहीं देखा। उनकी बोली मे थोडा भारीपन है, फिर भी हम लोगो ने उन्हें किसी विवाद में पडते नही देखा। उनके हृदय में दयालुता थी और यदि कभी कोई फीस समय पर न दी जाती तो उनसे उसे माफ

करा लेना बहुत आसान बात थी। हमने उनको किसी प्रकार के टीमटाम, निजी शौक या और किसी काम में लगे नहीं देखा जिसका सम्बन्ध कालेज या विश्वविद्यालय से न हो। उनका जीवन ही एक प्रकार से छात्रों की सेवा में समर्पित रहा है। आज राजनीति के हाव-भाव देखने के पश्चात् मैं यह समझ सका हूँ कि भटनागर साहब की शक्ति क्या है। उनकी लगन, निरभिमानता, दूसरों के प्रति अथाह सहानुभूति तथा सहायता देने की प्रवृत्ति उनको ऐसे प्रशंसक व समर्थक जुटा देती है जिनको डिगाना आसान काम नहीं होता। इसी कारण जिस क्षेत्र में भी वे रहते हैं वह सदा सफल रहता है और जो एक बार उनके सम्पर्क में आ गया वह व्यक्ति कट कर नहीं गया। हो सकता है कुछ लोगों को उनकी यह लोकप्रियता पसन्द न हो और अब तो वह समय भी निकल गया। जब हम कालेज में पढ़ते थे, तब तो यह कहा भी जा सकता था कि उनके साथ कोई विवाद है पर आज तो विश्वविद्यालय के प्रति उनकी निष्ठा और सेवा ने सभी को उनका प्रशंसक बना दिया है।

आज भी जब कभी किसी रेलवे स्टेशन पर चलते फिरते भटनागर साहब से भेंट हो जाती है तो वे कुशल-क्षेम ही नहीं पूछते, वे इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि उनके भूतपूर्व छात्र कैसे हैं, क्या कर रहे हैं। कक्षा के कितने विद्यार्थी किस कार्य में हैं हरएक के बारे में जानकारी लेते रहते हैं। भगवान् से प्रार्थना है कि वर्षों तक हमें भटनागर साहब के इसी प्रकार के आशीर्वाद प्राप्त होते रहें।

श्री कालकाप्रसाद भटनागर उपकुलपति आगरा विश्वविद्यालय

करा लेना बहुत आसान बात थी। हमने उनको किसी प्रकार के टीमटाम, निजी शौक या और किसी काम में लगे नहीं देखा जिसका सम्बन्ध कालेज या विश्वविद्यालय से न हो। उनका जीवन ही एक प्रकार से छात्रों की सेवा में समर्पित रहा है। आज राजनीति के हाव-भाव देखने के पश्चात् मैं यह समझ सका हूँ कि भटनागर साहब की शक्ति क्या है। उनकी लगन, निरभिमानता, दूसरों के प्रति अथाह सहानुभूति तथा सहायता देने की प्रवृत्ति उनको ऐसे प्रशंसक व समर्थक जुटा देती है जिनको डिगाना आसान काम नहीं होता। इसी कारण जिस क्षेत्र में भी वे रहते हैं वह सदा सफल रहता है और जो एक बार उनके सम्पर्क में आ गया वह व्यक्ति कट कर नहीं गया। हो सकता है कुछ लोगों को उनकी यह लोकप्रियता पसन्द न हो और अब तो वह समय भी निकल गया। जब हम कालेज में पढ़ते थे, तब तो यह कहा भी जा सकता था कि उनके साथ कोई विवाद है पर आज तो विश्वविद्यालय के प्रति उनकी निष्ठा और सेवा ने सभी को उनका प्रशंसक बना दिया है।

आज भी जब कभी किसी रेलवे स्टेशन पर चलते फिरते भटनागर साहब से भेंट हो जाती है तो वे कुशल-क्षेम ही नहीं पूछते, वे इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि उनके भूतपूर्व छात्र कैसे हैं, क्या कर रहे हैं। कक्षा के कितने विद्यार्थी किस कार्य में हैं हरएक के बारे में जानकारी लेते रहते हैं। भगवान् से प्रार्थना है कि वर्षों तक हमें भटनागर साहब के इसी प्रकार के आशीर्वाद प्राप्त होते रहें।

श्री कालकाप्रसाद भटनागर उपकुलपति आगरा विश्वविद्यालय

पक का जीवन विवेकपूर्ण और विरागोन्मुख रहना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान रखना है कि समाज केवल उसका ज्ञान ही नहीं चाहता, उसका व्यक्तित्व भी चाहता है। अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। उसका व्यवहार सहज और आकर्षक होना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए वह भय का प्रतीक न होकर, आकर्षण का केन्द्र होना चाहिए। यदि विद्यार्थी किसी अध्यापक के ज्ञान से प्रभावित है और उसके चरित्र से आकृष्ट है तो मैं समझता हूँ ऐसे अध्यापक का व्यक्तित्व समाज के लिए अभिप्रेत है।

प्रश्न—आपने अभी कहा है कि अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। इन दो विशेषणों से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक वस्त्र से, व्यवहार से और वाणी से भी निर्मल और स्वच्छ हो। स्पष्ट शब्द का प्रयोग मैंने इस भाव से किया कि अध्यापक का जीवन एक पहेली न हो। आपने मेरे द्वारा प्रयुक्त "आदर्श" शब्द पर कोई प्रश्न नहीं किया। मैं इस विषय में भी स्पष्ट हो जाना चाहता हूँ। त्रुटियों से मुक्त मानव की मैं कल्पना नहीं कर सकता। अध्यापक के जीवन में भी मानवोचित कमियाँ हो सकती हैं, पर उसके जीवन में स्खलन नहीं होने चाहिए। उसमें कुरुचियाँ नहीं होनी चाहिए। उसकी आकांक्षाएँ मलिन नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—आजकल प्रायः कहा जाता है कि विद्यार्थी समाज में अनुशासन नहीं है। अनुशासन लाने के लिए आप कौन से सुधार लाना चाहेंगे?

उत्तर—मेरे सामने अनुशासन एक जटिल समस्या के रूप में कभी नहीं आया। मैं यह भी अनुभव नहीं करता हूँ कि आज के छात्र एकदम अनुशासनहीन हो गये हैं। कुछ कमियाँ अवश्य हैं। इन कमियों के लिए सारे समाज का उत्तरदायित्व है। विद्यार्थी वर्ग समाज का ही एक अंग है। समाज के सुव्यवस्थित और सुगठित हो जाने पर छात्रों के अनुशासन का प्रश्न स्वयं हल हो जायगा। कक्षा के भीतर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता हो सकती है, यह बात मेरी कल्पना में भी नहीं आती। जो अध्यापक अपने विषय में पारंगत है और कक्षा में ज्ञान वितरण करने के लिए प्रस्तुत होकर जाते हैं उनके छात्र सदा सहयोग करते हैं। अध्यापक को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि छात्र अंततः बालक और अनुभवहीन हैं। उनमें कुछ चंचलता होना स्वाभाविक है। बाल-सुलभ चंचलता को जो अपराध और पाप मानकर कठोर नियंत्रण कर लेने की कल्पना कर लेता है वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है। मैंने भी छात्रों को कभी-कभी दंड दिया है पर मैं यह सदा मानता रहा हूँ कि स्नेहपूर्ण क्षमा में जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति दंड में नहीं है।

प्रश्न—विद्यार्थी परीक्षाओं में नकल करने की चेष्टायें करते हैं। आपकी दृष्टि से इस पर कैसे नियंत्रण पाया जा सकता है?

...त से आश्चर्य होता है कि लोग छात्रों के संसार को समाज से ...लग करना चाहते हैं। विद्यार्थियों को नकल करने से भी

श्री कालकाप्रसाद भटनागर उपकुलपति आगरा विश्वविद्यालय

करा लेना बहुत आसान बात थी। हमने उनको किसी प्रकार के टीमटाम, निजी शौक या और किसी काम में लगे नहीं देखा जिसका सम्बन्ध कालेज या विश्वविद्यालय से न हो। उनका जीवन ही एक प्रकार से छात्रों की सेवा में समर्पित रहा है। आज राजनीति के हाव-भाव देखने के पश्चात् मैं यह समझ सका हूँ कि भटनागर साहब की शक्ति क्या है। उनकी लगन, निरभिमानता, दूसरों के प्रति अथाह सहानुभूति तथा सहायता देने की प्रवृत्ति उनको ऐसे प्रशंसक व समर्थक जुटा देती है जिनको डिगाना आसान काम नहीं होता। इसी कारण जिस क्षेत्र में भी वे रहते हैं वह सदा सफल रहता है और जो एक बार उनके सम्पर्क में आ गया वह व्यक्ति कट कर नहीं गया। हो सकता है कुछ लोगों को उनकी यह लोकप्रियता पसन्द न हो और अब तो वह समय भी निकल गया। जब हम कालेज में पढ़ते थे, तब तो यह कहा भी जा सकता था कि उनके साथ कोई विवाद है पर आज तो विश्वविद्यालय के प्रति उनकी निष्ठा और सेवा ने सभी को उनका प्रशंसक बना दिया है।

आज भी जब कभी किसी रेलवे स्टेशन पर चलते फिरते भटनागर साहब से भेंट हो जाती है तो वे कुशल-क्षेम ही नहीं पूछते, वे इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि उनके भूतपूर्व छात्र कैसे हैं, क्या कर रहे हैं। कक्षा के कितने विद्यार्थी किस कार्य में हैं हरएक के बारे में जानकारी लेते रहते हैं। भगवान् से प्रार्थना है कि वर्षों तक हमें भटनागर साहब के इसी प्रकार के आशीर्वाद प्राप्त होते रहें।

श्री कालकाप्रसाद भटनागर उपकुलपति आगरा विश्वविद्यालय

कृष्णशंकर शुक्ल

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति से एक भेंट

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति आदरणीय श्री कालकाप्रसाद भटनागर महोदय का किसी न किसी रूप में शिक्षा विभाग से सदा सम्बन्ध रहा है। उन्होंने पिछले चालीस वर्षों से शिक्षा विभाग में किसी न किसी पद पर कार्य किया है। आधुनिक शिक्षा की सभी गति-विधियों और समस्याओं से वे परिचित हैं। मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि शिक्षा सम्बधी कुछ प्रश्नों पर उनके निष्कर्षों और अनुभवों को सुनूं। उनके दर्शनों को अनेक बार गया, परंतु उन्हें सदा इतना व्यस्त पाया कि उनसे कुछ विस्तार से पूछने में सकोच लगता रहा। सौभाग्य से आज की ऋतु इस उद्देश्य के लिए अनुकूल पड़ी और मैं अपनी जिज्ञासा शांत करने में समर्थ हुआ। आज कुछ शीत अधिक था। आकाश मेघाच्छन्न था। कुछ बूंदें भी पड़ जाती थीं। आज आनेवाले नहीं दिखाई पड़ रहे थे। श्री भटनागर महोदय कुछ अस्वस्थ होते हुए भी स्वस्थ उपरत और शांत भाव में बैठे थे। मैंने अपना उद्देश्य प्रकट किया और सौभाग्य से मुझे प्रश्न करने की स्वीकृति प्राप्त हो गयी। प्रश्नावलि और उनके उत्तरों का सार अधोलिखित है:—

प्रश्न—आपने इस विभाग में आना क्यों स्वीकृत किया ?

उत्तर—मेरी बाल्यकाल से ही शिक्षक बनने की रुचि थी। अब मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी यह रुचि मेरी प्रकृति के अनुकूल ही थी। सम्भवत: अन्य विभाग में न तो मैं समाज की इतनी सेवा कर पाता और न अपने विकास में समर्थ हो पाता। मैं यह अनुभव करता हूँ कि सेवा के जितने अवसर शिक्षक को प्राप्त हैं उतने अन्य को नहीं। शिक्षा संस्थाओं को मैं समाज की नर्सरी (Nursery) समझता हूँ। जहाँ से पूरा समाज बीज प्राप्त करता है, अपना पोषण करता है, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है।

प्रश्न—आपकी दृष्टि से एक आदर्श अध्यापक में कौन से गुण होने चाहिए ?

उत्तर—मैं अध्यापकों की कोटियाँ और श्रेणियाँ नहीं मानता। मेरी दृष्टि में जिसमें मानव आदर्श नहीं, उसे अध्यापन की ओर नहीं आना चाहिए। मेरा यह तात्पर्य नहीं कि पूर्णता को प्राप्त व्यक्ति ही अध्यापक बने। मैं कहना यह चाहता हूँ कि अध्या-

पक का जीवन विवेकपूर्ण और विकासोन्मुख रहना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान रखना है कि समाज केवल उसका ज्ञान ही नहीं चाहता, उसका व्यक्तित्व भी चाहता है। अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। उसका व्यवहार सहज और आकर्षक होना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए वह भय का प्रतीक न होकर, आकर्षण का केन्द्र होना चाहिए। यदि विद्यार्थी किसी अध्यापक के ज्ञान से प्रभावित है और उसके व्यक्तित्व से आकृष्ट है तो मैं समझता हूँ ऐसे अध्यापक का व्यक्तित्व समाज के लिए अभिप्रेत है।

प्रश्न—आपने अभी कहा है कि अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। इन दो विशेषणों से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक वस्त्र से, व्यवहार से और वाणी से भी निर्मल और स्वच्छ हो। स्पष्ट शब्द का प्रयोग मैंने इस भाव से किया कि अध्यापक का जीवन एक पहेली न हो। आपने मेरे द्वारा प्रयुक्त "आदर्श" शब्द पर कोई प्रयोग नहीं किया। मैं इस विषय में भी स्पष्ट हो जाना चाहता हूँ। त्रुटियों से मुक्त मानव की मैं कल्पना नहीं कर सकता। अध्यापक के जीवन में भी मानवोचित कमियाँ हो सकती हैं, पर उसके जीवन में स्खलन नहीं होने चाहिए। उसमें कुरुचियाँ नहीं होनी चाहिए। उसकी आकांक्षाएँ मलिन नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—आजकल प्राय कहा जाता है कि विद्यार्थी समाज में अनुशासन नहीं है। अनुशासन लाने के लिए आप कौन से सुधार लाना चाहेंगे?

उत्तर—मेरे सामने अनुशासन एक जटिल समस्या के रूप में कभी नहीं आया। मैं यह भी अनुभव नहीं करता हूँ कि आज के छात्र एकदम अनुशासनहीन हो गये हैं। कुछ कमियाँ अवश्य हैं। इन कमियों के लिए सारे समाज का उत्तरदायित्व है। विद्यार्थी वर्ग समाज का ही एक अंग है। समाज के सुव्यस्थित और सुगठित हो जाने पर छात्रों के अनुशासन का प्रश्न स्वयं हल हो जायगा। कक्षा के भीतर विद्यार्थियों में अनुशासन हीनता हो सकती है, यह बात मेरी कल्पना में भी नहीं आती। जो अध्यापक अपने विषय में पारंगत है और कक्षा में ज्ञान-वितरण करने के लिए प्रस्तुत होकर जाते हैं उनके छात्र सदा सहयोग करते हैं। अध्यापक को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि छात्र अंततः बालक और अनुभवहीन हैं। उनमें कुछ चंचलता होना स्वाभाविक है। बाल-सुलभ चंचलता को जो अपराध और पाप मानकर कठोर नियंत्रण कर लेने की कल्पना कर लेता है वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है। मैंने भी छात्रों को कभी-कभी दंड दिया है पर मैं यह सदा मानता रहा हूँ कि स्नेहपूर्ण क्षमा में जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति दंड में नहीं है।

प्रश्न—विद्यार्थी परीक्षाओं में नकल करने की चेष्टायें करते हैं। आपकी दृष्टि में इस पर कैसे नियंत्रण पाया जा सकता है?

उत्तर—मुझे इस बात से आश्चर्य होता है कि लोग छात्रों के संसार को समाज से पृथक मानकर समस्याओं को हल करना चाहते हैं। विद्यार्थियों को नकल करने से भी

रोकना है और यात्रियो को बिना टिकट यात्रा करने से भी। समाज में अनैतिकता का जब प्रचार हो जाता है तो उसका कोई भी अग उस अनैतिकता से अयुक्त नही रह पाता। मेरी दृष्टि से सारे समाज का ऊपर उठाना है और नकल की प्रणाली के लिए परीक्षा-प्रणाली भी कुछ-कुछ उत्तरदायी है।

प्रश्न—परीक्षा प्रणाली का आप क्या उत्तरदायित्व मान रहे है ?

उत्तर—मै सदा से यह मानता रहा हूँ कि आधुनिक परीक्षा प्रणाली अवैज्ञानिक और भारतीय प्रकृति के प्रतिकूल है। अब तो योरप और अमरिका के विद्वान भी छात्रो की योग्यता का माप करने के लिए नवीन प्रणालियो के अन्वेषण में लगे हुए हैं। मै यह पूर्ण विश्वास से मानता हूँ कि एक छात्र की योग्यता का प्रमाण पत्र जितना सच्चा अध्यापक के द्वारा प्राप्त हो सकता है उतना परीक्षक के द्वारा नही। आधुनिक परीक्षा प्रणाली में अध्यापक के प्रमाण पत्र की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई है। जिस अध्यापक के सम्पर्क में छात्र वर्ष भर रहा उसके सम्बध में तत्वा के आधार पर निर्णय देने का अधिकार अध्यापक का भी होना चाहिए। अध्यापकों पर यदि विश्वास किया गया तो मैं विश्वास करता हूँ कि वे आधुनिक परिस्थितियो से बहुत ऊपर उठकर अपने कर्तव्य का पालन कर सकने में समर्थ होगे।

प्रश्न—आप सहशिक्षा के पक्षपाती प्रतीत होते रहे हैं। इस विषय में अपने विचार स्पष्ट बताने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—मेरी दृष्टि में नारी-शिक्षा उतनी ही आवश्यक है जितनी पुरुष शिक्षा। समाज की कुछ परिस्थितियो के कारण इस समय कुछ कठिनाइयाँ सामने अवश्य आती हैं। वह भी मेरी दृष्टि में पूरे समाज का दायित्व है केवल शिक्षा सस्थाओं का ही नही। बाल्यकाल में तो सहशिक्षा अनिवार्य ही होनी चाहिए। कालेज के स्तर पर भी सहशिक्षा का मैंने प्रयोग किया। मै यह मानता हूँ कि मुझे उसमें सफलता मिली। पर्दा दूर करने, नारियो को साहसी और आत्मविश्वासी बनाने और समाज की विषमताओ का दूर करने के लिए पुरुषो और स्त्रियो का मिलते रहना अत्यत आवश्यक है। इसके लिए विद्यालय बहुत ही उपयुक्त स्थान है। समाज के कुछ स्खलनो को जानते हुए भी हमें साहस से आगे बढना हागा और उन रूढियो और भ्रात मान्यताओ की उपेक्षा करनी होगी जो हमें अब तक पकडे रही हैं।

प्रश्न—आपके उत्तर से तो ऐसा आभास लगता है कि बालको और बालिकाओं का पाठ्य क्रम भी एक ही होना चाहिए।

उत्तर—आप मेरी मान्यताओ को कुछ तो समझ गये हैं और कुछ अपने विचारो का आरोप मुझ पर कर रहे हैं। बालक और बालिका दोनो समाज के अग हैं। समाज के लिए जिन विद्याओं और कलाओं की आवश्यकता है, उन्हें दोनो को उपार्जित करना है। स्त्रियो के लिए नितात भिन्न पाठ्य-क्रम की मैं कल्पना नही करता। कुछ विषय ऐसे हो सकने हैं जो स्त्रियोपयोगी हैं और उन्हें वैकल्पिक रूप से पाठ्यक्रम में रखा जा सकता है, परतु अनेक विषय पूरे समाज के लिए आवश्यक हैं, उनमें विकल्प का अवसर नहीं।

पक का जीवन विवेकपूर्ण और विकासोन्मुख रहना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान रखना है कि समाज केवल उसका ज्ञान ही नहीं चाहता, उसका व्यक्तित्व भी चाहता है। अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। उसका व्यवहार सहज और आकर्षक होना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए वह भय का प्रतीक न होकर, आकर्षण का केन्द्र होना चाहिए। यदि विद्यार्थी किसी अध्यापक के ज्ञान से प्रभावित है और उसके व्यक्तित्व से आकृष्ट है तो मैं समझता हूँ ऐसे अध्यापक का व्यक्तित्व समाज के लिए अभिप्रेत है।

प्रश्न—आपने अभी कहा है कि अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। इन दो विशेषणों से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक वस्त्र से, व्यवहार से और वाणी से भी निर्मल और स्वच्छ हो। स्पष्ट शब्द का प्रयोग मैंने इस भाव से किया कि अध्यापक का जीवन एक पहेली न हो। आपने मेरे द्वारा प्रयुक्त "आदर्श" शब्द पर कोई प्रयोग नहीं किया। मैं इस विषय में भी स्पष्ट हो जाना चाहता हूँ। त्रुटियों से मुक्त मानव की मैं कल्पना नहीं कर सकता। अध्यापक के जीवन में भी मानवोचित कमियाँ हो सकती हैं, पर उसके जीवन में स्खलन नहीं होने चाहिए। उसमें कुरुचियाँ नहीं होनी चाहिए। उसकी आकांक्षाएँ मलिन नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—आजकल प्राय कहा जाता है कि विद्यार्थी समाज में अनुशासन नहीं है। अनुशासन लाने के लिए आप कौन से सुधार लाना चाहेंगे?

उत्तर—मेरे सामने अनुशासन एक जटिल समस्या के रूप में कभी नहीं आया। मैं यह भी अनुभव नहीं करता हूँ कि आज के छात्र एकदम अनुशासनहीन हो गये हैं। कुछ कमियाँ अवश्य हैं। इन कमियों के लिए सारे समाज का उत्तरदायित्व है। विद्यार्थी वर्ग समाज का ही एक अंग है। समाज के सुव्यवस्थित और सुगठित हो जाने पर छात्रों के अनुशासन का प्रश्न स्वयं हल हो जायगा। कक्षा के भीतर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता हो सकती है, यह बात मेरी कल्पना में भी नहीं आती। जो अध्यापक अपने विषय में पारंगत है और कक्षा में ज्ञान वितरण करने के लिए प्रस्तुत होकर जाते हैं उनके छात्र सदा सहयोग करते हैं। अध्यापक को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि छात्र अनत: बालक और अनुभवहीन हैं। उनमें कुछ चंचलता होना स्वाभाविक है। बाल-सुलभ चंचलता को जो अपराध और पाप मानकर कठोर नियंत्रण कर लेने की कल्पना कर लेता है वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है। मैंने भी छात्रों को कभी-कभी दंड दिया है पर मैं यह सदा मानता रहा हूँ कि स्नेहपूर्ण क्षमा में जितनी शक्ति है उतनी शक्ति दंड में नहीं है।

प्रश्न—विद्यार्थी परीक्षाओं में नकल करने की चेष्टायें करते हैं। आपकी दृष्टि से इस पर कैसे नियंत्रण पाया जा सकता है?

उत्तर—मुझे इस बात से आश्चर्य होता है कि लोग छात्रों के संसार को समाज से पृथक मानकर समस्याओं को हल करना चाहते हैं। विद्यार्थियों को नकल करने से भी

रोकना है और यात्रियों को बिना टिकट यात्रा करने से भी। समाज में अनैतिकता का जब प्रचार हो जाता है तो उसका कोई भी अंग उस अनैतिकता से मुक्त नहीं रह पाता। मेरी दृष्टि से सारे समाज का ऊपर उठाना है और स्कूल की प्रणाली के लिए परीक्षा-प्रणाली भी कुछ-कुछ उत्तरदायी है।

प्रश्न—परीक्षा प्रणाली का आप क्या उत्तरदायित्व मान रहे हैं ?

उत्तर—मैं सदा से यह मानता रहा हूँ कि आधुनिक परीक्षा प्रणाली अवैज्ञानिक और भारतीय प्रकृति के प्रतिकूल है। अब तो योरप और अमेरिका के विद्वान भी छात्रों की योग्यता का माप करने के लिए नवीन प्रणालियों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। मैं यह पूर्ण विश्वास से मानता हूँ कि एक छात्र की योग्यता का प्रमाण पत्र जितना सच्चा अध्यापक के द्वारा प्राप्त हो सकता है उतना परीक्षक के द्वारा नहीं। आधुनिक परीक्षा प्रणाली में अध्यापक के प्रमाण पत्र की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई है। जिस अध्यापक के सम्पर्क में छात्र वर्ष भर रहा उसके सम्बंध में तत्वों के आधार पर निर्णय देने का अधिकार अध्यापक का भी होना चाहिए। अध्यापकों पर यदि विश्वास किया गया तो मैं विश्वास करता हूँ कि वे आधुनिक परिस्थितियों से बहुत ऊपर उठकर अपने कर्तव्य का पालन कर सकने में समर्थ होंगे।

प्रश्न—आप सहशिक्षा के पक्षपाती प्रतीत होते रहे हैं। इस विषय में अपने विचार स्पष्ट बताने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—मेरी दृष्टि में नारी-शिक्षा उतनी ही आवश्यक है जितनी पुरुष शिक्षा। समाज की कुछ परिस्थितियों के कारण इस समय कुछ कठिनाइयाँ सामने अवश्य आती हैं। वह भी मेरी दृष्टि में पूरे समाज का दायित्व है केवल शिक्षा संस्थाओं का ही नहीं। बाल्यकाल में तो सहशिक्षा अनिवार्य ही होनी चाहिए। कालेज के स्तर पर भी सहशिक्षा का मैंने प्रयोग किया। मैं यह मानता हूँ कि मुझे उसमें सफलता मिली। पर्दा दूर करने नारियों को साहसी और आत्मविश्वासी बनाने और समाज की विषमताओं का दूर करने के लिए पुरुषों और स्त्रियों का मिलते रहना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए विद्यालय बहुत ही उपयुक्त स्थान है। समाज के कुछ स्खलनों को जानते हुए भी हमें साहस से आगे बढ़ना होगा और उन रूढ़ियों और भ्रांत मान्यताओं की उपेक्षा करनी होगी जो हमें अब तक पकड़े रही हैं।

प्रश्न—आपके उत्तर से तो ऐसा आभास लगता है कि बालकों और बालिकाओं का पाठ्य क्रम भी एक ही होना चाहिए।

उत्तर—आप मेरी मान्यताओं को कुछ तो समझ गये हैं और कुछ अपने विचारों का आरोप मुझ पर कर रहे हैं। बालक और बालिका दोनों समाज के अंग हैं। समाज के लिए जिन विद्याओं और कलाओं की आवश्यकता है, उन्हें दोनों को उपार्जित करना है। स्त्रियों के लिए नितांत भिन्न पाठ्य क्रम की मैं कल्पना नहीं करता। कुछ विषय ऐसे हो सकते हैं जो स्त्रियोपयोगी हैं और उन्हें वैकल्पिक रूप से पाठ्यक्रम में रखा जा सकता है परन्तु अनेक विषय पूरे समाज के लिए आवश्यक हैं, उनमें विकल्प का अवसर नहीं।

पक का जीवन विवेकपूर्ण और विकासोन्मुख रहना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान रखना है कि समाज केवल उसका ज्ञान ही नहीं चाहता, उसका व्यक्तित्व भी चाहता है। अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। उसका व्यवहार सहज और आकर्षक होना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए वह भय का प्रतीक न होकर, आकर्षण का केन्द्र होना चाहिए। यदि विद्यार्थी किसी अध्यापक के ज्ञान से प्रभावित है और उसके व्यक्तित्व से आकृष्ट है तो मैं समझता हूँ ऐसे अध्यापक का व्यक्तित्व समाज के लिए अभिप्रेत है।

प्रश्न—आपने अभी कहा है कि अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। इन दो विशेषणों से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक वस्त्र से, व्यवहार से और वाणी से भी निर्मल और स्वच्छ हो। स्पष्ट शब्द का प्रयोग मैंने इस भाव से किया कि अध्यापक का जीवन एक पहेली न हो। आपने मेरे द्वारा प्रयुक्त "आदर्श" शब्द पर कोई प्रश्न नहीं किया। मैं इस विषय में भी स्पष्ट हो जाना चाहता हूँ। त्रुटियों से मुक्त मानव की मैं कल्पना नहीं कर सकता। अध्यापक के जीवन में भी मानवोचित कमियाँ हो सकती हैं, पर उसके जीवन में स्खलन नहीं होने चाहिए। उसमें कुरुचियाँ नहीं होनी चाहिए। उसकी आकांक्षाएँ मलिन नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—आजकल प्राय कहा जाता है कि विद्यार्थी समाज में अनुशासन नहीं है। अनुशासन लाने के लिए आप कौन से सुधार लाना चाहेंगे?

उत्तर—मेरे सामने अनुशासन एक जटिल समस्या के रूप में कभी नहीं आया। मैं यह भी अनुभव नहीं करता हूँ कि आज के छात्र एकदम अनुशासनहीन हो गये हैं। कुछ कमियाँ अवश्य हैं। इन कमियों के लिए सारे समाज का उत्तरदायित्व है। विद्यार्थी वर्ग समाज का ही एक अंग है। समाज के सुव्यवस्थित और सुगठित हो जाने पर छात्रों के अनुशासन का प्रश्न स्वयं हल हो जायगा। कक्षा के भीतर विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता हो सकती है, यह बात मेरी कल्पना में भी नहीं आती। जो अध्यापक अपने विषय में पारंगत है और कक्षा में ज्ञान-वितरण करने के लिए प्रस्तुत होकर जाते हैं उनके छात्र सदा सहयोग करते हैं। अध्यापक को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि छात्र अंततः बालक और अनुभवहीन हैं। उनमें कुछ चंचलता होना स्वाभाविक है। बालसुलभ चंचलता को जो अपराध और पाप मानकर कठोर नियंत्रण कर लेने की कल्पना कर लेता है वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है। मैंने भी छात्रों को कभी-कभी दंड दिया है पर मैं यह सदा मानता रहा हूँ कि स्नेहपूर्ण क्षमा में जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति दंड में नहीं है।

प्रश्न—विद्यार्थी परीक्षाओं में नकल करने की चेष्टायें करते हैं। आपकी दृष्टि से इस पर कैसे नियंत्रण पाया जा सकता है?

उत्तर—मुझे इस बात से आश्चर्य होता है कि लोग छात्रों के संसार को समाज से पृथक मानकर समस्याओं को हल करना चाहते हैं। विद्यार्थियों को नकल करने से भी

रोकना है और यात्रियों को बिना टिकट यात्रा करने से भी। समाज में अनैतिकता का जब प्रचार हो जाता है तो उसका कोई भी अंग उस अनैतिकता से अयुक्त नहीं रह पाता। मेरी दृष्टि से सारे समाज को ऊपर उठाना है और नकल की प्रणाली के लिए परीक्षा-प्रणाली भी कुछ-कुछ उत्तरदायी है।

प्रश्न—परीक्षा प्रणाली का आप क्या उत्तरदायित्व मान रहे हैं?

उत्तर—मैं सदा से यह मानता रहा हूँ कि आधुनिक परीक्षा-प्रणाली अवैज्ञानिक और भारतीय प्रकृति के प्रतिकूल है। अब तो योरप और अमेरिका के विद्वान भी छात्रों की योग्यता का माप करने के लिए नवीन प्रणालियों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। मैं यह पूर्ण विश्वास से मानता हूँ कि एक छात्र की योग्यता का प्रमाण-पत्र जितना सच्चा अध्यापक के द्वारा प्राप्त हो सकता है उतना परीक्षक के द्वारा नहीं। आधुनिक परीक्षा-प्रणाली में अध्यापक के प्रमाण पत्र की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई है। जिस अध्यापक के सम्पर्क में छात्र वर्ष भर रहा उसके सम्बंध में तत्वों के आधार पर निर्णय देने का अधिकार अध्यापक का भी होना चाहिए। अध्यापकों पर यदि विश्वास किया गया तो मैं विश्वास करता हूँ कि वे आधुनिक परिस्थितियों से बहुत ऊपर उठकर अपने कर्तव्य का पालन कर सकने में समर्थ होंगे।

प्रश्न—आप सहशिक्षा के पक्षपाती प्रतीत होते रहे हैं। इस विषय में अपने विचार स्पष्ट बताने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—मेरी दृष्टि में नारी-शिक्षा उतनी ही आवश्यक है जितनी पुरुष-शिक्षा। समाज की कुछ परिस्थितियों के कारण इस समय कुछ कठिनाइयाँ सामने अवश्य आती हैं। वह भी मेरी दृष्टि में पूरे समाज का दायित्व है केवल शिक्षा संस्थाओं का ही नहीं। बाल्यकाल में तो सहशिक्षा अनिवार्य ही होनी चाहिए। कालेज के स्तर पर भी सहशिक्षा का मैंने प्रयोग किया। मैं यह मानता हूँ कि मुझे उसमें सफलता मिली। पर्दा दूर करने, नारियों को साहसी और आत्मविश्वासी बनाने और समाज की विषमताओं को दूर करने के लिए पुरुषों और स्त्रियों का मिलते रहना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए विद्यालय बहुत ही उपयुक्त स्थान है। समाज के कुछ स्खलनों को जानते हुए भी हमें साहस से आगे बढ़ना होगा और उन रूढ़ियों और भ्रांत मान्यताओं की उपेक्षा करनी होगी जो हमें अब तक पकड़े रही हैं।

प्रश्न—आपके उत्तर से तो ऐसा आभास लगता है कि बालकों और बालिकाओं का पाठ्य-क्रम भी एक ही होना चाहिए।

उत्तर—आप मेरी मान्यताओं को कुछ तो समझ गये हैं, और कुछ अपने विचारों का आरोप मुझ पर कर रहे हैं। बालक और बालिका दोनों समाज के अंग हैं। समाज के लिए जिन विद्याओं और कलाओं की आवश्यकता है, उन्हें दोनों को उपार्जित करना है। स्त्रियों के लिए नितांत भिन्न पाठ्य-क्रम की मैं कल्पना नहीं करता। कुछ विषय ऐसे हो सकते हैं जो स्त्रियोपयोगी हैं और उन्हें वैकल्पिक रूप से पाठ्यक्रम में रखा जा सकता है, परंतु अनेक विषय पूरे समाज के लिए आवश्यक हैं, उनमें विकल्प का अवसर नहीं।

पक का जीवन विवेकपूर्ण और विकासोन्मुख रहना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान रखना है कि समाज केवल उसका ज्ञान ही नहीं चाहता, उसका व्यक्तित्व भी चाहता है। अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। उसका व्यवहार सहज और आकर्षक होना चाहिए। विद्यार्थियों के लिए वह भय का प्रतीक न होकर, आकर्षण का केन्द्र होना चाहिए। यदि विद्यार्थी किसी अध्यापक के ज्ञान से प्रभावित है और उसके व्यक्तित्व से आकृष्ट है तो मैं समझता हूँ ऐसे अध्यापक का व्यक्तित्व समाज के लिए अभिप्रेत है।

प्रश्न—आपने अभी कहा है कि अध्यापक का जीवन स्वच्छ और स्पष्ट होना चाहिए। इन दो विशेषणों से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यापक वस्त्र से, व्यवहार से और वाणी से भी निर्मल और स्वच्छ हो। स्पष्ट शब्द का प्रयोग मैंने इस भाव से किया कि अध्यापक का जीवन एक पहेली न हो। आपने मेरे द्वारा प्रयुक्त "आदर्श" शब्द पर कोई प्रयोग नहीं किया। मैं इस विषय में भी स्पष्ट हो जाना चाहता हूँ। त्रुटियों से मुक्त मानव की मैं कल्पना नहीं कर सकता। अध्यापक के जीवन में भी मानवोचित कमियाँ हो सकती हैं, पर उसके जीवन में स्खलन नहीं होने चाहिए। उसमें कुरुचियाँ नहीं होनी चाहिए। उसकी आकांक्षाएँ मलिन नहीं होनी चाहिए।

प्रश्न—आजकल प्राय कहा जाता है कि विद्यार्थी समाज में अनुशासन नहीं है। अनुशासन लाने के लिए आप कौन से सुधार लाना चाहेंगे?

उत्तर—मेरे सामने अनुशासन एक जटिल समस्या के रूप में कभी नहीं आया। मैं यह भी अनुभव नहीं करता हूँ कि आज के छात्र एकदम अनुशासनहीन हो गये हैं। कुछ कमियाँ अवश्य हैं। इन कमियों के लिए सारे समाज का उत्तरदायित्व है। विद्यार्थी वर्ग समाज का ही एक अंग है। समाज के सुव्यवस्थित और सुगठित हो जाने पर छात्रों के अनुशासन का प्रश्न स्वयं हल हो जायगा। कक्षा के भीतर विद्यार्थियों में अनुशासन हीनता हो सकती है, यह बात मेरी कल्पना में भी नहीं आती। जो अध्यापक अपने विषय में पारंगत है और कक्षा में ज्ञान-वितरण करने के लिए प्रस्तुत होकर जाते हैं उनके छात्र सदा सहयोग करते हैं। अध्यापक को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि छात्र अंततः बालक और अनुभवहीन हैं। उनमें कुछ चंचलता होना स्वाभाविक है। बाल-सुलभ चंचलता को जो अपराध और पाप मानकर कठोर नियंत्रण कर लेने की कल्पना कर लेता है वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है। मैंने भी छात्रों को कभी-कभी दंड दिया है पर मैं यह सदा मानता रहा हूँ कि स्नेहपूर्ण क्षमा में जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति दंड में नहीं है।

प्रश्न—विद्यार्थी परीक्षाओं में नकल करने की चेष्टायें करते हैं। आपकी दृष्टि में इस पर कैसे नियंत्रण पाया जा सकता है?

उत्तर—मुझे इस बात से आश्चर्य होता है कि लोग छात्रों के संसार को समाज से पृथक मानकर समस्याओं को हल करना चाहते हैं। विद्यार्थियों को नकल करने से भी

रोकना है और यात्रियों को बिना टिकट यात्रा करने से भी। समाज में अनैतिकता का जब प्रचार हो जाता है तो उसका कोई भी अंग उस अनैतिकता से अयुक्त नहीं रह पाता। मेरी दृष्टि से सारे समाज को ऊपर उठाना है और नकल की प्रणाली के लिए परीक्षा-प्रणाली भी कुछ-कुछ उत्तरदायी है।

प्रश्न—परीक्षा प्रणाली का आप क्या उत्तरदायित्व मान रहे हैं ?

उत्तर—मैं सदा से यह मानता रहा हूँ कि आधुनिक परीक्षा-प्रणाली अवैज्ञानिक और भारतीय प्रकृति के प्रतिकूल है। अब तो योरप और अमेरिका के विद्वान भी छात्रों की योग्यता का माप करने के लिए नवीन प्रणालियों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। मैं यह पूर्ण विश्वास से मानता हूँ कि एक छात्र की योग्यता का प्रमाण पत्र जितना सच्चा अध्यापक के द्वारा प्राप्त हो सकता है उतना परीक्षक के द्वारा नहीं। आधुनिक परीक्षा-प्रणाली में अध्यापक के प्रमाण पत्र की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई है। जिस अध्यापक के सम्पर्क में छात्र वर्ष भर रहा उसके सम्बन्ध में तत्त्वों के आधार पर निर्णय देने का अधिकार अध्यापक का भी होना चाहिए। अध्यापकों पर यदि विश्वास किया गया तो मैं विश्वास करता हूँ कि वे आधुनिक परिस्थितियों से बहुत ऊपर उठकर अपने कर्तव्य का पालन कर सकने में समर्थ होंगे।

प्रश्न—आप सहशिक्षा के पक्षपाती प्रतीत होते रहे हैं। इस विषय में अपने विचार स्पष्ट बताने का अनुग्रह कीजिए।

उत्तर—मेरी दृष्टि में नारी-शिक्षा उतनी ही आवश्यक है जितनी पुरुष शिक्षा। समाज की कुछ परिस्थितियों के कारण इस समय कुछ कठिनाइयाँ सामने अवश्य आती हैं। वह भी मेरी दृष्टि में पूरे समाज का दायित्व है केवल शिक्षा संस्थाओं का ही नहीं। बाल्यकाल में तो सहशिक्षा अनिवार्य ही होनी चाहिए। कालेज के स्तर पर भी सहशिक्षा का मैंने प्रयोग किया। मैं यह मानता हूँ कि मुझे उसमें सफलता मिली। पर्दा दूर करने, नारियों को साहसी और आत्मविश्वासी बनाने और समाज की विषमताओं को दूर करने के लिए पुरुषों और स्त्रियों का मिलते रहना अत्यंत आवश्यक है। इसके लिए विद्यालय बहुत ही उपयुक्त स्थान है। समाज के कुछ स्खलनों को जानते हुए भी हमें साहस से आगे बढ़ना होगा और उन रूढ़ियों और भ्रांत मान्यताओं की उपेक्षा करनी होगी जो हमें अब तक पकड़े रही हैं।

प्रश्न—आपके उत्तर से तो ऐसा आभास लगता है कि बालकों और बालिकाओं का पाठ्य क्रम भी एक ही होना चाहिए।

उत्तर—आप मेरी मान्यताओं को कुछ तो समझ गये हैं और कुछ अपने विचारों का आरोप मुझ पर कर रहे हैं। बालक और बालिका दोनों समाज के अंग हैं। समाज के लिए जिन विद्याओं और कलाओं की आवश्यकता है, उन्हें दोनों को उपार्जित करना है। स्त्रियों के लिए नितांत भिन्न पाठ्य-क्रम की मैं कल्पना नहीं करता। कुछ विषय ऐसे हो सकते हैं जो स्त्रियोपयोगी हैं और उन्हें वैकल्पिक रूप से पाठ्यक्रम में रखा जा सकता है, परंतु अनेक विषय पूरे समाज के लिए आवश्यक हैं, उनमें विकल्प का अवसर नहीं।

प्रश्न—नैतिक और धार्मिक शिक्षा विद्यालयों में प्रचलित की जाय, ऐसा देश के कुछ विद्वान् अनुभव कर रहे हैं। आपके इस विषय में क्या विचार हैं?

उत्तर—मैं धर्म में विश्वास करता हूँ और उसकी शिक्षा कुटुम्बों में होनी चाहिए। साम्प्रदायिकता के सिद्धांतों का प्रचार सार्वजनिक विद्यालयों में अनावश्यक होगा। नैतिकता का स्तर ऊँचा करने के लिए आदर्श पुरुषों के जीवन चरित्रों का अध्ययन अति आवश्यक है। ऐसे चरित्रों के अध्ययन के लिए देश और विदेश के आदर्श व्यक्तियों के जीवन चरित्र लिए जा सकते हैं। राम कृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महर्षि दयानन्द, श्री अरविंद, श्री बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी आदि के उच्च सिद्धांतों का किसी न किसी रूप में विद्यालयों में प्रचार और प्रसार हमारे समाज की बहुत सी समस्याओं को हल करने में समर्थ होगा। हमारा समाज त्रिवेणी है जो अनेक भाव धाराओं के योग से बना है। यदि सामाजिक संस्थाओं में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण अपनाया गया तो देश में एकता की भावना की सिद्धि में रुकावट पड़ेगी। एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए दूसरे का बलिदान नहीं करना चाहिए। हमें नैतिकता, मानवता और राष्ट्रीयता का समवेत विकास करना है।

प्रश्न—कुछ चिंतक तो यह सोचने लगे हैं कि समाज के सारे दोषों का मूल कारण आज की शिक्षा प्रणाली है। आप के इस विषय में क्या विचार हैं?

उत्तर—जिसे आप 'आज' की शिक्षा प्रणाली कहते हैं वह अब डेढ़ सौ वर्ष पुरानी हो चुकी। जो कुछ त्रुटियाँ इधर अधिक स्पष्टता से दिखाई पड़ने लगी हैं वे आज से पच्चीस वर्ष पहले नहीं थीं। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा हम स्पष्ट निर्णय कर सकते हैं कि शिक्षा प्रणाली का उतना दोष नहीं जितना समाज की उथल-पुथल का है। यह पच्चीस वर्ष का काल हमारे देश में उत्क्रान्ति, परिवर्तन, गति और आन्दोलनों का रहा है। स्वातंत्र्य प्राप्ति की ओर समाज के कर्णधारों का जितना ध्यान रहा है उतना समाज के उत्कर्ष का नहीं। दो महायुद्धों ने भी सारे संसार में एक उथल पुथल कर दी। हमारा देश भी उस उथल-पुथल से बचा नहीं रहा। इस परिवर्तन-युग में भी हमारी शिक्षा प्रणाली हमें बहुत कुछ सँभाले रही। इसी शिक्षा प्रणाली के भीतर हम में राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ तथा इसी की सहायता से हम विदेशों की गतिविधि से अपना सम्बन्ध बनाये रख सके। इस शिक्षा प्रणाली के बिना हम इतने प्राचीन ढंग के हो गये होते कि आज के संसार में अपना उचित स्थान ही ग्रहण न कर पाते। एक कमी अवश्य है। हमारे प्राचीन भाव विभव और विचार सम्पत्ति से हमारा सम्बन्ध कुछ टूटा-सा लगता है। इसके लिए आवश्यकता है प्राचीन और नवीन का सुंदर समन्वय। मैं आधुनिक शिक्षा प्रणाली के मूलोच्छेद का समर्थक नहीं हूँ। आवश्यक केवल यह है कि टूटे हुए सूत्रों को जोड़ दिया जाय और प्राचीन और नवीन का सुंदर संगम प्रस्तुत किया जाय। इस कार्य में स्वामी दयानंद के विचारों से बहुत कुछ सहायता ली जा सकती है।

प्रश्न—इस समय बहुत से युवक उपाधियाँ प्राप्त करके भी मारे-मारे फिरते हैं। इसका उत्तरदायित्व भी आज की शिक्षा प्रणाली का ही तो है।

उत्तर—मैं इस विषय में किसी स कभी सहमत नहीं हो सकता। युवक बेकार इसलिए हैं कि हमारे देश में काम की कमी है। ज्यों-ज्यों काम बढ़ते जायँगे त्यों-त्यों
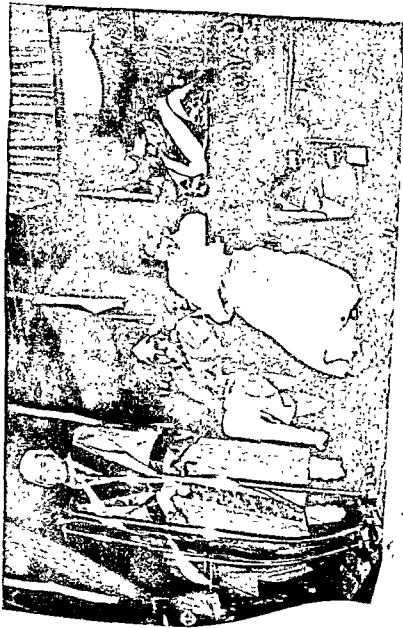
श्री शीतलाप्रसाद भटनागर की अध्यक्षता में भाषण करते हुए श्री नेहरू जी

युवक ढूंढे नही मिलेंगे । आजकल भी बहुत से ऐसे विभाग हैं जिनके लिए उपयुक्त व्यक्ति नही मिल पाते । प्राविधिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की अपने देश में बहुत कमी है । विद्यार्थियों को इस ओर भी मोड़ना चाहिए मैं यह नही मानता कि शिक्षित व्यक्तियों की संख्या देश में बहुत अधिक हो गयी है । शिक्षा तो प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है और शिक्षित व्यक्ति के लिए काम ढूंढ़ देने का प्रश्न समाज के हल करने का है ।

प्रश्न—शिक्षा का माध्यम क्या होना चाहिए ?

उत्तर—मैं देशी भाषाओं के उत्कर्ष का पक्षपाती हूँ । इसके लिए जो कुछ बन सके करते रहना चाहिए किन्तु ज्ञान वर्धन और भाषा-भक्ति में संतुलन होना चाहिए । देश को अभी बहुत कुछ जानना और सीखना है । जो ज्ञान अपनी भाषाओं में प्राप्त नही है उसके लिए विदेशी भाषाओं का सहारा लेना बहुत आवश्यक है । यह कार्य हमी को नही करना है विज्ञान के क्षेत्र में रूसी फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेजी भाषाओं का अध्ययन आज के संसार में बहुत आवश्यक माना जाता है । हमारा देश इसका अपवाद नही है । विदेशी भाषाओं का अध्ययन सभी देशवासी करते हैं । हाँ, अंग्रेजी की अनिवार्यता शनैः-शनैः कम होनी चाहिए और देशी भाषाओं को अपना उचित स्थान ग्रहण करना चाहिए ।

प्रश्न—हिन्दी के सम्बध में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर—मैं हिंदी का प्रचार और प्रसार चाहता हूँ क्योंकि इसके द्वारा प्रांतो के बीच सरलता से सम्पर्क स्थापित हो सकेगा । सम्पूर्ण देश में एक प्रचलित भाषा का माध्यम अवश्य होना चाहिए । इसके लिए हिंदी अति उपयुक्त है । इस विषय में दो मत नहीं हो सकते । पर ऐसी परिस्थितियों को बचाते रहना चाहिए जिनके कारण अन्य प्रांत वासियों के मन में संशय उत्पन्न होते हैं । मैं समझता हूँ कि सेवा-भाव से आगे बढने वाले के मार्ग में कठिनाइयाँ कम होती है । धैर्य और उत्साह का सामंजस्य होना चाहिए । कुछ काम देर से होकर अधिक सफल होते हैं । प्रचार के साथ ही हिन्दी के विद्वानों का ध्यान अपने साहित्य की समृद्धि की ओर सबसे पहले होना चाहिए। हिंदी जब समृद्ध हो जायगी तो बहुत सी समस्याएँ अपने आप हल होती दिखाई पड़ेंगी ।

प्रश्न—आप इधर कई वर्षों से उपकुलपति के पद पर आसीन हैं । विश्वविद्यालयो के विषय में भी आपने बहुत कुछ विचार किये होंगे । आपके विचारो से भारत के आधुनिक विश्वविद्यालय देश की आवश्यकताओं के अनुकूल हैं या नहीं ?

उत्तर—मैं अब तक किए हुए सारे परिश्रम की उपेक्षा करने वाला नहीं हूँ। विश्वविद्यालयों ने देश में शिक्षा प्रचार में बहुत सहायता पहुँचाई है। मैं सोचता हूँ कि शोध के कार्य को विश्वविद्यालयों में अधिक प्रोत्साहित करना चाहिए । सम्पन्न पुस्तकालय और अनुसंधान की सुविधायें, ये दो बातें अत्यंत आवश्यक हैं। विश्वविद्यालयों के बीच परस्पर अधिक सम्बन्ध बढाने की भी आवश्यकता है । इस सम्बन्ध के द्वारा सारे देश की शिक्षा संतुलित होगी और एक निश्चित उद्देश्य के सुझाव रखकर अग्रसर होगी ।

इस प्रश्नावलि के पश्चात मैंने आदरणीय भटनागर महोदय को इतना समय देने का अनुग्रह करने के लिए धन्यवाद दिया। इस भेंट में ऊपर रूप में आए हुए विचार उन्हीं के हैं। मैं नोट्स लेता जाता था जिन्हें मैंने अपनी भाषा में उपस्थित किया है। वे प्रायः मिली जुली भाषा बोल रहे थे और बीच-बीच में अंग्रेजी के कुछ शब्दों का प्रयोग भी करते जाते थे।

खण्ड २

आगरा

साहित्य-संस्कृति

डा० श्रीराम शर्मा

हिन्दी और उर्दू का परिनिष्ठीकरण

हिन्दी की अपेक्षा साहित्यिक उर्दू का परिनिष्ठित रूप पुराना है। उर्दू के इस परिनिष्ठित रूप से हिन्दी लेखकों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया है। उर्दू की इस पूर्ववर्तिता का सब से बड़ा कारण यह है कि साहित्यिक हिन्दी की विकास-भूमि बहुत विस्तृत रही है, जब कि उर्दू का परिष्करण दिल्ली तथा लखनऊ तक ही सीमित रहा। रामपुर, हैदराबाद तथा भोपाल ने भी उसके विकास मे योग दिया है, किन्तु इन नगरो ने दिल्ली और लखनऊ के प्रतिष्ठित साहित्यकारो की वाणी ही अनुकरणीय मानी है। परिष्कृत उर्दू भाषा और उसके साहित्य का इतिहास जिस प्रकार तीन-चार नगरो से ही बँधा हुआ है, उस प्रकार हिन्दी और उसके साहित्य की परम्परा विशेष भूभाग से सम्बद्ध नही रही। एक दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह है कि उर्दू का लेखक भाषा के क्षेत्र में अपने पूर्ववर्ती साहित्यिको का अनुसरण करता है। उर्दू का साहित्यिक आज भी जब किसी शब्द और उसकी व्यंजना के सम्बन्ध में सन्देह अनुभव करता है तो कलम रोक कर सोचता है, कि किसी पुराने कवि ने इस शब्द को किस तरह 'बाँधा' है। साहित्यकार की बात जाने दीजिये, साहित्य मे रुचि रखने वाला सामान्य व्यक्ति भी किसी महत्वपूर्ण शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में मान्य कवियो को दो-चार पद सुना सकता है। हिन्दी में पुराने समय में ही नही, आज भी इस प्रकार की मर्यादा का पालन नही होता है। खड़ी बोली का काव्य पढ़ने वाला किसी शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कितने उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है? उस दृष्टि से साहित्यकार अपने पूर्ववर्ती अथवा समयुगीन कवियों की रचना का अध्ययन नही करता। इसीलिए हिन्दी में भाषा की पकड़ शिथिल रही है। इस प्रवृत्ति के कारण यह लाभ हुआ है कि लेखक बंधन अनुभव नही उसकी इच्छा स्वतन्त्रता पूर्वक सृजन में सहायता देती है किन्तु इस प्रकार की अमर्यादित स्थिति के कारण हिन्दी के परिनिष्ठित रूप के निर्धारण में विलम्ब हुआ है और कुछ विषयों मे आज भी सन्देह बना हुआ है। पहले हिन्दी के लिए क्षेत्रीय प्रभावो को स्वीकार करना सम्भव था, किन्तु गत पचास वर्षों से वह जितने व्यापक क्षेत्र में प्रयुक्त होने लगी है, उस पर विचार किया जाये तो यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शब्दावली तथा वाक्य-विन्यास आदि के सम्बन्ध में सर्वत्र सावधानी बरती जाये। पिछले दिनों क्षेत्रीय प्रभावो को उचित स्थान देने

का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासों में बिहार के एक विशेष क्षेत्र के अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रेणु ने हिन्दी के अनेक शब्दों का प्रयोग आंचलिक प्रभावों को स्वीकार करके किया है। राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' के 'जंगल का फूल' तथा अन्य उपन्यासों में गोंडी भाषा के अनेक शब्द आये हैं। इन प्रयोगों से ये उपन्यास प्रभावशाली बने हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन उपन्यासों से क्षेत्र विशेष के लोग जो रस ले सकते हैं, वह अन्य प्रदेश में रहने वाला व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता। इन आंचलिक प्रयोगों का महत्व इसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। परिनिष्ठित रूप में, विशेष कर व्यापक क्षेत्र में बोली-समझी जाने वाली हिन्दी भाषा के परिनिष्ठित रूप में ये प्रयोग आत्मसात नहीं किये जा सकते।

कौन सा शब्द क्षेत्रीय है और कौन-सा शब्द व्यापक क्षेत्र में बोला-समझा जा सकता है, इसकी परख हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में पहले की गई। इस परख के उस ढंग को हमें विवेच्य नहीं मानना चाहिए जहाँ विशेष धारणा के वशीभूत हिन्दी के अनेक उपयोगी तत्सम-तद्भव शब्द त्याज्य मान लिये गये। त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया में बहुत-से क्षेत्रीय शब्द साहित्यिक भाषा से निष्कासित कर दिये गये। उदाहरण के लिए 'टुक' का प्रयोग उर्दू के बड़े-बड़े कवियों ने किया है, किन्तु उसका प्रयोग ग्राह्य नहीं माना गया। इस प्रकार की प्रक्रिया प्रायः प्रत्येक भाषा को कुछ सीमा तक स्वीकार करनी पड़ती है, जो बोलचाल की भाषा से साहित्यिक भाषा बनती है। हिन्दी भी इस त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया से वंचित नहीं रही है। आज के हिन्दी-गद्य अथवा कविता में 'टुक' और 'तनिक' का प्रयोग कितना प्रोत्साहन पाता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से बचने का प्रयत्न शिथिल गति से हुआ है, जबकि उर्दू में उसकी गति तीव्र रही। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ईस्ट-इंडिया कम्पनी के प्रारंभिक काल से १८५० तक उर्दू के विकास में जो स्थिति सहायक हुई वह हिन्दी के विकास के लिए उपलब्ध नहीं थी। सं० १८५० से १९०५ तक हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक भी ऐसे क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं, जो इस समय परिनिष्ठित हिन्दी के लिए ग्राह्य नहीं हैं।

परिनिष्ठित हिन्दी के प्रयोग कर्त्ताओं में काल की दृष्टि से सदासुखलाल का स्थान बहुत ऊँचा है। वे प्रयाग में उत्पन्न हुए थे, किन्तु आगरा में बस गये थे। सं० १९०६ में उन्होंने आगरा से "बुद्धिप्रकाश" नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। उनकी भाषा में क्षेत्रीय अथवा आंचलिक शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है, फिर भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—

यह जो बांधनू इस स्वप्न में बंधे थे।[1]

शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी और उर्दू दोनों के परिनिष्ठित रूप से अच्छी तरह परिचित थे। हिन्दी लिखते समय उन्होंने इस परिचय का पूरा-पूरा लाभ उठाया था, किन्तु उनकी भाषा में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—

१. स्वप्न का विषय, बुद्धिप्रकाश, सं० १३, जिल्द २, ३० मार्च १८५३ ई०।

अहल्या का साहस और बुद्धिबल देखके किसी को भी हियाव न पडा ।[१]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदाहरण लीजिये—

फर्क था तो इतना था कि लम्बी गफ्फिन डाढी...।[२]

किसी भाषा के मुखीय रूप पर क्षेत्रीय उच्चारण का प्रभाव अवश्य पडता है । यह प्रभाव हिन्दी और उर्दू दोनो के मुखीय रूप में देखा जा सकता है, किन्तु लिखित रूप में इस प्रकार के प्रभाव से यथा संभव बचने का प्रयत्न किया जाता है । पूरब में 'ह' तथा अन्य महाप्राण अक्षरों का उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाता है, किन्तु पछाँह में व्रज भाषा अथवा खडी बोली के क्षेत्र में महाप्राण ध्वनियो का उच्चारण उस तरह नही होता । इस अन्तर को लिखित भाषा में व्यक्त नही किया जाता । पूरब में कुछ ऐसे स्थलो पर भी महाप्राण ध्वनि का उपयोग किया जाता है, जहाँ सामान्यतया उसका प्रयोग नही होना चाहिए । आरंभ में इस प्रकार के उच्चारण को कुछ लेखक व्यक्त करना चाहते थे—

अहल्या बाई-सी बुद्धिमान रानी के साम्हने··[३]

इसके विपरीत पछाँह के लोग जब आवश्यक स्थानो पर भी महाप्राणध्वनि को अल्पप्राण ध्वनि के रूप में बोलते हैं, तो उस परिवर्तन को परिनिष्ठित भाषा में व्यक्त नही किया जा सकता । तद्भव तथा तत्सम और क्षेत्रीय शब्दो के रूप-निर्धारण की बहुत आवश्यकता होती है । इस समय हिन्दी में शब्दो का रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका है, किन्तु १८५० ई० से १९०५ ई० तक हिन्दी की स्थिति को निम्नलिखित उद्धरणो से स्पष्ट किया जा सकता है –

(१) थोडे कोले टोकरे में भरे·[४]
(२) कोई काम पाने को उमेद[५]
(३) अधेला बैल व्योपारियों से लिया करे ।[६]
(४) वह क्रोडो गुणा अधिक होने से क्रोडो गुणा कठिन होता है ।[७]
(५) एक एक आदमी की शुस्ती कमीनापन · का ग्राड टोटल है ।[८]
(६) यह खयाल अगर गलत नही है तो औव्वल दरजे का देशानुराग····[९]
(७) परन्तु इन दोनो से अधिक प्रसिद्ध और दर्शनीय ख्वाजा बुरहानुद्दीन अवलिया की कबर है ।[१०]

---

१. अहल्या बाई, वामा मनरंजन (१८७५ ई०)
२. दिल्ली दरबार, हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७७ ई०)
३. शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अहल्याबाई, वामा मनरंजन (१८७५ ई०)
४. सदासुखलाल स्वप्न का विषय, बुद्धिप्रकाश, नं० १३, जिल्द २, ६ अप्रैल १८५३ ई० ।
५. शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अहल्याबाई, वामा मनरंजन (१८७५ ई०)
६ ,, ,, ,,
७. स्वामी दयानन्द सरस्वती, व्यवहार भानु (१८७९ ई०)
८. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप जनवरी-फरवरी-मार्च १९०० ई० ।
९. ,, ,, ,,
१०. महावीरप्रसाद द्विवेदी, औरंगाबाद-दौलताबाद और रोजा, सरस्वती, मई १९०४ ई० ।

का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासों में बिहार के एक विशेष क्षेत्र के अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रेणु ने हिन्दी के अनेक शब्दों का प्रयोग आंचलिक प्रभावों को स्वीकार करके किया है। राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' के 'जंगल का फूल' तथा अन्य उपन्यासों में गोंडी भाषा के अनेक शब्द आये हैं। इन प्रयोगों से ये उपन्यास प्रभावशाली बने हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन उपन्यासों से क्षेत्र विशेष के लोग जो रस ले सकते हैं, वह अन्य प्रदेश में रहने वाला व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता। इन आंचलिक प्रयोगों का महत्त्व इसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। परिनिष्ठित रूप में, विशेष कर व्यापक क्षेत्र में बोली समझी जाने वाली हिन्दी भाषा के परिनिष्ठित रूप में ये प्रयोग आत्मसात नहीं किये जा सकते।

कौन सा शब्द क्षेत्रीय है और कौन-सा शब्द व्यापक क्षेत्र में बोला-समझा जा सकता है, इसकी परख हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में पहले की गई। इस परख के उस प्रयास का हमें विवेचन नहीं मानना चाहिए जहाँ विशेष धारणा के वशीभूत हिन्दी के अनेक उपयोगी तत्सम-तद्भव शब्द त्याज्य मान लिये गये। त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया में बहुत-से क्षेत्रीय शब्द साहित्यिक भाषा से निष्कासित कर दिये गये। उदाहरण के लिए 'टुक' का प्रयोग उर्दू के बड़े-बड़े कवियों ने किया है, किन्तु उसका प्रयोग ग्राह्य नहीं माना गया। इस प्रकार की प्रक्रिया प्रायः प्रत्येक भाषा को कुछ सीमा तक स्वीकार करनी पड़ती है, जो बोलचाल की भाषा से साहित्यिक भाषा बनती है। हिन्दी भी इस त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया से वंचित नहीं रही है। आज के हिन्दी-गद्य अथवा कविता में 'टुक' और 'तनिक' का प्रयोग कितना प्रोत्साहन पाता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से बचने का प्रयत्न शिथिल गति से हुआ है, जबकि उर्दू में उसकी गति तीव्र रही। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ईस्ट-इंडिया कम्पनी के प्रारंभिक काल से १८५० तक उर्दू के विकास में जो स्थिति सहायक हुई वह हिन्दी के विकास के लिए उपलब्ध नहीं थी। सं० १८५० से १६०५ तक हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक भी ऐसे क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं, जो इस समय परिनिष्ठित हिन्दी के लिए ग्राह्य नहीं हैं।

परिनिष्ठित हिन्दी के प्रयोग कर्ताओं में काल की दृष्टि से सदासुखलाल का स्थान बहुत ऊँचा है। वे प्रयाग में उत्पन्न हुए थे, किन्तु आगरा में बस गये थे। सं० १६०६ में उन्होंने आगरा से 'बुद्धिप्रकाश'' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। उनकी भाषा में क्षेत्रीय अथवा आंचलिक शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है, फिर भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—

यह जो बांधनू इस स्वप्न में बंधे थ।[१]

शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी और उर्दू दोनों के परिनिष्ठित रूप से अच्छी तरह परिचित थे। हिन्दी लिखते समय उन्होंने इस परिचय का पूरा-पूरा लाभ उठाया था, किन्तु उनकी भाषा में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—

१ स्वप्न का विषय, बुद्धिप्रकाश, सं० १३, जिल्द २, ३० मार्च १८५३ ई०।

अहल्या का साहस और बुद्धिबल देखके किसी को भी हियाव न पड़ा।[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदाहरण लीजिये—

फर्क था तो इतना था कि लम्बी गभिन डाढ़ी...।[2]

किसी भाषा के मुखीय रूप पर क्षेत्रीय उच्चारण का प्रभाव अवश्य पड़ता है। यह प्रभाव हिन्दी और उर्दू दोनों के मुखीय रूप में देखा जा सकता है, किन्तु लिखित रूप में इस प्रकार के प्रभाव से यथा संभव बचने का प्रयत्न किया जाता है। पूरब में 'ह' तथा अन्य महाप्राण अक्षरों का उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाता है, किन्तु पछाँह में ब्रज भाषा अथवा खड़ी बोली के क्षेत्र में महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण उस तरह नहीं होता। इस अन्तर को लिखित भाषा में व्यक्त नहीं किया जाता। पूरब में कुछ ऐसे स्थलों पर भी महाप्राण ध्वनि का उपयोग किया जाता है, जहाँ सामान्यतया उसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। आरंभ में इस प्रकार के उच्चारण का कुछ लेखक व्यक्त करना चाहते थे—

अहल्या बाई-सी बुद्धिमान रानी के साम्हने····[3]

इसके विपरीत पछाँह के लोग जब आवश्यक स्थानों पर भी महाप्राणध्वनि को अल्पप्राण ध्वनि के रूप में बोलते हैं, तो उस परिवर्तन को परिनिष्ठित भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। तद्भव तथा तत्सम और क्षेत्रीय शब्दों के रूप-निर्धारण की बहुत आवश्यकता होती है। इस समय हिन्दी में शब्दों का रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका है, किन्तु १८५० ई० से १९०५ ई० तक हिन्दी की स्थिति को निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट किया जा सकता है –

(१) थोड़े कोले टोकरे में भरे ··[4]
(२) कोई काम पाने को उमेद ·[5]
(३) अधेला बैल व्योपारियों से लिया करे।[6]
(४) वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है।[7]
(५) एक एक आदमी की शुस्ती कमीनापन ·· ··का ग्राट टोटल है।[8]
(६) यह खयाल अगर गलत नहीं है तो औव्वल दरजे का देशानुराग·· ·[9]
(७) परन्तु इन दोनों से अधिक प्रसिद्ध और दर्शनीय रुवाजा बुरहानुद्दीन अवलिया की कबर है।[10]

---

१. अहल्या बाई, वामा मनरजन (१८७५ ई०)
२. दिल्ली दरबार, हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७७ ई०)
३. शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अहल्याबाई, वामा मनरंजन (१८७५ ई०)
४. सदासुखलाल स्वप्न का विषय, बुद्धिप्रकाश, नं० १३, जिल्द २ ६ मार्च १८५३ ई०।
५. शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अहल्याबाई, वामा मनरजन (१८७५ ई०)
६. ,, ,, ,,
७. स्वामी दयानन्द सरस्वती, व्यवहार भानु (१८७९ ई०)
८. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी-फरवरी-मार्च १९०० ई०।
९. ,, ,, ,,
१०. महावीरप्रसाद द्विवेदी, औरंगाबाद-दौलताबाद और रौजा, सरस्वती, मई १९०४

का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासों में बिहार के एक विशेष क्षेत्र के अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रेणु ने हिन्दी के अनेक शब्दों का प्रयोग आंचलिक प्रभावों को स्वीकार करके किया है। राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' के 'जंगल का फूल' तथा अन्य उपन्यासों में गोंडी भाषा के असंख्य शब्द आये हैं। इन प्रयोगों से ये उपन्यास प्रभावशाली बने हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन उपन्यासों से क्षेत्र विशेष के लोग जो रस ले सकते हैं, वह अन्य प्रदेश में रहने वाला व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता। इन आंचलिक प्रयोगों का महत्व इसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। परिनिष्ठित रूप में, विशेष कर व्यापक क्षेत्र में बोली-समझी जाने वाली हिन्दी भाषा के परिनिष्ठित रूप में ये प्रयोग आत्मसात नहीं किये जा सकते।

कौन-सा शब्द क्षेत्रीय है और कौन-सा शब्द व्यापक क्षेत्र में बोला-समझा जा सकता है, इसकी परख हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में पहले की गई। इस परख के उस अंश को हमें विवेच्य नहीं मानना चाहिए जहाँ विशेष धारणा के वशीभूत हिन्दी के अनेक उपयोगी तत्सम-तद्भव शब्द त्याज्य मान लिये गये। त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया में बहुत-से क्षेत्रीय शब्द साहित्यिक भाषा से निष्कासित कर दिये गये। उदाहरण के लिए 'टुक' का प्रयोग उर्दू के बड़े-बड़े कवियों ने किया है, किन्तु उसका प्रयोग ग्राह्य नहीं माना गया। इस प्रकार की प्रक्रिया प्रायः प्रत्येक भाषा को कुछ सीमा तक स्वीकार करनी पड़ती है, जो बोलचाल की भाषा से साहित्यिक भाषा बनती है। हिन्दी भी इस त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया से वंचित नहीं रही है। आज के हिन्दी-गद्य अथवा कविता में 'टुक' और 'तनिक' का प्रयोग कितना प्रोत्साहन पाता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से बचने का प्रयत्न शिथिल गति से हुआ है, जबकि उर्दू में उसकी गति तीव्र रही। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ईस्ट-इंडिया कम्पनी के आरंभिक काल से १८५० तक उर्दू के विकास में जो स्थिति सहायक हुई वह हिन्दी के विकास के लिए उपलब्ध नहीं थी। स० १८५० से १९०५ तक हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक भी ऐसे क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं, जो इस समय परिनिष्ठित हिन्दी के लिए ग्राह्य नहीं हैं।

परिनिष्ठित हिन्दी के प्रयोग कर्ताओं में काल की दृष्टि से सदासुखलाल का स्थान बहुत ऊँचा है। वे प्रयाग में उत्पन्न हुए थे, किन्तु आगरा में बस गये थे। स० १९०६ में उन्होंने आगरा से "बुद्धिप्रकाश" नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। उनकी भाषा में क्षेत्रीय अथवा आंचलिक शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है, फिर भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—

यह जो बाँधनू इस स्वप्न में बँधे थे।[१]

शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी और उर्दू दोनों के परिनिष्ठित रूप से अच्छी तरह परिचित थे। हिन्दी लिखते समय उन्होंने इस परिचय का पूरा-पूरा लाभ उठाया था, किन्तु उनकी भाषा में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—

१. स्वप्न का विषय, बुद्धिप्रकाश, स० १३, जिल्द २, ३० मार्च १८५३ ई०।

अहल्या का साहस और बुद्धिबल देखके किसी को भी हियाव न पड़ा ।[1]
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का उदाहरण लीजिये—

फर्क था तो इतना था कि लम्बी गझिन डाढ़ी...।[2]

किसी भाषा के मुखीय रूप पर क्षेत्रीय उच्चारण का प्रभाव अवश्य पड़ता है। यह प्रभाव हिन्दी और उर्दू दोनों के मुखीय रूप में देखा जा सकता है, किन्तु लिखित रूप में इस प्रकार के प्रभाव से यथा संभव बचने का प्रयत्न किया जाता है। पूरब में 'ह' तथा अन्य महाप्राण अक्षरों का उच्चारण स्पष्ट रूप से किया जाता है, किन्तु पछाँह में ब्रज भाषा अथवा खड़ी बोली के क्षेत्र में महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण उस तरह नहीं होता। इस अन्तर को लिखित भाषा में व्यक्त नहीं किया जाता। पूरब में कुछ ऐसे स्थलों पर भी महाप्राण ध्वनि का उपयोग किया जाता है, जहाँ सामान्यतया उसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। आरंभ में इस प्रकार के उच्चारण का कुछ लेखक व्यक्त करना चाहते थे—

अहल्या बाई-सी बुद्धिमान रानी के साम्हने· ·[3]

इसके विपरीत पछाँह के लोग जब आवश्यक स्थानों पर भी महाप्राणध्वनि को अल्पप्राण ध्वनि के रूप में बोलते हैं, तो उस परिवर्तन को परिनिष्ठित भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। तद्भव तथा तत्सम और क्षेत्रीय शब्दों के रूप-निर्धारण की बहुत आवश्यकता होती है। इस समय हिन्दी में शब्दों का रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका है, किन्तु १८५० ई० से १९०५ ई० तक हिन्दी की स्थिति को निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट किया जा सकता है –

(१) घोड़े कोले टाकरे में भरे···[4]
(२) कोई काम पाने को उमेद[5]
(३) अधेला बैल व्योपारियों से लिया करे।[6]
(४) वह क्रोड़ो गुणा अधिक होने से क्रोड़ो गुणा कठिन होता है।[7]
(५) एक एक आदमी की शुस्ती कमीनापन··· का ग्राड टोटल है।[8]
(६) यह खयाल अगर गलत नहीं है तो अौअल दरजे का देशानुराग·····[9]
(७) परन्तु इन दोनों से अधिक प्रसिद्ध और दर्शनीय ख्वाजा बुरहानुद्दीन अवलिया की कबर है।[10]

---

१. अहल्या बाई, वामा मनरजन (१८७५ ई०)
२. दिल्ली दरबार, हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७७ ई०)
३. शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अहल्याबाई, वामा मनरंजन (१८७५ ई०)
४. सदासुखलाल स्वप्न का विषय, बुद्धिप्रकाश, सं० १३, जिल्द २, ६ अप्रैल १८५३ ई०।
५. शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अहल्याबाई, वामा मनरजन (१८७५ ई०)
६. ,, ,, ,,
७. स्वामी दयानन्द सरस्वती, व्यवहार भानु (१८७९ ई०)
८. बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी-फरवरी-मार्च १९०० ई०।
९. ,, ,, ,,
१०. महावीरप्रसाद द्विवेदी, औरंगाबाद-दौलताबाद और रौजा, सरस्वती, मई १९०४ ई०।

का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण के लिए फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यासों में बिहार के एक विशेष क्षेत्र के अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रेणु ने हिन्दी के अनेक शब्दों का प्रयोग आंचलिक प्रभावों को स्वीकार करके किया है। राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' के 'जंगल का फूल' तथा अन्य उपन्यासों में गोंडी भाषा के अनेक शब्द आये हैं। इन प्रयोगों से ये उपन्यास प्रभावशाली बने हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन उपन्यासों से क्षेत्र विशेष के लोग जो रस ले सकते हैं, वह अन्य प्रदेश में रहने वाला व्यक्ति ग्रहण नहीं कर सकता। इन आंचलिक प्रयोगों का महत्त्व इसी रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। परिनिष्ठित रूप में, विशेष कर व्यापक क्षेत्र में बोली-समझी जाने वाली हिन्दी भाषा के परिनिष्ठित रूप में ये प्रयोग आत्मसात नहीं किये जा सकते।

कौन-सा शब्द क्षेत्रीय है और कौन-सा शब्द व्यापक क्षेत्र में बोला-समझा जा सकता है, इसकी परख हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में पहले की गई। इस परख के उस अंश को हमें विवेच्य नहीं मानना चाहिए जहाँ विशेष धारणा के वशीभूत हिन्दी के अनेक उपयोगी तत्सम-तद्भव शब्द त्याज्य मान लिये गये। त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया में बहुत-से क्षेत्रीय शब्द साहित्यिक भाषा से निष्कासित कर दिये गये। उदाहरण के लिए 'टुक' का प्रयोग उर्दू के बडे-बडे कवियों ने किया है, किन्तु उसका प्रयोग ग्राह्य नहीं माना गया। इस प्रकार की प्रक्रिया प्रायः प्रत्येक भाषा को कुछ सीमा तक स्वीकार करनी पड़ती है, जो बोलचाल की भाषा से साहित्यिक भाषा बनती है। हिन्दी भी इस त्याज्य-ग्राह्य की प्रक्रिया से वंचित नहीं रही है। आज के हिन्दी-गद्य अथवा कविता में 'टुक' और 'तनिक' का प्रयोग कितना प्रोत्साहन पाता है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

हिन्दी में इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से बचने का प्रयत्न शिथिल गति से हुआ है, जबकि उर्दू में उसकी गति तीव्र रही। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ईस्ट-इंडिया कम्पनी के आरम्भिक काल से १८५० तक उर्दू के विकास में जो स्थिति सहायक हुई वह हिन्दी के विकास के लिए उपलब्ध नहीं थी। स०१८५० से १६०५ तक हिन्दी के श्रेष्ठ लेखक भी ऐसे क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग करते रहे हैं, जो इस समय परिनिष्ठित हिन्दी के लिए ग्राह्य नहीं हैं।

परिनिष्ठित हिन्दी के प्रयोग कर्ताओं में काल की दृष्टि से सदासुखलाल का स्थान बहुत ऊँचा है। वे प्रयाग में उत्पन्न हुए थे, किन्तु आगरा में बस गये थे। सं० १६०६ में उन्होंने आगरा से "बुद्धिप्रकाश" नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। उनकी भाषा में क्षेत्रीय अथवा आंचलिक शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है, फिर भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं—

यह जो बांधनू इस स्वप्न में बंधे थे।[1]

शिवप्रसाद सितारेहिन्द हिन्दी और उर्दू दोनों के परिनिष्ठित रूप से अच्छी तरह परिचित थे। हिन्दी लिखते समय उन्होंने इस परिचय का पूरा-पूरा लाभ उठाया था, किन्तु उनकी भाषा में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं—

१. स्वप्न का विषय, बुद्धिप्रकाश, स० १३, जिल्द २, ३० मार्च १८५३ ई०।

लिखते समय यह संदेह अवश्य बना रहता है कि शब्द को लिखते समय उच्चारण पर ध्यान दिया जाये या परम्परा पर। अब अन्तिम प्रकार के सम्बन्ध में निश्चय हो चुका है किन्तु तीन अथवा चार व्यंजन वाले शब्दों में दुविधा बनी रहती है। तीन अथवा चार व्यंजन वाले शब्दों में दूसरे व्यंजन का उच्चारण प्राय: हलन्त होता है, उच्चारण की दृष्टि से कसरत, सर्कस, मद्रक, ठीक हैं किन्तु परम्परा की दृष्टि से इन्हें कसरत, सरकस और मदरक भी लिखा जा सकता है। उच्चारण की दृष्टि से सत्ता, चल्ना, हट्ना ठीक है। इसी प्रकार धर्म, लड़का लिखना उचित माना जाएगा, किन्तु परम्परा भिन्न प्रकार की है। सर्वनामो का विभक्ति के साथ लिखते समय भी इसी प्रकार की दुविधा बनी रहती है। परिनिष्ठित भाषा इस प्रकार के विकल्पों को प्रश्रय नहीं दे सकती, इसी लिए धीरे-धीरे नियम स्थिर हुए। १८५० से १९०५ तक जो अस्थिरता रही है, उसे निम्न-लिखित उद्धरणों से स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) जिस्से जर्राही उपाय का होना रह गया…।[1]

(२) उस्से पूछा कि ।[2]

(३) उन्में जोश और सरगरमी पैदा करने से जिस्में एक-एक ।[3]

(४) जिस्में के एक-एक लोग सब भांत कदर्य ।[4]

विवेच्य काल में वचन सम्बन्धी अव्यवस्था विद्यमान थी। इस काल के उर्दू लेखकों की रचनाओं में इस प्रकार की अव्यवस्था दिखाई नहीं देती।

(१) कोई कोई राजों को हम मित्रराज कह कर परिचय देते भी हैं।[5]

(२) परन्तु सर्व साधारणों के देखने में …।[6]

(३) उसका बनाया घाट और पुल और धर्मशाला और तालाब आदि न देखा हो।[7]

(४) एक-एक मनुष्य अबाल वृद्ध वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाये जाते हैं।[8]

(५) कौमी तरक्की भी अलग अलग एक-एक आदमियों के परिश्रम योग्यता का मानो टोटल है।[9]

---

१ सदासुखलाल, स्वप्न का विषय, बुद्धि प्रकाश, म० १४, जिल्द २, ६ अप्रैल १८५३ ई०।
२ ,, ,, ,, ,, ।
३ बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी-प्रदीप जनवरी-फरवरी-मार्च १८७५ ई०।
४ ,, ,, ,, ,, ।
५ मोहनलाल विष्णुलाल पड्या, प्रा० ना०, हरिश्चन्द्र मैगजीन, १५ अप्रैल १८७४ ई०।
६ ,, ,, ,,
७ शिवप्रसाद सितारे हिन्द, अहल्याबाई, वामा मन रंजन, १८७५ ई०। ,, ।
८ बालकृष्ण भट्ट हिंदी प्रदीप, जनवरी फरवरी-मार्च १९०० ई०।
९ ,, ,, ,, ,,

विशेषणों के सम्बन्ध में ऐसे रूपों का प्रयोग भी प्रचलित था।

(१) यहाँ पर एक बड़ा लेख है[१]।

(२) उसी में अनन्त सलिल समूह भरा है[२]।

(३) दो एक मन्दिर भी उजाड़ दशा में पड़े हैं[३]।

(४) उससे इस रोज़े की बहुत थोड़ी-सी शोभा आ गई है[४]।

विवेच्य काल में हिन्दी के वाक्य-विन्यास में बहुत स्थिरता आ गई थी, फिर भी बड़े-बड़े लेखक इस सम्बन्ध में पूर्णतया आदर्श नहीं माने जा सकते। बालकृष्ण भट्ट का लेखन-काल बहुत पीछे प्रारंभ होता है किन्तु उनकी विन्यास शैली बहुत ही त्रुटि पूर्ण है। कुछ स्थलों पर पुरानी उर्दू के समान वाक्य मिलते हैं तो कुछ स्थलों पर अंग्रेजी में विशेषणात्मक वाक्य खंडों के समान एक वाक्य में कई वाक्यांश प्रयुक्त हुए हैं, पूरा वाक्य पढ़ने पर दोष स्पष्ट हो जाता है—

(१) हाँ हाँ जो सतजुग होता तू हमारे ऐसा सामने बराबर कर सकता[५]।

(२) ऐसा कोई फरियादी नहीं पहुँच सकता और छोटे-से छोटा मुकदमा भी ऐसा कोई नहीं था जिसका मन देके पक्षपात रहित सूक्ष्म विचार न करती[६]।

(३) अहल्या बाई का नाम यावत् चन्द्र दिवाकर लोग सुख्यात के साथ याद करेंगे[७]।

(४) फरहरे पर जो डंडे से लटकता था, स्पष्ट रीत पर उनके शस्त्र आदि [८]।

(५) शेष राजाओं को उनके पद के अनुसार या चाँदी के केवल तमगे मिले[९]।

(६) जिन्हें तमाशा देखने के लिए टिकट मिले थे बैठने की जगह दी गई थी वे ३००० के अनुमान होंगे[१०]।

(७) अनेक सुप्रसिद्ध सत्पुरुषों की जीवनी इसका उदाहरण तो हुई है वरन कौमी ताक्त (National vigour and stength) प्रत्येक देश या जाति के लोगों में बल और ओज गौरव और महत्व आने का आत्मनिर्भर सच्चा द्वार है।[११]

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी – औरंगाबाद दौलताबाद-रोज़ा, सरस्वती (मई १९०४)
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,,
५. स्वामी दयानन्द सरस्वती, व्यवहार भानु (१८७९)
६. शिवप्रसाद सितारेहिन्द, अहल्याबाई, वामा मन रंजन (१८७५ ई०)।
७ ,, ,, ,,
८. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, दिल्ली दरबार, हरिश्चन्द्र मैगज़ीन (१८०७ ई०)।
९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, दिल्ली दरबार, हरिश्चन्द्र मैगजिन (१८७७ ई०)।
१०. ,, ,, ,,
११ बालकृष्ण भट्ट, हिन्दी प्रदीप, जनवरी-फरवरी मार्च १९०० ई०।

(८) प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनी पढने ही से नहीं करना -उस प्रसिद्ध पुरुषार्थो के चरित्र का अनुकरण करने से जो उसकी जीवनी का सारांश है, मनुष्य में पूर्णता आती है[१]।

(९) इसको मलिक अम्बरने आरंभ किया, परन्तु वह इसे पूरा नहीं कर सका, उसकी औरंगजेब ने समाप्ति की[२]।

वाक्य विन्यास, मुहावरों के प्रयोग आदि की दृष्टि से फोर्ट विलियम कालेज के उर्दू लेखकों की रचना से परवर्ती लेखकों की उर्दू बहुत प्राञ्जल हो चुकी थी। यहाँ स्थानाभाव के कारण १८५० से १९०५ तक की परिनिष्ठित उर्दू के उदाहरण देना संभव नहीं है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा। ये उदाहरण उर्दू के प्रसिद्ध कवि मिर्जा गालिब के पत्रों में से दिये जा रहे हैं। गालिब ने पत्र लिखते समय यह विचार नहीं किया था कि किसी दिन इनका प्रकाशन भी होगा। इन पत्रों में अरबी-फ़ारसी के शब्दों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है।

(१) वो नुस्खा ये है के पान-सात सेर पानी लेवें और उसमें सेर पीछे तोला भर चोब चीनी कूट कर मिला दें और उसको जोश करें, इस कदर के चेहारुम पानी जल जावे। फिर उस बाकी पानी को छानकर कोरी ठिलिया में भर रखें और जब बासी हो जावे उसको पियें, जो गिजा खाया करते हैं, खाया करें; पानी दिन रात जब प्यास लगे यही पियें।[३]

(२) बरसात का हाल न पूछो। खुदा का कहर है। कासिमजान की गली सआदतखाँ की नहर है। मैं जिस मकान में रहता हूँ, आलमबेगखाँ के कटरे की तरफ का दरवाजा गिर गया। मस्जिद की तरफ के दालान को जाते हुए जो दरवाजा था वो गिर गया, सीढियाँ गिरा चाहती हैं, सुबह के बैठने का हुजरा झुक रहा है। छतें छलनियाँ हो गई हैं। मेंह घडी भर बरसे तो छत घटा भर बरसे। किताबें कलमदान सब तोशाखाने में। फर्श पर कहीं लगन रखा है, कहीं चिलमची धरी है। खत लिखूँ कहाँ बैठकर[४] ?

(३)···अब जो चार कम अस्सी बरस की उम्र हुई और जाना के मेरी जिन्दगी बरसों क्या महीनों की न रही, शायद बारह महीने, जिसको बरस कहते हैं, और जीऊँ; वर्ना दो चार महीनें; पाँच-सात हफ्ते, दस-बीस दिन की बात रह गई। अपने सिवाते हवास में, अपने दस्तखत से ये तौकी तुमको लिख देता हूँ के फन्ने उर्दू में नस्मन व नस्रन

---

१. " " "
२. महावीर प्रसाद द्विवेदी, औरंगाबाद-दौलताबाद और रोजा, सरस्वती (मई १९०४ ई०)।
३. मिर्जा गालिब, हरगोपाल तफ्ता के नाम पत्र का कुछ अंश। पत्र लिखने की तिथि अगस्त १८४९ ई०। गालिब के पत्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद पृ० २।
४. मीर मेंहदी हुसैन 'मजरुह' के नाम एक पत्र, तिथि २६ सितम्बर १८६२ ई०। गालिब के पत्र, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, पृ० ३६१।

तुम मेरे जानशी हो। चाहिए के मेरे जानने वाले जैसा मुझको जानते थे वैसा तुमको जानें और जिस तरह मुझको मानते थे, तुमको मानें।[1]

साहित्यिक हिन्दी के विकास में उर्दू के परिष्कृत रूप से बहुत सहायता मिली है। वर्तमान हिन्दी के विकास और परिष्करण का विवेचन उस समय तक अपूर्ण रहेगा जब तक उर्दू के इस रूप का अध्ययन नहीं किया जाता।

---

१. मिर्ज़ा अलाउद्दीनखाँ 'अलाई' व 'नसीमी' के नाम, तिथि-२१ जून १८६८ ई०। गालिब के पत्र, हिन्दुस्तानी एकडेमी इलाहाबाद, पृ० ५२७।

॥

श्री मैकश अकबराबादी

आगरे की चंद अदबी शख्सियतें

किसी ने सच ही कहा कि 'आगरा घर है हमेशा से सुखनदानां था'' आगरे के फारसी और हिंदी अदीबों का जिक्र न कीजिए और सिर्फ उर्दू के अदीबों और शायरों का जिक्र करना शुरू कीजिए तो एक तूलतवील दास्तान बन जायगी। ये तो जाहिर है कि सिर्फ बड़ी तादाद कोई बड़ाई नहीं है जब तक कि यह तादाद अच्छे अदीबों की न हो। अगर उन्होंने फन की कोई खास खिदमत न की हो और उसका मेयार ऊँचा न किया हो अब आप यों सोचिये कि अगर उर्दू अदब में से खान आरजू मीर, नजीर और गालिब का नाम निकाल दें तो फिर देखिए कि उर्दू की वह आब ताब कहाँ बाकी रहती है, जिससे हिन्दोस्तान और हिन्दोस्तान के बाहर दूसरे मुल्कों में उर्दू का नाम ऊँचा है ये सब फनकार आगरे ही के तो थे।

ये जरूर है कि आगरे के फनकार जरूरत से ज्यादा अपने हाल में मस्त रहे। शाहजहाँ के आगरे से जाने के बाद आगरा एक गोशा होकर रह गया। और आगरे के फनकार गोशानशीन। ये गोशानशीनी की आदत एक दौर के बाद दूसरे दौर को विरसे की तरह मिलती चली आ रही है। मियाँ नजीर को नव्वाब वाजिदअली शाह ने बुलाया तो उन्होंने कहला भेजा कि मैं तो वहाँ तक जाता हूँ जहाँ तक ताजमहल के मीनारे नज़र आते रहते हैं। सारी उम्र लड़के पढ़ा कर गुजार दी मगर आगरा न छोड़ा। मीर और गालिब अगर आगरे से बाहर न चले गए होते तो शायद यह मकाम हासिल न करते जो आज उन्हें हासिल है। मियाँ नज़ीर के लड़के खलीफा गुलजार अली असीर कई दीवानों और किताबों के मुसन्निफ हैं, मगर खुद आगरे के कितने आदमियों को उनका कोई शेर याद है। काशी वाले राजा बलवान सिंह का खुदा भला करे कि वो शायरी में असीर के शागिर्द थे और जिन्दगी भर दो रुपए रोज़ उन्हें देते थे। सुना है महाराजा धौलपुर ने भी उनसे अपनी रियासत की तारीख लिखवाई थी, और पाँच रुपए रोज उन्हें देते थे। असीर की तबीयत का इससे अन्दाजा कीजिए कि एक मुशायरा था जिसकी 'तरह' थी, "पुड़िया हमारे साथ है सम की बँधी हुई।' यह मुशायरा गालिबन राजा बलवान सिंह के यहाँ हुआ था। राजा खुद भी उर्दू हिंदी के बड़े अच्छे शायर थे। मुशायरे में 'मेहर' और 'माह' जैसे उर्दू के नामी शायर भी मौजूद थे। मगर असीर की

गजल सब से अच्छी रही। अमीर गजल पढ़ चुके तो एक रईस ने महफिल ही में हथेली पर एक अशरफी रख कर अमीर की तरफ बढ़ाई। अमीर ने कहा, अभी एक शेर और बाकी रह गया है, वह और सुन लीजिए।

"सिफले ने जर हथेली पे रख कर दिया तो क्या।
चलती है मुट्ठी अहले करम की बधी हुई।"

मैंने इन बुजुर्गों के देखने वालों को भी अच्छी तरह नहीं देखा लेकिन सुनता आया हूँ कि अमीर और मेह व माह के बाद आगरे में शायरी के चार सुतून माने जाते थे। रईस, वासिफ, निसार, मानी। इस वक्त हमारे हाथ में न उन लोगों का कलाम है न उनकी मुफस्सिल तारीख, ऐजाज सिद्दीकी ने रिसाला 'शायर' और राणा व सबा अकबराबादी ने मरकरे का 'आगरा नबर' शाया करके यह अहसान किया कि आगरे के अहले कलम का हाल एक जगह पर दिया। आगरे की शख्सियतों का हाल मौलाना सीमाब, खादम अली खाँ अखजर या दिलगीर शाह को लिखना चाहिए था। क्योंकि इन लोगों ने रईस, वासिफ वगैरा को न सिर्फ ये कि देखा है कि बल्कि उनके साथ मुशायरे पढ़े हैं उनकी सोहबत में बैठे हैं और उनसे फैज हासिल किया है। मगर अब तो ये सब लोग खुदा को प्यारे हो गए। खादिम अली खाँ अखजर का इन्तकाल तो अभी सन् ६० में पाकिस्तान जाकर हुआ है। खाँ साहिब अजीब आदमी थे वो शायरी भी करते थे तिजारत भी और लीडरी भी। इलेक्शन भी लडाते थे और मुशायरे भी। खुद तो म्यूनिस्पिलिटी की मेंबरी से आगे न बढ़े मगर कौंसिल और असेंबली के इलेक्शन उन्होंने खूब लडाये। हर तबके और हर तरह के लोग उनसे मशविरा लेना जरूरी समझते थे। उनकी तिजारती सूझबूझ का कारनामा आगरे की न्यू मारकेट की तामीर और उसकी अजुमन की तजीम है जिसे आगरे वाले कभी फरामोस नही कर सकते। उनका अदबी कारनामा तो सिर्फ चद तस्नीफो तक महदूद है। यह तस्नीफें उनके काम के मुकाबले में कुछ भी नही हैं। वो एक-एक नशिस्त में सैकड़ों शेर कह डालते थे। आप जब उनके मकान पर जायेंगे तो उन्हें शेर लिखता हुआ पायेंगे, मगर खत वो जिन्नातों कि खुद भी मुश्किल से पढते थे। हमेशा एक ऐसे कातिब की तलाश में रहे जो उनके सामने बैठकर उनकी गजलें साफ कर दे। दूसरो के बनाने और चख उडाने में खाँ साहिब का जवाब ही न था उनके लिए न वक्त और मौके की कैद थी न महफिल और 'तनहाई की। हँसना हँसाना उनका महबूब मशगला था। एक मर्तबा मिर्जा यास यगाना लखनवी आगरे आए और मिर्जा वसम आफन्दी के मेहमान हुए। वसम साहिब ने उनके ऐजाज में एक मुख्तसर सुहबत मुनअकिद की। फानी, अखजर, दिलगीर, मानी, मुखमूर सब ही जमा थे। बातें हो रही थी। यगाना साहिब लखनऊ के शायरो का जिक्र फरमा रहे थे। वो उन सभी से खफा थे। फरमाने लगे कि एक मुशायरे में अजीज लखनवी ने शेर पढ़ा—

"दिल समझता था कि खिलवत में वो तनहा होगे।
मैंने परदे को जो उल्टा तो कयामत दीखी।"

मैंने इस तरह दाद दी कि अजीज कहने लगे आपने तो मेरा शेर जाया कर दिया। बातें खत्म हुईं और गजलख्वानी शुरू हुई। जब यगाना साहिब की बारी आई तो उन्होंने मतला पढ़ा —

पयामे जेरे लब ऐसा कि कुछ सुना न गया।
इशारा पाते ही अँगड़ाई ली रहा न गया।

, दिलगीर शाह ने एक चुभते हुए फिक्रे से इस शेर को खुशआमदेद कहा। उनसे यगाना साहिब से पहले से मुलाकात थी और बेतकल्लुफी भी। मगर अख्तर साहिब से आज ही मुलाकात हुई थी। अख्तर साहिब कहने लगे वाह! मिर्जा साहिब। सुभान-अल्ला! आपने पूरा कोकशास्त्र एक शेर में जमा कर दिया है।

खुदा की शान कि अब वही अख्तर साहिब ऐसे हो गये थे कि गैर तो गैर उनके बाज नालायक शागिर्द उन पर हँसते थे। खाँ साहिब के दफ्तर ने घूरे की शक्ल इख्तियार कर ली थी उनके कमरे में झाड़ू का गुजर ख्वाब में भी न होता था। मेज से ज्यादा कुर्सियों पर जरूरी और गैर जरूरी कागजों के ढेर लगे रहते। उनके कोट और शेर-वानियाँ साल भर टँगे रहते। उनमें मकड़ियाँ जाले तन लेतीं और छिपकलियाँ अड्डे देती रहतीं। उनको जब जरूरत होती वो यों ही पहन लेते। मुखमूर साहिब कहा करते हैं कि अख्तर आगरे के मिर्जा सौदा हैं। जरा किसी से नाखुश हुए और एक नज्म से उसकी खातिर कर दी। वो नज्म ऐसी लाजवाब होती कि घंटों में आम लोगों की जबान पर चढ़ जाती। एक से एक उसकी नकलें माँगता फिरता।

सबसे ज्यादा मौजूं शख्सियत जिस पर लिखा जाना चाहिए वे लतीफुद्दीन अहमद हैं वह आगरे के बड़े खास नस्र लिखने वाले हैं। वह यों तो कुरैशी बिरादरी की एक फर्द हैं, आगरे के रहने वाले हैं, एक हिंदोस्तानी हैं। लेकिन अपने मिजाज, दिमाग और दूसरी खूबियों के एतबार से वह इन सब चीजों से बड़े हैं। जिस्म के एतबार से मुख्तसर मगर दिल और दिमाग के एतबार से बहुत बड़े। मैंने उन्हें बड़ी-बड़ी सख्त परेशानियों में इतना मुस्तकिल मिजाज पाया है कि उसका तसव्वुर करना मुश्किल है। उनके चेहरे से उनकी गहराई और उनके दिल की हालत का अंदाजा करना मुश्किल है। लाम अहमद साहिब ने अफसाने लिखे हैं तिजारत की है दोस्तों की तवाजो की है और सियासत में हिस्सा लिया है। अफसाने में उनकी हैसियत मुल्क में और तवाजों में दोस्तों में मानी हुई है। तिजारत में कभी कामयाब रहे और कभी नाकामयाब, लेकिन सियासत में वो हमेशा नाकामयाब रहे। सियासत से मेरा मतलब सिर्फ इलेक्शनबाजी से है। और यही उनके अच्छे होने की दलील है। क्योंकि वो सब को अच्छा समझ लेते और सब पर भरोसा कर लेते हैं। आगरा जिन पर हमेशा नाज करेगा उसमें लाम अहमद की शख्सियत बहुत नुमाया रहेगी। उनकी तस्नीफें और तर्जुमे बहुत हैं और उनके पढ़े बगैर कोई उनकी काबलियत का अंदाजा नहीं कर सकता। मुल्क उन्हें सफे अव्वल के अफसाना लिखने वाला में मानता है। लाम अहमद के जिक्र के साथ ही दिलगीर साहिब की याद आजाती है, क्योंकि लाम अहमद दिलगीर शाह और मुखमूर और इमाम अकबराबादी सब एक ही सोहबत के लोग हैं।

शाह दिलगीर एडीटर 'नक्क़ाद' मेरे बहुत करीब के रिश्तेदार और हमसाया थे। वो मुझ से उम्र में बहुत बड़े थे इसलिए मुझे उनकी उम्र का लिहाज करना पड़ता था। मगर वो इतने बेतकल्लुफ और खुशबाश थे कि इन बातों की तरफ तवज्जो भी न करते। तनहाई की तरह महफिलों में भी फिकरे कसने और कहकहे लगाने। उनके पास बैठकर वक्त बड़ा अच्छा कटता था। वह खुश होना, हसना हँसाना जानते थे। शेर इतना अच्छा समझते थे कि कोई कम समझेगा। अच्छे शेर उन्हें बहुत याद थे वो किसी से खुश हों या नाखुश मगर सब के अच्छे शेरों की दाद बड़ी फराखदिली से देते थे, खफा भी जल्दी हो जाते और माजरत भी जल्दी कुबूल कर लेते। अलबत्ता इसके लिए माजरत चाहने वाले को उनकी और उनके दोस्तों की दावत करनी पड़ती थी।

एक मरतबा हम लोग मथुरा में एक शादी में शरीक होकर वापस हो रहे थे, शहर के एक और बुजुर्ग साथ थे, जिन्होंने मथुरा से पेड़े खरीदे थे। शाह दिलगीर ने मुझसे कहा इनके पेड़े खाना चाहिए, तुम इनसे माँगो, ये तुमसे इनकार नहीं करेंगे। मेरे लिये ये बात किसी तरह मुमकिन न थी, मैं चुप हो गया तो उन्होंने खुद ही बात शुरू की। मथुरा के पेडों की तारीफ की, फिर उन बुजुर्ग की तारीफ की और फिर एक पेड़ा चखने को माँगा फिर दूसरा और तीसरा इस तरह कई पेड़े खा गये। इसके लिए उन्होंने खुशामद की, खुदा रसूल का वास्ता भी दिया। हाथ और दामन फैलाकर खड़े भी हुए और जबदस्ती भी की। कहकहे लगाते जाते और पेड़े खाते जाते। उनके वाकयात और लतीफे बहुत हैं जो उनके खास दोस्तों जैसे नियाज़ फतहपुरी, लतीफुद्दीन अहमद, मखमूर और मानी साहिबान को याद हैं और उनके बयान करने का हक भी मुझसे ज्यादा उन्हीं को है। दिलगीर कहा करते थे शायर सिर्फ हुस्न देखता है।' वो अपने ज़माने के दूसरे शायरों की तरह शायरी के कायदा कानून के बहुत पाबंद थे। एक दफा मैं अपनी एक गजल पढ़ रहा था, जब मैंने यह शेर पढ़ा—

"मेरे रोने पै रो दिए वो भी, बदगुमानी निकल गई दिल की।"

तो उन्होंने मुझे टोका। कहने लगे, माशूक का रोना हमारी शायरी के खिलाफ है। मैंने कहा—मगर मेरे साथ ऐसा हुआ इसलिए मुझे लिखने का हक है। मगर उन्होंने तस्लीम नहीं किया। महज़ इसलिए कि अब तक किसी शायर ने नहीं लिखा था। उर्दू की तारीख में उनका नाम एडीटर 'नक्क़ाद' की हैसियत से जिंदा रहेगा।

मौलाना सीमाब अकबराबादी हमारे दौर के वह तनहा अकबराबादी शायर थे जिन्हें आगरे के बाहर सब से ज्यादा लोग एक शायर की हैसियत से जानते हैं। आगरे वालों ने उनकी कद्र न की मगर उन्होंने आगरे का नाम रोशन किया। मौलाना ख्वाहमख्वाह किसी से न उलझते थे मगर जो उनसे उलझे या उनके कमाल के दावे को चैलेंज करे तो वो उसे मुवाफ भी न करते थे। वह सबसे अलहदा अपना एक मरकज़ बनाए हुए अदब की खिदमत में इस तरह मसरूफ रहते, जैसे कोई इबादत करता है। वो बड़ी पाबन्दी से मुशायरों में शरीक होते और हमेशा 'तरह' पर गजल कहते। वो कहा करते थे, 'मैं किसी ऐसे तरही मुशायरे में शरीक नहीं हुआ जहाँ मैंने तरह में गजल न पढ़ी हो। इस बारे में वो हमेशा मुझसे मेरी शिकायत फरमाया करते थे क्योंकि मैं

हमेशा से मुशायरों में मजबूरी से ही शरीक होता हूँ। सीमाब साहिब के हँसने बोलने और जराफत में एक भारीभरकमपन और रख रखाव था। वो छोटों से मेहरवानी, बड़ों और बराबर वालों से तहज़ीब से पेश आते थे। उन्होंने कभी अपने से छोटों को आगे बढ़ाने और उनके काम को सराहने में बखीली और तंगदिली से काम नहीं लिया। एक रोज़ मुझसे उन्होंने कहा—आप अपना कलाम रिसालों में क्यों नहीं छपवाया करते, क्या ये शायरी आकबत में काम आएगी। मुझ पर उनकी इस नसीहत का बहुत असर हुआ और उसके बाद से जब भी रिसालों के एडीटर मुझ से कुछ माँगते हैं तो मैं इनकार नहीं करता।

किसी जमाने में आगरे में 'ईद डिनर' के नाम से ईद की शाम को एक एज्तिमा (सम्मेलन) होता था। जिसमें शहर के हिन्दू मुस्लिम शुर्फा को एक जगह जमा होने और मिल बैठने का मौका मिल जाता था। एक बार मैं देर से पहुँचा, पंडाल भर चुका था और यह नामुमकिन था कि मैं सब लोगों से मिल सकूँ, इसलिए मैं पास-पास के दस बीस लोगों से मिलकर बैठ गया। मौलाना सीमाब जरा फासले पर थे, वह खुद मेरे पास आए और यह शेर पढ़ते हुए गले मिले।

यह न आए तो तू ही चल ऐ दाग,
इसमें क्या तेरी शान जाती है।

मौलाना सीमाब इस हैसियत से भी खुश किस्मत थे कि उन्होंने बहुत सी तसनीफें बेशुमार शागिर्द और एजाज सिद्दीकी एडीटर 'शाइर' बम्बई और मजर सिद्दीकी एडीटर 'परचम' कराची जैसे लायक फरजंद और जाँनशीन छोड़े, जिनकी वजह से उनका नाम और काम जिंदा है।

फानी बदायूनी का आगरे आना मेरे लिए बड़ा मुबारक हुआ, वो मेरे पास अक्सर आया करते थे और कभी कभी मैं भी उनके यहाँ हाजिर होता और उनकी अदबी सोहबतों में शरीक होता था। फानी साहब के दोस्तों का हल्का बहुत महदूद था। उनमें से एक मुखमूर साहिब अकबराबादी भी थे, वो शायर भी हैं अदीब भी, नाकिद और अफसाना निगार भी और फानी साहब के हम पेशा यानी वकील भी। मुखमूर साहिब बड़े जहीन और आलिम आदमी हैं। उनकी बेतकल्लुफी में भी एक शाइस्तगी और मिजाज में भी मतानत। एक रोज जोश मलिहाबादी और मुखमूर साहिब मेरे यहाँ बैठे हुए थे। सोहबत पुरलुत्फ भी थी और बेतकल्लुफ भी। मुखमूर साहिब ने जोश से कहा—आज अपने दोस्तों के मुतल्लिक अपनी राय जाहिर कीजिए। मैंने कहा—यह क्या राय जाहिर करेंगे, इनका हाल तो यह है कि एक रिश्तेदार से खफा हो गए और नज्म लिख डाली सब आगरे वालों पर—

ऐ रफीकाने अकबराबादी,
दिल वफा का है तुमसे फरियादी।

मुखमूर साहिब ने फिर इसरार किया और जोश साहिब ने बुलबुले हजारदास्ताँ की तरह चहकना शुरू कर दिया। सब से पहिले फानी साहिब की शामत आई। फिर

फानी साहिब और दूसरे दोस्तों पर मेहरबानी नाजिल हुई और आखिर में लतीफुद्दी महमद पर तान टूटी। मुखमूर साहिब कहने लगे, मुझे और मैकश साहिब को छ छोड़ दिया। जाश साहिब ने हम दोनों पर भी नवाजिश शुरू कर दी, मगर बहुत न और पुर लुत्फ, ऐसे लतीफे अक्सर मुखमूर साहिब करते रहते थे। मैंने एक मरतब उनकी तसनीफ़ों से एक छोटी अलमारी भरी हुई देखी थी। 'नज़ीर' उनका एक न मिटने वाला कारनामा है। आगरे के मशहूर अदीबों और शायरों का तजकिरा जब भी लिखा जायगा उसमें हाफिज इमामुद्दीन, मुफ्ती इन्तजामुल्ला, बाबू प्रभुदयाल शाम, राना और सबा, ऐजाज सिद्दीकी, शाहिद सिद्दीकी का जिक्र जरूरी होगा। ये सब इसी जमाने में हैं। इसी तरह इस्मत चुगताई जो मशहूर ज़राफत निगार मिर्जा अज़ीम बेग चुग़ताई की बहन हैं, इस ज़माने की बहुत मशहूर अफसाना निगार हैं और आजकल बम्बई में हैं। मिर्जा अज़ीम बेग का इन्तकाल हो गया। उन्होंने बडा नाम पैदा किया। मिर्जा चुगताई तहरीर में जितने शाम और जिन्दा दिल मालूम होते हैं बातों में ऐसे न थे। वह कुछ खामोश और मुर्झाए हुए से रहते थे। उनकी सेहत हमेशा खराब रही। और आखिर दिक ने उनका खातमा कर दिया।

ये तो मैंने अपने ज़माने के अदीबों का जिक्र किया है। मगर अपने दौर से पहले बुजुर्गों के तजकिरे ही सुने हैं और उनमें से चंद को देखा भी है तो बचपन ही में देखा है, उनमें मिर्जा खादिम हुसैन रईस की बड़ी अहम शख्सियत थी। मैंने उनका जनाजा ही देखा। जनाज़े पर शामियाना तना हुआ था और उस शाहदे उठाए हुए थे। ये तरीका पुराने शिया रईसों के यहाँ राइज था। 'शायर आगरा नम्बर' से उनके जिक्र में से चंद जुम्ले नकल करता हूँ। 'वो दूसरे शुअरा को शायर बहुत कम मानते थे, चुनांचे फरमाते हैं—

"अगलात है कहीं कहीं इगलाक ऐ रईस,
देखे कलाम दागो अमीरो जलाल के।"

"जब मुशायरे में पाँव पर पाँव रखकर और तन कर बैठ जाते थे तो किसी को आँख मिलाने की जुर्रत न होती थी। अपना हुक्का किसी को नहीं पिलाते थे। मुशायरे में मिट्टी का हुक्का पीते थे। दराजकद, सफेद रंग, दाढी साफ, मूँछें बडी बडी, अँगरखा और दुपलड़ी टोपी पहनने का शौक था, पाजामा अक्सर बड़े पायचों का पहनते थे। उम्र भर शेर कहे और दीवान के लिए जब किसी ने कहा तो इनकार कर दिया।"

सुना है कि किसी जमाने में आगरे में एक बड़ा मुशायरा हुआ था उसमें दाग देहलवी भी आए थे। दाग ने ये शेर पढा—

बड़ा मजा हो जो महशर में मैं करूँ शिकवा।
वो मिन्नतों से कहें चुप रहो खुदा के लिये॥

मिर्जा रईस ने महफिल ही में उन्हें टोका, कि हज़रत महशर में शिकवे शिकायत का क्या मौका होगा। यों कहना चहिए,

बड़ा मजा हो जो महशर में मैं करूँ फरियाद।
वो मिन्नतों से कहें चुप रहो खुदा के लिये॥

इसी तरह एक मर्तबा मुशायरा हुआ 'तरह' थी—

'फिर रहे हैं आईने में साँप लहराते हुए'।

आगा शायर ने एक शेर पढ़ा जिसका दूसरा मिसरा था—

'कास ये फगफूर देखे ठोकरे खाते हुए'।

तो मिर्ज़ा रईस ने कहा—

कास ए फगफूर क्या,

यों कहिए—

'कास ये सर उनके देखे ठोकरें खाते हुए'॥

उसी जमाने में एक और बुजुर्ग थे मास्टर सैयद तसव्वुफ हुसैन 'वसिफ'। यह बात मशहूर है कि वो आगरे के सबसे ज़ियादा नाजुक ख़याल शायर थे और वह खुद भी बहुत नाजुक किस्म के आदमी थे। दुबले पतले, लांबा कद, ऊदी मखमल की गोल टोपी, कतरी हुई दाढ़ी, गोरा रग, चश्मा लाए रहते, जुकाम के सदा मरीज़, बातें बहुत जल्दी-जल्दी करते, आदाब सलाम के बजाय सबसे बंदगी करते थे। वह मुझे इसलिए याद हैं कि वह रोज़ाना शाम को हमारे यहाँ आते थे, कोई हो या न हो उनको आना, वह मेरे वालिद के जमाने से आते थे, फिर वालिद साहब का इन्तकाल हो गया तो चचा साहब के पास आते रहे, उनका भी इन्तकाल हो गया, मगर वो बराबर अपने वक्त पर आते रहे। हमारे यहाँ उनके बैठने की भी एक जगह मुकर्रर थी। अगर कोई नावाकिफ गलती से उनकी जगह बैठ जाता तो वह वापस हो जाते। उनकी वजादारी का एक किस्सा उनके दोस्तो से सुना है, कि एक मर्तबा कुछ आज़ादमनिश धोके से उन्हें एक तवायफ के मकान पर ले गये। मास्टर साहिब को मालूम न था कि यह मकान किसका है। उस जमाने में डेरेदार तवाइफें शरीफो की तरह अन्दर पर्दे के मकानों में रहती थी और हमा शमा उनके यहाँ जा भी नहीं सकते थे। मास्टर साहिब पहुँचने को तो पहुँच गए मगर वहाँ किसी किस्म की नागवारी जाहिर न की। वो वहाँ बैठे और पानो की थाली में दो रुपये डाल आये। इसके बाद साल में एक बार वहाँ जाते और रुपये इसी तरह देकर चले आते। उनका कलाम भी आगरे के और शायरो की तरह जाया हो गया। उनकी एक नज़्म 'मेराज' और दूसरी 'तुर्बते शहीदे नाज़' उनके सामने ही शाया हुई थी जो अब नायाब हैं।

मौलाना निसारअली साहिब 'निसार को मैंने अच्छी तरह देखा है, चौगोशिया कढ़ी हुई टोपी, चश्मा लगाए हुए नीचा कुरता और उस पर सदरी, गदुमी रग, शरई दाढ़ी, आँखो में आशोब की किस्म का कोई मर्ज, ये उनकी वजाकता थी। मेरे रिश्ते के भाइयों ने एक अजुमन बनाई थी जिसमें हर महीने मुशायरा होता था। चार पाँच हम चचाजाद, फूफीज़ाद भाई, चार पाँच हमारे क्लासफेलो बैठ जाते और उल्टी सीधी गजलें पढ़ते और खुश हो लेते। इस अजुमन में एक लड़का निसारसाहिब का शागिर्द हो गया। वह कभी-कभी मौलाना निसार साहिब को भी इन मुशायरो में ले आता। मौलाना बड़े ख़ुलूस और क़ायदे से शरीक होते। अच्छे शेरो की दाद देते और आखिर में अपनी गज़ल सुनाते। कभी किसी के शेर पर ऐतराज न करते,

न इसलाह देते, न शागिर्द बनाने की कोशिश करते। बड़े दर्वेश सिफत आदमी थे। यह पहले मिर्जा हातिमअली बेग 'मेह्र' के शागिर्द थे। फिर जब शाह अकबर दानापुरी के मुरीद हुए तो गजल भी शाह अकबर को ही दिखाने लगे। हालांकि बाज नजर वालों की राय यह है कि मौलाना निसार का मरतबा शायरी में शाह अकबर से ऊँचा है। आगरे और आगरे से बाहर मौलाना के शागिर्द बहुत थे जिनमें बेदमशाह 'वारिसी', मजहर और बाबू प्रभूदयाल शाम ने मौलाना का नाम खूब रोशन किया। उनमें से खुदा का शुक्र है कि शाम साहिब जिंदा हैं। उनके दम से मौलाना के नाम के साथ अगली शराफत और तहज़ीब भी ज़िंदा है। शेर भी खूब कहते हैं और तहतुल्लफ्ज़ पढ़ने में दूर-दूर अपना जवाब नहीं रखते। उनके वालिद मास्टर शंकर दयाल साहिब आगरे के नामी वकील थे। आशिक तखल्लुस करते थे और सुना है कि मिर्जा गालिब के शागिर्द थे। शाम साहिब के छोटे भाई बाबू किशन दयाल आगरे के बड़े नामी वकील हैं।

मेरे बचपन में मुशायरे मौलाना निसार साहब की सरपरस्ती में हुआ करते थे। मौलाना सीमाब, शाह दिलगीर, शाम, मजहर, और फलक साहब का तूती बोलता था। दिलगीर साहब के सिवा इन सब शायरों के शागिर्दों के ग़ोल के ग़ोल थे। जो शायरों का सिर पर उठा लेते थे। खसन फ़लक साहब के मरहूम के शागिर्द बहुत थे। वह खुद कहा करते थे कि मेरे सौ शागिर्द हैं। फ़लक साहब मुशायरों में जाते तो दूल्हा बने हुए। शायरों की बारात साथ लिये जाते। इनकी जबान से मिसरा निकला और जैसे कोहराम मच गया। फलक साहब का गश्त रोजाना शाम को सेब के बाजार से कश्मीरी बाजार, माल के बाजार तक लगता था। दिन को तो अपने मामूली लिबास में रहते लेकिन शाम को हाथ को पहाड़ी लकड़ी के सिवा सारा बाना बदल जाता। कभी गुलाबी, कभी नीली कभी जर्द रेशम की शेरवानी क्लाबत्तू की, जरीन गोल टोपी, गले में हार, मुंह में पान पावों में दिल्ली की सलीमशाही एक हाथ में पहाड़ी मोटा डंडा और दूसरे हाथ को मोमिन खाँ की तरह जुम्बिश देते हुए शेर गुनगुनाते थे, बाजार के इस सिरे से उस सिरे तक बन लगाया करते। पीछे-पीछे तीन चार खास शागिर्द हकीम वही हसन सबाब, हकीम बालकिशन बाग़, शम्स और कासिफ़ वगैरह बा-अदब चलते थे और अपनी-अपनी गजलों पर इस्लाह लेते जाते। फलक साहब मिर्जा रईम के शागिर्द थे और फलक साहब के खास शागिर्दों में बाग़ साहब थे। उनका अभी नवम्बर ५६ में इन्तकाल हुआ है। बाग़ साहब आगरे की शायराना रवायत को बड़ी खूबी से सँभाले हुए थे और जबान बहुत अच्छी लिखते थे।

निसार और वासिफ के दौर के शायरों में सबसे ज्यादा उम्र मिर्जा आशिक हुसैन बज्म आफन्दी ने पाई। अभी चन्द साल हुए जब हैदराबाद दकन में उनका इन्तकाल हुआ है इनका ताल्लुक दरबार रामपुर से था। मिर्जा साहिब मुनीर शिकोहाबादी के शागिर्द थे। उनकी बातें बेहद दिलचस्प थी। जार्ज पंजुम की जुब्ली के मौके पर रियासत दतिया में तीन चार दिन मैं उनके साथ रहा और वहाँ सब से दिलचस्प मशग़ला बज्मसाहब की बातें थीं। वह आगरे के मशहूर शायरों में से थे, उनकी जबान

सनद है उनके साहबजादे मिर्जा नज्म आफन्दी उनके सही जानशीन और यादगार हैं। शेर व अदब में अपने वालिद की तरह उनका मुकाम भी बहुत बुलंद है। एक अर्से से वह प्रिंस मुअज्जम जाह के साथ उनके उस्ताद की हैसियत से रहते हैं।

यह जो कुछ मैंने अर्ज किया यह आगरे की अदबी तारीख नहीं है न आगरे के शायरों पर रिव्यू है, यह तो एक तरह का खाका है। जिससे उन लोगों के इखलाक, आदत का कुछ न कुछ अन्दाजा हो जायगा, मगर मुमकिन है बाज लोगों की इस मौके पर यह ख्वाहिश हो कि इन शायरों के कलाम का नमूना भी दे दिया जाता, इस खयाल के जेरे असर इब्तिदाई जमाने से आखिरी दौर तक के खास-खास शायरों के एक एक दो दो शेर हाजिर कर रहा हूँ। नजीर और मीर व गालिब के शेर नकल करने की इस मौके पर जुरूरत नहीं समझी, क्योंकि वह बहुत ज्यादा मशहूर हैं और कोई भी उर्दू अदब से जौक रखने वाला ऐसा न होगा जो इनके अशार से नावाकिफ हो।

आबरू—नजमुद्दीन उर्फ शाह मुबारिक 'आबरू'।

औरंगजेब के जमाने से आगरे से दिल्ली चले गए थे और मुहम्मदशाह के जमाने में इन्तकाल हुआ।

खामोश बैठ रहता हूँ,
इस तरह दिल का हाल कहता हूँ।

आरजू—सिराजुद्दीन अली खाँ, फर्रुखसियर के आखिरी और मुहम्मदशाह के इब्तिदाई जमाने के शायर हैं—कहा जाता है कि अमीरखुसरो के बाद ऐसा साहबेकमाल दूसरा नहीं हुआ। नौ उम्र में दिल्ली गए वहाँ से लखनऊ चले गये वहीं सन् १७४८ ई० में इन्तकाल हुआ। ये मीर तकी के मामू थे।

जान कुछ तुझ पे एतमाद नहीं,
जिन्दगानी का क्या भरोसा है।

असगर—मौलाना सैयद अमजद अली शाह 'असगर' जाफरी उल कादिरी—साहबे-दीवान फारसी, उर्दू। वफात सन् १८१४ ई०। 'गुलशन बे खार' में यह शेर आपके तजकिरे में लिखा है—

हुवा हूँ बस के खफा अब तो अपने जीने से,
लगा ही लूगा मैं उस तेगजन को सीने से।

असीर—खलीफा गुलजारअली खलफ मियाँ नजीर अकबराबादी, पैदाइश सन् १८०१ वफात सन् १८७८ ई०।

सबूत है अपने उजलेपन का सफाई ए दस्ते तेगजन का,
न उजू मिट्टी हुवा बदन का न तार मैला हुवा कफन का।

× × × ×

माल रह जाय किसी पास न दौलत रह जाय,
ये बड़ी चीज है दुनियाँ में जो इज्जत रह जाय।

ये क्या कि बचना ग्बार से और गुल को देखना,
जब सुलह गुल से ठहरी तो फिर गुल को देखना।

आराम–रायबहादुर शिवनरायन, आगरा म्यूनिस्पिल बोर्ड के पहले सिक्रेटरी। गालिब के शागिर्द थे और सन् १८६८ ई० में इन्तकाल हुआ।

वो चाहे जिस कदर जोरो जफा हम पर करें लेकिन।
हमें तस्लीम लाजिम है कि पाबदे रज़ा ठहरे।

आज़र–मुंशी खादिम अली खाँ—सन् १६६० ई० में करांची में इन्तकाल हुआ।

दुनियाँ से अनोखा है क्या उनका शबाब ऐसा,
हमने भी तो देखा था शायद कोई ख्वाब ऐसा।
न दुनियाँ से मुझे मतलब न मैं दुनियाँ में रहता हूँ,
मेरी दुनिया तो मैखाने से लेकर है गुलिस्ताँ तक।

बहार–लाला टेकचंद 'बहार', मुसन्निफ 'बहारे अजम व जवाहरुल हुरूफ' इनकी लिखी लुगात 'बहारे अजम' फारसी की मुस्तनद लुगात मानी जाती है।

वही एक रीस्मा है जिसको हम सबतार कहते हैं,
कहीं तस्बीह का रिश्ता कहीं जुन्नार कहते हैं।

बातन–हकीम सैयद गुलाम कुतुबुद्दीन, मियाँ नजीर के खास शागिर्दों में थे। नवाब मुस्तफा खाँ शेफ्ता के तज्किरा 'गुलशन बेखार' के जवाब में 'तज्किरा गुलिस्ताने बे खजा' लिखा है।

राजदाराने हकीकत के लबों पर है मुहर,
जो खबरादार है वो किसको खबर देते हैं।

बज्म–मिर्जा आशिक हुसैन 'बज्म'।

गिला जमीं से शिकायत है आसमाँ से हमें,
ये दिल रहेगा निकलवा के दो जहाँ से हमें।
बहुत बड़ी नुफसे से वापिसी से है उम्मीद,
ये एक सास मिला देगी कारवाँ से हमें।

बाल–हकीम बालकिशन अगरवाल, फलक के शागिर्द थे। नवम्बर १६५६ ई० में इन्तकाल हुआ।

आपकी इक आरजू है आप की इक याद है,
और क्या रक्खा है अब मेरे शिकस्ता दिल के पास।

बेताब–पंडित राम परशाद—सावन वदी मावस सवत् १६२८ में पैदा हुए पहले नसीम भरतपुरी से इस्लाह ली फिर दाग देहलवी के शागिर्द हुए।

तेरे आशिक का दम निकलता है,
इससे कहदे कोई पयाम मेरा।

पयाम—मियाँ शरफुद्दीन अली खाँ—साहिबे दीवान, मुहम्मदशाह बादशाह के जमाने में थे और फारसी के भी मशहूर शायर थे।

बात मंसूर की फिजूली है
वर्ना आशिक को आह सूली है।

पज़ीर—निसार अली, खलफ, खलीफा गुलजार अली असीर। नौ उम्री में इन्तकाल हुआ। आपकी कब्र अपने बाप असीर और दादा मियाँ नजीर के पास है।

दिवाने अपने जामे से बाहर हैं सब पज़ीर,
अब फस्लेगुल है चाक गरेबां जरूर है।

तपिश—मौलवी सैयद मदद अली—गुलजार अली असीर और मिर्जा गालिब के शागिर्द थे। कई किताबें तस्नीफ की।

असराने मुहब्बत कूचए दिलदार में जाकर,
कभी रुसवा हुए गह मौरिदे लुत्फो अता ठहरे।

हकीर—मुंशी नबी बख्श—शागिर्द असीर। मिर्जा गालिब ने इनके मुतात्लिक एक खत में लिखा है 'इस फर्जाना यगाना यानी नबी बख्श हकीर को किस दर्जे सुखन फहमी और सुखन संजी इनायत हुई है, हालांकि मैं शेर कहता हूँ और कहना जानता हूँ मगर जब तक मैंने इस बुजुर्ग वार को नहीं देखा था यह नहीं जाना कि सखुन फहमी क्या चीज है।' सन् १८८२ ई० के बाद इन्तकाल हुआ।

नक्कास न दे सख्ती ए कागज की अजीयत,
आँखो पै बना चश्म के बीमार की तस्वीर।
मुझे खुफ्त. वख्त का जो सुना जिक्र सो गए,
एहवाल गम की ख्वाब का अफसाना होगया।

दिलगीर—सैयद निजामुद्दीन शाह 'दिलगीर'।

तारीफ सुन के हज़रते यूसुफ के हुस्न की,
गुस्से हैं बंद खोल रहे हैं नकाब के।

राजा—महाराजा बलवानसिंह बहादुर, खलफ राजा चेतसिंह, शागिर्द असीर, साहिबेदीवान।

तू है वो गुल कि नाम तेरा बागे देहर में,
दो दो पहर वजीफए मुर्गए सहर हुआ।
फेंक दे अब नहीं दवा का काम,
होगया तेरे मुब्तिला का काम।

रिहा—गुलाब मुहम्मद खाँ 'रिहा'—असीर के खास शागिर्दों में थे।

दिल लग चला है उसका भी शायद किसी तरफ,
आने लगा जो बुख्द मेरे गम का क्यों पसंद।

रईस—मिर्जा खादिम हुसेन 'रईस'।

बुतों को दिल्लगी सूझी है दिल सताने की,
तुम्हारी जिक्र नही बात है जमाने की ।
लहद में भी वही अफसुर्दगी रही दिलकी,
बुझा बुझा सा चिरागे सरे मजार रहा ।
जावो हजार भेस बदल कर भी ए रईस,
लेकिन मुझे वो वज्म में पहचान जाते हैं ।

सीमाब-मौलाना आशिक हुसैन 'सीमाब' अकबराबादी आगरे के मशहूर शायर, कई दीवान और बहुत सी तसनीफें यादगार हैं—

हर चीज पर वहार थी हर शै पै हुस्न था,
दुनियाँ जवान थी मेरे अहदे शबाब में ।

शाम-बाबू प्रभू दयाल 'शाम' शागिर्द मौलाना निसार । बकैदे हयात हैं—

क्या पूछते हो जख्म की लज्जत का माजरा,
दिल जानता है दर्दे मुहब्बत का माजरा ।
तड़प कर जान देदी तेरे बीमारे मुहब्बत ने,
किसी सूरत मुहब्बत में न जब दिल को करार आया ।

सबाब-हकीम सैयद वसी हसन-म्युनिसिपल कमिश्नर भी थे । हकीम वसी रोड आप ही के नाम से मौसूम है । फलक साहब के शागिर्द थे ।

आगई शाने आशिकी हुस्ने जफ शायर में,
इश्क को करके मुन्नतरब खुद भी नही करार में ।
इससे ज्यादा और खता कुछ नही मेरी,
एक साँस ली थी आलिमें नापायदार में ।

आशिक-मास्टर शंकरदयाल बी० ए० वकील, खलफ बाबू गिरधारी लाल । एक अर्से तक आप आगरा कालिज में मुदर्रिस रहे, आनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे । गालिब के शागिर्द थे । २ फरवरी १९१८ में इन्तकाल हुआ ।

फिर तमन्ना को हुवा जोश कि इसरार करे,
फिर तगाफुल ने निकाला नया तर्जे इनकार ।

फलक-मिर्जा तजम्मुल हुसैन-शागिर्द मिर्जा रईस । सन् १९१८ ई० में इन्तकाल हुआ ।

ला मकाँ वाला मकीने कल्बे इन्सा हो गया,
दूर हमको करके खुद कुरबे लगेजाँ हो गया ।

फिदा-रयाजुद्दीन अहमद—शागिर्द रिहा अकबराबादी । पैदाइश सन् १८८६ ई० वफात सन् १९२४ ई० । साहबे दीवान थे ।

काफिर है जो सिजदा करे बुत खाना समझ कर,
सिर रख दिया हमने दरे जाना नासमझ कर ।

दिल चाहिए मामूर तसव्वुर से बुतो के,
वो आप चले आयेंगे बुतखाना समझ कर।

कुंवर-चक्रवर्ती सिंह खलफ राजा बलवान सिंह—

न जन्नत की हमे परवा न दोजख से है कुछ मतलब,
ठिकाने लग गई मिट्टी तेरे कूचे में आ ठहरे।

नज्म आफन्दी-मिर्जा तजम्मुल हुसैन। पैदाइश सन् १८९२ ई०।

वहारे रूए मानी है कि हुस्ने शोलए फानी,
सहर तक आप खुल जायेगी आँखें शम्मे महफिल की।

निसार-मौलाना निसार अली साहब, वफात २७ अप्रैल १९२२ ई०

फरोगे शम्मा जो अब है रहेगा सुबहे महशर तक,
मगर महफिल तो परवानो से खाली होती जाती है।

वासिफ-मास्टर सैयद तसव्वुफ हुसैन। वफात २० अगस्त १९१४ ई०

दिल से जाता है कही जुल्फ वा उस बुत के खयाल,
वाल पडजाय जो शीशे में तो क्यो कर निकले।

◆◆
◆◆

डा० बालमुकुन्द गुप्त

कवयित्री 'ताज'

'ताज' हिन्दी की सुप्रसिद्ध मुसलमान कवयित्री हैं। यद्यपि दीर्घकाल से ये अत्यन्त लोकप्रिय रही हैं, फिर भी इनका जीवनवृत्त अन्धकार में है और अनिश्चित है। 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार इनकी जन्म तिथि संवत् १६५२ विक्रमी है। मुंशी देवी प्रसाद इनका जन्म संवत् १७०० ई० मानते हैं, यद्यपि वे इस मतभेद का कोई कारण नहीं देते। हिन्दी साहित्य के अन्य किसी इतिहास-ग्रन्थ में इनके जन्मकाल के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाला गया।

हाल में प्रकाशित दो लेखों ने लोगों को इस मुसलमान कवयित्री की ओर पुन: आकृष्ट और प्रवृत्त किया है। इनमें से एक के लेखक हैं श्री रामनारायण अग्रवाल जिनका लेख 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुआ है और दूसरा श्री अगरचंद नाहटा का लेख 'व्रज भारती' (भाद्रपद सं० २०१२ वि०) में छपा है।

प्रथम लेख में तीन परिकल्पनाएँ प्रस्तुत की गई हैं :—

(१) 'ताज' अकबर की पत्नी थीं (२) वे स्वामी विट्ठलदास की शिष्या थीं (३) गोकुल के आसपास कहीं उनकी मृत्यु हुई। किन्तु इन अनुमानों की पुष्टि के लिए उन्होंने एक भी युक्ति या प्रमाण नहीं दिया है। पण्डित झाबरमल्ल शर्मा ने भी 'राजस्थानी' फरवरी १६४० में प्रकाशित 'क्याम खानी नवाब अलफखाँ और उनकी हिन्दी कविता' में यही विचार व्यक्त किए हैं। उनका कहना है कि ताज नवाब फदन खाँ की पुत्री थी और अकबर से उनका विवाह हुआ था।

उक्त मत 'जान' कवि के 'क्याम खान रासो' पर आधारित प्रतीत होता है जिसमें क्याम खानी नवाबों के वंशगत इतिहास का वर्णन है। इसमें लिखा है कि फदन खाँ की पुत्री का विवाह अकबर के शासन के प्रारम्भिक वर्षों में हुआ था। इससे इस सम्भावना को बल मिलता है कि कवयित्री 'ताज' अकबर की पत्नी थी। परन्तु इस मत में एक भारी कमी यह रह जाती है कि रासो में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि नवाब की पुत्री का नाम 'ताज' ही था। नवाब के पुत्र का नाम अवश्यमेव 'ताजनखाँ' था। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नवाब की पुत्री का नाम 'ताज' था। इसके विपरीत यह तो कुछ अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि

भाई और बहन का नाम एक ही हो। पं० झावरमल्ल शर्मा ने 'ताज' को नवाब की पुत्री सिद्ध करने के लिए रासो के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण का उल्लेख नहीं किया है। अतः ठोस प्रमाण के अभाव में यह मत स्वीकार करने योग्य नहीं है।

अगरचंद नाहटा ने हाल ही में ताज कृत एक पुस्तक 'बीबी बाँदी का झगड़ा' खोज निकाली है। यह पुस्तक सं० १७२१ वि०[1] में पूर्ण हुई थी। यदि हम श्री नाहटा के साथ यह मान लें कि वास्तव में यह 'ताज' की कृति है तो इससे कम से कम यह सिद्ध हो जाता है कि ताज सं० १७२१ में जीवित थीं। ऐसी स्थिति में उनका अकबर के समय में होना असम्भव है।

सवैया तथा कवित्त का प्रयोग (जिनका प्रचलन १७वी शताब्दी विक्रमी में हुआ) और ह्रासोन्मुख भक्ति-भावना (जो हमारी कवयित्री के श्रीकृष्ण के वर्णनों में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है) वे अन्तर्साक्ष्य है जिसमें यह पता चलता है कि ताज रीति-परम्पराओं से प्रेरित थी। अत. वे अवश्य ही अकबर के शासन-काल के बहुत समय बाद रही होंगी।

'बीबी बाँदी' के अधकचरे कथानक और उसके शिथिल निर्वाह से प्रकट होता है कि वह किसी अपरिपक्व नौसिखुए का प्रयास है। प्रायः नए लेखक इस प्रकार के कथानक चुनते हैं। अत ताज, यह पुस्तक लिखते समय बहुत कम आयु की रही होंगी; यही कोई पचीस वर्ष से नीचे। इस प्रकार उनकी जन्म-तिथि सं० १६९६ विक्रमी के लगभग होनी चाहिए। यह समय मु० देवीप्रसाद द्वारा दी गई तिथि से भी मिलता है, अतः इसे सामान्यतः ठीक माना जा सकता है। इसलिए यह कल्पना पूर्णतः निराधार और असत्य है कि ताज अकबर की पत्नी थी या उनके शासन काल में जीवित थी।

दूसरी धारणा भी, कि 'ताज' विट्ठलनाथ की शिष्या थी, पुष्टि रहित है। ताज के संबंध में जो भी साहित्य उपलब्ध है उसमें किसी प्रकार भी कहीं इस बात का सकेत नहीं मिलता कि विट्ठलनाथ उनके गुरु थे। साम्प्रदायिक साहित्य में भी इसका आभास तक प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक का कोई न कोई गुरु होना ही चाहिए, इसी सनक से प्रेरित होकर सम्भवतः विट्ठलनाथ को गुरु घोषित कर दिया गया है। किसी तथ्य की आशा इसमें नहीं करनी चाहिए।

ताज की सभी जीवनियाँ एकमत होकर यह स्वीकार करती हैं कि उनका जन्म करौली में हुआ था। श्री गिल्लाभाई स्वयं करौली गए थे, जहाँ उन्हें पता चला कि वहाँ ताज नाम की एक मुसलमान महिला रहती थी, जो एक प्रसिद्ध कवयित्री थी तथा कृष्ण भगवान की अनन्य भक्त थी। इससे यह सही प्रतीत होता है कि ताज करौली की थी और इस पर विश्वास किया जा सकता है क्योंकि इसका कोई विरोधी प्रमाण हमें नहीं मिलता।

जन्म-तिथि की भाँति ताज की मृत्यु-तिथि भी एक ऐतिहासिक समस्या है। कुछ समय पूर्व मथुरा के निकट एक कब्र का पता लगा है। जिस पर 'ताज' खुदा है। यह

१. इति बीबी बाँदी समाप्तम्। सम्वत् १७२१ कार्तिक सुदी ५। मुकाम मकबराबाद। औरंग राज्य भूपति।

रसखान के मकबरे के निकट है। किन्तु इस कब्र के मकबरे के लेख समय-चक्र से पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं, इसलिए उससे ताज के विषय में और कोई सूचना नहीं प्राप्त होती।

ताज के जीवन के विषय में एकमात्र प्रसिद्ध किंवदंती यह है कि वे पक्की वैष्णव थीं और बिना कृष्ण-दर्शन के भोजन ग्रहण नहीं करती थीं। यह भी कहा जाता है कि उनके मुसलमान होने के कारण एक बार वैष्णवों ने उन्हें मंदिर में प्रवेश करने से रोक दिया। इसलिए वे रातभर मंदिर के परकोटे में कृष्ण का नाम-भजन करती रहीं और अन्त में भगवान् कृष्ण स्वयं उनके लिए भोजन लाए। दूसरे दिन जब धर्मान्ध वैष्णवों को इस चमत्कार की सूचना मिली तो वे बहुत लज्जित हुए और उन्होंने ताज को मंदिर में जाने की अनुमति दे दी।

काव्य का मूल्यांकन

ताज की कविता गीतकाव्यात्मक है। उनका सम्पूर्ण साहित्य सवैया, कवित्त, पद या धमार में लिखा गया है। ताज की कविताओं का कोई व्यवस्थित संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। श्री विट्ठलभाई ने करौली से ताज के लगभग दो सौ छन्द एकत्र किए थे। पर वे भी अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं। 'बीबी बाँदी का झगड़ा' भी, जो ताज का लिखा बताया जाता है अभी तक अप्रकाशित ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्त कवियों में ताज का स्थान निर्धारित करने के लिए हमारे पास बहुत कम सामग्री है।

ताज की स्मृति आज उनके उन अनेक सवैयों और कवित्तों के कारण ही सुरक्षित है, जो अपने एकान्त सौन्दर्य और माधुर्य के कारण गाने वालों के हृदय में बस गए हैं। उनमें अधिकतर कृष्ण के जीवन-प्रसंगों का वर्णन हुआ है, पर कहीं अन्य विषय भी मिल जाते हैं।

इनकी कविता में कृष्ण के शारीरिक पक्ष को अत्यधिक प्रमुखता मिली है। इनकी निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत कृष्ण का चित्र यद्यपि अत्यन्त उत्कृष्ट शब्द-चित्र है; किन्तु उसमें किसी की भक्ति-भावना को जगा देने का सामर्थ्य नहीं है।

छैल जो छबीला सब रंग में रँगीला।
बड़ा चित्त अड़ीला देवताओं से न्यारा है॥
माल गले सोहे, नाक मोती सेत जोहे।
कान कुण्डल मन मोहे लाल मुकुट धारा है॥

(मध्यकालीन कवयित्रियाँ, पृ० १८८)

किन्तु कृष्ण के पौराणिक आख्यानात्मक पक्ष से भी उन्होंने उपेक्षा नहीं की है। कृष्ण का निम्नलिखित वर्णन उनका मनमोहक चित्र खींचने में पूर्णतः सफल है:—

ध्रुव से प्रहलाद गज ग्राह से अहिल्या देवि,
स्योरी और गीध और विभीखन जिन तारे हैं।
पापी अजामिल, सूर तुलसी रैदास कहूँ,
नानक, मलूक, ताज हरि ही के प्यारे हैं।

धनी नामदेव, दादू, सदना कसाई, जान,
गनिका, कबीर, मीरा, सेन उर धारे हैं ।
जगत को जीवन जहान बीच नाम सुन्यो,
राधा के वल्लभ कृष्ण वल्लभ हमारे हैं ।

(मध्यकालीन कवयित्रियाँ, पृ० १८८ ।)

ताज का प्रेम प्रगाढ़ और प्रशान्त है । उसमें किसी चचल धारा का कलकल निनाद नहीं वरन् मैदानों में वह रही विशाल नदी का गाम्भीर्य और गौरव है । उन्हें पता है कि सच्चे प्रेम के वास्तविक महत्व-मूल्यांकन केवल वही कर सकते हैं, जो वस्तुतः सुधी हैं ।

राह बडी है जो प्रेम के पथ की, चातुर होय सोई चितु आनै ।

(मध्यकालीन कवयित्रियाँ पृ० १९० ।)

कृष्ण वर्णन तथा प्रेम के अतिरिक्त ताज ने हिन्दू धर्म के कर्म या भाग्य जैसे अनेक सिद्धान्तों पर भी बहुत सुन्दर लिखा है.—

कर्म सो बुद्धि हूँ ज्ञान गुनै अरु कर्म सो चातक स्वाति जो पीवे ।
कर्म सो जोग अरु भोग मिले, अरु कर्म सो पकज नीर न छीवे ।।
कर्म सो ताज मिले सुख देह को, कर्म सो प्रीति पतग ज्यूँ देवे ।
कर्म के यो आधीन सबै, अरु कर्म कहू के अधीन न होवे ।।

(मध्यकालीन कवयित्रियाँ, पृ० १९० ।)

ताज का कलापक्ष प्रशसनीय है । उनके कवित्त और सवैयों में कहीं कोई दो नहीं है । उपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, आदि अनेक अलकारों का प्रयोग उन्होंने सफलता पूर्व किया है । इनमें उत्प्रेक्षा का रूप तो विशेष रूप से आकर्षक है । निम्नलिखित पंक्ति इस कथन को प्रमाणित करती है:—

नेक विहाय न रैन कछू यह जान भयानक पीर भई है ।
भौन में भानु समान जु दीपक आँगन में मनु आग दई है ।।

(मध्यकालीन कवयित्रियाँ, पृ० १९२ ।)

ताज की भाषा व्रज है जिसमें पजाबी, उर्दू, खडी बोली और सस्कृत शब्दों का मिश्रण है । कहीं-कहीं उर्दू का प्रयोग-बाहुल्य सम्पूर्ण कवित्त को उर्दू शब्दों से भर देता है । इसका उदाहरण नीचे दिए गए उनके एक अत्यन्त लोकप्रिय कवित्त में भली भाँति देखा जा सकता है:—

सुनो दिलजानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त की बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं ।
देव पूजा ठानी, मैं निवाज हू भुलानी,
तजे कलमा कुरान थोडे गुनन गहूँगी मैं ।।

सांवला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह दाग में निदाग ह्वै रहूँगी मैं।
नद के कुमार कुरवान तेरी सूरत पैं,
हूँ तो तुरकानी हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं ।।

ताज का स्थान कृष्ण-भक्ति काव्य में बहुत ऊँचा है। यद्यपि लोकप्रियता, भावना की सच्चाई और संगीतात्मकता में वे मीरा की तुलना में कहीं नहीं खड़ी हो सकती, फिर भी उनके दोपरहित सवैये और कवित्त, उनकी शैली का प्रवाह तथा अनेक अलकारो का कौशलपूर्ण प्रयोग उन्हें मीरा के बाद ठीक दूसरा स्थान दिलाता है उनके छदो की सुगठित सुन्दरता की तुलना शायद ही किसी अन्य कृष्णभक्त कवयित्री से की जा सके। हिन्दी कवयित्री के रूप में वे सचमुच महान् हैं।

श्री उदयशङ्कर शास्त्री

ग़ालिब की जन्म भूमि

आगरा जो तवारीखों में अकबराबाद के नाम से पुकारा गया है पुराने सूरसेन अथवा मत्स्य प्रदेश का एक पुराना नगर है। इतिहास के पक्के प्रमाणों के आधार पर यह यों कहा जा सकता है कि नगर तो पुराना है लेकिन यह कह सकना आसान नहीं है कि इसे पहले पहल कब और किसने बसाया था। यमुना के दाहिने किनारे आज जो बडी बस्ती है उसी में मिर्ज़ा गालिब का जन्म स्थान भी है। यमुना के बाँयें किनारे जो खुदरा इमारतें हैं वे सब बहुत बाद की तामीर हैं। कहा जाता है कि मुग़लों के पहले उस ओर की बस्ती ही खास बस्ती थी, कहा तो यहाँ तक जाता है कि बाबर जब आगरे आया था तो उस पार ही ठहरा था। आज जिसे रामबाग कहा जाता है वह दरअस्ल आराम बाग है, शेख अबुल फज़ल और फैज़ी के पिता शेख मुबारक भी वहीं रहा करते

गालिब के जन्म स्थान का फाटक

श्री मिश्रा कपूर के सौजन्य से।

थे। फिर जब मुगलों की जड़ जम गई तब आगरा ही मुगलों का दारुल-सल्तनत बना। अकबर के प्रारंभिक दिन जो दुःख-सुख दोनों से पुर थे, फतेहपुर सीकरी में बीते, वहाँ शेख सलीम नाम के एक सन्त रहा करते थे जो चिश्तिया सम्प्रदाय के सूफी थे। वे अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के शिष्य थे। अकबर को उन्हीं के आशीर्वाद से सन्तान की प्राप्ति हुई थी, इसीलिए उत्पन्न बालक का नाम भी सलीम रखा गया था। सीकरी में उसे सब बात का सुपास तो था लेकिन वहाँ शाही लश्कर के रहने सहने की पूरी सहूलियत न होने की वजह से अकबर को सीकरी छोड़कर आगरे आना पड़ा। तब से आगरे की समृद्धि का आरंभ समझना चाहिए। फिर जो सिलसिला एक बार कायम हुआ वह बमो-वेश अब तक कायम है।

अकबर के दरबार में सभी तरह की चर्चा हुआ करती थी, यों चगताई वंश ही ललित कलाओं का अत्यन्त प्रेमी रहा है (कहा जाता है कि "जब हुमायूँ शेरशाह से हारकर विपन्नावस्था में भटक रहा था उस समय राह में उसे एक अद्भुत पक्षी दिखा, तुरन्त ही उसने अपने मुसव्विर को कहा कि इस चिड़िया की शबीह लगा लो। निदान मुसव्विर ने हुक्म की तामील की, और उसकी शबीह आँक ली गई।")[१] अतः अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ आदि के दरबारों में साहित्य का पूरा दौर-दौरा रहा। पर औरगजेब का युग आते-आते यह जमाना पलट गया और तलवारों और नेज़ों की खनक ने शेरो-शायरी के स्वर कुछ धीमें कर दिए। पर और औरगजेब की आँखें मुंदते ही फिर वही बहार फूट निकली। धीरे-धीरे दिल्ली का दरबार और उसकी भाषा सनद मानी जाने लगी। गालिब ने जिस समय आँख खोली उस समय बहादुरशाह जफर के दरबार में उर्दू का बाजार गर्म था। परन्तु दिल्ली के शायर अपनी रचनाओं में फारसी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग अधिकता से करते थे। गद्य बहुत कम लिखा जाता था। विद्वत्ता का प्रदर्शन काव्य के द्वारा ही होता था। उर्दू और फारसी अपनी-अपनी चाल से चल रही थीं। परन्तु उच्च श्रेणी के लोगों की प्रिय भाषा फारसी ही थी। अतः गालिब ने अपनी कविता फारसी से ही आरंभ की थी और उसी की मस्ती में बेखुद होकर कुछ ऐसा कहा कि जिसका आशय खुद उनकी ही खुदी में डूबा रहता था। इसी स्थिति में गालिब ने भाषा की कमान सँभाली, उन्होंने भी प्रारंभ में फारसी ही में अपनी कविता की। गालिब ने इसी रंग में कहा है—

फारसी बी ताव बीनी नक्शहाए रंग रंग।
व गुजर मजमूअए उर्दू की बेरंग मनस्त॥

अर्थात् फारसी देखो, कि जिसमें रंग-रंग की चित्रकारी दिखाई देगी उर्दू सग्रह को छोड़ जाओ जो कि एक बेरंग चीज़ है। उनकी प्रारंभ की कविता इतनी क्लिष्ट होती थी कि लोग उन के सामने ही उनकी हँसी उड़ाने से बाज नहीं आते, फिर धीरे-धीरे उन्हें अनुभव हुआ, तब उन्होंने कहा—

१. भारतीय चित्रकला।

"व कद्रे-शौक नही जर्फे-तगनाए गजल,
कुछ और चाहिए वुसग्रत मेरे बयाँ से लिए।"

अर्थात् गजल की तंग गली मेरे शेर कहने के शौक के अनुकूल नही रखती। इसका परिणाम यह हुग्रा कि गजल की सूक्ष्मताग्रो को खुर्दबीन से देखने वालो ने चौंक कर गालिब की ओर देखा। स्वाभाविक था कि उनकी नजरो में फारसो को इस तरह झकझोरने वाले के लिए हिकारत थी। तभी तो हकीम ग्रागा जान ने लिखा था –

अपना कहा तुम ग्राप ही समझे तो क्या समझे,
मजा कहने का जब है एक कहे और दूसरा समझे।
कलामे मीर समझे ग्रौ जबाने मीरजा समझे,
मगर इनका कहा यह ग्राप समझे या खुदा समझे।

परन्तु गालिब ने इसकी परवाह बिल्कुल ही नही की। शेरो शायरी की दुनियाँ में नोक-झोक चलना कोई नई बात नही रही है, बल्कि उससे काव्य प्रेमी जनो का विनोद ही होता है अतः इन चेमेगोइयों की उपेक्षा करते हुए गालिब ने कहा—

न सताइश की तमन्ना न सिला की परवाह,
गर नही है मेरे ग्रशग्रार में मानी न सही।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि गालिब को फारसी पर पूरा ग्रधिकार था उतना उर्दू पर नही जितना कि दाग-जौक या मोमिन को था। क्यो कि उर्दू के मुहावरे, वाक्य-विन्यास तथा शब्दो का जिस सरलता से प्रयोग उन लोगो ने किया है, गालिब ने नही, परन्तु इससे गालिब भाषा पर ग्रधिकार पर ग्रांच नही ग्राती। गालिब ग्रागरे में उत्पन्न हुए थे, जहाँ कई भाषायें बराबर प्रयाग में ग्राती थी। साथ ही गालिब के यहाँ पुश्त दर पुश्त से सिपाहगिरी का पेशा था "सौ पुश्त से है पेशये ग्राबा सिपहगरी"। ग्रत यह सभव नही कि उस पेशे ने उन्हें कुछ शब्द न दिये हो और घरेलू जीवन में वे शब्द घुल मिल न गये हो।

मिर्जा गालिब के दादा कौकान बेग खाँ अपने पिता से रूठ कर शाह ग्रालम के राज्य काल में समरकद से भारत चले ग्राये और लाहौर मे नवाब मुइनुल मुल्क के यहाँ नौकरी की। नवाब की मृत्यु हो जाने पर वह दिल्ली ग्राए और नवाब जुल्फकारुद्दौला की सहायता से शाह ग्रालम के दरबार में एक प्रतिष्ठित पद प्राप्त किया। उनके चार पुत्र और तीन कन्यायें थी। जिनमें गालिब के पिता मिर्जा ग्रब्दुल्ला बेग थे। जब तक गालिब के दादा मिर्जा कौकान बेग जीवित रहे। तब तक तो ये लोग ग्राराम से रहे, पर उनकी मृत्यु के बाद परिवार पर बडी कठिनाइयाँ ग्राई। तब मिर्जा ग्रब्दुल्ला बेग ने लखनऊ जाकर नवाब ग्रासफुद्दौला के यहाँ नौकरी करली, वहाँ से हैदराबाद चले गये पर वहाँ भी नौकरी न निभी तो उसे छोडकर ग्रलवर के राजा बख्तावर के यहाँ ग्राकर नौकरी की, और वही ग्रलवर में किसी युद्ध में मारे गये। गालिब ने एक जगह लिखा है।

काफी बुवद मुशाहिद शाहिद जरूर नेस्त,
दर गा से राजगढ़ पिदरम रा बुवद मजार।

अर्थात् ध्यान से बहुत देख लिया गया है, गवाही की आवश्यकता नही है। राजगढ की मिट्टी में मेरे पिता की समाधि है।

कहा जाता है कि इसी भवन में मिर्जा गालिब का जन्म हुआ है।

[फोटो—श्री विशन कपूर]

आगरे में २७ दिसबर सन् १७६७ ई० को आज के काला महल नामक मुहल्ले में गालिब का जन्म हुआ। इनका पूरा नाम मिर्जा असदुल्ला बेग था और पुकारने का नाम मिर्जा नौशा था। इनके और भाइ और थे मिर्जा यूसुफ बेग जो इनसे दो साल छोटे थे। पिता की मृत्यु के बाद इनका पालन पोषण इनके चचा ने किया जो उन दिनो मराठो की ओर से आगरे के सूबेदार थ। इ होने सन् १८०३ ई० में लार्ड लेक सेवा करके जागीर और पेंशन प्राप्त की थी। उनकी भी मृत्यु १८०६ ई० में हो गई तब सरकार इनके परिवार को दस हजार रुपया सालाना देना स्वीकार किया। यह पेंशन परिवार में बँट कर गालिब को साढे सात सौ रुपया सालाना मिलती थी जो १८५० ई० तक मिलती रही। इसके बाद गदर का जमाना आया जिसमें गालिब को बहुत कुछ ऊँचा नीचा देखना पड़ा, पेंशन जब्त हुई, उसके लिए मुकद्दमें के सिलसिले में उन्हें कलकत्ते जाना पड़ा और कई वर्ष तक उसका मुकद्दमा चलता रहा। इसी बीच की आर्थिक कठिनाइयों में उन्हें कितना सताया इसकी जो भी उनके पत्रो में तथा मौलाना हाली (जो गालिब के शिष्य थे) की 'यादगार गालिब' नामक पुस्तक से मिलती है। इसी अवधि में उन्हें दिल्ली के बादशाह से खिलत तथा

"नज्मुद्दौला दबीरुल मुल्क" की उपाधि मिली, सम्मान मिला, और दिल्ली की लूट भी देखी। उनका वर्णन भी गालिब के पत्रों में पाया जाता है।

इस प्रकार की अनेक उथल-पुथल के बीच जीवन बिताते हुए गालिब धीरे-धीरे जीवन संध्या की ओर अग्रसर हो रहे थे। सन् १८५८ में उन्हें शूल का भयानक रोग हुआ। जवानी का असयम भी उनके साथ था और वृद्धावस्था आने तक रहाइश की सुचारु व्यवस्था भी नहीं रह गई थी, पारिवारिक जीवन भी बहुत अच्छा नहीं था। शिथिलता के कारण खुराक भी धीरे-धीरे कम हो गई थी। मृत्यु के कुछ समय पहले उन्हें बेहोशी के दौरे आने लगे थे। हाथ पैर काँपते थे। मृत्यु के एक दिन पहले पक्षाघात का आक्र-

गालिब की समाधि—(दिल्ली)
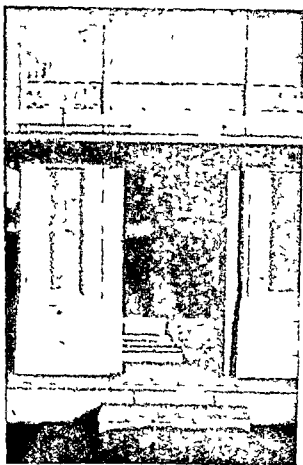
[फोटो—श्री किशन कपूर]

मण हुआ, फिर होश नहीं आया और १५ फरवरी का इस फानी दुनियाँ से कूच कर गए।

गालिब के कथनानुसार उनका हुलिया इस प्रकार था। चंपई रंग, डीलडौल लंबा, आँखें बड़ी। जवानी में मिस्सी लगाते थे। शुरू में दाढ़ी नहीं रखते थे पर बुढ़ापे में दाढ़ी बढ़ा ली थी पर सिर मुड़ाते थे। दाढ़ी मौलवियानी, शरई नहीं छोटी सी ही रखते थे। उनका पहनावा, घर पर पाजामा कुरता, टोपी मलमल की जिस पर कामदानी या कसीदे का काम होता था। बाहर जाने के समय कुर्ते पर सदरी पहनते थे या चपकन। ऊपर से क़बा पहनते थे। कभी-कभी कंधे पर शाली रूमाल भी डाल लेते थे।

भोजन भी शाहाना होता था। सवेरे मिश्री से बना हुआ बादाम का शरबत पीते थे। पहर दिन चढ़े जलपान करते थे। भोजन में मांस और रोटी नित्य शामिल रहती। अंगूर और आम बहुत पसंद थे। शराब जो एक बार मुँह से लगी जिन्दगी भर न छूटी। इनके चरित्र में उदारता और प्रेम का अपूर्व मिश्रण था। कट्टरता तो नाम को भी नहीं थी। यहाँ तक कि दीनदारी में उदारता ही बरतते थे। साहित्य विवादों में बड़ा रस लेते थे।

अरविन्द कुलश्रेष्ठ

आगरा का लोकनाट्य 'भगत'

आगरा, 'ताज' सदृश्य ऐतिहासिक भव्य भवनों के लिए तो प्रसिद्ध है ही, साथ-साथ यह नगर अपने उत्कृष्ट साहित्य अनूठी कला और सुमधुर एवं सरस संगीत के क्षेत्र में भी कम विख्यात नहीं। आगरा को बहुत से लेखक, कलाकार, कवि, शायर और संगीतज्ञों को जन्म देने और पोषित करने का सौभाग्य मिला है। आज भी नगर की विभिन्न बस्तियों में शायरी और संगीत के रियाज चलते पाये जाते हैं। नगर में शास्त्रीय-संगीत की अपेक्षा लोक संगीत प्रचुर मात्रा में मिलता है। यहाँ का प्रसिद्ध लोक-संगीत 'आल्हा', 'रसिया', 'लावनी' (ख्याल), 'ढोला', 'भजन', 'होली' और 'मल्हार' आदि हैं। उपर्युक्त संगीत के अतिरिक्त यहाँ एक संगीतबद्ध लोक-नाट्य 'भगत' भी प्राप्त है। 'भगत' में संगीत और अभिनय का समन्वय रहता है। इसकी अपनी एक परम्परा है और अपनी एक टेकनीक है। इसका मंच अपने ही ढंग का होता है। इसके संवाद संगीतमय होते हैं। गद्य को स्थान नहीं, काव्य और संगीत ही रहता है। यह संगीत भी अपने ढंग का निराला होता है। यह एक विशेष आनुष्ठानिक पृष्ठ-भूमि से युक्त है। यह किंचित भी व्यवसायिक नहीं। अव्यवसायिक रंग-मंच होते हुए भी इसका उद्देश्य जहाँ किसी सीमा तक मनोरंजन करना होता है वहाँ इसके मूल में धार्मिकता का पुट भी दिखाई पड़ता है। सबसे प्रधान बात यह है कि इसका समस्त साहित्य या संगीत अप्रकाशित है। नगर में इसके व्यवस्थित अखाड़े हैं, जहाँ इसके साहित्य का सृजन होता है, पनपता है। अब हम सविस्तार इस लोक-नाट्य की चर्चा करेंगे।

लोकनाट्य

लोकनाट्य के विषय में श्री श्याम परमार ने अपने शोध-प्रबन्ध 'मालव लोक साहित्य के अध्ययन'[1] में निम्न विशेषताएँ बताई हैं —

(१) लोक नाट्य में व्यक्ति का महत्व नगण्य है। समूह, जाति तथा समाज की कल्पनाओं, अनुभूतियों, भावनाओं और प्रवृत्तियों की अभिव्यंजना सामूहिक अभिनय

१. श्याम परमार—'मालव लोक साहित्य का अध्ययन, पृ० ३६५-३६६।

द्वारा व्यक्त होती है, क्योंकि अभिव्यक्ति का माध्यम भावना प्रागण से है। समूह की भाषा गद्य न होकर काव्य है, क्योंकि काव्य अप्रस्तुत योजना में समूह की कल्पना का समाधिकरण होता है।

(सम्मेलन पत्रिका—लोक-संस्कृति विशेषांक २०१० वि० में श्री जगदीश प्रसाद 'माथुर का लेख' लोक रंगमच का रूप और संगठन पृ० ३४६) इसलिए लोक-नाटका के पात्र में लौकिक-संगीत एव लोक-गीतों की बंधी बंधाई रूढ़ शैली का प्रवाह होता है।

(२) गद्य का प्रयोग सम-सामयिक विषयों के लिये अथवा हास्य रस के लिए किया जाता है।

(३) प्रतिनिधि पात्र—पात्र या प्रवृत्ति वर्ग विशेष या सामूहिक विशेष को द्योतित करते हैं। आप उन पात्रों की स्थूल विशेषताओं को बता सकते हैं, परन्तु व्यक्तिगत और बारीक विभेदों की योजना व्यर्थ होगा क्योंकि एक तरह के पात्र एक से अधिक नाटकों में तत्सम रूप में ही आते जाते मिलेंगे।

(४) लोक-नाटकों का रंगमंच खुला हुआ होता है। इसमें पट-परिवर्तन की विशेषता नहीं होती। दृश्य परिवर्तन केवल पद्यमय संवाद से अथवा पात्र परिवर्तन से होता है। दर्शकगण इन आडम्बरों में ध्यान न देकर कथा व पात्रों के कथोपकथन रस लेते हैं।

(५) लोकमंच पर अभिनेताओं को अनेक प्रकार की सुविधाएँ होती हैं, जो न तो दर्शकों को अखरती हैं और न कभी नाटक मंडलियों में आलोचना का विषय बनती हैं।

(६) जिन ऐतिहासिक धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों का प्रयोग होता है, उनमें स्थानीय प्रकरण सहज ही उद्भूत हो जाते हैं। ऐसी दशा में कथा प्रसंग विकृत हो जाते हैं। इन विकृतियों में दोनों पक्षों का मनोरंजन हो जाता है। जन समाज से सम्बंधित मान्यताओं और प्रथाओं का प्रयोग सभी प्रकार के कथानकों में पाया जाता है।

(७) भाषा स्थानीय लोक जीवन की समस्त अभिव्यक्ति के तत्वों से भरपूर होती है।

लोक नाट्यों की उक्त विशेषताओं को ध्यान में रख कर यदि 'भगत' की व्याख्या की जाय तो यह सर्वथा लोक-नाट्य ही सिद्ध होता है। लोक गीतों की हृदयस्पर्शी व्यंजना, मधोचवैशिष्ट्य, विशिष्ट अभिनयत्व, संगीतात्मक संवाद योजना आदि सभी तत्वों का समावेश 'भगत' में मिलता है।

'भगत' की उत्पत्ति

'भगत' का मूल क्या हो सकता है ? 'भगत' भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'भक्त' का विकसित रूप है। पहले स्वरभक्ति से 'भकत' और फिर 'भगत' हुआ होगा। इससे यह प्रतीत होता है कि इसका मूल रूप धार्मिक है। आजकल इस क्षेत्र में 'भगत' शब्द एक प्रकार से देवी के उपासक के लिए प्रयोग में आता है। इस लोक-नाट्य में भी कुछ ऐसे तत्व मिलते हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रारम्भ

में इसका सम्बन्ध देवी पूजा से रहा होगा। आरम्भ में 'त्रिशूल' या 'स्वास्तिक' का चित्र बनाना, 'अखण्डदीप' की स्थापना तथा अन्त में 'कन्या-लागुराओं' का भोजन, देवी पूजन से ही सम्बन्धित है। आरम्भ में अवश्य ही इसमें भक्तों के चरित्रों को लिया जाता रहा होगा। आज कल भी भक्त पूरनमल, भक्त प्रहलाद, गोपीचन्द भरथरी चरित्र खेले जाते हैं। अत भक्तों के चरित्रों के दिग्दर्शन के लिए 'भगतों' का आरभ किया गया होगा।

'भगत' का सर्वप्रथम उल्लेख हमें 'आईने अकबरी' में मिलता है। आईने अकबरी के अनुसार "भगत' कीर्तन के समान एक संगीत है परन्तु उसमें विभिन्न प्रकार की वेषभूषा धारण करके साधारण स्वांग का प्रदर्शन किया जाता है। ये रात्रि में आयोजित किए जाते हैं।[2]

बाद में 'भगत' का उल्लेख मौलाना गनीमत जो औरंगजेब के समकालीन थे, की मसनवी 'नैरंगे इश्क' में मिलता है। इस मसनवी की रचना लगभग सन् १६८५ ई० में हुई थी।[3] औरंगजेब जैसे कट्टर मुसलमान के समय में इस नाट्य का होना आश्चर्यजनक है। इस प्रकार यह एक प्राचीन परिपाटी का अवशेष है, जिसमें समयानुसार परिवर्तन और परिवर्धन किये जाते रहे हैं। इसी परिपाटी का एक स्वरूप आज हमारे सामने विद्यमान है, जो समय समय पर हमारा मनोरंजन करता है।

लगभग १५० वर्ष पूर्व आगरा में 'भगत' नाम का कोई नाट्य उपलब्ध नहीं था। उस समय यहाँ 'ख्याल गोई' का प्रचलन था, जिसके एक संवाद में २२ मिसरे होते थे।

यहाँ 'ख्याल' और 'भगत' मे अन्तर बताना उपयुक्त होगा। ख्याल लोक भाषा का परम्परागत शब्द है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने अपने एक लेख मे लिखा है 'ऐसा कहा जाता है कि लगभग १८वी शताब्दी के प्रारम्भ के आसपास आगरे के इर्द गिर्द एक नई कविता शैली प्रचलित हो चली थी, जिसका नाम आगे चलकर 'ख्याल' पड़ा। 'ख्याल' निश्चय ही उर्दू और फारसी के मसाले से तैयार की हुई चीज थी। उनको नये नये कथानकों में बाँधना सब का काम नहीं। इन ख्यालियों के कई दल थे जिनमें सभी प्रकार के लोग थे। सभी प्रकार की बन्दिशें बाँधने वालो के गोल होड लगाते थे'।[4] इस उद्धरण से ख्याल का प्रारम्भ १८वी शताब्दी से मिलता है। परन्तु यह तो सर्वमान्य है ही कि आगरा में 'ख्याल' का जन्म 'भगत' के जन्म से पहले हुआ था। मोटे तौर से 'ख्याल' और 'भगत' में निम्न अन्तर है।

---

२ जदुनाथ सरकार—आईने अकबरी—Vol 3 Page 272 'The Bhagatiya have songs Similar to above* but they dressup in Various disguises and Exhibit extra-ordinary mimicary

* Kirtaniya—are brahmins whose instruments are such as were in use of Ancient they dressup, smooth faced boys as woman and make them perform singing the praises of krishna and reciting his acts

३. डा० सोमनाथ गुप्त—हिन्दी नाटक साहित्य का विकास—१९५८—पृ० १५।

४ देशबन्धु, वर्ष २, अंक ७।

(१) ख्याल में मुख्य अभिनय लीला के प्रारम्भ होने से पहले एक अभिनेता भर्ती के रूप में मच की सफाई करने का अभिनय करता है, जो ख्याल गाकर अभिनय करता है। 'भगत' में ऐसी कोई परिपाटी नहीं मिलती।

(२) ख्याल में महतर के अभिनय के बाद भिश्ती मच पर पानी छिड़कने का अभिनय करता है। और वह भी छद-बद्ध सवाद बोलता है। 'भगत' में ऐसी परिपाटी नही मिलती।

(३) ख्याल में सूत्रधार की भाँति हलकारा आकर प्रधान नायक के आगमन की सूचना देता है। वह भी काव्यमय सवाद बोलता है। वह सदैव अपना आगमन 'गढ़ बगाल' से बताता है। 'आया हलकारा गोपीचद का गढ बगाल से।' (नीमच वाला कृत गोपीचन्द के ख्याल से) हलकारा ही ख्यालकार का परिचय देता है। 'भगत' में यह परम्परा नही देखी जाती। 'भगत' में रगा नामक पात्र कथा का वर्णन करता है और आगे होने वाली घटना का उल्लेख करता है। वह 'गढ बगाल' आदि से आना नही बताता।

(४) साधारणत ख्याल में २२ मिसरे होते हैं। परन्तु 'भगत' में एक दोहा व एक चौबोला होता है। दोनो पद्यमय सगीत हैं।

लगभग १३३ वर्ष पूर्व सवत् १८८४ वि० में मोतीकटरा में रामप्रसाद जो अमरोहा के निवासी थे व श्री जौहरीराय जो मोतीकटरा के निवासी थे एक लिखित स्वाँग 'रूप बसन्त' जो सम्भवत. विशन विर्हमन द्वारा लिखित था, आगरे लाये।[५] इस सम्बन्ध में एक दोहा भी प्रचलित है —

अमरोहा सारी कुआ, चौरासी की साल।
नया स्वाँग प्रकट किया, विशन विर्हमन लाल॥

कुछ लोग इसे इस प्रकार कहते हैं:—

अमरोहा से प्रगट भई—चौरासी की साल।
नया स्वाँग प्रगट किया—विशन ब्रह्मन लाल॥

इन से यह तो स्पष्ट है ही कि स० १८८४ वि० में 'भगत' की प्रणाली आगरा में आई। रामप्रसाद व जौहरीराय जी ने मिलकर मोतीकटरे में एक अखाडा स्थापित किया। जिसमें श्री जौहरीराय जी को गुरु बनाया गया। कहा जाता है कि आप सगीत के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। तथा स्वर भी आपका मधुर और सरस था। सम्भवतः इसीलिये आपको गुरु का आसन सौंपा गया। आपने शिष्यो को एकत्रित करके उन्हें 'भगत' के स्वाँग रूप बसन्त' का पूर्ण अभ्यास कराया। आगरा की एक बस्ती गोकुलपुरा में 'गनगौर'' (शिव-पार्वती) का रूप का मेला प्रतिवर्ष होता था जिसमें शिव-पार्वती के रूप को वस्त्राभूषण से सजा कर, उसकी झाँकी और सवारी बडी धूमधाम से निकाली जाती थी। इसी वर्ष लगभग सवत् १८८४ वि० में मोतीकटरा वालों ने

५ मोतीकटरा अखाडे के श्री बुद्धविलास और चौक अखाडे के श्री मायाप्रसाद जी की सूचना के आधार पर।

गोकुलपुरा वालो की गनगौर का बलपूर्वक अपहरण किया था। इसी विजयोल्लास में मोतीकटरा में मेले का आयोजन किया गया। इस अवसर पर मोतीकटरे में पहिली बार 'भगत' का प्रदर्शन हुआ। इस अवसर पर शहर की विभिन्न बस्तियो के संगीतज्ञ और शायर लोग उपस्थित थे, जो इस प्रदर्शन से बहुत प्रभावित हुए। इस सफलता के फलस्वरूप कहा जाता है, कि श्री जौहरीराय ने आगरा के संगीतकारो एव शायरो पर व्यंग किया। जिसका फल हुआ कि आगरे की विभिन्न बस्तियो में 'भगत' के अखाड़े स्थापित हुए। और उनमे अच्छे से अच्छे स्वाँग लिखने और प्रदर्शन की होड लगने लगी। कहा जाता है कि अखाड़ा गुरु श्री नन्दराम लहरी ताजगंज में सर्वप्रथम अपने अखाड़े में लिखा हुआ[९] स्वाग प्रदर्शित किया गया बाद में अन्य अखाड़ो की स्थापना हुई। उनकी शाखाएँ भी आगरे की विभिन्न बस्तियो में स्थापित हुईं। इस प्रकार आगरा नगर में 'भगत' के अखाड़ो और उनकी शाखाओ का जाल बिछ गया। बालक युवा वृद्ध की जिह्वाओ पर चौबोले विराजने लगे।

अखाड़ा

इन 'भगतो' का सम्बन्ध अखाड़ो से था, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि अखाड़ा क्या है ? अखाड़े का कई रूपो में प्रयोग होता है। यह कोशो में दिये गए इस शब्द के विविध अर्थों से प्रकट होता है। यहाँ दो कोशो से उद्धरण दिये जा रहे हैं —

अखाड़ा—सज्ञा पु० : स० अक्षवाट प्रा० अक्खआडो सज्ञा .अखड़ैत :

(१) वह स्थान जो मल्लयुद्ध के लिये बना हो। कुश्ती लड़ने व कसरत करने के लिए बनाई हुई चौखूँटी जगह। जहाँ मिट्टी खोद कर मुलायम कर दी जाती है।

(२) साधुओ की साम्प्रदायिक मण्डली (जमायत) जैसे निरजनी व नारायणी का अखाड़ा।

(३) साधुओ के रहने का स्थान। सन्तो का अड्डा।

(४) तमाशा दिखाने वालो और गाने बजाने वालो की मण्डली।। जमायत।। जमावडा।। दल। उदाहरण आज पटेबाजो के दो अखाड़ निकले।

(५) सभा।। दरबार।। मजलिस।। रगभूमि।। (रगशाला।। नृत्यशाला।। अखाड़ा।। परियो का अखाड़ा।

(६) मैदान।। आगन।

(हिन्दी शब्द सागर—खड १)

(१) वह स्थान जो कुश्ती लडने के लिए बना हो। और जहाँ थोड़े बहुत आदमी इकट्ठे रहते हो।

(२) तमाशा करने, या लकडी खेलने वालो का दगल।

(३) साधुओ की सभा।

---

९ ताजगज अखाड़ के श्री चन्द्रभान व श्री हुकमचन्द की सूचना के आधार पर।

(४) दरबार। (५) मजलिस। (६) रंगभूमि, रंगशाला। (७) नृत्यशाला। (८) झुरमुट। (९) आंगन। (१०) मैदान।

(हिन्दी विश्व कोष—भाग १, खंड १)

इन उल्लेखों से यह विदित होता है कि अखाड़े का अर्थ बहुत ही विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति 'अक्षवाट' से मानी गयी है। इसमें 'वाट' शब्द के कारण अखाड़े का स्थान विशेष से भी सम्बन्ध होना चाहिये। फिर इसके अर्थ में एक परिवर्तन हुआ और यह उस विशेष व्यक्ति-समूह के लिए भी प्रयोग में आने लगा जो उस स्थान पर किसी अभ्यास में सम्मिलित होते रहे। ऐसे अखाड़ों का संबंध एक गुरु के द्वारा होता रहा और उस गुरु के समस्त चेले गुरु सहित अखाड़ा कहा जाने लगा। 'अक्ष' का अर्थ जूआ खेलने की गोट होता है। पूर्व काल में ये जूआ खेलने के विशेष स्थान होते थे। सम्भवतः वही अक्षवाट कहलाते थे। वहीं से यह शब्द चलकर विस्तृत अर्थ देने लग गया, किन्तु इसका मुख्य अर्थ हिन्दी में आकर 'मल्लविद्या' के स्थानों से संबंधित हो गया। इसी 'मल्लविद्या' के शब्दों का प्रयोग अर्थ विस्तार में, संगीत में होने लगा। क्योंकि अखाड़ा, उस्ताद, खलीफा तथा दंगल ये सभी मल्लविद्या विषयक हैं। आगे 'दंगल' शब्द पर प्रकाश डाला गया है।

अखाड़े के निर्माण में दो तत्व हैं—(१) विशेष स्थान, (२) विशेष गुरु सम्प्रदाय। अतः यह वह स्थान होता है, जहाँ पर लोग सामूहिक रूप से गुरु या उस्ताद के शिष्य रूप में एकत्रित होकर सामूहिक रूप से कोई अभ्यास करते हैं। 'भगत' के अखाड़े में इसके सदस्य सामूहिक रूप से एकत्रित होकर गायन अभिनय आदि का अभ्यास करते हैं। इस अभ्यास में त्रुटियों को दूर करके सही पद्धति को अपनाने पर बल देते हैं। अखाड़े में निम्न सदस्य होते हैं.—

गुरु
- मुख्य संचालक
- शिष्य
  - गायक
  - प्रबन्धक
  - वाद्यकार
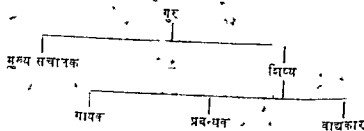
अखाड़े के सम्पादकों का मुख्य रूप से गुरु माना जाता है। साधारणतः गुरु गायन, अभिनय और प्रबंध में प्रवीण होता है, जो अपने शिष्यों को गायन, अभिनय और प्रबन्ध में सही रूप से निर्देश दे सके। गुरु अखाड़े में सबसे अधिक पूज्यनीय होता है। प्रायः अखाड़े का नाम प्रथम गुरु के नाम पर चलता है, जैसे अखाड़ा गुरु श्री जौहरी राय मोती कटरा, (२) अखाड़ा गुरु श्री खैरातीलाल नाई की मण्डी आदि। अधिकतर गुरु का आसन (गद्दी) उसके वंश के उत्तराधिकारी को मिलता है। परन्तु कहीं-कहीं गुरु की गद्दी गुरु के साथ समाप्त हो जाती है। केवल प्रथम गुरु ही, गुरु होता है। उसके बाद अखाड़े का संचालन किसी योग्य शिष्य को सौंपा जाता है, जो प्रमुख या मुख्य संचालक कहलाता है। प्रमुख संचालक को सब अधिकार जो गुरु को होते हैं, मिलते हैं। वह नये

शिष्य बना सकता है। गायन, प्रबन्ध और अभिनय में निर्देश देता है। दोनों प्रकार की परिपाटी आगरे में 'भगत' के अखाड़ों में देखने को मिलती है।

मुख्यत अखाड़े मे तीन प्रकार के शिष्य होते हैं—

(१) प्रबन्ध शिष्य—प्रबन्ध कौशल में निपुण शिष्यों को प्रबन्धक शिष्य कहते हैं। इनका कार्य केवल 'भगत' में विभिन्न प्रबन्ध करना होता है।

(२) गायक व अभिनेता—ये अखाड़े के प्रमुख शिष्य होते हैं। इनकी कुशलता पर ही अखाड़े की प्रशंसा निर्भर है। इन शिष्यों को स्वर और व्यक्तित्व के अनुसार अभिनय दिया जाता है। जिसका कई महीनों तक उन्हें अभ्यास कराया जाता है।

(३) वाद्यकार—वाद्यवादन में निपुण सदस्यों को इस श्रेणी में रखा जाता है। आवश्यकतानुसार इन्हें एक अखाड़े द्वारा दूसरे अखाड़े में भेजा जा सकता है। आरकेस्ट्रा पर नियन्त्रण रखने वाले को वाद्य सचालक कहते हैं।

अध्यक्ष (खलीफा)—अध्यक्ष—जिसे उर्दू में खलीफा कहते हैं—अखाड़े द्वारा सम्मानित शिष्य होते हैं। गुरु—जब किसी सदस्य की गायन, अभिनय और प्रबन्ध की योग्यता से प्रसन्न होता है तो वह अखाड़े में दगल का आयोजन करके उस सदस्य का सार्वजनिक रूप में अध्यक्ष (खलीफा) का पद देकर सम्मानित करते हैं। एक अखाड़े में एक से अधिक अध्यक्ष भी हो सकते हैं। अध्यक्षों की सख्या उस अखाड़े द्वारा प्रदर्शित 'भगत' की सख्या पर निर्भर करती है। कुछ सहायक अध्यक्ष भी बनाये जा सकते हैं। जिनको दगल में ही यह सम्मान प्रदान किया जाता है।

गुरु का आसन परम्परानुसार उसके वशज को मिलता है परन्तु यदि वह 'भगत' में अधिक रुचि नही रखता—तो वहाँ ज्येष्ठ अध्यक्ष—अखाड़े के मुख्य सचालक बनाये जाते हैं जो अखाड़े का सचालन करते हैं। अखाड़ा गुरु जौहरीराम मोतीकटरा में अध्यक्ष का पद नही होता।[७]

दगल और उसका आयोजन

दगल—शब्द के सबध मे कोशों में जो अर्थ दिया है, वह यहाँ दिया जाता है—
'दंगल' सज्ञा पु० (फा०)

(१) मल्लों का युद्ध। पहलवानों की कुश्ती, जो जोड़बन्द करके हो और जिसमें जीतने वाले को इनाम आदि मिले।

(२) अखाड़ा—मल्ल युद्ध का स्थान।
मु० दगल में उतरना—कुश्ती लड़ने के लिए अखाड़े में आना।

(३) जमावड़ा।। समूह।। समाज।। जमात।। दल।
उ० सावन नित सतन के घर में रतिमति सियवर में,

नित बसन्त नित होरी मगल,
जैसी बस्ती तैसोई जगल,

७ अखाड़ा मोतीकटरे के श्री बुद्धविलास की सूचना के आधार पर।

दल बादल से जिनके दंगल,
पगे रटे की भर में।

क्रि० प्र० जमाना, बांधना।

(४) बहुत मोटा गद्दा या तोशक

उ० (क) अहलकार हाथ ध्रोकर सामने बैठ जाते थे, वह दंगल पर रहता था। गाना एक बड़ी कुर्सी पर चुना जाता था।

(शिव प्रसाद)

(ख) बावर्ची जब छुट्टी पाता तो—किसी बड़े दंगल पर पांव फैला कर लम्बा पड़ जाता।

(शिव प्रसाद)

(हिन्दी शब्द सागर से)

(क) पहलवानों की कुश्ती (मल्लयुद्ध)
(ख) वह स्थान जहां पहलवान कुश्ती लड़ते हैं (अखाड़ा)
(ग) हुजूह।। जमात।। दल।
(घ) बहुत मोटा तोशक।

(हिन्दी विश्व कोष से)

कोशों के उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'दंगल' का मूल अर्थ वस्तुतः पहलवानों का जोड़ या पारस्परिक प्रतियोगिता है। यह शब्द मल्ल या पहलवानी अखाड़े से संगीत प्रतियोगिता के लिए लिया गया है।

अखाड़े के किसी सदस्य को उसके गायन, अभिनय और प्रबन्ध-कौशल से प्रसन्न होकर जब गुरु या मुख्य संचालक, उसे अध्यक्ष का पद देना चाहते हैं तो वे 'दंगल' का आयोजन करते हैं और उसमें सार्वजनिक रूप में शिष्य को अध्यक्ष की पगड़ी बांध कर सम्मान प्रदान करते हैं। दंगल का आयोजन इस प्रकार किया जाता है।

परिषद् का अनुशासन

आगरा नगर की विभिन्न बस्तियों के अखाड़ों ने मिलकर एक परिषद् का निर्माण किया है—जिसे 'काव्य कला संगीत परिषद्' कहते हैं। सारे अखाड़े इसके विधिवत सदस्य होते हैं। इस परिषद् ने अपने कुछ नियम भी बना रखे हैं। परिषद् में अखाड़ों के छोटे मोटे झगड़े भी तय किए जाते हैं। दंगल सम्बन्धी परिषद् के निम्न नियम हैं—

(१) कोई अखाड़ा परिषद् से आज्ञा लिए बिना दंगल का आयोजन नहीं कर सकता। उसे आज्ञा के लिए परिषद् में एक प्रार्थना-पत्र (जिसमें दंगल आयोजन की आवश्यकता, किस व्यक्ति को सम्मान देना चाहते हैं, तिथि, समय की सूचना देते हुए) देना होगा।

(२) प्रार्थनापत्र स्वीकृत होने पर ही दंगल का आयोजन किया जा सकेगा।

(३) प्रार्थना-पत्र में सदस्य (जिसको सम्मान देना है) की प्रवीणता का प्रमाण-पत्र गुरु या मुख्य संचालक द्वारा प्रमाणित होना आवश्यक है।

(४) साथ ही यह बताना आवश्यक होता है कि उस अखाड़े के द्वारा कितनी 'भगतों' का प्रदर्शन हो चुका है, और उसके कितने अध्यक्ष (खलीफा) हैं। क्योंकि यह माना जाता है कि कोई भी अखाड़ा जितनी भगतें प्रदर्शित कर चुका है उस संख्या से अधिक अध्यक्ष नहीं बना सकेगा।

(५) दंगल का संचालन परिषद् के निर्देशों के अनुसार होता है।

(६) ऐसे दंगल में परिषद् के अन्तर्गत जितने अखाड़े हैं वे सभी आमन्त्रित किए जायेंगे।

इलायची भेजना

परिषद् द्वारा जब तिथि आदि स्वीकृत हो जाती है तो आगरे के समस्त अखाड़ा को प्रार्थी अखाड़े के द्वारा इलायची भेजी जाती है। इलायची भेजना निमंत्रण भेजना माना जाता है। इलायची के साथ—दिन, तिथि और समय की भी सूचना रहती है। निमंत्रण में सभी अध्यक्षों शिष्यों व गुरुओं को आमंत्रित किया जाता है। दंगल की तिथि व मुहूर्त पाचांग के अनुसार शुभ होनी चाहियें।

पूजन

दंगल प्रारम्भ होने से पूर्व गुरु या मुख्य संचालक व शिष्यगण मिलकर अपने इष्ट का पूजन शृंगार-गृह या पूजन-गृह में करते हैं। यहाँ पर सर्वप्रथम शुद्ध घृत में सिंदूर घोलकर स्वास्तिक 卐 या त्रिशूल 🔱 का चिह्न बनाया जाता है। जिस पर माला पहना कर पूजन करते हैं। अखंड ज्योति भी इसी अवसर पर प्रज्ज्वलित की जाती है। गुरु और शिष्य मिलकर सामूहिक रूप से अपने इष्ट व देवी सरस्वती की महिमा का गायन करते हैं।

मंच (स्टेज)

दंगल में मंच साधारण होता है। साधारणतः चार तख्तों को मिलाकर तैयार किया जाता है। सुविधानुसार फर्श कालीन आदि मंच पर बिछा दिए जा[illegible] मंच चारों ओर से खुला रहता है। शीत ऋतु में एक चादर ओस से बचने [illegible] ऊपर तान ली जाती है। मंच को विद्युत् बल्ब, रोडों आदि से सुसज्जित कर जब बिजली नहीं थी तब प्रकाश के लिए मशालों, पैट्रोमैक्सों आदि का प्र[illegible] जाता था।

दंगल के वाद्य

दंगल में अधिकतर नगाड़ा हारमोनियम, बेली, ढोलक, तबल[illegible] करते हैं। परन्तु अखाड़ा गुरु श्री जौहरीराय मोतीकटरा में नगाड़े का[illegible] जाता। वहाँ चिक्कारा और सारंगी लगती है।[८]

---

८ श्री वृद्धविलास मोती कटरा की सूचना के आधार पर।

पंच

साध्य कला संगीत[१] परिषद् के पदाधिकारी पंच कहे जाते हैं जिनकी आज्ञा से दंगल प्रारम्भ होता है। येही लोग दंगल का संचालन करते हैं। इनका आसन मंच पर होता है।

दंगल आरम्भ

पूजन के पश्चात् अखाड़े के सब सदस्य मंच की ओर आ जाते हैं। तब तक अखाड़े के सब प्रतियोगी भी आ जाते हैं। पंचों की ओर से दंगल प्रारम्भ होने की घोषणा की जाती है। सर्वप्रथम नियोजनकर्ता अखाड़े के गायक सरस्वती वन्दना का गायन प्रारम्भ करते हैं। वाद्यकार भी अपना आसन ग्रहण करते हैं। वे आसन ग्रहण करने से पूर्व पंचों से आसन ग्रहण की आज्ञा प्राप्त करते हैं। आज्ञा मिलने पर वे अपना दायाँ हाथ वाद्यों से स्पर्श कर दोनों कान और मस्तक से लगाते हैं। इस प्रकार वाद्यों के प्रति आदर प्रकट करके वे सरस्वती के गायन के साथ वाद्यों को बजाना प्रारम्भ करते हैं। सरस्वती की महिमा का काफी समय तक गायन होता है। इसी बीच प्रत्येक प्रतियोगी जो दंगल में भाग लेना चाहता है, अपना नाम पंचों को लिखा देता है। साधारणतः नियम यह है कि प्रत्येक अखाड़े के प्रत्येक अध्यक्ष की ओर से एक प्रतियोगी भाग ले परन्तु समयाभाव के कारण साधारणतः प्रति अखाड़े की ओर से एक प्रतियोगी भाग ले सकता है।

पंच लोग गायन की सीमा[१] एवं अन्य नियमों का निर्देश दंगल के प्रारम्भ में कर देते हैं। तब प्रत्येक प्रतियोगी की पुकार होती है। जो अपने गुरु या मुख्य संचालक से आज्ञा प्राप्त कर (गुरु या मुख्य संचालक की चरण-रज मस्तक से लगाकर)—मंच पर आता है। तब वह पंचों से गायन प्रारम्भ की आज्ञा माँगता है। आज्ञा मिलने पर वह भी वाद्यों का दायें हाथ से स्पर्श करके कान और मस्तक से लगाता है। कोई-कोई प्रतियोगी मंच पर चढ़ने से पूर्व मंच को दायें हाथ से स्पर्श कर कान और मस्तक से स्पर्श करते हैं, तब वे सुर मिलाकर गायन प्रारम्भ करते हैं। वाद्यों की धुन से गायन को बड़ा बल मिलता है। ये गायन को सुमधुर और सरस बना देते हैं। गायन समाप्त करने पर प्रत्येक प्रतियोगी 'ता थेइ था' का उच्चारण करता है, यह उसके गायन की समाप्ति का सूचक है।

गायन के मध्य में जनता की ओर से सुन्दर व सरस गायन पर गायक को रुपये भेंट किए जाते हैं। जो प्रायः उसकी कमीज में खोंस दिए जाते हैं। कुछ लोग गायक के ऊपर रुपये न्योछावर भी करते हैं। न्योछावर के ये रुपये गायक को न मिलकर वाद्यकारों को मिलते हैं।

---

१ गायन की सीमा से तात्पर्य है कि प्रत्येक प्रतियोगी एक दोहा व एक चौकला, जिसमें निश्चित संख्या के चौक हों, उन्हें ही गा सकता है। निश्चित संख्या के चौकों के अतिरिक्त चौक आदि वे नहीं गा सकते। प्रारम्भ में ये नियम उन्हें बता दिए जाते हैं।

सब प्रतियोगी जब गायन समाप्त कर लेते है, तब पच दौनें¹⁰ व पगडी लाने की आज्ञा देते हैं। सबसे पहले गुरु या मुख्य सचालक के सर पर पगडी बाँधी जाती है। शिष्यगण गुरु के चरण स्पर्श करते हैं। गुरु उनको आशीर्वाद देते हैं। गुरु को एक दौना दिया जाता है। बाद में उसी अखाडे के अन्य अध्यक्षो मे पगडी बाँधी जाती है और दाना दिया जाता है। पगडी बाँधने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति पचो से पगडी बाँधने की आज्ञा प्राप्त करता है। बाद में उस सदस्य को—जिसे अध्यक्ष बनाना है, बुलाया जाता है। पचों के सामने उसका परिचय दिया जाता है और उसे अध्यक्ष की पगडी प्रदान करने की आज्ञा माँगी जाती है। आज्ञा प्राप्त कर उसके पगडी बाँधी जाती है और मुँह में घी शक्कर या लड्डू भर कर मुँह मीठा कराया जाता है। नया अध्यक्ष गुरु और पचो के चरण स्पर्श करता है। इसी अवसर पर सहायक अध्यक्ष भी बनाने की प्रथा चल पडी है। बाद में प्रत्येक अखाडे के प्रत्येक अध्यक्ष को एक दौना पगडी आदि प्रदान किए जाते हैं। अन्य लोगों को प्रसाद वितरण किया जाता है। गुरु या मुख्य सचालक सब अतिथियों को आयोजन को सफल बनाने के लिए धन्यवाद देते हैं और शिष्यों को आशीर्वाद। इसके उपरात दगल—समाप्ति की घोषणा करते हैं। इस प्रकार इस दगल का आयोजित किया जाता है।

प्याला

'दगल' का आयोजन तो अध्यक्ष बनाने के लिए किया जाता है। प्याला' दगल के समान ही होता है परन्तु इसमें अध्यक्ष की पगडी न बध कर गुरु की मृत्यु हो जाने पर, गुरु की पगडी उसके उत्तराधिकारी[11] के बधती है। अखाडे के सभी शिष्य उन्हें अपना गुरु स्वीकार करते है। शेष सारे आयोजन दगल के समान होते हैं।

भगत के प्रकार

ब्रज में दो प्रकार की 'भगत' मिलती है। एक हाथरस की भगत' जिसका प्रचार प्रसिद्ध लोक-सगीतज्ञ नाथाराम द्वारा किया गया था। इसमें साधारणत छोटी तान के चौबोल मिलते हैं। इनकी पुस्तकें बाजार में भी उपलब्ध हैं। यह एक प्रकार का व्यवसाई लोक रगमच है।

---

१० प्राचीन काल में पत्तो के दौनो में रख कर लड्डू आदि का वितरण किया जाता था। इसी कारण इस प्रथा का नाम दौना बटना' हो गया। आज कल प्रथा का नाम तो वही है पर दौनों' के स्थान पर अब कागज के थैलो में या कपडे के थैला में देने की प्रथा प्रचलित हो गई है।

११ गुरु के आसन का उत्तराधिकारी सर्वप्रथम गुरु का सबसे बडा पुत्र होता है। यदि सबसे बडा पुत्र अपनी स्वेच्छा से इस पद को ग्रहण न करे तो गुरु का उससे छोटा पुत्र इस आसन को ग्रहण करेगा। यदि वह भी नही करे तो गुरु के किसी वशज को गुरु का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता है। प्याला गुरु की मृत्यु के उपरान्त ही आयोजित किया जा सकता है। उसकी उपस्थिति में दगल का ही आयोजन किया जा सकता है।

दूसरी प्रकार की 'भगत' आगरा की 'भगत' है। यह आगरा के विभिन्न अखाड़ों में आयोजित की जाती है। इसमें लम्बी तान के चौबोले होते हैं। इनकी पुस्तकें बाज़ार में उपलब्ध नहीं हैं। यह अव्यवसाई रंगमंच है। इसके प्रदर्शन अखाड़ों में ही होते हैं। कलाकार कहीं अन्यत्र नहीं जाते। इसका समस्त आयोजन अधिक व्यय चाहता है।

आगरा में 'भगत' के कई अखाड़े हैं। जिनके द्वारा समय-समय पर भगत प्रदर्शन का आयोजन कर जनसामान्य का मनोरंजन किया जाता है। भगत' प्रदर्शन में निम्न क्रम रहता है—

तालीम (शिक्षा और अभ्यास)—'भगत' प्रदर्शन से कई मास पूर्व अखाड़े में अभ्यास प्रारम्भ हो जाता है। किसी शुभ दिन, शुभ महूर्त में गुरु या मुख्य संचालक शिष्यों को पर्ची[12] बाँट कर तालीम का श्री गणेश करते हैं। पर्ची पाकर प्रत्येक गायक व अभिनेता अपने-अपने संवाद को याद करता है। याद हो जाने पर गायन का अभ्यास प्रारम्भ होता है। गुरु या मुख्य संचालक, अध्यक्ष (खलीफा) और अन्य अनुभवी लोग गायन और अभिनय में निर्देश देकर अभ्यास प्रारम्भ कराते हैं। पहले प्रति आठवें दिन अभ्यास कराया जाता है। कुछ काल तक प्रति आठवें दिन कराके फिर चौथे दिन अभ्यास कराने का क्रम बाधा जाता है। लगभग एक मास तक प्रति चौथे दिन अभ्यास कराया जाता है। तब प्राय २० दिन तक प्रति दूसरे दिन अभ्यास का क्रम रखा जाता है। प्रारंभ में अभ्यास एकान्त में कराया जाता, वाद्यों का साथ नहीं रहता। 'भगत' प्रदर्शन की तिथि से लगभग आठ दिन पूर्व से यह अभ्यास वाद्यों के साथ सार्वजनिक स्थान पर किया जाता है। इससे अभिनेताओं की झिझक खुल जाती है। अभ्यास में गुरु या मुख्य संचालक व अनुभवी सज्जनगण गायन और अभिनय की त्रुटियाँ बताकर तत्संबंधी सही निर्देश देते रहते हैं। जब अभ्यास से गुरु या मुख्य संचालक को सन्ताप हो जाता है तब वे 'भगत' प्रदर्शन के लिए अन्तिम रूप से कोई शुभ तिथि घोषित कर देते हैं।

कड़ी[13]-स्थापना—'भगत' प्रदर्शन से कुछ दिन पूर्व मंच निर्माण के लिए, किसी शुभ दिन शुभमहूर्त में कड़ी की स्थापना की जाती है। मंच निर्माण के लिए किसी ऐसे स्थान को चुना जाता है जहाँ अधिक से अधिक जनता सुविधापूर्वक बैठ कर अभिनेताओं के करतब देख सके। कड़ी की स्थापना एक छोटे से समारोह के साथ की जाती है। गुरु या मुख्य संचालक कड़ी स्थापना के लिए एक गड्ढा खोदते हैं। तब कड़ी का पूजन किया जाता है। उसके एक कोने पर हल्दी या रोली से स्वास्तिक 卐 या त्रिशूल ↯ बनाया जाता है। पाँच ताँबे के पैसे, हल्दी की एक गाँठ, पाँच साबित सुपाड़ी, चावल

१२. पर्ची—शिष्य की योग्यता देखकर गुरु या मुख्य संचालक उन्हें उनका संवाद एक कागज पर लिखकर दे देते हैं। ताकि वे उसे याद करके, गायन में अभ्यास कर सकें। सर्वप्रथम सरस्वती वंदना कागज़ पर लिख कर दी जाती है। और बाद में उनका संवाद लिखकर दिया जाता है। इस प्रकार संवाद बाँटने को पर्ची बाँटना या चिट्ठी बाँटना कहते हैं।

१३ लक्कड़ी या बल्ली का लट्ठा जिसे मंच निर्माण में प्रयोग में लाते हैं।

आदि गड्ढे में डाल कर, वडी को गड्ढे में स्थापित कर दिया जाता है। यह कार्य गुरु या मुख्य सचालक द्वारा सम्पन्न किया जाता है। इस समय अधिक से अधिक शिष्य उपस्थित रहते हैं। श्रद्धानुसार प्रसाद का वितरण किया जाता है। वडी स्थापना की यह परिपाटी, 'भरत' द्वारा नाट्य शास्त्र में उल्लिखित मच निर्माण से पूर्व स्तम्भ की स्थापना का ही एक रूप है। लोक-नाटकों में इन अनुष्ठानों का विधान इस बात का सूचक है कि प्राचीन सस्कृत नाटकों ने लोक-नाटकों ने या सस्कृत नाटकों ने लोक-नाटकों से अनेक अशो में प्रवृत्तियों, लक्षणों और विधानों को ग्रहण किया है।

मंच

कडी स्थापना के पश्चात् मच का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। मच लगभग आठ फीट ऊँचा बनाया जाता है। इसके दो कारण हैं—(१) यह कि दूर से जनता अभिनेताओं का अभिनय देख सके (२) यह कि आभूषणों की सुरक्षा भी रहे। इन 'भगतों' में आभूषणों के प्रदर्शन की विशेष लालसा देखी जाती है। आभूषण, असली आभूषण और सोने चाँदी तथा रत्नों के बहुत मूल्य के होते हैं। अमीर घरानों से माँगकर पात्रों को पहनाये जाते हैं। इन आभूषणों की प्रशसा में भगत की प्रशसा सम्मिलित होती है। इस बात की चर्चा वर्षों तक चलती है। इसलिए इन आभूषणों की सुरक्षा का आयोजनकर्ता को विशेष ध्यान रखना पडता है। आवश्यकतानुसार मच एक-रुखी व दोरुखी बनाये जाते हैं। एक रुखी मच पर एक ही सवाद दो बार और दो रुखी मच पर एक ही सवाद चार बार गाया जाता है। एक रुखी और दो रुखी मच का निर्माण स्थान की सुविधा पर निर्भर है। मच की ऊँचाई पर भी विशेष बल दिया जाता है। साधारणत. एक मजिल[14] (आठ फीट) ऊँचे मच बनाये जाते हैं। परन्तु किसी किसी स्वाग में दो मजिल ऊँचे मच की आवश्यकता पडती है। कहा जाता है कि लगभग ८० वर्ष पहले अखाडा गुरु श्री नन्दराम लहरी ताजगज में सात मजिल ऊँचे मच का निर्माण किया गया था।[15] दो मजिल या इससे अधिक ऊँचे मच का मजिलों के साथ निर्माण किसी ऐसे दृश्य के लिए किया जाता था जिसमें दो मजिल या इससे अधिक ऊँचे भवन को दिखाने की आवश्यकता हो, उदाहरणार्थ—स्वाँग 'चन्द्रकिरन मदनसैन' में नायिका दूसरी मजिल के कमरे की खिडकी में रस्सी बाँधकर अपने नायक 'मदनसैन' को ऊपर बुलाती है। इस प्रकार के दृश्यों को दिखाने के लिए दो मजिल ऊँचे मचों का निर्माण किया जाता है।

मंच की सजावट

मच की अधिक से अधिक सजावट की जाती है। रग बिरगे कागज, पत्तियों, रगीन कपडों और फूलों से मच को सजाया जाता है। मच के स्तम्भों को रगीन कागज

---

१४. अखाडा गुरु श्री रामसहाय आलमगज में नवम्बर ५६ के प्रथम सप्ताह में एक रुखी मच का निर्माण किया गया था। यह एक मजिल ऊँचा था।

१५ प० हुकमचन्द व श्रीचन्द्रभान जी अखाडा गुरु नन्दराम लहरी ताजगज की सूचना के आधार पर।

या कपड़ा लपेट कर सजाया जाता है। विभिन्न प्रकार के चित्र लगाये जाते हैं। मंच की सजावट की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाता है। कहा जाता है कि सन् १९०७ ई० के लगभग अखाड़ा गुरु श्री-सीताराम, राजामण्डी में मच के स्तम्भों को रंग पत्रों से, और लगभग सन् १९१० में मंच के स्तम्भों को चांदी के पत्रों से सजाया गया था।[१९] इसके कारण आज भी इस अखाड़े की शहर में धूम है। आजकल विद्युत् के रंगीन वल्वों की झालरों से भी मंच को सजाया जाता है। इस प्रकार मंच को अधिक से अधिक सजाने और आकर्षक बनाने का प्रयास किया जाता है।

प्रकाश

प्रकाश के लिए प्राचीन काल में जब विद्युत् नहीं थी, मशालों का प्रयोग किया जाता था। मशालों के बाद अरगन और पेट्रोमैक्स के हण्डों का प्रयोग किया जाने लगा। आजकल विद्युत् वल्व और विद्युत् रोड़ों का प्रयोग किया जाता है। रंग-विरंगे वल्वों की की झालरों से मंच को सजाया जाता है।

दो रुखी मंच के मध्य में वाद्यकार बैठते हैं। उन्हीं के पास कुछ अनुभवी वृद्धजन बैठते हैं। ये केवल इसलिए बिठाये जाते हैं, कि, यदि किसी अभिनेता के गायन व अभिनय में कहीं त्रुटि होने लगे तो वे उसे वहां से संकेत द्वारा सचेत कर दें और सही निर्देश दे दें। यहीं पर एक और गुरु का आसन होता है। मंच पर उपर्युक्त व्यक्तियों और अभिनेताओं के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के लिए स्थान नहीं होता। इस मंच पर नैपथ्य नहीं होता। एक रुखी मच पर वाद्यकार बिलकुल पीछे बैठते हैं। यहीं पर अनुभवी गुरुजनों और गुरु का आसन होता है।

आजकल भगत के मंच को आधुनिक नाटक के मंच का रूप भी दिया जाने लगा है। नवम्बर ५९ के अन्तिम सप्ताह में, महावीर दिगम्बर जैन कालिज के मैदान में, अखाड़ा गुरु काशीनाथ की ओर से 'दर्श प्रतिज्ञा' स्वांग के प्रदर्शन में मंच आधुनिक नाटक शैली पर तैयार किया गया था। दृश्य विधान का भी आयोजन किया गया था।

प्राचीनकाल में स्वर को तेज करके ही आवाज को बढ़ाया जाता था। परन्तु अब 'भगत' में 'ध्वनि विस्तारक' (लाउड स्पीकर्स) का प्रयोग भी आवाज को दूर तक पहुँचाने के लिए किया जाने लगा है।

वाद्य

प्राय: उन्हीं वाद्यों का प्रयोग—जिनका दगल में प्रयोग करते हैं, किया जाता है। आजकल कहीं-कहीं तानपूरा और सितार का भी प्रयोग होने लगा है।

'भगत' का निमंत्रण

लगभग तीन या चार दिन पहले नगर के समस्त अखाड़ों और जनता को 'भगत प्रदर्शन' देखने के लिए, 'भगत' खेलने वाले, अखाड़े की ओर से निमंत्रण दिया जाता है। ये निमंत्रण तीन प्रकार से भेजा जाता है—

१९. डा० अयोध्यानाथ भट्ट—बल्कावस्ती गोकुलपुरा आगरा की सूचना के आधार पर।

१—इलायची भेजकर
२—नागे निकाल कर
३—समाचार पत्र द्वारा

इलायची भेजना

यह निमंत्रण प्रणाली 'दंगल' के लिए निमन्त्रण भेजने की प्रणाली से मिलती है। इसमें सूचना इलायची के साथ ही भेजी जाती है, उसमें 'भगत' के प्रदर्शन का उल्लेख रहता है।

नागे निकालना

निमन्त्रण देने की यह अनोखी पद्धति 'भगत' में देखन का मिलती है। चार या पाच अभिनेताओं को वस्त्र और आभूषण से सजाकर, उन्हें किसी सजी हुई मोटरगाडी पर चढा कर नगर के प्रत्येक अखाडे पर भेजा जाता है। प्रत्येक अभिनेता को नागा कहते हैं। ये नागे प्रत्येक अखाडे में पहुँच कर कविता की भाति एक छन्द का गायन करते हैं, जिसे 'सदा' कहते हैं। गायन के पश्चात् ये नागे अपने अखाडे की ओर से—उस अखाडे के गुरु या मुख्य सचालक तथा अन्य सदस्यो को और वहा जन सामान्य को, तिथि, समय और स्थान की सूचना देकर उनसे आयोजित 'भगत प्रदर्शन' को देखने के लिए निमन्त्रित करते हैं। आतिथेय अखाडे (जिस अखाडे में नागे निमन्त्रण देने आये हैं) के सदस्य—इन लोगो को श्रद्धानुसार जलपान करा के उनका आतिथ्य सत्कार करते हैं। आजकल नागों की सवारी के लिए कार का भी उपयोग किया जाने लगा है। परन्तु पहले बैलगाडी, तांगों या बग्गियों का उपयोग किया जाता था।

समाचार पत्र द्वारा

समाचार पत्र मे अखाडे (जिस अखाडे में भगत प्रदर्शन का आयोजन हो रहा है) की ओर से एक सामान्य निमन्त्रण पत्र, भगत प्रदर्शन के—स्थान तिथि व समय की सूचना के साथ, स्थानीय समाचार पत्रो में छपवा कर, समस्त जनता को, भगत प्रदर्शन देखने के लिए निमन्त्रित करते है। यह परिपाटी 'भगत' में अभी अभी अपनाई गई है। अभी नवम्बर सन् १९५९ ई० में अखाडा गुरु श्री रामसहाय आलमगज व अखाडा गुरु श्री काशीनाथ निरालाबाद की ओर से नवम्बर ५९ के अन्तिम सप्ताह मे समाचार पत्र में निमन्त्रण छपवाकर समस्त जनता को 'भगत' प्रदर्शन देखने के लिए निमन्त्रित किया गया था।

ज्योति जगाना

शृंगार गृह[१७] में 'भगत प्रदर्शन' प्रारम्भ होने से लगभग चार घण्टे पूर्व गुरु या मुख्य सचालक और अखाडे के लगभग सभी सदस्य एकत्रित होते हैं। यहां एक दीवाल को गोबर-मिट्टी से लीपते हैं। ऐसा कच्ची दीवाल पर ही किया जाता है। यदि दीवाल

१७. शृंगार गृह—वह स्थान जहां पर पात्र आभूरण आदि पहन कर अभिनय के लिए अपना शृंगार करते हैं।

पक्की होनी है तो उसे कलई से पोतते हैं। सिन्दूर को शुद्ध घृत में घोल कर, उससे दीवाल के एक कोने पर स्वास्तिक 卐 या त्रिशूल ψ का चित्र बनाया जाता है, जिसे माला पहनायी जाती है। शुभ और लाभ भी लिखा जाता है। गुरु या मुख्य संचालक मन्त्रोचारण के साथ शुद्ध घी का चौमुखा अखण्ड दीपक प्रज्ज्वलित करते हैं। यह दीपक भगत की समाप्ति के बाद ही शान्त किया जाता है। अखण्ड दीपक प्रज्ज्वलित करने के बाद हवन किया जाता है। हवन के बाद सब लोग मिलकर सबसे पहले गणेश की महिमा गाते हैं। इसके बाद इष्ट देव[18] की महिमा का गायन किया जाता है। इष्टदेव की महिमा के बाद देवी भवानी को भेंट[19] समर्पित की जाती है। यथा—

गरजत आवें भवानी।
सिंह पर असवार आवें भवानी।।

इसी अवसर पर नये शिष्य बनाये जाते हैं। गुरु या मुख्य संचालक गा[illegible] प्रबन्ध की योग्यता देखकर किसी व्यक्ति को जो किसी अन्य 'भगत' के अखाड़े का न हो अपने अखाड़े का सदस्य बना लेते हैं। परम्परानुसार वे नये शिष्य के मुं[illegible] शक्कर, या मोदक भर कर अखाड़े का सदस्य घोषित करते हैं। वह गुरु या मुख्य [illegible] की चरण, रज मस्तक से लगाता है। गुरु उन्हें आशीर्वाद देते हैं। अखाड़े के सब [illegible] को प्रसाद का वितरण किया जाता है। इस सम्पूर्ण क्रिया को ज्योति जगाना [illegible] जबसे अखण्ड दीपक जलाया जाता है 'भगत' की समाप्ति तक निरंतर जलता र[illegible] इसे 'भगत' की समाप्ति के बाद, विधिपूर्वक शान्त किया जाता है। ज्योति के पा[illegible] पाव बताशे दो पान और सिन्दूर आदि निरतर रक्खे रहते हैं, जो ज्योति को शा[illegible] समय वितरित कर दिए जाते हैं।

शृंगार व वेष विन्यास

'भगत' में वेष विन्यास और शृंगार पर अधिक बल दिया जाता है। अ[illegible] अधिक बहुमूल्य सच्चे आभूषणों और वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। कहा [illegible] कि कीमती वस्त्राभूषण का प्रयोग 'भगत' में प्रदर्शन की सुन्दरता की एक कसौटी [illegible] गयी है।

कहा जाता है लगभग बीस वर्ष पहले मन्दिर मनकामेश्वरनाथ के मैदान [illegible] अनुसुइया स्वांग के प्रदर्शन में हीरे और पन्ने के आभूषणों का प्रयोग किया गया था आयोजन अखाड़ा गुरु श्री वृन्दावन बिहारीलाल चौक की ओर से किया गया था।

१८. विभिन्न अखाड़े अपने अलग-अलग इष्ट मानते हैं। अखाड़ा गुरु खैरातीला[illegible] की मण्डी व अखाड़ा गुरु काशीनाथ निरालाबाद में 'भैरव' को इष्ट माना है। अखाड़ा गुरु श्री नन्दराम लहरी ताजगंज में हनुमान को इष्ट माना जा[illegible] अखाड़ा गुरु श्री वृन्दावन बिहारीलाल में 'मुरली मनोहर' को अपना आरा[illegible] माना जाता है। इसी प्रकार अन्य अखाड़ों में भी अपने इष्ट माने जाते हैं।

१९. देवी भवानी को जो गीतों से श्रद्धा-भक्ति प्रदान की जाती है, वही भेंट कहला[illegible]

२०. माधोप्रसाद (अखाड़ा गुरु वृन्दावन बिहारीलाल चौक) की सूचना के आधार प[illegible]

'भगत' में भोडे और अश्लील शृगार नही किए जाते।

सरस्वती वन्दना

मच पर सर्वप्रथम गुरु या मुख्य सचालक सरस्वती वन्दना का एक पद या छद गाते हैं। इनके बाद अन्य शिष्यो में से प्रत्येक एक-एक छद सरस्वती वन्दना का मच पर आकर गाते हैं। इसी बीच अभिनेताओ का शृगार पूरा हो जाता है, और वे मच पर आ जाते हैं।

मंगलाचरण

मच पर आ जाने पर समस्त अभिनेता व अन्य सदस्य सामूहिक रूप से इष्ट वन्दना करते हैं। उदाहरण—

अरी ऐरी अम्बे आये है शरण तुम्हारी
हाथ जोड कर खडे भवर में रखियो लाज हमारी
अरी ·· ·· ···।[२१]

कृष्ण-लीला या प्रहसन[२२]

प्राचीन काल में मगलाचरण के बाद ही एक छोटी सी कृष्ण-लीला या किसी प्रहसन (कॉमिक) का आयोजन, मुख्य स्वांग के प्रदर्शन से पूर्व, किया जाता था। परन्तु अब मगलाचरण के तुरन्त बाद ही मुख्य स्वाग आरभ कर दिया जाता है।

रंगा

सस्कृत नाटकों के सूत्रधार की भाति 'भगत' में मुख्य स्वाग प्रारम्भ करने के लिए 'रगा' नामक पात्र आता है। यह पात्र गाकर पूर्वकालीन घटनाओ की सूचना देकर आगे होने वाली घटनाओ का भी उल्लेख कर देता है।

'भगत' के आरभ में तो रगा' का प्रयत्न सस्कृत-नाटको के सूत्रधार की कोटि का माना जा सकता है। इसी प्रकार उसकी आरभिक उक्ति सस्कृत नाट्यशास्त्र के 'प्रस्तावना' अग का लौकिक अनुकरण मानी जा सकती है।

'रगा' पात्र कभी-कभी किसी घटनाविशेष का उल्लेख करने के लिए स्वाग के मध्य में भी आ जाता है। यह उस घटना का उल्लेख अपने गायन द्वारा देता है।

ऐसे स्वागो के लिए वस्तुत रगा अनिवार्य है। इन स्वागो में न तो दृश्य-विधान रहता है, न वेश-भूषा में कोई पात्रत्व का विशेष सकेत रहता है। पात्रो के प्रवेश और गमन का भी नाटकीय रूप इस रगमच पर प्रस्तुत नही किया जा सकता। अत. रगा की इसमें अत्यधिक आवश्यकता है, इन समस्त व्यापारो की सूचना वही देता है।

---

२१ आलमगज अखाडे के स्वांग 'शीला रिसालू' के प्रदर्शन से सकलित।

२२. अखाडा गुरु श्री जौहरीराय मोतीकटरा में कृष्ण लीला के स्थान पर प्रहसन उदाहरणार्थ— 'बीन' 'सौदागर पनिहारिन' आदि का प्रदर्शन किया जाता था। इनके ऐसे ही प्रसिद्ध खेल हैं।

पात्र

'रंगा' के बाद अन्य अभिनेता अभिनय करने के लिए आते हैं। 'भगत' के पात्रों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) पुरुष पात्र—पुरुष अभिनय के अनुसार वस्त्राभूषण धारण कर, पुरुष पात्रों का अभिनय करते हैं।

(२) स्त्री पात्र—पुरुष ही स्त्रियों का शृंगार धारण कर स्त्री-पात्रों की भूमिका सम्पन्न करते हैं। स्त्री पात्रों की भूमिकाओं के लिए स्वर और कंठ का ध्यान रखा जाता है। स्वयं स्त्रियाँ या स्त्रियों की भूमिकाएँ सम्पन्न करने की आज्ञा नहीं मिलती।

पात्रों की संख्या स्वांग पर निर्भर करती है। एक व्यक्ति सुविधा की दृष्टि से दो या दो से अधिक पात्रों का अभिनय कर सकता है।

चरित्र चित्रण

'भगत' में चरित्र चित्रण के लिए विस्तार में सूक्ष्म तत्वों का आश्रय लेना सम्भव नहीं। हाँ, चरित्र का एक स्थूल रूप निरंतर बना रहता है। यह स्थूल रूप प्राचीन चरित्र-निर्वाह की प्रणाली में साधारणतः मिलता है। वीर पुरुष की वीरता आदि से अन्त तक दिखायी जायगी। सतवंती का सत भी रहेगा। ये पात्र की एक प्रतिष्ठा दिखाते हैं, उसमें सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व कम मिलेंगे। संगीतात्मक शैली की संवाद-योजना प्रत्येक चरित्र की उठान के लिए उसके गायन कौशल पर ही निर्भर है। मंच पर जो अभिनेता सुन्दर गा जायें वही जनता की प्रशंसा के पात्र हो जाते हैं।

विषय

भगत' के अखाड़ा में दो प्रकार के काव्य उपलब्ध हैं।

(१) मुक्तक काव्य = दंगली चौबोले

(२) प्रबन्ध काव्य = स्वांग

(१) मुक्तक काव्य—सामान्य भाषा में इन्हें दंगली चौबोले कहते हैं। भगत' प्रणाली में, दंगल के लिए ही मुक्तक चौबोलों का सृजन किया जाता है। ये चौबोले क्रमबद्ध नहीं होते। इनका दंगल में गाया जाता है। प्रायः दंगली चौबोलों की रचना उस समय की सामाजिक, आर्थिक, अवस्था, परस्पर के व्यंग आदि विविध फुटकर विषयों पर की जाती है।

(२) प्रबन्ध काव्य—किसी कथा पर भी चौबोलों की क्रमबद्ध रचना की जाती है। ये चौबोले एक दूसरे से एक परंपरा में बंधे होते हैं। उनकी शृंखला कहीं पर टूटी नहीं होती। घटना का क्रमबद्ध उल्लेख इनसे मिलता है। 'भगत' में प्रबन्ध काव्य प्रचुर मात्रा में मिलता। कथावस्तु की दृष्टि से उपलब्ध 'भगत' साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) धार्मिक व पौराणिक 'भगत' प्रबन्ध साहित्य—

इस श्रेणी में उन 'भगतों' रखा जायेगा जिनकी रचना धार्मिक व पौराणिक

कथाओं के आधार पर की गयी है। यथा—सत्य हरिश्चन्द्र, कीचक वध, चीरहरण, गीता आदि।

(२) ऐतिहासिक 'भगत' प्रबन्ध साहित्य—

ऐतिहासिक कथानकों पर लिखी गई रचनाओं को इस श्रेणी में रक्खा जाता है। यथा—झांसी की रानी, सुभाष आदि।

(३) प्रेमाख्यानात्मक—

प्रेमकथाओं और घटनाओं पर आधारित स्वांग रचनाओं को इस श्रेणी में रक्खा जाता है। यथा—शीरीं फरहाद, लैला मजनूं, पंजाबी रूप बसन्त या सन्त बसन्त।

इन कथानकों में शौर्य के साथ प्रेम की व्यंजना इनका लक्षण है। यह देखा गया है कि 'प्रेम कथात्मक' भगत साहित्य या तो पूर्व प्रचलित ख्याल परम्परा पर आधारित है या रचना लोक कथाओं या किंवदन्तियों के आधार पर की गयी है।

संवाद योजना

'भगत' में संवाद 'जवाब' कहलाते हैं। ये जवाब छंद में होते हैं। गद्य के लिए 'भगत' में कोई स्थान नहीं। सारे जवाब संगीतात्मक होते हैं। जो लय, ताल और धुन में बंधे होते हैं, जो प्राय. दोहे और चौबोलों में कहे जाते हैं। दोहा, चौबोला, कड़ा, उड़ान, दौड़, चलती आदि प्रमुख छन्दों के अतिरिक्त अन्य छंदों तथा राग-रागिनियों का प्रयोग भी किया जाता है। आजकल सिनेमा की धुनों का भी प्रयोग किया जाने लगा है।

भाषा

मुख्य रूप से प्रचलित खड़ी बोली का प्रयोग किया जाता है। इनका लक्ष्य यही रहता है कि भाषा ऐसी हो जो सरलता से जन-सामान्य की समझ में आ जाय। कठिन, क्लिष्ट भाषा का बहुत कम प्रयोग किया जाता है। किन्तु कभी-कभी चमत्कार दिखाने के लिए ऐसे अनोखे प्रयोग भी कर डालते हैं, जैसे—कुछ अखाड़ों में संस्कृत में भी चौबोलों की रचना की गयी है। अखाड़ा गुरु श्री बैरातीलाल नाई की मण्डी में संस्कृत के दोहे व चौबोले मिलते हैं। इसी प्रकार से अन्य अखाड़ों में अंग्रेजी में भी चौबोलों की रचना की गई है। इन दोहे और चौबोलों की भाषा संस्कृत व अंग्रेजी अवश्य है परन्तु धुन चौबोलों और दोहों की है। इन्हें हिन्दी के चौबोलों की भाँति ही सरलता से गाया जा सकता है।

दृश्य योजना

दृश्य योजना का 'भगत' में मूर्त विधान नहीं होता। प्रसंग के अनुरूप ही दृश्य का मानसिक साक्षात्कार किया जा सकता है। कभी-कभी रंगा अपने जवाब में इसका संकेत कर देता है। कभी-कभी पात्र ही अपने संवाद में परिवर्तन की सूचना देता है।

समय

'भगत' का प्रदर्शन रात्रि के समय रात्रि के आठ बजे से प्रारम्भ होकर सुबह के चार बजे तक चलता है। कभी-कभी सूर्योदय के बाद दो-तीन घंटे भगत होती रहती है। *यह आवश्यक नहीं कि 'भगत' का एक स्वांग एक ही रात्रि में समाप्त हो।* बड़े स्वांग कई दिन तक चलते हैं।

एक 'भगत' में क्रमश कई स्वांगों का प्रदर्शन किया जा सकता है। इस प्रकार भगत निरन्तर कई रात्रियों तक चलती रहती है। 'भगत' की समाप्ति के बाद गुरु या मुख्य सचालक आमन्त्रित व्यक्तियों को, दर्शकों को और शिष्यों को आयोजन को सफल बनाने के लिए धन्यवाद देते हैं।

ज्योति शान्ति करना

'भगत' प्रारम्भ होने से पूर्व जो *अखण्ड ज्योति प्रज्ज्वलित की गयी थी* उसे मन्त्रोच्चारण के साथ—गुरु या मुख्य सचालक सारे शिष्यों की उपस्थिति में शान्त करते हैं। गुरु या मुख्य सचालक अपने शिष्यों को आशीर्वाद देते हैं। हवन की भस्म आदि को सुविधानुसार यमुनाजल में प्रवाहित किया जाता है।

कढाई

यह 'भगत नाट्य की अन्तिम रस्म है, जिन देवताओं को 'भगत' को सफल बनाने के लिए बुलाते हैं, उन्हें आदर सहित विदा किया जाता है। 'कढाई' में—कढाई चढाकर हलवा और उबल हुए नमकीन चने (कौमरी) देवताओं के रूप में कन्या व लागुराओं को खिलायें जाते हैं। आजकल हलवा व कौमरी के स्थान पर खीर पूरी लडडू आदि का भी प्रयोग होने लगा है। कन्या लागुराओं की सख्या लगभग ५ या ७ या ११ रखी जाती है। कढाई का अनुष्ठान एक 'भगत' की समाप्ति व दूसरी के प्रारम्भ के बीच के दिनों में किसी भी दिन किया जा सकता है। साधारणत 'भगत' की समाप्ति के तुरन्त बाद ही इस रस्म का पूर्ण कर दिया जाता है।

शाक्त परम्परा का अवशेष

'भगत' के इस समस्त अनुष्ठान पर दृष्टि डालने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि यह लोक रगमच सम्भवत शाक्त रगमच रहा होगा। सब अखाड़ों द्वारा सर्वमान्य रूढ़ियों से यह सकेत मिलता है। ज्योति जलाना, त्रिशूल अकित करना देवी की स्तुति कहीं कहीं धार भी छोडी जाती है। अन्त में कन्या लागुराओं को जिमाना और उनको हलुआ तथा कौमरी देना—ये सब मूलत देवी पूजा से सम्बन्ध रखते हैं। प्रतीत ऐसा होता है कि इन तत्वों का प्रारम्भ 'देवी जागरण' के अनुष्ठान के लिए किया गया होगा।

ब्रज में 'भगत' शब्द देवी भक्त की परम्परा के लिए रूढ हो गया। यह शब्द भी कुम्हार, कोरी, चमार जातियों में इसी ओर सकेतित है। बाद में यह सामान्य लोक मनोरजन का साधन बन गया और विविध मतवादी अखाडों ने अपने-अपने रूप के अनुसार कुछ सशोधन कर लिए।

प्रायः लोग 'भगत', 'नौटंकी' और स्वाग (साग) को एक ही वस्तु मानते हैं। परन्तु यदि इनका सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो ये तीनो एक न होकर अलग-अलग हैं। इनका अन्तर निम्न रूप में बताया जा सकता है—

(१) साग या स्वाग

इस का प्रचलन भारत में काफी मिलता है, इसकी निम्न विशेषताएँ हैं—

१. साँग या स्वाँग—ठेठ ग्रामीण निम्न वर्गीय मनोरजन है।

२. ये अव्यवसायी मण्डलियो द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। प्राय विवाह और उत्सवों के अवसरो पर इनका आयोजन किया जाता है।

३. मच की कोई विशेष आवश्यकता नही होती। बिना मच के ही इसका प्रदर्शन किया जाता है।

४. वेषभूषा—भोडे, फूहड, हास्यास्य पद वेष धारण किये जाते हैं ताकि जनता में हास्य उत्पन्न हो। यही हास्य उनके मनोरजन और विनोद का एक मात्र लक्ष्य है। कभी सर पर सीग बाँध कर, कभी मुख पर कालिख पोत कर, कभी आधे मुख पर कालिख और आधे पर खडिया पोत कर या कभी मुँह मटकाते हुए हास्यप्रद शृगार धारण कर लेते हैं। साग का एकमात्र उद्देश्य हास्य उत्पन्न करना है।

५. अभिनय भोंडा और फूहड होता है। शरीर के विभिन्न अगो को हिला डुला कर, मटकाकर (कूल्हे, सैन आदि को भौंडे रूप में मटकाकर) इस प्रकार से अभिनय करते हैं कि जनता में हास्य उत्पन्न हो। अभिनय करते-करते वे धडाम से गिर सकते हैं, विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन कर सकते हैं। ताकि दर्शक हँसते हँसते लोट-पोट हो जाएँ।

६. भाषा—निम्न वर्गीय काव्यमय होती है।

७. अभिनय में कोई क्रम नही होता। कही का अभिनय कही किया जा सकता है।

८. दगल, कडी पूजन, शृगार गृह में पूजन, कढाई आदि का आयोजन साँग में नहीं देखा जाता है।

९ नृत्य (भौंडा निम्नवर्गीय) भी होता है।

(२) नौटकी

१ मध्यवर्गीय मनोरजन है।

२ यह व्यवसाई रगमच है। विभिन्न मण्डलियाँ धन कमाने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमती रहती हैं।

३ साधारण मच बनाया जाता है। दो मजिल ऊँचे मच कभी नहीं देखे गए। साधारणतः कुछ तख्त मिला कर या किसी ऊँचे चबूतरे को ही मच की सज्ञा दे दी जाती है।

४. ये सुगठित होता है। मगलाचरण के बाद समस्त अभिनय सुगठित कथानकानुकूल व शृखलाबद्ध मिलते हैं।

५. अभिनय सांग की भांति भद्दा नहीं होता। व्यवसायी होने के कारण सुन्दर से सुन्दर अभिनय पर बल दिया जाता है। साथ ही जनता की रुचि का भी ध्यान में रखा जाता है।

६. सांग से प्रभावशाली वेषभूषा धारण करते हैं। नकली आभूषण, चमकीले और भड़कीले वस्त्रों का प्रयोग होता है।

७. नृत्य भी होता है।

८ जन सामान्य की भाषा का प्रयोग किया जाता है। पद्य का प्रयोग होता है। कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया जाता है।

९. कडी-पूजन, शृंगार गृह में पूजन, कढ़ाई, दंगल, प्याला आदि का आयोजन नहीं होता।

(३) 'भगत'

१. मध्य व उच्च वर्गीय अव्यवसाई रंगमंच है।

२ विशिष्ट मंच का जो पृथ्वी से लगभग आठ फीट ऊँचा होता है, का निर्माण कर, उस पर प्रदर्शन किया जाता है।

३. सुगठित होता है। मंगलाचरण के बाद समस्त अभिनय एक शृंखला में बंधे रहते हैं। कहीं कड़ी टूटी नहीं मिलती।

४ अभिनय सुन्दर व सुव्यवस्थित होता है। कहीं भी भौंडापन व फूहड़पन देखने को नहीं मिलता। विषय भी गंभीर होता है।

५ नृत्य नहीं होता।

६ वेषभूषा पर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाता है। बहुमूल्य वस्त्र और असली सच्चे आभूषणों का प्रयोग किया जाता है।

७ जन-भाषा का प्रयोग किया जाता है। गद्य का कहीं समावेश नहीं। चौबोले और दोहों का प्रयोग विशेष किया जाता है।

८. कडी पूजन, शृंगार गृह में पूजन, दंगल, प्याला आदि का आयोजन किया जाता है। जिससे यह प्रकट होता है कि 'भगत' का संबंध धार्मिकता से है।

आगरा नगर में भगत के अखाड़े

आगरा नगर की विभिन्न बस्तियों में 'भगत' के अखाड़े और उनकी शाखाएं स्थापित हैं। जहां समय समय पर 'भगत' प्रदर्शन के हेतु संगीत गायन और अभिनय के अभ्यास होते रहते हैं। कुछ अखाड़े सक्रिय हैं। कुछ थोड़े शिथिल पड़ गए हैं, जहां अभ्यास का क्रम देखने को नहीं मिलता। प्राचीन काल में इन अखाड़ों द्वारा अपने निश्चित क्षेत्र में ही 'भगत' प्रदर्शन का आयोजन किया जाता था लेकिन अब शहर में स्थानाभाव होने के कारण अपने निश्चित क्षेत्र को छोड़कर अन्य स्थानों पर भी प्रदर्शन किया जाने लगा है। सर्वप्रथम नमकमण्डी के अखाड़े वालों ने गधापाड़े की नसिया जी (धार्मिक क्षेत्र) में इसका प्रदर्शन कर नयी परिपाटी को जन्म दिया। इसी के अनुसार चौब अखाड़े वालों ने रामलीला के मैदान में, नमकमण्डी वालों ने सेंट जोंस स्कूल के मैदान में, बेलनगंज वालों ने छीपीटोला में, पथवारी अखाड़े वालों ने विजयनगर कालोनी में और निरालाबाद

अखाडे वालो ने महावीर दिगम्बर जैन इण्टर कालिज, हरीपर्वत के मैदान में अपनी भगतो का प्रदर्शन किया और अपने क्षेत्र को छोडकर अन्य क्षेत्रो में 'भगत' करने की इस नयी परिपाटी को आगे बढाया। आगरा में भगत के अखाडो का विवरण इस प्रकार है—

(१) **अखाडा गुरु श्री जौहरीराय मोतीकटरा**—यहाँ के प्रथम गुरु श्री जौहरीराय जी हुए। आजकल इसका सचालन श्री वृद्धविलास जी कर रहे हैं। यह आगरा नगर का प्रथम अखाडा है। इस अखाडे में लगभग ५ प्रहसन और १५ स्वागों की रचना हुई। लगभग २५ गायको ने ख्याति प्राप्त की।

(२) **अखाडा गुरु श्री नन्दराम लहरी ताजगज**—इस अखाडे के प्रथम गुरु श्री नन्दराम लहरी रहे हैं। आलकल यहाँ का सचालन श्री चन्द्रभान कर रहे हैं। यहाँ लगभग १६ स्वाग लिखे गये हैं। लगभग १७ ख्याति प्राप्त गायक भी रहे हैं। इस अखाडे की शाखाएँ पीपलमण्डी, मण्टोला, घटिया आमू भानजा और हाथी घाट में हैं।

(३) **अखाडा गुरु श्री शोढासिंह भगतसिंह द्वार (नूरी दरवाजा)**—प्रथम गुरु श्री शोढासिंह जी थे। आजकल यहाँ का सचालन श्री धीमाराम जी कर रहे हैं। लगभग ८ प्रसिद्ध स्वांगो की रचना हुई है। इसके ५ गायको ने बहुत ख्याति प्राप्त की। इसकी एक शाखा फरह में है।

(४) **अखाडा गुरु जोखीराम बल्देवगज**—प्रथम गुरु श्री जोखीराम जी थे। लगभग २५ स्वागों की रचना हुई है। इसकी एक शाखा शाहगज में है। दूसरी शाखा अभी हाल में मोरो कटरा में स्थापित हुई है। इसके उस्ताद श्री मोतीलाल बनाये गये।

(५) **अखाडा गुरु श्री दुर्गदास लोहामण्डी**—यहाँ के प्रथम गुरु श्री सीताराम थे। स्वय दुर्गदास ने लिखा है—

> सीताराम को सुमिर के धर रामचन्द्र को ध्यान।
> दुर्गदास ने यो वही लो चातर पहचान ॥

आजकल श्री भीमसेन यहाँ का सचालन कर रहे हैं।

(६) **गुरु रामसहाय आलमगज**—इस अखाडे के प्रथम गुरु श्री चुन्नी मिस्सर थे। रामसहाय उनके पुत्र थ। अखाडे का नाम श्री रामसहाय के नाम पर चलता है। यह द्वितीय गुरु थे। आजकल यहाँ का सचालन श्री केदारनाथ जी कर रहे हैं। लगभग १४ स्वांगो की रचना हुई। घासीराम और गिरवर चौधरी यहाँ के ख्याति प्राप्त गायक रहे हैं।

(७) **अखाडा गुरु श्री सीताराम रजामण्डी**—श्री सीताराम जी यहाँ के प्रथम गुरु थे। आजकल श्री फकीरच द जी इसका सचालन कर रहे हैं। इस अखाडे में लगभग ११ स्वागो की रचना हुई है।

(८) **अखाडा गुरु श्री खैरातीलाल नाई की मण्डी**—श्री खैरातीलाल जी यहाँ के प्रथम गुरु थे। आजकल श्री चुन्नीलाल व श्री रामजीलाल जी इसका सचालन कर रहे हैं। लगभग १७ स्वागो की रचना हुई।

(९) **अखाडा गुरु श्री काशीनाथ निरालाबाद**—यह अखाडा नाई की मण्डी अखाडे की एक शाखा है। अब प्रथम अखाडे की सत्ता रखे हुए है। प्रथम गुरु

काशीनाथ हुए। आजकल इसका संचालन श्री नत्थीलाल जी कर रहे हैं। लगभग २० स्वांगों की रचना हुई है।

(१०) अखाड़ा गुरु श्री अयोध्याप्रसाद जी नमकमण्डी—श्री अयोध्याप्रसाद जी यहाँ के प्रथम गुरु थे। आजकल श्री मदनलाल जी इसका संचालन कर रहे हैं।

(११) अखाड़ा गुरु श्री वृन्दावन बिहारी चौक—इस अखाड़े के प्रथम गुरु श्री वृन्दावनबिहारी रहे हैं। आजकल श्री माधोप्रसाद जी इसका संचालन कर रहे हैं। इसकी एक शाखा छत्ताबाजार और एक शाखा नामनेर में है। लगभग १६ स्वांगों की रचना हुई है।

(१२) अखाड़ा गुरु श्री गिरवरसिंह—इस अखाड़े के प्रथम गुरु श्री गिरवर सिंह जी थे। इसका संचालन सर्व श्री घासीराम, स्वामीराम और लक्ष्मीनरायन जी कर रहे हैं।

(१३) अखाड़ा गुरु रूपराम कचहरी घाट आगरा—प्रथम गुरु रूपराम जी हुए। जिनका स्थान श्री रामचन्द्र ने लिया और आजकल श्री सूरजभान जी इस पर आसीन हैं। शोभाराम, रामसहाय, वंशीधर, मंगलसेन यहाँ के अध्यक्ष हैं।

(१४) अखाड़ा गुरु बूचासिंह पथवारी, आगरा—यहाँ के प्रथम गुरु बूचासिंह थे। आजकल मुन्नालाल हलवाई इस पद पर हैं। दुर्गादास व चुन्नीलाल यहाँ के अध्यक्ष हैं। इस अखाड़े की एक शाखा श्री ज्योतिप्रसाद जी की अध्यक्षता में छीपीटोला में स्थापित हुई।

(१५) अखाड़ा गुरु शोभाराम जी नुनहाई, आगरा—शोभाराम जी यहाँ के प्रथम गुरु थे। आजकल सन्तोषीलाल यहाँ के प्रमुख सचालक हैं।

श्री काव्य कला संगीत परिषद्

आगरे के समस्त 'भगत' के अखाड़े वालों ने मिलकर १३-१२-४८ ई० को दुपहर १२ बजे श्री अन्ना गुरु के सभापतित्व में सर्वसम्मति से एक यूनियन बनाने का प्रस्ताव पारित किया। उसी दिन सात सदस्यों की एक परिषद बनायी गयी जिसे विधान निर्माण करने का कार्य सौंपा गया। विधान बनने के पश्चात् इसका चुनाव किया गया। श्री माधोप्रसाद (अखाड़ा चौक) सभापति और श्री रिखबदास जैन (अखाड़ा भगत निरालाबाद) को मन्त्री बनाया गया। इसी दिन सदस्यों ने मिलकर ७ सदस्यों की कार्यकारिणी समिति का गठन किया। इस समिति का नाम सर्वसम्मति से 'काव्य कला संगीत कमेटी' रखा गया। १९-३-५१ ई० को कार्यकारिणी में सदस्यों की संख्या ७ से बढ़ा कर ११ कर दी गयी। १८-८-५१ और १२-८-५५ ई० के चुनावों में यही कार्यकारिणी रही जिसके प्रधान माधोप्रसाद व मंत्री रिखबदास जी चुने गए। ३१-८-५६ को इस कार्यकारिणी में उपमंत्री और कोषाध्यक्ष का पद बढ़ाया गया और इसी दिन चुनाव कराया गया, जिसका विवरण इस प्रकार है—

सभापति—ला० माधोप्रसाद चौक, उपसभापति—पं० बुधविलास मोतीकटरा, मंत्री—श्री रिखबदास जैन निरालाबाद, उपमंत्री—श्री घासीराम मीतल बेलनगंज, कोषाध्यक्ष पं० शोभाराम नूरीदरवाजा, हिसाब निरोक्षक—श्री चिम्मनलाल शाहगंज, सदस्य

कार्यकारिणी सर्व श्री मदनलाल नमकमण्डी, भीकमचन्द लोहामण्डी, बगालीमल शाहगंज, जोतीप्रसाद छीपीटोला, सूरजभान कचहरी घाट, चुन्नीलाल नाई की मण्डी, संतोषीलाल नुनिहाई, केदारनाथ मालमगंज व फकीरचन्द राजामण्डी।

पहले इस कमेटी का नाम 'काव्य कला संगीत कमेटी' था। अक्तूबर ५८ में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पं० हृषीकेश चतुर्वेदी की अध्यक्षता में इसकी दसवीं वर्ष गाँठ मनाई गई। जिसमें इस के नाम से विदेशी शब्द 'कमेटी' को हटाकर 'परिषद' कर देने के लिए प्रस्ताव रक्खा गया। जो सर्वसम्मति से पारित हुआ। इस प्रकार इसका नाम 'काव्य कला संगीत परिषद्' रक्खा गया। इसी बैठक में 'उस्ताद' के स्थान पर 'गुरु' और 'खलीफा' के स्थान पर 'अध्यक्ष' प्रयोग करने की सिफारिश की गयी।

यह परिषद् परस्पर झगड़ों का निपटारा, दंगलों का संचालन आदि का कार्य करती है। परिषद् द्वारा समस्त अखाड़ों का सम्मिलित जलसा वर्ष में दो बार आयोजित किया जाता है।

डा० जगदीश चंद्र माथुर

साहित्यिकों का सामाजिक दायरा

आधुनिक भारतीय समाज के उच्च कहाने वाले वर्ग में हिन्दी साहित्य की चर्चा बहुत कम होती है। इस विषय में हिन्दी क्षेत्र की परिस्थिति बगाल, महाराष्ट्र और गुजरात से भिन्न है। बगाल का आभिजात्य वर्ग बगला साहित्य का नेतृत्व भी करता रहा है और उसे अपने जीवन का एक अभिन्न अंग भी मानता रहा है। हिन्दी क्षेत्रो में भारतेन्दु युग के बाद कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा हुई कि आभिजात्य वर्ग अपनी रुचियो और सस्कृति की परिणिति अंग्रेजी साहित्य और विचारधारा में ही पाने लगा। हिन्दी साहित्य के विकास अनुशीलन और दिशानिर्देशन का उत्तरदायित्व मुख्यत: निम्न मध्य वर्ग के ऊपर पड़ा। एक तरह से आधुनिक हिन्दी साहित्य को प्राणवान् और प्रगतिशील बनाने में इस निम्न मध्यवर्ग को इसी कारण आज़ादी मिल सकी और यही वजह है कि हिन्दी में प्रेमचद हुए, बगला अथवा अन्य किसी भारतीय भाषा में नही।

जहाँ एक तरफ हिन्दी साहित्य का विद्रोह और जनजीवन की धड़कन से सीधा सम्पर्क निम्न मध्य वर्ग की प्रेरणा से होता रहा, वहाँ दूसरी ओर समृद्ध और आभिजात्य वर्ग से बहिष्कृत होने के कारण उसकी परिधियाँ सकीर्ण होती चली गई। विश्वविद्यालयो, वकील बैरिस्टरो, शासक अधिकारियो इत्यादि की दृष्टि में हिन्दी साहित्य का पठन पाठन पण्डिताऊ लोगो अथवा लम्बे बालो वाले किशोर कवियो के काम की चीज बनकर रह गया। मनीषियो और विचारको ने भी मौलिक रूप से हिन्दी को अपने व्यक्तित्व और विचारधारा की अभिव्यक्ति के उपयुक्त नही समझा। धीरे-धीरे हिन्दी काव्य और कृतित्व की चर्चा भी उच्च मध्य वर्ग के बीच से उठ गई। साथ ही हिन्दी के लेखको ने भी इस परिस्थिति को शिरोधार्य किया और समझ लिया कि हिन्दी साहित्य तो उन्ही का विशेष क्षेत्र है। हिन्दी "साहित्यिक" नामक जीव विशेष का आविर्भाव हुआ। उसने इस परम्परा का प्रशस्त किया जिसके अन्तर्गत आज दिन हिन्दी साहित्य की रचना और उसके विषय में चर्चा का अविकल अधिकार "साहित्यिको" के हाथ में रहा है। एक दूसरे की मनोरुचि और सराहना की प्राप्ति के लिए लिखने लिखाने में ही साहित्यिक अपने को सार्थक पाने लगा। इस सकुचित दायरे के बाहर से यदि किसी ने हिन्दी साहित्य पर अपनी दृष्टि डाली तो वह अनधिकार चेष्टा मानी जाने लगी। हिन्दी साहित्य "साहित्यिको" की बपौती बनकर रह गया।

इस चित्र में निस्सन्देह अतिरंजना है, लेकिन मूलतः यह विवेचन गलत नहीं है। साहित्यिक अपने सकीर्ण क्षेत्र में अपने को सार्वभौम पाकर तुष्ट भले ही हो जाय, किन्तु उस सार्वभौमिकता में एक दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है। ऐसा लगता है कि समाज उसकी प्रतिभा को अंगीकार नहीं करता, उसकी प्रतिष्ठा नहीं करता। एक तरफ तो असख्य निरक्षर या विशाल समूह है जिसका सांस्कृतिक स्तर हिन्दी साहित्यिक के स्तर से बिलकुल भिन्न है और जिसकी वाणी और भाषा से आधुनिक हिन्दी साहित्यकार दिन प्रतिदिन दूर होता जा रहा है, और दूसरी ओर उच्च और उच्चमध्य वर्ग का छोटा किन्तु सशक्त और समर्थ समाज है जिसके हाथ में सत्ता है और जिसके विचार और वाणी देश का सचालन करते हैं, लेकिन जिसको हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति से कोई मतलब नहीं है।

दाव किसका है—इस बारे में अनेक रायें हो सकती हैं। लेकिन वस्तुस्थिति को पलटने की आवश्यकता है, —इसमें कोई सदेह नहीं। पहली बात तो यह है कि वर्तमान हिन्दी साहित्यकार को अधिकाधिक सख्या में पाठक चाहिए और पाठकों की वृद्धि तभी हो सकती है जब हम अपने कृतित्व और उसकी उपयोगिता का दायरा बढ़ायें। हमें पाठकों के लिए लिखना है, केवल मूर्द्धन्य विशेषज्ञों के लिए नहीं। हमें रसज्ञों की सख्या बढ़ानी है, उनकी परीक्षा नहीं लेनी है। हम पाठकों को मात देने के लिए शतरंज नहीं खेल रहे हैं, बल्कि उनके मनोरंजन और मानसिक विकास के साधन प्रस्तुत कर रहे हैं। इसलिए केवल इस कारण कि एक वर्ग विशेष हिन्दी साहित्य के प्रति अब तक उदासीन रहा है, हमारी ओर से भी उपेक्षा का पात्र नहीं होना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि जबतक साक्षरता के विस्तार के साथ-साथ असख्य ग्रामीण और मजदूर समाज का साहित्य से बुनियादी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो जाता है तबतक हिन्दी साहित्य को समाज के अभिजात्य वर्ग को अपने दायरे में लेने की विशेष आवश्यकता है। इस समय हम लोग न सर्वहारा की वाणी हैं और न समाज का दिशानिर्देशन करने वालों पर ही प्रभाव डाल सकते हैं। अंग्रेजी की सत्ता बढ़ती जा रही है और हिन्दी साहित्य दिन-प्रतिदिन विशेषज्ञों का क्षेत्र बनता जा रहा है। इस दीवार को जिसको बहुत-कुछ हम लोगों ने अपने आप ही बनाया है, निर्ममता से तोड़ने की आवश्यकता है। सृजनशील साहित्य को व्यापक अनुभव समृद्ध करता है और व्यापक अनुभव जनसाधारण के दिग्दर्शन से भी प्राप्त होता है और उन समुदायों के सूक्ष्म विवेचन से भी जो समाज के विचारों और व्यवहार का सूत्र सचालन करते हैं। दूसरे शब्दों में हिन्दी साहित्य जनसाधारण की भावनाओं से बाह्य एव अतर्जीवन का प्रतिबिम्ब तो बने ही, साथ ही समाज के सामयिक प्रवाह से भी दूर न छिटक जाय।

गिलबर्ट मरे यूनानी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। हाल ही में उनकी मृत्यु के बाद उनकी आत्मकथा के कुछ अश प्रकाशित हुए हैं। इस ग्रन्थ से जान पड़ता है कि ब्रिटेन में यूनानी साहित्य को विशेषज्ञों की बपौती न बनाकर समसामयिक सुसस्कृत व्यक्तित्व का एक अभिन्न अग बनाने में गिलबर्ट मरे का विशेष हाथ रहा था। आज दिन हमारे देश के बड़े नगरों में सुसस्कृत व्यक्तित्व के लिए हिन्दी साहित्य की जानकारी लेशमात्र

भी जरूरी नहीं समझी जाती। अफसरों के बीच में बैठिये, व्यवसाय और राजनीति के नेताओं के बीच में बैठिये, किंवा शिक्षा के दिग्गजों से बात कीजिये,—हर तरह की चर्चा होगी, नये ग्रन्थों, नये नाटकों, नये फिल्मों की, किन्तु हिन्दी साहित्य की नहीं। बंगाल में ऐसा नहीं है, और इसीलिए बंगला साहित्य अधिक व्यापक है, पुस्तकों और मासिक पत्रिकाओं की वहाँ अधिक बिक्री है, और कवियों, लेखकों, नाटककारों के नाम और उनके कृतित्व से समाज के विभिन्न अंग बहुत कुछ परिचित हैं। हिन्दी साहित्य के उज्ज्वल भविष्य के लिए हमारे साहित्यकार का अपना सामाजिक-जीवन थोड़ा बहुत बदलना होगा, अपनी झिझक मिटानी होगी, नयी प्रेरणा पाने के लिए विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से परिचय प्राप्त करना होगा और आत्म विश्वास तथा निर्विकार भाव से विचार विनिमय और पर्यवेक्षण करना होगा।

श्री विमल बोस

आगरा घराने की गायकी

'गायकी' शब्द की परिभाषा के सम्बन्ध में संगीतविदों में मतभेद है अतः भारतीय संगीत के किसी भी घराने (स्कूल) के वैशिष्ट्य की उपलब्धि उसी समय सम्भव है जब इस विवादास्पद शब्द का एक अर्थगत आधार प्राप्त हो।

भारतीय संगीत के आधुनिक योद्धा पण्डित विष्णुनारायण भातखंडे ने गायकी की परिभाषा देते हुए कहा है कि—"भातखंडे पद्धति से पाँच वर्ष तक संगीत शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् किसी खानदानी उस्ताद की शागिर्दी करने पर स्वतः ही कंठ में गायकी बैठ जाती है। स्वर्गीया इन्दिरा देवी चौधुरानी का कहना है कि—"रसपूर्ण गायकी में उत्तीर्ण होना ही गायक का प्रमुख लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सद्गुरु का मार्ग प्रदर्शन अभीष्ट है। अपनी साधना और क्षमता के स्वर लिपि के कंकाल में प्राणप्रतिष्ठा करना ही गायकी है।' प्रो० डी० पी० मुखर्जी कहते हैं कि—"गायक की स्वाधीनता उसके अपनत्व में है। स्वर और स्वर योजना में कोई साहित्यिक भाव अन्तर्निहित न होते हुये भी गायक के मन की गति, शिक्षा और संस्कृति गायक के कंठ में विराजमान है। जिसका दिग्दर्शन स्पष्ट रूप से हो जाता है।' भारतीय संगीत के अधिकारी समालोचक डा० अमियनाथ सान्याल गायकी शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं—"गान क्रिया के मध्य जो विशेष स्थितियाँ आने पर गायन का यथार्थ स्वरूप पूर्ण विकसित व उज्ज्वल हो उठता है, जिसके अभाव में गायन फीका और निरर्थक लगने लगता है, वे सारी स्थितियाँ समग्ररूप से गायकी शब्द द्वारा सूचित की जाती हैं।'

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई गायकी सम्बन्धी उपरोक्त परिभाषाओं में जो सामान्य समता है वह यह कि 'गायकी' को अर्थात् गुरु परंपरा से प्राप्त किसी चीज के स्थायी अन्तरे को आलाप, तान, बोल-तान, मींड-गमक, मुरकियाँ, खटके आदि सांगीतिक अलंकारों से सज्जित करने का ही दूसरा नाम गायकी है। गायकी का एक अर्थगत आधार परिभाषा-

१. कथा और सुर—डा० डी० पी० मुखर्जी—पृष्ठ ६०
२. विश्वभारती पत्रिका, प्रथम वर्ष, पृष्ठ २४४
३. कथा और सुर—डा० डी० पी० मुखर्जी, पृष्ठ १५
४. गान ओ गायकी—डा० अमियनाथ सान्याल

स्वरूप प्राप्त करने के उपरान्त आगरा घराने की उस ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि से भी अवगत होना पड़ेगा जिन परिस्थितियों में इस घराने की गायकी का निर्माण हुआ जो आगे चलकर इस युग के मूर्धन्य संगीतज्ञ उस्ताद फैयाज खाँ साहब के हाथों पुष्पित और पल्लवित भी हुआ।

आगरा घराने का सम्बन्ध मियाँ तानसेन से है। तानसेन के दामाद हाजी सुजान साहेब आगरा घराने के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। इन्हीं के खानदान में घग्घे खुदाबख्श नाम के एक संगीतज्ञ हुये जिनके सुपुत्र गुलाम अब्बास खाँ आगरा निवासी आफ़ताबे मूसीकी उस्ताद फैयाज खाँ साहब के नाना थे। सुजान साहेब से उस्ताद फैयाज खाँ तक अनेक चोटी के संगीतज्ञ आये जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती उस्तादों की धरोहर स्वरूप इस घराने को गायकी को दिया। भारतीय संगीत का यह दुर्भाग्य रहा कि उस समय तक ध्वनि-विज्ञान एवं ध्वनि सबंधित यन्त्रों का आविष्कार नहीं हो पाया था वरना आगरा घराने की गायकी का मूल्यांकन करते समय फैयाज खाँ एवं उनके समसामयिक संगीतज्ञों के रेकार्डों तक ही सीमित न रहना पड़ता। चूंकि पिछले चार सौ वर्ष के मुगल-कालीन संगीत को हमने फैयाज खाँ साहब के रेकार्डों के माध्यम से पाया है चूंकि फैयाज खाँ का जन्म आगरे में 'नई बस्ती' नामक मोहल्ले में हुआ था इस कारण ही इस घराने का नामकरण भी 'आगरा घराना' पड़ा।

गायकी की परिभाषा तथा इस घराने की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताने के उपरान्त आगरा घराने की गायकी के अन्तर्गत सर्वप्रथम दृष्टिकोण सम्बन्धी उस मौलिक प्रगतिशील तत्व की ओर संकेत करूँगा जो आगरा घराने को छोड़ संगीत के अन्य घरानों में दृष्टि-गोचर नहीं होता[1]।

भारतीय संगीत के इतिहास में ग्वालियर घराने की परम्परा भी अति प्राचीन मानी जाती है। कुछ विद्वान् ग्वालियर घराने की गायकी को ही क्लासिकल (रीतिबद्ध) संगीत की दृष्टि से शुद्ध और रीति-सम्मत मानते हैं। परन्तु समय के साथ साथ जैसे-जैसे राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन आता गया वैसे-वैसे भारतीय संगीत के श्रोताओं की भी रुचि बदलती गई। ग्वालियरी-ध्रुपद-संगीत के रीतिवादी बन्धन से पिंड छुड़ाकर श्रोतागण आगरा घराने के 'ख्याल' गायन में अधिक रुचि लेने लगे। 'ख्याल' का अर्थ है कल्पना अर्थात् इस घराने की गायकी में कल्पनातत्व की प्रधानता रही, फलस्वरूप इसे अपनी पूर्ववर्ती क्लासिकल रीतिबद्ध परम्परा का किंचित् विरोध करना पड़ा। भारतीय संगीत के क्लासिकल युग की मान्यताओं, अभिव्यक्ति के प्रकारादि के विरुद्ध आगरा घराने के संगीतज्ञों ने विशेषकर 'नई बस्ती' के फैयाज खाँ ने विद्रोह किया जो उनके संगीत में मुखर हो उठा। इस प्रसंग में फैयाज खाँ के निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—

"'राग' की अवतारणा करते समय एक सफल प्रेमी बनने की आवश्यकता है। प्रेमी जिस प्रकार अपनी प्रेमिका से छेड़छाड़, प्यार दुलार करता है ठीक उसी ढंग से

---

१. देखिये लेख 'उस्ताद फैयाज खाँ' पुस्तक 'म्यूजिशियन्स आई हैव मेट' पृष्ठ ६। ले० श्री एस० के० चौबे।

'राग' को भी बर्ता जाना चाहिए। हथौड़े की चोट जैसे स्वराघात, नीरस और शुष्क कंठ संचालन से राग के व्यक्तित्व को नष्ट नहीं करना चाहिए। किसी पहलवान की भांति 'राग' के साथ मल्लयुद्ध करने की आवश्यकता नहीं। जब तक गायक 'राग' को प्यार से गले न लगाएगा, जब तक वह इसे पुचकारेगा, दुलारेगा नहीं, तब तक वह विरह मिलन हास और अश्रु की मानवीय कहानी नहीं कह सकता।" कहने का तात्पर्य यह है कि गायकी के अन्तर्गत आगरा घराने का यह विद्रोह ठीक वैसा ही विद्रोह था जो आंग्ल साहित्य में 'लेक' आदि कवियों ने तथा हिन्दी साहित्य में छायावादी कवियों ने अपने पूर्ववर्ती युग के स्थूल आचारनिष्ठ और सुधारवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध किया। श्री जगन्नाथ वंद्योपाध्याय ने 'फैयाज द रोमाण्टिक' लेख में आगरा गायकी की इस अभिनव दृष्टि की पुष्टि में निम्नलिखित शब्द कहे हैं :—

"फैयाज खां के संगीत का मूल स्वर है उनकी रोमाण्टिकता। और इस रोमाण्टिकता के कारण इस घराने को 'रंगीला घराना' भी कहा जाता है। भारतीय संगीत में 'रोमाण्टिक विद्रोह' का श्रेय आगरा घराने का प्राप्त है। भविष्य के इतिहासकारों को यह मानना होगा।"

आगरा घराने के गायकी की आधारगत विशेषता के उपरान्त दूसरी क्रियात्मक विशेषता इसके आलापचारी का ढंग है जिसे इस घराने के संगीतज्ञ नोम् तोम् के नाम से पुकारते हैं। नोम् तोम् के प्रकार का यह ढंग प्राय: बिना ताल और बिना गीत के होता है एवं जो राग विशेष के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भावना और बुद्धि का समन्वय करने के उपरान्त विकसित करने में सहायक होता है। इस प्रकार के आलाप में स्वरविन्यास अति विलम्बित से अति द्रुत तक बढ़ता चलता है। राग विकास के प्रत्येक स्तर की पर, प्रत्येक आवर्तन के पश्चात् तबला अथवा पखावज की थाप पड़ती चलती है। स्थायी तथा अन्तरे के आलाप की परिसमाप्ति के पश्चात् ख्याल का प्रारम्भ होता है, परन्तु आलाप समाप्त नहीं हो जाता, ताल के साथ गीत को आरम्भ हो जाने पर भी आलाप चलता रहता है जिसे स्वरालाप कहते हैं। राग में प्रयुक्त प्रत्येक स्वर को रागभाव के अनुसार रससिंचित कर गाना आगरा घराने का कृतित्व है। राग दरबारी, पूरिया देसी तोड़ी, रामकली, यमनकल्याण, जयजयवती आदि के आलाप इस घराने की अमूल्य देन हैं।

फैयाज खां साहब के गाये 'काहे को झूठी बनाय बतियाँ' (भैरवी) अथवा 'मैं कर आई पिया संग रंगरलियाँ' (पूरिया) रेकार्डों के सुनने पर वास्तव में ऐसा अनुभव होने लगता है कि प्रेमिका अपने प्रिय से मिलकर आई हो जिसकी स्मृति में मिलन की आस और मिठास ही केवल अवशेष रही हो 'पइयाँ पड़ूंगी पलका न चढ़ूंगी' (जयजयवती) सुनकर ऐसा लगता है मानो कोई मानिनी राधा अभी तक अपने कृष्ण की भावनाओं को उकसाने की चंचलतापूर्ण प्रयत्नों में व्यस्त है। उत्तरी भारत में इस घराने की लोकप्रियता का कारण केवल इस संगीत में भावनाओं का प्रत्यक्ष मानवीकरण है जहाँ श्रोताओं की भावनायें मूर्त हो उठी हैं।

---

२. देखिये 'आल बंगाल म्यूजिक कान्फ्रेंस' (१९५३) सोविनियर पृष्ठ बी १९।

इस घराने की तीसरी विशेषता बोल तानों की सृष्टि में है। बोलतान तानों का एक प्रकार है जिसमें ख्याल के बोलों को लेकर तान रचना की जाती है। बोलतानों में बोल बनाने का काम बड़ी सतर्कतापूर्वक करना चाहिए अन्यथा रसभग होने का शत प्रतिशत सम्भावना बनी रहती है।'* एक उदाहरण देकर हम अपने कथन को अधिक स्पष्ट कर सकेंगे मान लीजिए हमें 'निस वासर हरि नाम उचार तू' वाक्यांश को इस ढंग से बोल बनाने हैं, थोड़ी देर के लिए बोल बनाने की बात को एक तरफ रखकर हम उपर्युक्त वाक्य को यों कह दें —

'नि सवा सरह रिना मउचा रतू'

तो समझना मुश्किल हो जायगा। अतः बोलतानों में चीज की तानों में इस खूबी से फिट करना चाहिए कि प्रत्येक शब्द का भाव और अर्थ स्पष्ट होता चला जाय। बोलतानों में सबसे महत्वपूर्ण बात यही होती है कि जिस वजन तथा जिस प्रकार से तानों में बोल का उठाव हो वही वजन और वही प्रकार अन्त तक एक सा चला जाय।' इस प्रकार आगरा घराने की गायकी में बोलतानों का जो विविध रूप और बौद्धिक सौंदर्य मिलता है वह इस घराने की निजी विशिष्टता है। बोलतानों के विपरीत जबड़ा और हलक की तानों में भी यह घराना अप्रतिद्वन्द्वी है। सरगम की तानों का प्रयोग इस घराने में नहीं होता।

इस घराने की चौथी और अन्तिम विशेषता लयकारी है 'लय' का अर्थ है गति अर्थात् गायन के समय गीत की गतिशीलता को अपने नियन्त्रण में जो जितना रख सकेगा वह गायक उतना ही लयकार माना जायगा। तान, आलाप, गीत और ताल इन चारों अंगों में पूर्ण सामञ्जस्य रखते हुए अधिकार के साथ गायन को ही लयकारी के दांव पेचों में उस्ताद फैयाज़ खाँ का नाम सदैव अमर रहेगा। लयकारी सम्बन्धित जानकारी में आगरा घराने के गायक जितनी चालें और रंग ढंग जानते हैं 'पटियाला घराने' को छोड़ शायद ही अन्य किसी घराने में यह विशेषता मिलेगी।

उपसंहार में मैं यह कहूँगा कि गायकी से सम्बन्धित विशेषताओं का पता प्रत्यक्ष अवलोकन इस घराने के उपलब्ध रेकार्डों एवं संगीतज्ञों को सुनने के उपरान्त ही लग सकता है क्योंकि संगीतकला मूलत श्रवणाश्रयी है।

---

* देखिए 'संगीत अर्चना'।
लेखक डा० बी० एन० भट्ट पृष्ठ ३५।

खण्ड ३

रचनामृत

इस घराने की तीसरी विशेषता बोल तानों की सृष्टि में है। बोलतान तानों का एक प्रकार है जिसमें स्थान के बोलों को लेकर तान रचना की जाती है। बोलतानों में बोल बनाने का काम बड़ी सार्थकतापूर्वक करना चाहिए अन्यथा रसभंग होने की शत प्रतिशत सम्भावना बनी रहती है।'* एक उदाहरण देकर हम अपने कथन को अधिक स्पष्ट कर सकेंगे मान लीजिए हमें 'निस बासर हरि नाम उचार तू' वाली भी इस चीज के बोल बनाने हैं, थोड़ी देर के लिए बोल बनाने की बात को एक तरफ रखकर हम उपर्युक्त वाक्य को यों कह दें:—

'नि सबा सरह रिना मउचा रतू'

तो समझना मुश्किल हो जायगा। अतः बोलतानों में चीज को तानों में इस खूबी से फिट करना चाहिए कि प्रत्येक शब्द का भाव और अर्थ स्पष्ट होता चला जाय। बोलतानों में सबसे महत्वपूर्ण बात यही होती है कि जिस वजन तथा जिस प्रकार से तानों में बोल का उठाव हो, वही वजन और वही प्रकार अन्त तक एक सा चला जाय।' इस प्रकार आगरा घराने की गायकी में बोलतानों का जो विविध रूप और बौद्धिक सौंदर्य मिलता है वह इस घराने की निजी विशिष्टता है। बोलतानों के विपरीत जबड़ा और हलक की तानों में भी यह घराना अप्रतिद्वन्द्वी है। सरगम की तानों का प्रयोग इस घराने में नहीं होता।

इस घराने की चौथी और अन्तिम विशेषता लयकारी है 'लय' का अर्थ है गति अर्थात् गायन के समय गीत की गतिशीलता को अपने नियन्त्रण में जो जितना रख सकेगा वह गायक उतना ही लयकार माना जायगा। तान, आलाप, गीत और ताल इन चारों अंगों में पूर्ण सामंजस्य रखते हुए अधिकार के साथ गायन को हो लयकारी के दांव पेचों में उस्ताद फैयाज खाँ का नाम सदैव अमर रहेगा। लयकारी सम्बन्धित जानकारी में आगरा घराने के गायक जितनी चालें और रंग ढंग जानते हैं 'पटियाला घराने' को छोड़ शायद ही अन्य किसी घराने में यह विशेषता मिलेगी।

उपसंहार में मै यह कहूँगा कि गायकी से सम्बन्धित विशेषताओं का पता प्रत्यक्ष अवलोकन इस घराने के उपलब्ध रेकार्डों एवं संगीतज्ञों को सुनने के उपरान्त ही लग सकता है क्योंकि संगीतकला मूलतः श्रवणाश्रयी है।

---

* देखिए 'संगीत अर्चना'।
लेखक डा० बी० एन० भट्ट पृष्ठ ३५।

खण्ड २

रचनामृत

वासुदवशरण अग्रवाल

विश्वकर्मा

समस्त विश्व जिसका कर्म है, यह विराट् जगत् जिसकी रचना है, उस देवाधिदेव के लिए वेदो में विश्वकर्मा यह सुन्दर सज्ञा प्रयुक्त हुई है। काव्य, सगीत, कला, नृत्य, चित्र, शिल्प, वास्तु आदि समस्त सास्कृतिक अभिव्यक्ति का जो एक मात्र छदोमय स्रोत है वही विश्वकर्मा का विधान है। विश्वकर्मा को ऋग्वेद में परमा सदृक् कहा गया है। सदर्शन का जो परम रमणीय रूप है उसका प्रवर्तक विश्वकर्मा है। रूप दो प्रकार के हैं—मानव और चाक्षुष। समस्त रूप पहले मन में जन्म लेते हैं अथवा चित्त में चित्रित होते हैं, और फिर तदनुसार वे भूतो के मूर्त धरातल पर उतरते हैं। विश्वकर्मा की रचना में मूर्त और अमूर्त दोनो रूपो का विधान पाया जाता है। जहाँ एक ओर शब्दमयी वाक् उसकी सृष्टि है वही दूसरी ओर मौन या तूष्णीम् भी उसी का रूप है। जहाँ एक ओर अनेक वर्णो की चित्र विचित्र व्यजना विश्वकर्मा की कृति है वही दूसरी ओर सब वर्णो की समष्टि या जिसे उपनिषदो में अवर्ण सृष्टि कहा है उसी का रूप है।

वैदिक भाषा में दृश्य जगत् को "इद सवम" कहते हैं। "इद सर्वम" विश्व में नाम और रूपो की अनन्त कृतियाँ हैं जिन्हें हम मन और इन्द्रियो से जानते हैं। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है और जानने योग्य है उस सबका पूर्व अस्तित्व विश्वकर्मा में विद्यमान था। कहा है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता न ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमान प्रथमच्छदवराँ आ विवेश ।।

(ऋक् १०।८१।१)

विश्वकर्मा सबका पिता है। वह सर्वप्रथम है। वह सारे विश्व को आशीर्वाद से सींचता है और फलस्वरूप वहाँ समस्त रत्नो की सृष्टि होती है। विश्वकर्मा का सूत्र सब में पिरोया हुआ है। उसने इस विश्व यज्ञ में जो आहुति किसी पूर्व युग में डाली थी उस आहुति में सब रूप सब गति और सब वर्णो का सन्निवेश था। विश्वकर्मा इस सृष्टि का ऋषि है। जो तत्त्व कर्म को करते हुए असग या निर्लिप्त रहता है उसे ऋषि कहते हैं। प्रत्येक कर्म में विश्वकर्मा की स्थिति इसी प्रकार की है। विश्वकर्मा इस विश्व यज्ञ का होता है। होता वह शक्ति है जो निरतर आहुति का विधान करती है।

वासुदेवशरण अग्रवाल

विश्वकर्मा

समस्त विश्व जिसका कर्म है, यह विराट् जगत् जिसकी रचना है, उस देवाधिदेव के लिए वेदों में विश्वकर्मा यह सुन्दर संज्ञा प्रयुक्त हुई है। काव्य, संगीत, कला, नृत्य, चित्र, शिल्प, वास्तु आदि समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का जो एक मात्र छंदोमय स्रोत है वही विश्वकर्मा का विधान है। विश्वकर्मा को ऋग्वेद में परमा संदृक् कहा गया है। संदर्शन या जो परम रमणीय रूप है उसका प्रवर्तक विश्वकर्मा है। रूप दो प्रकार के हैं—मानव और चाक्षुष। समस्त रूप पहले मन में जन्म लेते हैं अथवा चित्त में चित्रित होते हैं, और फिर तदनुसार वे भूतों के मूर्त धरातल पर उतरते हैं। विश्वकर्मा की रचना में मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का विधान पाया जाता है। जहाँ एक ओर शब्दमयी वाक् उसकी सृष्टि है वहीं दूसरी ओर मौन या तूष्णीम् भी उसी का रूप है। जहाँ एक ओर अनेक वर्णों की चित्र-विचित्र व्यंजना विश्वकर्मा की कृति है वहीं दूसरी ओर सब वर्णों की समष्टि या जिसे उपनिषदों में अवर्ण सृष्टि कहा है उसी का रूप है।

वैदिक भाषा में दृश्य जगत् को "इदं सर्वम्" कहते हैं। "इदं सर्वम" विश्व में नाम और रूपों की अनन्त कृतियाँ हैं जिन्हें हम मन और इन्द्रियों से जानते हैं। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है और जानने योग्य है उस सबका पूर्व अस्तित्व विश्वकर्मा में विद्यमान था। कहा है—

> य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
> स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आ विवेश॥
>
> (ऋक् १०।८१।१)

विश्वकर्मा सबका पिता है। वह सर्वप्रथम है। वह सारे विश्व को आशीर्वाद [illegible] है और फलस्वरूप वहीं समस्त रत्नों की सृष्टि होती है। विश्वकर्मा [illegible] आहुति हुआ है। उसने इस विश्व यज्ञ में जो आहुति किसी पूर्व युग में [illegible] का ऋषि में सब रूप सब गति और सब वर्णों का सन्निवेश था। [illegible] कहते हैं। प्रत्येक है। जो तत्त्व कर्म को करते हुए असंग या निर्लिप्त रहता है [illegible] यज्ञ का होता कर्म में विश्वकर्मा की स्थिति इसी प्रकार की है। विश्वकर्मा [illegible] है। होता वह शक्ति है जो निरंतर आहुति का विधान करती है।

इस विश्व में जितने भी यज्ञ हैं उनके दो रूप हैं एक व्यष्टि और दूसरा समष्टि। व्यष्टि रूप सान्त और सीमित होता है। समष्टि रूप अनन्त, असीम और अमृत की सत्ता है, यही विश्वकर्मा का भागधेय है। पुराणों में जिसे दक्ष यज्ञ या विध्वंस कहा गया है वह व्यष्टि या एक व्यक्ति का यज्ञ है। इस यज्ञ में जब शिव और उनकी महती शक्ति सती को भाग नहीं मिलता तब यह यज्ञ खंडित हो जाता है। शिव समष्टिगत सत्ता हैं। यही विश्वकर्मा हैं।

यज्ञ के अखंड अमृत भाव के लिए समष्टि की आराधना निरंतर आवश्यक है। कलात्मक जीवन का यही रहस्य है। एक श्वास जो भीतर जाती है क्षण भर में व्याकुल होकर विराट् के साथ मिलने के लिए फिर बाहर आती है और आकाश में भरे हुए अमृत प्राण का पान करके फिर लौटती है। यही अमृत और मृत्यु का समष्टि और व्यष्टि का अनन्त और सान्त का प्रेङ्ख या झूला है जिस पर हम सब चढ़े हुए गति का अनुभव कर रहे हैं। इसमें जो अमृतमय समष्टि रूप है वह जीवन के लिए पदे-पदे आवश्यक है। जितनी मूर्त और सरूप सत्ता की अभिव्यक्ति है सबके मूल में विश्वकर्मा का अरूप या परम रूप विद्यमान है। विष्णु सहस्रनाम के शब्दों में भगवान् विष्णु ही विश्वकर्मा हैं। सब रूप उन्हीं में लीन हैं और उन्हीं की प्रेरणा से व्यक्त होते हैं। रूप को ही लक्ष्य कहते हैं। जहाँ रूप या लक्ष्य है वहीं देवी लक्ष्मी का अस्तित्व है। विष्णु और लक्ष्मी एक दूसरे के बिना नहीं रहते। इनका सतत साहचर्य है। यही देव और देवी का सहयुक्त रूप है। भगवान् विष्णु के दो रूप इस प्रकार हैं—

> तच्चविष्णोः परमरूपमरूपाख्यमनुत्तमम्,
> विश्वस्वरूप वै रूपलक्षण परमात्मन।
>
> (विष्णु पुराण ६।७।५४)

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में प्रजापति के अमूर्त और मूर्त, अनिरुक्त और निरुक्त, परोक्ष और प्रत्यक्ष दो रूप कहे गए हैं, ऐसे ही विष्णु के दो रूप हैं। उनका जो अरूप या अव्यक्त रूप है उसकी संज्ञा परम रूप है। यह विश्व-रचना से पूर्व की स्थिति है। विष्णु का जो दूसरा विश्व में आया हुआ रूप है उसे रूप-लक्षण कहा गया है। रूप ही उसकी सत्ता का लक्षण या प्रमाण है, इन्द्रियों से परिगृहीत होने वाले रूप ही उसके चिन्ह हैं। प्रत्येक कलाकार के लिए आवश्यक है कि विष्णु के दोनों स्वरूपों की उपासना करें। जिसे विविध रूपों के निर्माण में रुचि है उसे ध्यानस्थ होकर विष्णु के अरूप या पर रूप का भी चिंतन करना चाहिए।

विविध प्रकार की छन्दित गतियों की संज्ञा नृत्य है। नृत्य की सम्यक् आराधना के लिए गति के मूल में जो स्थिति तत्त्व है उसकी भी भावना आवश्यक है। वस्तुतः जिसे हम ब्रह्मसूत्र कहते हैं उसी की ऊर्ध्व अविचाली स्थिति की परिक्रमा से नृत्य और अभिनय की गतियों का जन्म होता है। नृत्यरूपी गति के मूल में स्थिति की प्रतिष्ठा है। गति के मूल में तूष्णीम् की सत्ता है। वर्णों के मूल में अवर्ण है। नानारूप या वैरूप्य के मूल में अरूप या पररूप है

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । (ऋक् ६।४७। १८)

विश्व में जितने रूप हैं वे सब किसी मूल रूप के अनुसार उत्पन्न हुए हैं। वह नमूना सब का प्रतिरूप है। उसे तत् या तथा कहते हैं। उस "तत्" के अनुसार ही यह विश्व या "एतत्" अस्तित्व में आ रहा है। इसी का नियामक सूत्र है—

एतद् वै तत् ।

यह व्यक्त विश्व उस अव्यक्त प्रजापति के अखंड या समष्टिगत मूल रूप के अनुसार है। इसी का दूसरा समीकरण यों समझना चाहिए—यथा=तथा 'यथा या जैसा' यह संकेत इस दृश्य स्थूल विश्व के लिए है। "तथा या वैसा" यह संकेत उस मूल अव्यक्त कारण के लिए है जहाँ से यह व्यक्त विश्व प्रकट होता है। जिसे अव्यक्त कहते हैं वही विष्णु का परमरूप है। वही बीज या रेत है जो व्यक्त सृष्टि का हेतु है। प्रजापति के द्वारा समस्त अर्थों या मूलों की रचना "यथा=तथा" इसी नियम के अनुसार हुई है और हो रही है। इसे ही ईश उपनिषद में विज्ञान सम्मत शब्दों में इस प्रकार कहा है—

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

विश्वकर्मा की सृष्टि देवशिल्प है। वह रचना देश और काल में अभिव्यक्त होते हुए भी शाश्वत है। काल का परिवर्तन उसके नित्य रूप में बाधा नहीं डालता। देव-शिल्प का रूप-रंग आकृति, गति, लय और स्पदन सदा-सदा के लिए समान है। उसकी एकरसता काल से कुंठित नहीं होती। जहाँ देश और कालकृत कुण्ठा नहीं, वहीं आनन्द की भूमिका है। प्रत्येक कलाकार को उस धरातल का पुनः पुन. दर्शन करना चाहिए। प्रत्येक रसिक या सहृदय के लिए विष्णु के उस वैकुण्ठ अमृत धाम का दर्शन अनिवार्यतः आवश्यक है, जिससे उसके हृदय में रस का स्रोत सदा हरा-भरा बना रहे।

इसे वेदों में विष्णु का परम उत्स कहा गया है जिसके जल में अमृत या मधु क मिठास है। जो रसिक केवल बाहरी रूपों में आनन्द पाना चाहता है उसकी कलाग उपासना अधूरी है। कला में जो व्यक्त माधुरी है उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं। वह तं मानस के उसी उत्स या स्रोत से जन्म लेती है जो एक ओर कलाकार के और दूसरं ओर सहृदय के अन्तःकरण में विद्यमान है। यदि हमें उस आभ्यंतर स्वाद का आनन्द नहीं मिला तो कस्तूरिया हिरन के समान बाहरी स्वाद में भटकने से भी मन को शान्ति नहीं मिलती।

भारतीय कला के निर्माताओं ने इस तथ्य पर पर्याप्त बल दिया है। समस्त कला कृतियों का जन्म कलाकार के ध्यान और चिन्तन की शक्ति से होता है। कला में जो श्रेयोरूप या कल्याण है उसका हेतु शिव की समाधि, विष्णु की वरद शान्ति और बुद्ध का अनुत्तर ज्ञान या संबोधि है। वही तीर्थंकर की अविचल ज्ञान निष्ठा और देवों का देवत्व है। इन्हीं की सत्ता से कला में अमृत रस का झरना झरता है। इन्हीं से जीवन में आनन्द और आशा उत्साह और प्रेरणा का जन्म होता है। इन्हें प्राप्त करके मनुष्य अंधकार, निराशा और मृत्यु के पाशों से बचता या उन्हें जीतता है।

जिस वस्तु का हमें ज्ञान होता है अथवा जिसकी रचना की जाती है उस सबको मूर्ति कहते हैं। मूर्ति का ध्यान हमारे मन के लिए आवश्यक है। बिना मूर्ति के मन क्षण भर भी रिक्त नहीं रहता। यह मूर्त विश्व ही तो कला का क्षेत्र है। चित्त में अंकित मूर्ति को चित्र कहते हैं। चित्रकार या शिल्पी के मन में जो मानसी सृष्टि होती है उसमें ही शिल्प और चित्र का जन्म होता है। जो कुछ यहाँ है वह सब विष्णु का मूर्त रूप है (मूर्तमेतद् हरेः रूपम्)। सूर्य और चन्द्र, नक्षत्र और ग्रह, मनुष्य और पशु, पर्वत, नदियाँ, और समुद्र, वृक्ष और वनस्पति, जड़ और चेतन जितना भी कला का विषय है, कलाकार के लिए सबकी आराधना मन के द्वारा आवश्यक है। प्रत्येक का रूप कलाकार पहले अपने मन में उतारता है और फिर भौतिक माध्यम में उसे ढालता है। यही कला की विशेषता है। सच्ची कला कभी भी फोटो जैसी अनुकृति नहीं बन सकती। कला का मूर्त रूप तो एक प्रतीक या संकेत मात्र है। वह हमें उस अव्यक्त रूप तक ले जाता है जो देश और काल की परिधि में विजड़ित नहीं होता, जो अमृत है, जो रसवान है।

भारतीय कला की यही शैली और परिभाषा है। इन्द्रिय ग्राह्य कला कला-अर्चना का अवर रूप है। मानस प्रत्यक्ष ही कला का पर रूप है। जो धीर या बुद्धिमान् है वह स्थूल रूप में रमण नहीं करता, चाहे वह कितना ही सुन्दर हो। धीर व्यक्ति विमना या उच्च मन वाला होता है। विशिष्ट मन का तात्पर्य उस प्रज्ञा से है जिसे प्राप्त करके इन्द्रियाँ मूर्त रूप की अनुगामिनी नहीं बनती। धीर पुरुष के लिये प्रत्येक रूप विश्वकर्मा के महनीय कर्म*को एक रश्मि बन जाता है। यही विश्वकर्मा प्रजापति का विश्व में आभास या प्रतिबिम्ब है। स्थूल रूपों के मूल में जो इस आभास को देखता है वह स्थूल से मोहित नहीं होता। उसके लिए विश्वकर्मा का सौन्दर्य ही सुन्दरता का हेतु है। वही सबके पीछे छिपा हुआ निदान है। वही प्रत्येक रूप लक्ष्मी को जन्म देने वाला सुधा-समुद्र है।

मूर्ति की पूजा भी एक कला है। विषय की परिधि में मूर्ति को खींच लाना उसकी प्रतिष्ठा की हानि है। जैसा विष्णु पुराण में कहा है (विष्णु० ६।७। ७५-९५)—आरम्भ में विष्णु के भिन्न-भिन्न मूर्त रूपों का ध्यान करना चाहिए और मूर्ति के दर्शन से अपने मन को दृढ़ या शक्ति सम्पन्न करना चाहिए। यही मूर्ति की आराधना का लाभ और फल है। योग के शब्दों में यही धारणा है। जो इस प्रकार की साधना में सफल हो उसे फिर स्थूल रूपों से मानसिक भावों की ओर जाना चाहिए। शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि बाह्य अंगों से ऊपर उठकर उसे विष्णु के प्रशान्त रूप का ध्यान करना चाहिए। यही भगवान् का शान्तानन्द है। शान्ति ही आराधना का लक्ष्य है। भिन्न मूर्त रूपों को पीछे छोड़ देने से हमारा मन उस भूमिका में चला जाता है जो भगवान् का एकावयव या एक अखण्ड समष्टिगत रूप है। यही ध्यान की अवस्था है। अन्त में ध्यान करने वाला उस स्थिति को प्राप्त करता है जो योग की सबसे ऊँची भूमिका है और जिसमें ध्याता और ध्येय दोनों एक हो जाते हैं। वहाँ ध्यान करने वाला अपने ध्येय के स्वरूप में लीन हो जाता है। यही विष्णु का परम रूप है। इसे प्राप्त कर लेने वाला योगी समाधि का

अनुभव करता है। इस प्रकार मूर्ति उपासना का लक्ष्य वही है जो योग साधना में योगी का है—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्य समाधिः सोऽभिधीयते॥
(विष्णु० ६।७।९२)

भारतीय कला में मूर्त रूप का पर्याप्त गौरव है। चित्र, शिल्प, नृत्य, संगीत सबके रूपों में सौन्दर्य और सरसता का आवाहन आवश्यक है। किन्तु प्रत्येक कला की रचना शास्त्रानुमोदित होनी चाहिए। कला का मूल शास्त्र है। कला व्यक्ति की रचना है। शास्त्र उसके समष्टिगत रूप का विधान है। शास्त्र कला का प्रतिपक्षी नहीं, उसका सहयोगी है। जैसे कला के निर्माण के लिए, वैसे ही कला के परिज्ञान के लिए भी शास्त्र आवश्यक है। शास्त्र-समष्टि की संज्ञा वेद है। वेद सब कलाओं का मूल आधार है। जो मन से कला रूपों को निश्चित करते हैं उनके ध्यान की शक्ति उस मन्त्र के बल से युक्त है जिससे वेद के स्वरूप का निर्माण होता है। जो मन से सृष्टि करता है वह ऋषि है। मनन से मन्त्र का जन्म होता है। मनन की शक्ति ही मन्त्रद्रष्टा की शक्ति है। शिल्पी पहले मन से सृष्टि करता है और फिर स्थूल प्रतीकों द्वारा उसे मूर्त रूप देता है। मन के ध्यान से हम जिस मन्त्र की रचना करते हैं वही देवता का स्वरूप है। भूत और भविष्य के जितने देवता हैं वे सब विश्वकर्मा के रूप हैं। देवों के अनेक नाम हैं पर सबका मूल एक है—

यो देवाना नामधा एक एव।　　(ऋ० १०।८२।३)।

विश्वकर्मा एक है। वही देवों को भिन्न-भिन्न नाम देता है। भिन्न नाम ही रूपों के भेद उत्पन्न करते हैं। ऋग्वेद में विश्वकर्मा को साधुकर्मा कहा गया है। वह विश्वशम्भू या विश्व का कल्याणकर्त्ता है। (विश्वशम्भू र वसे साधुकर्मा, (ऋ० १०।८१।७))। जिसने इन सबको उत्पन्न किया है कौन उसे आज तक जान पाया है? वह एक संप्रश्न या पहेला है। विश्व की कला के समस्त रूप एवं ध्यान करने वालों के समस्त चिंतन उस प्रश्न का उत्तर ढूंढ रहे हैं। पर उसे ढकने वाला नीहार या कुहासा हटता नहीं। वह सबके भीतर है, वह अजन्मा और एक है। उसी की आराधना समस्त कलाओं का लक्ष्य है। उसके परिचय के लिए कलाओं की विभिन्न स्थितियाँ आवश्यक हैं। उस अरूप को विश्व रूप में ही पहचानना होगा। विश्व में अनुप्रविष्ट उसका विश्वचर रूप ही सरस और सुन्दर है। प्रजापति, विश्वकर्मा या भगवान् विष्णु जिस कला में विद्यमान हैं वही सच्ची कला है। उसी की आराधना कल्याण करती है। उसी की उपासना से आनन्द प्राप्त होता है।

डा० कामिल बुल्के, एस० जे०

पुरुषाद सौदास

(१) सौदास की कथा का विकास अत्यन्त रोचक है। इसका मूल स्रोत ऋग्वेद में विद्यमान है। किन्तु बाद में इस कथा पर बौद्ध संसार में सुप्रसिद्ध सुतसोम जातक का प्रभाव पड़ा। अतः वैदिक साहित्य की तत्संबंधी सामग्री प्रस्तुत करने के पश्चात् इस निबंध के पूर्वार्द्ध में सुतसोम की कथा के विकास की रूपरेखा अंकित की जायगी। उत्तरार्द्ध में पहले महाभारत, रामायण तथा पुराणों में सौदास विषयक सामग्री का सिंहावलोकन किया जायगा तथा इसके बाद सौदास की कथा पर आधारित अन्य तीन वृत्तान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा। हिन्दी पाठकों के लिये सौदासीय कथा के विकास का अंतिम सोपान विशेष महत्व रखता है क्योंकि वह प्रताप भानु की कथा ही है जिसे गोस्वामी तुलसीदास ने रामावतार का कारण माना है।

(२) ऋग्वेद में एक सुदास नामक राजा की कथा मिलती है। विश्वामित्र उनके पुरोहित थे[1], किन्तु सुदास ने बाद में विश्वामित्र के स्थान पर मुख्य कुल पुरोहित के रूप में वसिष्ठ को नियुक्त किया था[2]। एक ही राजा के इन दोनों पुरोहितों में प्रधानता के लिये वैर उत्पन्न होना सहज स्वाभाविक था; महाभारत में इसके विषय में लिखा है—याज्यनिमित्तं तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः॥ वैरमासीत······(आदिपर्व, १६६, ११)। इस वैर का प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुत से स्थलों पर विवरण दिया गया है; प्रस्तुत निबंध में केवल सुदास अथवा सौदास विषयक सामग्री का ध्यान रखा जा सकता है[3]। ब्राह्मण साहित्य में सौदासों द्वारा वसिष्ठ के पुत्र का वध[4] तथा यज्ञ के प्रभाव से वसिष्ठ

---

१. देखो ऋग्वेद ३, ३३, ३, ३, ५३, ९—११।

२. देखो ऋग्वेद ७, १७। वसिष्ठ की सहायता से सुदास दाशराज्ञ युद्ध में विजयी हुआ था (दे० ऋग्वेद ७, ३३)।

३. विश्वामित्र द्वारा वसिष्ठ की कामधेनु का हरण इस वैर का प्रसिद्ध उदाहरण है; दे० रामायण १, सर्ग ५१-५७ और महाभारत १, १६५। महाभारत के एक अन्य स्थल पर दोनों का होड़ लगाकर तप करने की कथा भी मिलती है (दे० शल्य पर्व-अध्याय ४२, गीता प्रेस संस्करण)।

४. टीकाकारों के अनुसार यह हत्याकाण्ड विश्वामित्र की प्रेरणा से घटित हुआ था; दे० षड्गुरुशिष्य ७, ३२।

को पुनः संतति प्राप्ति और सौदासों पर वसिष्ठ की विजय उल्लिखित है[5]। वसिष्ठ की विजय का क्या रूप था इसका स्पष्टीकरण ब्राह्मण साहित्य में नहीं मिलता किन्तु परवर्ती साहित्य में सुदास को ही विश्वामित्र-वसिष्ठ की पारस्परिक शत्रुता का शिकार बनाया गया है। बृहद्देवता (अध्याय ६) में माना गया है कि अपने सौ पुत्रों के वध के कारण वसिष्ठ ने सुदास को राक्षस बन जाने का शाप दिया था—

> हते पुत्र शते तस्मिन् वसिष्ठो दुःखितस्तदा।
> रक्षोभूतेन शापात्तु सुदासेनेति वै श्रुतिः ॥३४॥

(ख) सुतसोम की कथा

(१) सुतसोम की कथा समस्त बौद्ध संसार में व्याप्त है। पाली तथा संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त इस कथा के कई रूप चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। तिब्बत तथा हिन्देशिया में भी सुतसोम की कथा पाई जाती है।

डॉ वातानावे के अनुसार[6] सुतसोम की कथा के विकास की रूपरेखा स्पष्ट है। उनका विचार है कि प्राचीनतम संयुक्तावदान में सुरक्षित किसी सत्यसंध राजा की कथा इसका मूल रूप है (दे० नीचे/अनु० ४)। इस अवदान का तीसरी शताब्दी ई० में संस्कृत से चीनी में अनुवाद हुआ था। जब तक मूल संस्कृत के रचना काल का पता नहीं चलता इस अवदान को सुतसोम की कथा का मूल स्रोत घोषित करना वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि यह भी संभव प्रतीत होता है कि संयुक्तावदान की कथा सुतसोम जातक के किसी प्राचीन रूप पर निर्भर है[7]।

फिर भी यहाँ पर सुतसोम जातक का यह सरल रूप अथवा इसका मूलस्रोत सबसे पहले रखा गया है। इसके बाद सुतसोम जातक के विभिन्न रूप प्रस्तुत किये गये हैं। संयुक्तावदान में सत्यवादिता का ही महत्व दिखलाया गया था, सुतसोम जातक में सुतसोम की सत्यसंधता के साथ-साथ कल्माषपाद के मांसाहार की बुराई का भी प्रतिपादन हुआ है। इस कथा के विकास का तीसरा सोपान हमें जातकमाला आदि रचनाओं में मिलता है, जिनमें मांसाहारी कल्माषपाद तथा सौदास दोनों को अभिन्न माना गया है। दसमूकावदान की कथा में महाभारत का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है क्योंकि इसमें सौदास को

५. तैत्तिरीय संहिता ७, ४, ७, १; कौषीतकी ब्रा० ४, ८; जैमिनीय ब्रा० २, ३९०; पंचविंश ब्रा० ४, ७, ३। जैमिनीय ब्राह्मण में वसिष्ठ के पुत्र का नाम (महाभारत की कथा के अनुसार) शक्ति माना गया है।

६. चीनी तथा तिब्बती साहित्य में सुरक्षित सुतसोम जातक-विषयक सामग्री के लिये प्रस्तुत लेखक, डॉ० डब्लू वातानावे के विस्तृत निबंध पर निर्भर रहा है—दि स्टोरी आव कल्माषपाद, दे० जर्नलटेक्स्ट आव पाली सोसाइटी, १९०९, पृ० २३६–३०५।

७. किसी प्राचीन कथा को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने के और उदाहरण बौद्ध साहित्य में विद्यमान हैं; उदाहरणार्थ दशरथ जातक (पाली जातकम् ४६१), अनामकं जातकम् (दे० रामकथा, द्वितीय संस्करण, अनु० ५२), दशरथ कथानम (वही, अनु० ५३)।

शापवश पुरुषाद बनना पड़ा। इस प्रकार सुतसोम की कथा के चार सोपान माने जा सकते हैं—(अ) सत्यसंध राजा और राक्षस, (आ) सुतसोम और कल्मापपाद, (इ) सुतसोम और (सिंह)सौदास, (ई) अभिशप्त सिंह-सौदास और सुतसोम।

(अ) सत्यसंध राजा और राक्षस

(४) सयुक्तावदान के दो अनुवाद चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। प्राचीनतम अनुवाद सन २५१ ई० में हुआ था। इसमें किसी अनाम सत्यसंध राजा के विषय में निम्नलिखित कथा मिलती है—

"एक राजा किसी दिन मृगया के लिये प्रस्थान कर रहा था कि एक ब्राह्मण ने पास आकर उससे भिक्षा माँगी। राजा ने लौटने पर दान देने की प्रतिज्ञा की और चला गया। मृगया खेलते खेलते वह अपने साथियों से अलग हो कर किसी राक्षस के हाथ पड़ गया। राक्षस ने उसे खाना चाहा किन्तु राजा ने निवेदन किया कि वह पहले जाकर ब्राह्मण के प्रति अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहता है और बाद में राक्षस का शिकार बनने के लिए लौटेगा। राक्षस से अनुमति मिलने पर राजा चला गया, ब्राह्मण को दान दिया तथा अपने उत्तराधिकारी को राज्य सौंपकर फिर राक्षस के सामने उपस्थित हुआ। राक्षस इस सत्यसंधता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने राजा को खाने का इरादा छोड़ दिया।

इस कथा के और दो रूप चीनी बौद्ध साहित्य में सुरक्षित हैं। कनिष्क के समकालीन संघरक्षकृत संघरक्षसमुच्चय का संस्कृत से चीनी में अनुवाद ३८४ ई० में हुआ था। इसमें उपर्युक्त कथा भी मिलती है किन्तु सुतसोम तथा कल्मापपाद दोनों के नाम भी दिए गए हैं। नागार्जुनकृत (२ री श० ई०) महाप्रज्ञापारमिता शास्त्र का चीनी अनुवाद ४०५ ई० में हुआ था। इसमें उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त ९९ राजकुमारों की भी चर्चा है, जिन्हें कल्मापपाद ने कैद किया था। सुतसोम जातक में भी इन राजाओं का उल्लेख है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्यसंध राजा की कथा के तीनों रूप वास्तव में सुतसोमजातक का संक्षेप प्रस्तुत करते हैं।

(आ) सुतसोम और कल्मापपाद

(५) बोधिसत्व सुतसोम की सर्वाधिक विस्तृत कथा महासुतसोमजातक (पालि-जातक न० ५३७) में मिलती है। इसका गद्यांश अपेक्षाकृत अर्वाचीन है किन्तु इसकी पालीगाथाओं की प्राचीनता असंदिग्ध है। अतः यहाँ पर सर्वप्रथम पाली महासुतसोम-जातक का सारांश दिया जायगा। अनन्तर चीनी भाषा में सुरक्षित सुतसोम जातक के कम विकसित रूपों का परिचय दिया जायगा और अन्त में इस कथा से सम्बन्ध रखने वाले दो अन्य वृत्तांत भी प्रस्तुत किये जायेंगे, वे हैं (१) जयद्दिस जातक तथा (२) महाभारत में सुरक्षित सत्यसंध उत्तंक का प्रसंग।

(६) महासुतसोमजातक के अनुसार सुतसोम इन्द्रप्रस्थ के राजा कौरव्य का राजकुमार था जो तक्षशिला में ब्रह्मदत्त के पुत्र कल्माषपाद[८] का सहपाठी तथा विद्विषाचरिय (प्राईवेट ट्यूटर) होने के बाद अपने पिता के स्थान पर राजा बन गया था। कल्माषपाद भी वाराणसी का राजा बन गया। वह अपने पूर्वजन्म में नर-भक्षक यक्ष था; इस कारण से वह नित्य प्रति मांसाहार किया करता था। किसी दिन कुत्ते राजा का भोजन ले गये और रसोइये ने हाल में मरे हुए मनुष्य की जांघ पकाकर परोस दिया। राजा ने उस भोजन को पसन्द किया और रसोइये ने इसका रहस्य प्रकट किया। इस पर राजा ने प्रतिदिन नरमांस तैयार करने का आदेश दिया। राजा ने पहले सब कैदियों को खाया; इसके बाद रसोइया नागरिकों का वध करने लगा जिससे जनता में खलबली मच गई। रसोइया रंगे हाथों पकड़ा गया और उसने कहा कि राजा को नर-मांस की जरूरत है। तब राजा तथा रसोइया दोनों को निर्वासित किया गया। राजा वन में मनुष्यों का वध किया करता था और रसोइया इनका मांस भूनकर परोसता था। किसी दिन राजा अपने रसोइये को भी खा गया। एक बार ऐसा हुआ कि एक ब्राह्मण के अपहरण के कारण लोगों ने राजा का पीछा किया जिससे राजा के पैर में चोट लगी। राजा ने एक वृक्ष देवता से यह प्रतिज्ञा की—अच्छा होने पर मैं तुझे भारतवर्ष भर के १०१ राजकुमारों को अर्पित करूंगा। सात दिन में उसका घाव भर गया (इसका वास्तविक कारण यह था कि उसने इस अवधि भर में अनशन किया था); इसे वह वनदेवी का वरदान समझ कर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए तैयार हो गया। अपने पूर्व-जन्म के साथी यक्ष से मन्त्र पाकर वह शीघ्रगामी बन गया और उसने एक सौ राजाओं को कैद कर लिया। इसके बाद उसने वृक्षदेवता के आदेश से सुतसोम को भी पकड़ लिया। सुतसोम ने उस दिन जाते समय किसी ब्राह्मण को आश्वासन दिया था कि स्नान से लौट कर मैं आपकी बात सुन लूंगा, अतः उसने नरभक्षक से निवेदन किया कि मुझे ब्राह्मण के प्रति अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करने का अवसर दिया जाय। नरभक्षक ने उसको ब्राह्मण के पास जाने की अनुमति दी। सुतसोम ब्राह्मण के पास जाकर, उनसे चार गाथाएँ सीखकर, बदले में ब्राह्मण को चार हजार मुद्राएँ देकर, नरभक्षी राजा के पास लौटा और उसने चारों श्लोक नरभक्षी राजा को सुना दिये—इन श्लोकों से प्रसन्न होकर उसने सुतसोम को चार वर मांगने की अनुमति दी। सुतसोम ने निम्नलिखित चार वर उससे मांग लिये—(१) मैं आपको एक सौ वर्ष तक जीवित देख सकूं, (२) आप उन एक सौ राजकुमारों को न खायें, (३) आप उनको उनके राज्य में वापस भेज दें, (४) आप नरमांस-भक्षण त्याग दें। तब वहाँ दोनों में अंतिम वर के विषय में देर तक वार्तालाप हुआ, अन्त में नरभक्षक ने अपनी आदत को छोड़ना स्वीकार कर लिया। सुतसोम के अनुरोध पर राजाओं ने कल्माषपाद के विरुद्ध कुछ नहीं करने की प्रतिज्ञा की, अन्त में सुतसोम ने कल्माषपाद को उसका राज्य वापस

---

८. कल्माषपाद का नाम केवल बाद में गाथा ४७२ में दिया गया है।

दिला दिया । जिस स्थान पर नरभक्षक के हृदय का परिवर्तन हुआ वहाँ कम्मासदम्म नामक नगर बस गया[९]।

(७) चरिया पिटक तथा निदान कथा में सुतसोम की कथा को बोधिसत्व की सत्यवादिता-पारमिता का उदाहरण माना गया है; निम्नलिखित चीनी अनुवादों में यह कथा शील पारमिता के प्रसग में उद्धृत की गई है—षट् पारमिता समुच्चय, (अर्वाचीन) संयुक्तावदान और मैत्रिराज राष्ट्रपाल-प्रज्ञा पारमिता । षट् पारमिता-समुच्चय का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद २५१ ई० का है। इसमें सुतसोम के स्थान पर फुमिन् का नाम आया है, तथा कल्मापपाद के स्थान पर अगुन् जो जयदिस्स के 'अगुलिमाल' का सक्षिप्त रूप मात्र है (दे० आगे अनु० १०) । अगुन् की शक्ति सिंह के समान थी और उसमें उड़ने की क्षमता थी। नरमास-भक्षण के कारण निर्वासित किये जाने पर उसने किसी वृक्ष से यह प्रतिज्ञा की थी—यदि मैं तेरी सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर सका, तो मैं तुझे सौ राजाओ का बलिदान चढाऊँगा। शेष कथा सुतसोम जातक के समान ही है किन्तु पाली जातक में सुतसोम जो चार गाथाएँ सीखकर आता है वे इस कथा (तथा अन्य चीनी कथाओ से भी) भिन्न हैं। सुतसोम जातक तथा चीनी कथाओ का एक अन्य अन्तर यह है कि नर भक्षक राजा तो अन्य राजाओ का मुक्त करता है तथा अपना व्यसन छोड देता है किन्तु वह चार गाथाओ का सुनकर बोधिसत्व को चार वर चुनने को नही कहता।

(८) अर्वाचीन संयुक्तावदान के चीनी अनुवाद में ३१ जातक कथाएँ पाई जाती हैं, जिनमें आठवी कथा षट्पारमिता समुच्चय के वृत्तान्त से अधिक भिन्न नहीं है। नर भक्षक राजा अपने पूर्वजन्म में अगुलिमाल था। निर्वासित किए जाने के १३ वर्ष बाद उसने पक्ष प्राप्त कर लिए तथा वृक्ष देवता से यह प्रतिज्ञा की—"यदि मैं तेरी कृपा से अपना राज्य पुन प्राप्त कर सका तो मैं तुझे ५०० राजाओ को बलि के रूप में चढाऊँगा ।" बोधिसत्व ने उन राजाओं को मुक्त करने के बाद उनके लिए अपनी राजधानी में भवन बनवाए थे और इससे उनकी राजधानी का नाम राजगृह के नाम से विख्यात होने लगा।

(९) सुतसोम जातक का तीसरा चीनी रूप[१०] मैत्रिराजराष्ट्रपाल-प्रज्ञापारमिता में पाया जाता है। इस रचना का चीनी अनुवाद ५वी शताब्दी ई० के प्रारम में हुआ

---

९. चरियापिटक (३, १२) तथा निदान कथा (१, २६५) में सत्यवादिता की पारमिता के प्रसग में सुतसोम जातक की सक्षिप्त कथा दी गई है। हिन्देशिया "साहित्य में सुतसोम पुरुषादशात" के नाम से विख्यात है। हिन्देशियाई कथा के अनुसार पुरुषाद ने भारतवर्ष भर के समस्त राजाओ को कैद किया था। अन्त में सुतसोम ने नरभक्षक को बौद्ध सन्यासी बना दिया तथा उसे वज्रपाणि की पूजा करने का उपदेश दिया। इससे पता चलता है कि इस कथा पर शैव धर्म का भी प्रभाव पड़ा है, दे० हि० भू० सरकार, इडियन इफ्लुएसस ऑन दि लिटरेचर ऑव जावा एण्ड बाली (कलकत्ता १९३४), पृ० ३१८–३१९।

१० राष्ट्रपाल परिपृच्छा के दोनो चीनी अनुवादों में सुतसोम की कथा का निर्देशमात्र किया गया है तथा बोधिसत्व पूर्वचर्या के २३ जातकों में सुतसोम की अत्यन्त सक्षिप्त कथा मिलती है। इस रचना में कहा गया है कि सुतसोम ने १२ वर्ष से शापग्रस्त कल्मापपाद को मुक्त किया था।

था। कथा इस प्रकार है। कल्माषपाद मगध का युवराज था। उसने राज्याभिषेक के अवसर पर अपने कुलदेवता महाकाल को १००० राजाओं के बलिदान चढ़ाने के उद्देश्य से ९९९ राजाओं को बंदी कर लिया था। सहस्रवें राजा के रूप में उसने फुमिन् को पकड़ लिया; फुमिन् ने अपनी अन्तिम धार्मिक क्रिया का अनुष्ठान करने के लिए कल्माषपाद से कुछ समय मांग लिया और कल्माषपाद ने उसे जाने दिया। फुमिन् अपनी राजधानी में लौटकर प्रज्ञा पारमिता का प्रचार करने वाले १०० भिक्षुओं का दान दिया जिन पर प्रधान भिक्षुक ने उसे गाथा-चतुष्टय सिखाया। इससे राजा को ज्ञानोदय हुआ। बाद में राजा फुमिन् ने ९९९ बंदी राजाओं के पास लौटकर उनको यह गाथा-चतुष्टय सिखाया जिससे सबों में ज्ञानोदय हुआ। अनन्तर उसने अपने उपदेश द्वारा कल्माषपाद को भी मुक्ति के योग्य बना दिया।

(१०) जयद्दिस्स जातक (पाली जातक नं० ५१३) में सुतसोम जातक की कथा का निम्नलिखित रूप मिलता है। कम्पिल्ल नामक राज्य में पंचाल नामक राजा शासन करता था। किसी यक्षिणी ने, जो पूर्वजन्म में महारानी की सौत रह चुकी थी अनुनिमात नामक राजकुमार का जन्म के पश्चात् ही हरण किया तथा उसका पुत्रवत् पालन कर उसे नरमांस का भोजन करना सिखाया। बहुत समय बाद नरभक्षक राजकुमार ने अपने भाई जयद्दिस्स को पकड़ लिया तथा उसकी प्रार्थना पर ध्यान देकर इसीलिए छोड़ दिया कि वह एक ब्राह्मण के प्रति अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके लौटे। किन्तु बाद में जयद्दिस्स का पुत्र बोधिसत्व अलीनसत्तु अपने पिता के स्थान पर अपने नरभक्षक चाचा के सामने बलि के रूप में उपस्थित हुआ। पुत्र की यह पितृ-भक्ति देखकर उस नरभक्षक ने अपना व्यसन छोड़ दिया और तपस्वी बन गया। उसके आश्रम के निकट राजा ने चुल्लकम्मासदम्म नामक नगर बसाया[11]।

(११) महाभारत के आश्वमेधिकपर्व (अध्याय ५६–५८) में सत्यसंध उत्तंक तथा सौदास के विषय में जो कथा मिलती है। इस पर बौद्ध कथा की छाप स्पष्ट है। उत्तंक की सत्यवादिता से प्रभावित होकर सौदास उत्तंक को तीसरी बार न लौटने का परामर्श देता है। कथा इस प्रकार है—

अहल्या ने एक दिन अपने जमाता उत्तंक को सौदास के पास भेज दिया कि वह सौदास की महारानी के दो दिव्य कुण्डल माँगकर ले आवे। गौतम ने इसके विषय में सुनकर अपनी पत्नी से कहा—'यह तुमने अच्छा नहीं किया, राजा सौदास शापवश राक्षस बन गया है, वह उत्तंक को अवश्य मार डालेगा'।

सौदास उत्तंक को आते देखकर उसे खाने के लिये उद्यत हुआ। उत्तंक ने निवेदन किया—"मुझे पहले गुरुदक्षिणा चुकाने का अवसर दीजिये; यह गुरुदक्षिणा आपके वश में है। उसे गुरु को अर्पित करके मैं आपके अधीन हो जाऊँगा"। सौदास उसकी बात मानने के लिये तैयार हो गया; तब उत्तंक ने बताया कि मुझे आपकी महारानी के कुण्डलों की

११. चरियापिटक में जयद्दिस्स जातक का संक्षिप्त रूप शीलपारमिता का उदाहरण बना दिया गया है (दे० २, ६)।

आवश्यकता है। इसके बाद सौदास ने उत्तंक को अपनी पत्नी के पास भज दिया, किन्तु रानी ने एक अभिज्ञान मागा, अतः उत्तंक को सौदास के पास लौटना पड़ा। सौदास ने उसे एक सदेश दिया जिसे सुनकर रानी ने उत्तंक को अपने कुण्डल प्रदान किए। इनको लेकर उत्तक ने फिर सौदास के पास लौटकर कहा—"मैं इस समय एक प्रश्न पूछने के लिए आपके पास लौट आया हूँ।" सौदास ने सच्चाई से उत्तर देने की प्रतिज्ञा की जिस पर उत्तंक ने कहा—"मित्रों के साथ जो दुर्व्यवहार करता है वह चोर माना जाता है। आज आपके साथ मेरी मित्रता हो गई है, इसलिये आप मुझे सत्परामर्श दीजिए। आप नरभक्षक हो गये हैं, इस बात को ध्यान में रखकर क्या मेरा फिर लौटकर आपके पास आना उचित है कि नहीं—भवत्सकाशमागन्तुं क्षमं मम न वेति वै।" इस पर सौदास ने उत्तर दिया—मत्समीपं द्विजश्रेष्ठ नागंतव्यं कथंचन (आपको मेरे पास किसी तरह नहीं आना चाहिए)।

(इ) सुतसोम और सिंह सौदास

(१२) जातकमाला के सुतसोम जातक में प्रस्तुत कथा के विकास का एक नया सोपान मिलता है। अब वैदिक साहित्य में उल्लिखित सुदास के पुत्र सौदास ब्रह्मदत्त-पुत्र कल्मायपाद का स्थान लेता है। इसके अतिरिक्त सौदास के मासाहारी बनने का कारण यही माना गया कि वह सिंहनी की सन्तान है। जातकमाला के अतिरिक्त सुतसोम द्वारा सौदास की मुक्ति की कथा किंचित परिवर्त्तन सहित लंकावतार सूत्र सिंह सौदास मास भक्ष निवृत्ति तथा भद्र कल्पावदान में भी मिलती है। रचनाकाल के क्रमानुसार इन सब का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है। जैन ग्रन्थो में भी कल्मापपाद के स्थान पर सौदास अथवा सिंह सौदास के विषय में सुतसोम जातक की कथा प्रचलित है। अतः इसका परिचय इस परिच्छेद के अन्त में रखा गया है।

(१३) आर्यसूर की जातकमाला में सुतसोम जातक (नं० ३१) की कथा इस प्रकार है। कौरव्यराजकुल में उत्पन्न बोधिसत्व सुतसोम युवराज बन गया था। किसी दिन एक सुभाषिताख्यायी ब्राह्मण सुतसोम से मिलने आया। ब्राह्मण अभी कुछ भी नहीं सुनाने पाया था कि राजमहल में कोलाहल मच गया। द्वारपालों ने आकर राजा को सुदास के पुत्र पुरुषाद कल्मायपाद के आगमन की सूचना दी। इस पर सुतसोम ने पूछा कि वह कौन है? उत्तर में सुदास की कथा सुनाई गई—"सुदास नामक राजा मृगया के अवसर पर किसी दिन अपने अश्व द्वारा घोर वन में ले जाया गया था जहाँ उसने किसी सिंहनी के साथ समोग किया। सिंहनी ने बाद में एक मानव बालक को जन्म दिया जिसे वनवासी सुदास के पास ले आये। सुदास अपुत्र था, अतः उसने उसको गोद लिया तथा अपना उत्तराधिकारी भी बना दिया। अपनी माता के दोष के कारण वह मासाहार किया करता था तथा किसी अवसर पर नरमास चखकर तथा उसमें आसक्त होकर उसने पुरवासियो का वध करके उनका भक्षण करना आरंभ किया। नागरिको ने उसे मार डालने का निश्चय किया। सौदास ने डरकर यह प्रतिज्ञा की—यदि मैं इस संकट से बच गया तो सौ राजकुमारों का भूतयज्ञ करूँगा। वह अपनी प्रजा के हाथों से निकल गया और

गुरुत राजकुमारों का अपहरण करने लगा। अब वह आपको भी ले जाने के लिए आया है।"

यह कथा सुनकर सुतसोम ने सौदास की दुष्टता का नष्ट करने के उद्देश्य से उसका आतिथ्य-सत्कार करना चाहा किन्तु सौदास उसे पकड़कर अपने यहाँ ले गया। तब सुतसोम को ब्राह्मण का स्मरण आया; उसने जाने की अनुमति माँगी तथा ब्राह्मण का समुचित आदर देने के बाद लौटने की प्रतिज्ञा की। सौदास ने सुतसोम की सत्यवादिता तथा धार्मिकता की परीक्षा लेने के लिये उसे जाने दिया। सुतसोम ब्राह्मण से गाथाचतुष्टय सीखकर तथा उनको ४००० स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कर सौदास के पास लौटा। सौदास के बहुत अनुरोध करने पर सुतसोम ने उसे चारों गाथाएँ सुनाईं तथा बदले में चार वर पाकर कहा—

> सत्यव्रतो भव विसर्जय सर्वहिंसा
> वन्दीकृत जनमशेषमिमं विमुंच
> अद्या न चैव नरवीर मनुष्यमास-
> मेतान् वरान् अनवरादचतुर: प्रयच्छ ॥८०॥

सौदास ने नरमांसाहार छोड़ने के लिए अपनी असमर्थता प्रकट की, जिस पर सुतसोम ने उसे मांसाहार की बुराई के विषय में उपदेश दिया। अन्त में सौदास ने नरमांसाहार छोड़ने का व्रत लेकर कैदी राजाओं को मुक्त किया।

(१४) लंकावतारसूत्र का प्रथम चीनी अनुवाद सन् ४४३ ई० में गुणभद्र द्वारा हुआ था। इसका संस्कृत मूलपाठ जापान की ओतानी युनीवर्सिटी प्रेस द्वारा सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ तथा इसका अंग्रेजी अनुवाद सन् १९३२ ई० में लन्दन में छप गया। प्रक्षिप्त आठवें अध्याय में मांसाहार की बुराई को दिखलाने के उद्देश्य से सिंहसौदास[१२] के बाद कल्माषपाद की संक्षिप्त कथा मिलती है। दोनों कथाएँ स्पष्टतया जातकमाला के सुतसोमजातक पर आधारित हैं, नरभक्षक के दो नामों (सौदास तथा कल्माषपाद) के कारण एक ही कथा दो रूपों में प्रस्तुत की गई है।

सिंहसौदास के विषय में कहा गया है कि वह मांसाहार में अत्यधिक आसक्त होने के कारण नरमांस का भी सेवन करने लगा और इस व्यसन के कारण उसे निर्वासन तथा अन्य विपत्तियों का सामना करना पड़ा।

कल्माषपाद की कथा इस प्रकार है। एक राजा अपने अश्व द्वारा वन में ले जाया गया था। एक सिंहनी ने उसे संभोग के लिए बाध्य कर दिया। सिंहनी को कल्माषपाद आदि कई पुत्र उत्पन्न हुए। राजा का पद प्राप्त करने के बाद सिंहनी के पुत्र मांसाहार का व्यसन छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते थे। मांसाहार में आसक्त रहने के कारण उन्होंने घोर नरभक्षक डाकों तथा डाकिनियों को उत्पन्न किया।

---

१२. 'सिंहसौदास' का नाम जैनियों में भी प्रचलित है। दे० आगे अनु० १७

(१५) डॉ० वातानाबे के अनुसार सिंहसौदास मांसभक्ष निवृत्ति ३८२ छन्दों का अत्यन्त सुन्दर खंड काव्य है, जिसका ७२१ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। इसका निम्नलिखित कथानक जातक माला की कथा से अधिक भिन्न नहीं है।

"राजा सुदास को किसी दिन मृगया के समय एक सिंहनी द्वारा संभोग के लिए विवश किया गया था। सिंहनी ने बाद में एक पुत्र को जन्म दिया जिसका शरीर तो मनुष्य का किन्तु सिर सिंह का था। अपनी माता से यह जानकर कि सुदास मेरा पिता है, वह राजा से मिलने गया; और सुदास ने उसे अपनाया। वह अपने पिता के बाद राजा बना किन्तु वह अपनी माता की प्रकृति के अनुसार मांसमात्र का भोजन करता था। किसी दिन एक कुत्ता राजा के लिए रखा हुआ मांस ले गया; रसोइये ने डरकर एक शिशु को पकड़ लिया तथा उसका मांस भून कर राजा को परोसा। यह भोजन राजा को बहुत पसन्द आया और उसने प्रतिदिन ऐसा मांस तैयार करने का आदेश दिया। प्रजा ने राजा सौदास की इस आदत के विषय में जान लिया और उन्होंने उसे मार डालने का निश्चय किया। इस पर सौदास ने भी पंख प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी यक्ष को एक सौ राजाओं का बलिदान चढ़ाने की प्रतिज्ञा की। यक्ष ने इस शर्त को स्वीकार कर सौदास को पंख प्रदान कर दिए। अब सौदास राजाओं को कैद करने लगा। ९९ राजाओं को एकत्र करने के बाद उसने सुतसोम को भी पकड़ लिया। सुतसोम के निवेदन करने पर सौदास ने उसे सात दिन के लिए छोड़ दिया। समय पर लौटकर सुतसोम ने राजा को मांसाहार के महापाप के विषय में उपदेश दिया। सौदास मान गया, ९९ राजाओं को उसने मुक्त कर दिया तथा मगध जाकर अपनी प्रजा को मांसाहार करने से मना कर दिया।

(१६) भद्रकल्पावदान" की रचना ११वीं शताब्दी में हुई थी। इसमें सिंह सौदास के विषय में निम्नलिखित कथा मिलती है　　(दे० अध्याय ३४)।

"काशिराज सुदास को किसी दिन अश्व द्वारा वन में ले जाया गया था। वहाँ उसे अपनी पत्नियों के वियोग के कारण दुःख हुआ और एक सिंहनी ने उसे संभोग के लिए राजी कर लिया। बाद में वह अपनी राजधानी लौटा। सिंहनी को पुत्र उत्पन्न हुआ और इसने उसका १२ वर्ष तक पालन करके व्यापारियों के साथ काशी भेज दिया। राजा के अनुरूप होने के कारण कुमार को सुदास के पास ले जाया गया और राजा ने उसे गोद लेकर उसका सौदासनरसिंह नाम रखा। राजा बनने के बाद सौदास कैदियों का भक्षण करने लगा। इस कारण से मन्त्रियों ने उसे निर्वासित किया। वन में सौदास को अपनी माता से भेंट हुई और उसने अपने पुत्र को १०० राजकुमारों का यज्ञ करने का परामर्श दिया। १००वें राजकुमार के रूप में सौदास ने सुतसोम को कैद करना चाहा। सुतसोम के यहाँ सौदास के पहुँचने से लेकर समस्त कथा जातकमाला के अनुसार है।

(१७) जैन ग्रन्थों में सौदास अथवा सिंह सौदास की कथा के माध्यम से मांसाहार का कुपरिणाम दिखलाया गया।

---

१३. दे० ज० रॉ० ए० सो०, १९०५, पृ० २८५–२८६।

आवश्यक निर्युक्ति (६, ३२) की कथा इस प्रकार है। राजा सौदास मांसाहार किया करता था। किसी दिन एक बिल्ली उसके लिए पकाए गए मांस को उठा ले गई। तब रसोइये ने राजा को एक शिशु के मांस को परोस दिया। राजा ने उसे बहुत पसन्द किया तथा यह जानते हुए भी कि यह शिशु का मांस है, आदेश दिया कि मुझे प्रतिदिन यही मांस खिलाया जाय। इस पर नौकर राजा को मद्य पिलाकर वन में ले गये। इस समय से राजा प्रतिदिन वन में एक मनुष्य का वध करने लगा।

पउमचरियं (२२, ७२-६५) के अनुसार सौदास ने किसी पर्व के दिन अपने रसोइए को शीघ्र ही मांस ले आने का आदेश दिया। पर्व के कारण साधारण मांस न मिलने पर रसोइये ने राजा को मनुष्य का ही मांस दे दिया। इसके फलस्वरूप राजा ने नरमांस में आसक्त होकर नगर के बहुत से बालकों को खाया जिससे प्रजा ने राजा को निष्कासित कर दिया। वह सिंहसौदास के नाम से विख्यात हुआ। क्योंकि उसका आहार सिंह के समान था। दक्षिण में उसकी एक श्वेताम्बर संन्यासी से भेंट हुई; उनका उपदेश सुनकर सिंहसौदास श्रावक बन गया। बाद में वह महापुर का राजा बना तथा अन्त में अपने पुत्र सिंहरथ को राज्य देकर तप करने चला गया। पद्मचरित (२२, १३१-१५२) की कथा अधिक भिन्न नहीं है—राजा को मृतक बालक का मांस परोसा गया; इसने वन में अपने रसोइए को भी खाया तथा बाद में वह इधर उधर पड़ी हुई लाशों को खाने लगा।

(ई) अभिशप्त सिंहसौदास और सुतसोम

(१८) बौद्ध साहित्य में सुतसोम की कथा के विकास का अन्तिम सोपान हमें दमसूकावदान में मिलता है। इसका अनुवाद चीनी (सन् ४४५ ई०) तथा तिब्बती दोनों भाषाओं में सुरक्षित है। इस रचना में जो कल्माषपाद की कथा दी गई है इसका प्रधान आधार जातकमाला का सुतसोम जातक ही है। फिर भी दमसूकावदान में कल्माषपाद को किसी ब्राह्मण द्वारा शाप दिए जाने का वृत्तान्त पाया जाता है; इसे महाभारत की सौदासीय कथा का प्रभाव समझना चाहिए। दमसूकावदान के वृत्तान्त की एक अन्य विशेषता यह है कि नरभक्षक राजा के पैर सिंह के पैरों के समान चितकबरे थे और इसी लिये उसके पिता ब्रह्मदत्त ने उसे कल्माषपाद नाम दिया था। दमसूकावदान की कथा इस प्रकार है।

"वाराणसी का राजा ब्रह्मदत्त किसी दिन वन में एक सिंहनी द्वारा सहवास के लिए बाध्य किया गया था। बाद में सिंहनी ने एक पुत्र को प्रसव किया जिसका शरीर तो मनुष्यों के समान था किन्तु उसके पैर सिंह के पैरों के समान ही चितकबरे थे। सिंहनी ने अपने पुत्र को राजा के पास छोड़ दिया और ब्रह्मदत्त ने उसका नाम कल्माषपाद रखा।

एक तपस्वी नित्यप्रति भोजन के लिए कल्माषपाद के राजमहल में आया करता था। किसी एक देवता[१४] ने उसी तपस्वी का रूप धारण कर अगले दिन के लिए सामिष

१४. देवता के वैर का कारण यह था कि ब्राह्मणी महारानी ने इसके मन्दिर का ध्वंस कराया था। राजा की दूसरी महिषी क्षत्रिया थी; दोनों में वैर था। इसमें विश्वामित्र-वसिष्ठ की शत्रुता का प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है।

भोजन का कल्मापपाद से अनुरोध किया। अगले दिन सच्चे तपस्वी के आने पर उसे मांस परोसा गया और इससे अप्रसन्न होकर उसने राजा को १२ वर्ष तक नरभक्षक बन जाने का शाप दे दिया।

तपस्वी का यह शाप आगे चलकर इस प्रकार पूरा हुआ। राजा के रसोइए ने किसी दिन शिशु की लाश पाकर उसका मांस भूना तथा राजा को दिया। राजा ने सदा ही इस प्रकार का मांस खाने की इच्छा प्रकट की। तब रसोइया बच्चों को पकड़-पकड़ कर उनका मास राजा को देने लगा। अन्त में रसोइया शिशु का अपहरण करते समय ही पकड़ा गया। रहस्य खुलने पर मंत्रियों ने राजा का वध करने का निश्चय किया किन्तु राजा उनके हाथों से निकल गया क्योंकि उसने एक वर के बल पर उड़ने की शक्ति प्राप्त कर ली और राज्य छोड़कर वन चला गया। वहाँ बहुत से राक्षस उसके अनुचर बन गए। राक्षसों ने किसी अवसर पर कल्मापपाद से एक ऐसे महाभोज के लिये अनुरोध किया जिसमें एक हजार राजाओं को खाया जाय। कल्मापपाद ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया तथा ९९९ राजाओं को कैद कर लिया। अंतिम राजा के रूप में सुतसोम को पकड़ा गया। सुतसोम ने ब्राह्मण को भिक्षा देने के लिए सात दिन की अवधि कल्माप-पाद से माँग ली। वह ब्राह्मण से चार गाथाएँ सीख कर समय पर लौटा; तब उसने चार गाथाओं को सुनाकर नरभक्षक के हृदय को परिवर्तित कर दिया और अपनी राजधानी जाकर शांतिपूर्वक राज्य करने लगा। जातक शैली के अनुसार सुतसोम बुद्ध तथा कल्माष-पाद अंगुलिमाल की अभिन्नता का उल्लेख भी किया गया है।

(ख) सौदास की कथा

(१९) वैदिक साहित्य में इसका कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है कि सौदासों ने वसिष्ठ के पुत्र का वध किया था तथा वसिष्ठ ने यज्ञ के बल पर सौदासों पर विजय प्राप्त की थी (दे० ऊपर अनु० २)। वहाँ पर "सौदासा" का अर्थ है—सुदास के अनुचर! बाद में सौदास का अर्थ सुदास का पुत्र माना गया और सुदास के स्थान पर सौदास को शाप दिए जाने की कथा प्रचलित हुई। इस शाप की कथा के दो भिन्न रूप मिलते हैं। एक महाभारत का रूप जिसमें वसिष्ठ दूसरों द्वारा अभिशप्त सौदास को मुक्त करते हैं तथा दूसरा रामायण का रूप जिसके अनुसार वसिष्ठ ने सौदास को राक्षस बन जाने का शाप दिया था। दोनों में समान रूप से यह तत्व मिलता है—नरमांसाहार प्रदान करने के कारण सौदास को १२ वर्ष तक राक्षस बन जाने का शाप दिया जाता है। बृहद्देवता (चौथी श० ई० पू०) के अनुसार वसिष्ठ ही ने सुदास को शाप दिया था, अतः अधिक संभव यह है कि रामायण में जो वृत्तान्त मिलता है, वह प्रारंभिक कथा के अधिक निकट हो। यहाँ सर्वप्रथम महाभारत की कथा पर विचार किया जायगा; बाद में रामायणीय कथा का स्वरूप तथा इसका विकास प्रस्तुत किया जायगा। अन्त में सौदास की कथा पर आधारित तीन अन्य वृत्तान्तों का परिचय दिया जायगा, जिनके द्वारा राम का महत्व तथा उनकी दयालुता का प्रतिपादन किया गया है।

(अ) महाभारत की कथा

(२०) महाभारत के आदिकाण्ड में सौदास की कथा इस प्रकार है। राजा कल्माषपाद[15] किसी दिन मृगया के समय वन में वसिष्ठ के ज्येष्ठ पुत्र शक्ति से भेंट करते हैं। मार्ग देने के प्रश्न पर विवाद छिड़ जाने पर राजा शक्ति पर कोड़े का प्रहार करते हैं। जिस पर शक्ति राजा को पुरुषाद बन जाने का शाप देते हैं।[16] वसिष्ठ के वैरी विश्वामित्र छिपकर दोनों का विवाद सुन लेते हैं तथा वसिष्ठ का अनर्थ चाहकर किंकर नामक राक्षस को आदेश देते हैं कि वह राजा के शरीर में प्रवेश करे।

बाद में किसी दिन एक ब्राह्मण ने राजा से मामिष भोजन माँगा। अपने रसोइये से यह जानकर कि मांस अप्राप्य है, राक्षस ग्रस्त राजा ने ब्राह्मण को नरमांस खिलाने का आदेश दिया। रसोइये ने ऐसा ही किया, जिससे ब्राह्मण ने शक्ति के शाप का स्मरण दिलाकर राजा को पुरुषाद राक्षस बनने का पुन: शाप दे दिया। राक्षस के ग्रहण तथा उपर्युक्त दो शापों के फलस्वरूप चित्रसह वास्तव में नरभक्षक बन गया। उसने सर्वप्रथम शक्ति का भक्षण किया; अनन्तर विश्वामित्र के आदेश से किंकर राक्षस ने वसिष्ठ के सौ पुत्रों को खाने के लिये प्रेरित किया। अपने समस्त पुत्रों की हत्या का समाचार सुनकर वसिष्ठ ने आत्महत्या का अनेक प्रकार से असफल प्रयत्न किया। बहुत समय बाद वन में कल्माषपाद से वसिष्ठ की भेंट हुई और वसिष्ठ ने अभिमन्त्रित जल छिड़ककर राजा का जो १२ वर्षों तक राक्षस ग्रस्त रह चुका था, मुक्त कर दिया। इस पर कल्माषपाद ने वसिष्ठ से निवेदन किया कि वह उसके लिये संतति उत्पन्न करें। वसिष्ठ राजा के साथ अयोध्या आकर रानी का गर्भाधान कराकर अपने आश्रम लौटे। बाद में महिषी ने एक पुत्र प्रसव किया जिसका नाम इसलिए अश्मक रखा गया कि १२ वर्ष तक गर्भ धारण करने के पश्चात् माता ने 'अश्म' से अपना उदर खोल दिया था (दे० आदिकाण्ड, अध्याय १६६-१६८)।

कल्माषपाद ने वसिष्ठ से जो संतति के लिए निवेदन किया था, इसका कारण महाभारत के एक अन्य अध्याय में स्पष्ट किया गया है। शाप ग्रस्त मित्रसह अपनी राजधानी छोड़ कर अपनी पत्नी मदयन्ती के साथ अरण्य में भ्रमण करता था। किसी दिन एक ब्राह्मणदम्पति को प्रेमक्रीडा में संलग्न देखकर राजा ने ब्राह्मण को पकड़ लिया तथा ब्राह्मणी के विलाप की अवज्ञा करके उसका भक्षण किया। इस पर आंगिरसी ब्राह्मणी ने मित्रसह को यह शाप दिया कि पत्नी के साथ संभोग करने पर तुम मर जाओगे, तुमने वसिष्ठ के पुत्रों का वध किया है, अतः वह तुम्हारे लिये पुत्र उत्पन्न करेंगे। यह कहकर ब्राह्मणी ने अग्नि में अपने प्राण त्याग दिए (दे० आदिकाण्ड, अध्याय १७३)। यह कथा रामायण में नहीं मिलती; इसका परवर्ती साहित्य में कोई विशेष

१५. सौदास, चित्रसह तथा कल्माषपाद, तीनों नाम महाभारत में मिलते हैं।

१६. कुछ हस्तलिपियों में शाप की अवधि १२ वर्ष तक सीमित मानी जाती है। पूना संस्करण में १२ वर्ष का उल्लेख प्रक्षिप्त माना गया है।

विकास नहीं हुआ है (दे० विष्णु पुराण ४, ४, ५६–७०; भागवत पुराण ९, ९, २५–३६; स्कन्द पुराण, ब्राह्मण खण्ड, ब्राह्मोत्तर खण्ड, अध्याय २, ३८–५३)।

२१. वैदिक साहित्य में वसिष्ठ-विश्वामित्र का पारस्परिक वैर प्रसिद्ध है; महाभारत की कथा में भी इस वैर को सौदास की कथा का आधार बना दिया गया है। वैदिक साहित्य तथा महाभारत की कथा का एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि महाभारत के अनुसार वसिष्ठ न केवल शाप देते उलटे वह सौदास को शाप से मुक्त करते हैं। अतः सौदास के राक्षस बन जाने के तीन अन्य कारणों की कल्पना कर ली गई है—(१) शक्ति का शाप; (२) विश्वामित्र की प्रेरणा से किंकर नामक राक्षस का आवेश; (३) नर-मांसाहार के कारण किसी ब्राह्मण का शाप। इस अन्तिम कारण में सुतसोम जातक का प्रभाव देखा जा सकता है; सुतसोम जातक में साधारण मांस के अभाव में राजा को नरमांस परोसा जाता है जैसा कि यहाँ पर अन्य मांस अप्राप्य होने पर ब्राह्मण को नर-मांस दिया जाता है।

बृहद्देवता में यह माना गया है कि वसिष्ठ ने अपने सौ पुत्रों[17] के वध के कारण सुदास को शाप दिया था किन्तु महाभारत में सौदास, शाप ग्रस्त हो जाने के पश्चात् ही, वसिष्ठ के पुत्रों का भक्षण करता है जैसा कि सुतसोम जातक में कल्माषपाद, नर-भक्षक बनने के बाद ही १०१ राजाओं का बलिदान तैयार करता है। जातक में बोधिसत्व सुतसोम नरभक्षक को उपदेश देकर व्यसन छोड़ देने के लिए प्रेरित करता है जैसा कि महाभारत की कथा के अनुसार वसिष्ठ ने अभिमन्त्रित जल छिड़ककर सौदास को शापमुक्त किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत की सौदासीय कथा पर सुतसोम जातक की गहरी छाप है।[18]

२२. कल्माषपाद नाम का वैदिक साहित्य में सर्वथा अभाव है। यह नाम महासुतसोम जातक (गाथा ४७२) महाभारत तथा रामायण के उत्तरकाण्ड तीनों में

१७. ब्राह्मण साहित्य में वसिष्ठ के केवल एक ही पुत्र का वध उल्लिखित है। बृहद्देवता तथा सुतसोम जातक दोनों में १०० की संख्या समान रूप से मिलती है; इसका मूल स्रोत एक होना चाहिए। अधिक संभव है कि बौद्ध साहित्य में पहले-पहले इस संख्या का उल्लेख किया गया है। रामायण में विश्वामित्र के सौ पुत्र वसिष्ठ द्वारा भस्मीभूत किए जाने की कथा मिलती है (दे० १,५५,७)।

१८. महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में जो सत्यसंध उत्तंक की कथा मिलती है, इस पर भी बौद्ध साहित्य का प्रभाव निर्विवाद है (दे० ऊपर अनु० ११)। सुतसोम जातक के मूलस्रोत के विषय में यह माना जा सकता है कि पक्षदार राक्षस कल्माषपाद द्वारा सुतसोम के अपहरण की कल्पना ऋग्वेद (४, २७, ३) में वर्णित श्येन द्वारा साम के हरण की कथा पर आधारित है। ऋग्वेद में सुतसोम शब्द का प्रयोग सोमरस निकालने वाले अथवा 'सोम की आहुति देने वाले' के अर्थ में हुआ है। बाद में यह शब्द व्यक्तियों के नाम के लिए भी प्रयुक्त हुआ है; महाभारत में भीमसेन का पुत्र सुतसोम इसका प्रसिद्ध उदाहरण है—दे० आदि पर्व, ५७, १०२।

समान रूप से मिलता है। इन रचनाओं में से महासुतसोम जातक की गाथाएँ सब से प्राचीन हैं, अत अधिक संभव यही प्रतीत होता है कि कल्मापपाद का नाम बौद्ध साहित्य में पहले पहल प्रयुक्त हुआ था। महाभारत, रामायण तथा पुराणों में, सौदास मित्रसह तथा कल्मापपाद तीनों नाम दिये गये हैं।[19] सुदास के पुत्र सौदास का निजी नाम मित्रसह था, बाद में बौद्ध साहित्य के प्रभाव से उनको कल्मापपाद का नाम भी मिला होगा। हरिवंश पुराण[20] में इस पर बल दिया गया है कि सौदास दो नामों से विख्यात था—

> सुदासस्य सुतस्त्वासीत सौदासो नाम पार्थिव. ।
> ख्यात कल्मापपादो वै नाम्ना मित्रसहस्तथा ॥

भागवत पुराण (९, ९, १८) में कहा गया है कि सौदास को कहीं मित्रसह तथा कहीं कल्मापाघ्रि के नाम से पुकारा जाता है—

> तत सुदासस्तत्पुत्रो मदयन्तीपतिर्नृप ।
> ग्राहुर्मित्रसह य वै कल्मापाघ्रिमुत क्वचित ॥

सौदास को कल्मापपाद का नाम क्यों दिया गया था। इसके संबंध में रामायण के उत्तरकाण्ड, विष्णु पुराण आदि में एक सर्वथा नवीन कथा मिलती है (दे० आगे अनु० २५)।

(२३) परवर्ती साहित्य में महाभारत की कथा की अपेक्षा रामायण की सौदासीय कथा को प्रामाणिक माना गया है। फिर भी सूर्य वंश के वर्णन में अधिकांश पुराण महाभारत की कथा के अनुसार सौदास के पुत्र अश्मक का उल्लेख करते हैं। जैसे—ब्रह्माण्ड विष्णु, वायु भागवत, कूर्म, विष्णुधर्मोत्तर, गरुड, लिंग, स्कन्द, भविष्य, देवी भागवत महाभागवत, कल्कि पुराण।

पुराणों का एक अन्य वर्ग सर्वकर्मा[21] को अपने पिता सौदास का उत्तराधिकारी मानता है, अर्थात् हरिवंश ब्रह्म, मत्स्य, अग्नि, पद्म (५, ८, १५१) शिव महापुराण, उमा

१९ रामायण के बालकाण्ड (७०, ४०) में कल्मापपाद, अयोध्याकाण्ड के एक प्रक्षिप्त स्थल पर (११०, २९) कल्मापपाद तथा सौदास और उत्तरकाण्ड की कथा में तीनों नाम आए हैं। दाक्षिणात्य पाठ (७, ६५, १० और १७) में सौदास के पुत्र को वीर्यसह तथा मित्रसह कहा गया है किन्तु वह लिपिक की भूल होगी क्योंकि रामायण के अन्य पाठों में सौदास ही को मित्रसह का नाम दिया गया है (दे० गौडीय पाठ ७, ७०, ११ पश्चिमोत्तरीय पाठ ७, ६८, १०)।

२० दे० १, १५, २१। यह श्लोक ब्रह्माण्ड पुराण (३, ६३, १७६) लिंग पुराण (पूर्वार्द्ध ६६, २७), वायुपुराण (२, २६, १७६) आदि में भी मिलता है।

२१ महाभारत भी सर्वकर्मा का सौदास के पुत्र के रूप में उल्लेख करता है (दे० १२, ४९, ६९)। रामायण बालकाण्ड में दाशरथ को कल्मापपाद का उत्तराधिकारी माना गया है, रामायण का अपेक्षाकृत संक्षिप्त इक्ष्वाकुवंश-वर्णन पौराणिक वंशावलियों से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है।

संहिता ३१, १२)। इन दोनों भिन्न वंशावलियों का कारण स्पष्ट नहीं है। संभव है कि वसिष्ठ के कुल में अश्मक को तथा वसिष्ठ-विरोधी विश्वामित्र के कुल में सर्वकर्मा को सौदास के उत्तराधिकारी के रूप में माना गया हो।

(आ) रामायण की कथा

(२४) वाल्मीकीय उत्तरकाण्ड में सौदास की कथा का एक सर्वथा नवीन रूप मिलता है। वैदिक साहित्य तथा महाभारत में विश्वामित्र-वसिष्ठ का पारस्परिक वैर सौदासीय कथा का आधार है। रामायण का वृत्तान्त विश्वामित्र के विषय में नितान्त मौन है। सौदास की दुर्गति के मूलकारण के विषय में माना जाता है कि उसने मृगया के समय किसी राक्षस को मार डाला था तथा उस राक्षस के साथी के षड्यंत्र के कारण उसने अनजान में वसिष्ठ को नरमांसाहार परोसा था और फलस्वरूप वसिष्ठ का कोप-भाजन बन गया।

वैदिक साहित्य में सौदासों पर वसिष्ठ की विजय तथा बृहद्देवता में सुदास के प्रति वसिष्ठ के शाप का उल्लेख है। रामायण में भी वसिष्ठ ही शाप देते हैं, इस दृष्टि से रामायणीय वृत्तान्त प्रस्तुत कथा के मूल रूप के अनुसार ही है।

महाभारत में माना गया है कि वसिष्ठ ने १२ वर्ष तक शापग्रस्त सौदास को मुक्त किया था, रामायण में वसिष्ठ ने सौदास को निर्दोष जानकर अपने शाप का प्रभाव १२ वर्ष तक सीमित कर दिया और इस अवधि के अन्त में सौदास अपने आप से शापमुक्त हो जाता है।

रामायणीय कथा की अन्तिम विशेषता यह है कि सौदास के दूसरे नाम कल्माष-पाद की व्युत्पत्ति के विषय में एक नवीन वृत्तान्त मिलता है। इस वृत्तान्त के अनुसार राजा सौदास ब्राह्मण वसिष्ठ को प्रतिशाप देने के लिए उद्यत हुआ; ऐसी कल्पना क्षत्रिय वातावरण में ही उत्पन्न हो सकी।

(२५) वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड के अनुसार (सर्ग ६५) वाल्मीकि ने शत्रुघ्न को सौदास के विषय में निम्नलिखित कथा सुनाई थी—

"सौदास (मित्रसह) ने मृगया के समय व्याघ्र का रूप धारण करने वाले दो राक्षसों को देखकर उनमें से एक का वध किया[२२]। प्रतिकार का संकल्प करके दूसरा राक्षस अन्तर्धान हो गया। बाद में सौदास ने वसिष्ठ द्वारा अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ के अन्त में इस राक्षस ने वसिष्ठ का रूप धारण कर सामिष भोजन माँगा तथा राजा ने इसे तैयार करने का आदेश दिया। अनन्तर राक्षस नरमांस का भोजन लिये रसोइये के रूप में राजा के सामने उपस्थित हुआ। राजा ने अपनी पत्नी मदयन्ती के साथ वसिष्ठ को यह भोजन परोस दिया। इसे सामिष जान कर वसिष्ठ ने राजा को यह शाप दिया—भोजनमेतत्ते भविष्यति। शाप सुनकर निर्दोष सौदास को क्रोध हुआ और

२२. 'राक्षसद्वय' (दे० ६५, ११)। भागवत पुराण, स्कंद पुराण तथा भावार्थ रामायण के अनुसार दोनों में भ्रातृत्व का संबंध था। कृत्तिवास ने उनको दम्पति माना है।

यह हाथ में जल लेकर वसिष्ठ को प्रतिशाप देने को उद्यत हो गया किन्तु मदयन्ती ने उसे रोक लिया। इस पर सौदास ने वह क्रोधमय, तेजोबलसमन्वित जल अपने ही पैरों पर छिड़क लिया। फलस्वरूप उसके पैरों पर धब्बे पड़ गए और उस समय से सौदास कल्माषपाद के नाम से विख्यात हो गया। राक्षस के कपट के विषय में सुनकर वसिष्ठ ने अपने शाप के प्रभाव को १२ वर्ष तक ही सीमित कर दिया। अतः कल्माषपाद ने १२ वर्ष तक शाप का दण्ड भोगने के बाद अन्त में पुनः अपना राज्य प्राप्त कर लिया।"

(२६) तीन पुराणों में सूर्यवंश के वर्णन के अन्तर्गत सौदासीय कथा रामायण के अनुसार दी गई है, अर्थात् विष्णु पुराण (४, ४, ३८-५८), भागवत पुराण (९, ९, २०-२५), स्कन्द पुराण (३, ३, २)। भागवत तथा स्कन्द पुराणों में किसी यज्ञ की चर्चा नहीं होती; राक्षस रसोइये के रूप में सौदास के घर में निवास करता है तथा भोजन में निमन्त्रित कुलगुरु वसिष्ठ के लिए नरमांस तैयार करता है। स्कन्द पुराण के अनुसार कथा का निर्वहण इस प्रकार है—शाप समाप्त होने पर कल्माषपाद अपनी राजधानी लौटता है तथा वसिष्ठ द्वारा सन्तति प्राप्त कर वह पुनः वन के लिये प्रस्थान करता है, जहाँ मूर्तिमती ब्रह्महत्या पिशाचा के रूप में उसे सताती रहती है। वर्षों तक विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करने पर भी वह मुक्त नहीं हो पाता। अन्त में गौतम के परामर्श के अनुसार वह गोकर्ण में शिवलिंगदर्शन के फलस्वरूप ब्रह्म-हत्या दोष से मुक्त हो जाता है। भविष्य पुराण (प्रतिसर्ग पर्व १, १, ४२) के इक्ष्वाकुवंश-वर्णन के अन्तर्गत सौदास को जो "गोकर्ण लिंग भक्त" विशेषण दिया गया है वह स्कन्दपुराण की इस कथा की ओर निर्देश करता है।

(२७) परवर्ती राम-कथा साहित्य में भी वाल्मीकि रामायण के वृत्तान्त को सौदास की कथा का आधार माना गया है, जैसे मराठी भावार्थ रामायण (उत्तर खण्ड, अध्याय ५९) तथा कृत्तिवास रामायण (आदि काण्ड, अध्याय १९) में।

कृत्तिवास ने सौदास की शाप मुक्ति को एक नवीन रूप दिया है। इसके अनुसार वसिष्ठ ने कहा था कि ग्यारह वर्ष तक राक्षस होने के बाद सौदास गंगा दर्शन द्वारा शाप-मुक्त होगा। इस अवधि के अन्त में सौदास की एक ब्रह्मदैत्य से भेंट हुई, दोनों छ महीने तक द्वन्द्व युद्ध करने के पश्चात् मित्र बन गये। वह ब्रह्म दैत्य शाप वश दैत्य बन गया था और सौदास की भाँति गंगा जल द्वारा ही मुक्ति पाने वाला था। तब ऐसा संयोग हुआ कि किसी दिन भार्गव ऋषि सिर पर गंगा जल का घड़ा लेकर दोनों के सामने से हो जा रहे थे। सौदास के अनुरोध पर ऋषि ने कृपा से दोनों अभिशप्तों के शरीर पर गंगाजल छिड़क कर उनको शापमुक्त कर दिया।

(इ) सौदासीय कथा के रूपान्तर

(२८) परवर्ती रामकथा साहित्य में सौदास की कथा के तीन रूपान्तर मिलते हैं। इनकी सामान्य विशेषता यह है कि कोई अनजान में मांसाहार परोसने के कारण ब्राह्मण का शाप भाजन बन जाता है तथा राम द्वारा मुक्त किया जाता है। अंतिम दो कथाओं के अनुसार किसी शत्रु के षड्यन्त्र के कारण नरमांस परोसा गया था तथा ... कथा में यह माना गया है कि राजा प्रतापभानु ब्राह्मणों का कोपभाजन बनकर ... के प्रतिनायक राक्षस रावण के रूप में प्रकट हुआ था।

(२९) बाल्मीकि रामायण के उत्तरखण्ड में सर्ग ५९ के अनन्तर तीसरे प्रक्षिप्त सर्ग में निम्नलिखित कथा मिलती है।

गौतम नामक ब्राह्मण ने किसी दिन राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ जाकर भोजन माँगा। संयोगवश गौतम के आहार में कुछ माँस पड गया जिससे गौतम ने राजा को गीध बन जाने का शाप दिया राजा के सविनय निवेदन करने पर गौतम ने कहा कि इक्ष्वाकुवंश के यशस्वी राजा राम के स्पर्श से तुम मुक्त हो जाओगे। गौतम के शाप के कारण ब्रह्मदत्त गीध बन गया और राम का स्पर्श पाकर वह दिव्य देहधारी पुरुष के रूप में परिणत हो गया।

(३०) अध्यात्म रामायण (६, ५, ५-२४) तथा आनन्द रामायण (१, १०, २१५-२१९) में रावण के गुप्तचर शुक के पूर्वजन्म के विषय में निम्नलिखित कथा मिलती है। शुक नामक वनवासी ब्राह्मण देवताओं के हित में लगे रहने के कारण राक्षसों का शत्रु बन गया था। एक दिन अगस्त्य मुनि उनके आश्रम पर पधारे। इस अवसर से लाभ उठाकर वज्रदंष्ट्र नामक राक्षस ने अगस्त्य का रूप धारण कर लिया और सामिष भोजन के लिए शुक से आग्रह किया। अनन्तर वज्रदंष्ट्र ने शुक की पत्नी को मूर्छित कर दिया और स्वयं उसी का रूप धारण कर अगस्त्य को नरमांस परोसा और बाद में अन्तर्धान हो गया। इस पर अगस्त्य ने शुक को यह कहकर शाप दिया—"तुमने मुझे अभक्ष्य नरमांस खाने को दिया, अत तुम नरभक्षी राक्षस बन जाओ।" शुक द्वारा इस शाप का कारण पूछे जाने पर मुनि ने राक्षस की करतूत को जान लिया। उनका शाप व्यर्थ तो नहीं हो सका, किन्तु अगस्त्य ने शुक को आश्वासन दिया कि तुम राक्षस के रूप में रावण का सहायक बन जाओगे। राम के आगमन पर तुम रावण का दूत होकर राम के दर्शन पाओगे और शापमुक्त हो जाओगे। तब रावण के पास लौटकर तथा उसे तत्वज्ञान का उपदेश देकर परमपद प्राप्त करोगे। तदनुसार लंका युद्ध के समय शुक ने रावण दूत बनकर राम के दर्शन पाए तथा रावण के पास लौटकर उनको सदुपदेश दिया। इसके अनन्तर वह फिर ब्राह्मण शरीर प्राप्त कर वन चला गया। तुलसीदास ने उपर्युक्त कथा की ओर निर्देश मात्र किया है किन्तु शुक तथा विभीषण दो रामभक्तों के चरित में समानता लाकर माना है कि रावण ने शुक पर पाद प्रहार किया था।

जब तेहिं कहा देन बैदेही।
चरण प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ (रामचरित मानस ५, ४७, ८)

(३१) गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस के बालकाण्ड में रामावतार-हेतु क्रम में पाँच कथाओं का वर्णन किया है। अन्तिम कथा इस प्रकार है—

'कैकय देश का राजा सत्यकेतु अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रतापभानु को राज्य देकर वन चला गया। प्रतापभानु अपने मंत्री धर्मरुचि तथा अपने अनुज अरिमर्दन की सहायता से समस्त राजाओं को हराकर पृथ्वी मण्डल का एक मात्र राजा बन गया। किसी दिन मृगया के समय प्रतापभानु अपने साथियों से अलग होकर एक आश्रम में पहुँचा जहाँ मुनि के छद्मवेश में एक राजा रहता था जिसका देश प्रतापभानु ने छीन लिया था। कपट मुनि ने राजा का आतिथ्य सत्कार किया तथा उसे यह परामर्श दिया कि वह वर्ष

यह हाथ में जल लेकर वसिष्ठ को प्रतिशाप देने को उद्यत हो गया किन्तु मदयन्ती ने उसे रोक लिया। इस पर सौदास ने यह कोपमय, तेजोबलसमन्वित जल अपने ही पैरों पर छिड़क लिया। फलस्वरूप उसके पैरों पर धब्बे पड़ गए और उस समय से सौदास कल्माषपाद के नाम से विख्यात हो गया। राक्षस के कपट के विषय में सुनकर वसिष्ठ ने अपने शाप के प्रभाव को १२ वर्ष तक ही सीमित कर दिया। अतः कल्माषपाद ने १२ वर्ष तक शाप का दण्ड भोगने के बाद अन्त में पुनः अपना राज्य प्राप्त कर लिया।"

(२६) तीन पुराणों में सूर्यवंश के वर्णन के अन्तर्गत सौदासीय कथा रामायण के अनुसार दी गई है; अर्थात् विष्णु पुराण (४, ४, ३८-५८); भागवत पुराण (९, ९, २०-२५); स्कंद पुराण (३, ३, २)। भागवत तथा स्कन्द पुराणों में किसी यज्ञ की चर्चा नहीं होती; राक्षस रसोइये के रूप में सौदास के घर में निवास करता है तथा भोजन में निमंत्रित कुलगुरु वसिष्ठ के लिए नरमांस तैयार करता है। स्कन्द पुराण के अनुसार कथा का निर्वहण इस प्रकार है—शाप समाप्त होने पर कल्माषपाद अपनी राजधानी लौटता है तथा वसिष्ठ द्वारा सन्तति प्राप्त कर वह पुन वन के लिये प्रस्थान करता है, जहाँ मूर्तिमती ब्रह्महत्या पिशाची के रूप में उसे सताती रहती है। वर्षों तक विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करने पर भी वह मुक्त नहीं हो पाता। अन्त में गौतम के परामर्श के अनुसार वह गोवर्ण में शिवलिंगदर्शन के फलस्वरूप ब्रह्म-हत्या दोष से मुक्त हो जाता है। भविष्य पुराण (प्रतिसर्ग पर्व १, १, ४२) के इक्ष्वाकुवंश-वर्णन के अन्तर्गत सौदास को जो "गोकर्ण लिंग भक्त" विशेषण दिया गया है वह स्कंदपुराण की इस कथा की ओर निर्देश करता है।

(२७) परवर्ती राम-कथा साहित्य में भी वाल्मीकि रामायण के वृत्तान्त को सौदास की कथा का आधार माना गया है; जैसे मराठी भावार्थ रामायण (उत्तर खण्ड, अध्याय ५६) तथा कृत्तिवास रामायण (आदि काण्ड, अध्याय १६) में।

कृत्तिवास ने सौदास की शाप-मुक्ति को एक नवीन रूप दिया है। इसके अनुसार वसिष्ठ ने कहा था कि ग्यारह वर्ष तक राक्षस होने के बाद सौदास गंगा-दर्शन द्वारा शाप-मुक्त होगा। इस अवधि के अन्त में सौदास की एक ब्रह्मदैत्य से भेंट हुई; दोनों छः महीने तक द्वन्द्व युद्ध करने के पश्चात् मित्र बन गये। वह ब्रह्म दैत्य शाप वश दैत्य बन गया था और सौदास की भाँति गंगा जल द्वारा ही मुक्ति पाने वाला था। तब ऐसा संयोग हुआ कि किसी दिन भार्गव ऋषि सिर पर गंगा जल का घड़ा लेकर दोनों के सामने से ही जा रहे थे। सौदास के अनुरोध पर ऋषि ने कृपा से दोनों अभिशाप्तों के शरीर पर गंगाजल छिड़क कर उनको शापमुक्त कर दिया।

(इ) सौदासीय कथा के रूपान्तर

(२८) परवर्ती रामकथा साहित्य में सौदास की कथा के तीन रूपान्तर मिलते हैं। इनकी सामान्य विशेषता यह है कि कोई अनजान में मांसाहार परोसने के कारण ब्राह्मण का शाप भाजन बन जाता है तथा राम द्वारा मुक्त किया जाता है। अन्तिम दो कथाओं के अनुसार किसी शत्रु के षड्यंत्र के कारण नरमांस परोसा गया था तथा तीसरी कथा में यह माना गया है कि राजा प्रतापभानु ब्राह्मणों का कोपभाजन बनकर ।के प्रतिनायक राक्षस रावण के रूप में प्रकट हुआ था।

(२९) वाल्मीकि रामायण के उत्तरखण्ड में सर्ग ५९ के अनन्तर तीसरे प्रक्षिप्त सर्ग में निम्नलिखित कथा मिलती है।

गौतम नामक ब्राह्मण ने किसी दिन राजा ब्रह्मदत्त के यहाँ जाकर भोजन माँगा। संयोगवश गौतम के आहार में कुछ माँस पड़ गया जिससे गौतम ने राजा को गीध बन जाने का शाप दिया राजा के सविनय निवेदन करने पर गौतम ने कहा कि इक्ष्वाकुवंश के यशस्वी राजा राम के स्पर्श से तुम मुक्त हो जाओगे। गौतम के शाप के कारण ब्रह्मदत्त गीध बन गया और राम का स्पर्श पाकर वह दिव्य-देहधारी पुरुष के रूप में परिणत हो गया।

(३०) अध्यात्म रामायण (६, ५, ५-२४) तथा आनन्द रामायण (१, १०, २१५-२१९) में रावण के गुप्तचर शुक के पूर्वजन्म के विषय में निम्नलिखित कथा मिलती है। शुक नामक वनवासी ब्राह्मण देवताओं के हित में लगे रहने के कारण राक्षसों का शत्रु बन गया था। एक दिन अगस्त्य मुनि उनके आश्रम पर पधारे। इस अवसर से लाभ उठाकर वज्रदंष्ट्र नामक राक्षस ने अगस्त्य का रूप धारण कर लिया और सामिष भोजन के लिए शुक से आग्रह किया। अनन्तर वज्रदंष्ट्र ने शुक की पत्नी को मूर्च्छित कर दिया और स्वयं उसी का रूप धारण कर अगस्त्य को नरमांस परोसा और बाद में अन्तर्धान हो गया। इस पर अगस्त्य ने शुक को यह कहकर शाप दिया—"तुमने मुझे अभक्ष्य नरमांस खाने को दिया, अत तुम नरभक्षी राक्षस बन जाओ।" शुक द्वारा इस शाप का कारण पूछे जाने पर मुनि ने राक्षस की करतूत को जान लिया। उनका शाप व्यर्थ तो नहीं हो सका, किन्तु अगस्त्य ने शुक को आश्वासन दिया कि तुम राक्षस के रूप में रावण का सहायक बन जाओगे। राम के आगमन पर तुम रावण का दूत होकर राम के दर्शन पाओगे और शापमुक्त हो जाओगे। तब रावण के पास लौटकर तथा उसे तत्वज्ञान का उपदेश देकर परमपद प्राप्त करोगे। तदनुसार लंका युद्ध के समय शुक ने रावण-दूत बनकर राम के दर्शन पाए तथा रावण के पास लौटकर उनको सदुपदेश दिया। इसके अनन्तर वह फिर ब्राह्मण शरीर प्राप्त कर वन चला गया। तुलसीदास ने उपर्युक्त कथा की ओर निर्देश मात्र किया है किन्तु शुक तथा विभीषण दो रामभक्तों के चरित में समानता लाकर माना है कि रावण ने शुक पर पाद प्रहार किया था।

जब तेहिं कहा देन बैदेही।
चरण प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ (रामचरित मानस ५, ५७, ८)

(३१) गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस के बालकाण्ड में रामावतार-हेतु के रूप में पाँच कथाओं का वर्णन किया है। अन्तिम कथा इस प्रकार है—

'कैकय देश का राजा सत्यकेतु अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रतापभानु को राज्य देकर वन चला गया। प्रतापभानु अपने मंत्री धर्मरुचि तथा अपने अनुज अरिमर्दन की सहायता से समस्त राजाओं को हराकर पृथ्वी मण्डल का एक मात्र राजा बन गया। किसी दिन मृगया के समय प्रतापभानु अपने साथियों से अलग होकर एक आश्रम में पहुँचा जहाँ मुनि के छद्मवेश में एक राजा रहता था जिसका देश प्रतापभानु ने छीन लिया था। कपट मुनि ने राजा का आतिथ्य सत्कार किया तथा उसे यह परामर्श दिया कि वह वर्ष

भर नित्यप्रति एक लाख ब्राह्मणों के लिए भोजन का प्रबन्ध करे। मुनि ने राजा को आश्वासन दिया कि वह स्वयं रसोइया बनकर अपने पुण्य के बल पर ब्राह्मणों को खिलायेगा और तीन दिन के बाद राजपुरोहित का रूप धारण कर राजा की सेवा में उपस्थित होगा। मुनि का आश्वासन पाकर राजा निश्चिन्त होकर सोने लगा। अब कालकेतु नामक राक्षस कपट-मुनि के पास आया। (कालकेतु ही शूकर के रूप में राजा को भटकाकर कपट मुनि के पास ले गया था; उसके वैर का कारण यह था कि प्रताप भानु ने कालकेतु के एक सौ पुत्रों तथा दस भाइयों का वध किया था।) मुनि के आदेशानुसार राजा ने सोए हुए राजा को घर पहुँचा दिया और राजा के पुरोहित को हरण कर उसे किसी पहाड़ी गुफा में रख दिया। तब वह पुरोहित के रूप में राजधानी में रहने लगा। तीन दिनों के बाद प्रतापभानु ने एक लाख ब्राह्मणों को भोजन का निमंत्रण दिया और राक्षस ने भोजन में ब्राह्मण का मांस मिला दिया। राजा परोसने लगा था कि आकाशवाणी सुनाई पड़ी और उसमें सब ब्राह्मणों को घर जाने का परामर्श दिया गया क्योंकि रसोई 'भूसुर मासु' की बनी थी। इस आकाशवाणी को सुनकर ब्राह्मणों ने प्रतापभानु को चार दिन में मरकर परिवार सहित राक्षस बन जाने का शाप दे दिया। तदनन्तर पुनः आकाशवाणी हुई कि राजा निर्दोष है। राजा ने रसोईघर में जाकर देखा कि भोजन और रसोइया दोनों वहाँ से गायब हैं। उसने ब्राह्मणों की बहुत अनुनय-विनय की किन्तु उन्होंने कहा कि ब्राह्मणों का शाप नहीं टल सकता।

कालकेतु, पुरोहित को फिर राजमहल पहुँचाकर कपट-मुनि के पास लौटा। तब मुनि ने प्रतापभानु के समस्त शत्रुओं को बुलाकर उसकी राजधानी पर आक्रमण किया। इस युद्ध में प्रतापभानु अपनी सेना तथा परिवार सहित मारा गया। समय पाकर प्रतापभानु रावण के रूप में प्रकट हुआ, अरिमर्दन कुंभकर्ण हुआ तथा धर्मरुचि ने विभीषण का रूप धारण किया। राजा का शेष परिवार और परिकर सभी लंका के राक्षस बन गए"।

(ग) विकास का सिंहावलोकन

(३२) सोदास तथा सुतसोम की कथायें मूलतः दो सर्वथा भिन्न तथा एक दूसरे से पूर्णरूपेण स्वतंत्र वृत्तान्त हैं। दोनों कथाओं का शताब्दियों तक जो विकास होता रहा इसकी एक प्रमुख विशेषता है—दोनों का पारस्परिक प्रभाव।

सोदास की कथा ने सुतसोम विषयक विस्तृत साहित्य को अपेक्षाकृत कम प्रभावित किया है। संयुक्तावदान, सुतसोम जातक के प्राचीनतम रूप। (दे० ऊपर अनु० ६-६) और जयद्दिस जातक, ये समस्त रचनाएँ सौदासीय कथा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हैं।

जातकमाला के सुतसोम जातक तथा इस पर आधारित वृत्तान्तों में कल्माषपाद को सोदास का नाम दिया गया है (दे० अनु० १३-१७)। महाभारत की उत्तंक विषयक

कथा का प्रधान आधार बौद्ध कथा ही है, किन्तु इसमें भी नरभक्षक राजा तथा शापग्रस्त सौदास दोनों को अभिन्न माना गया है (दे० अनु० ११)। दमभूकावदान की कथा का प्रधान आधार जातकमाला का सुतसोम जातक ही है किन्तु इसमें जो ब्राह्मण-शाप का प्रसंग आ गया है उसे सौदासीय कथा का प्रभाव समझना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही दमभूकावदान को छोड़कर अन्य सुतसोम विषयक कथाओं पर इतना ही प्रभाव पड़ा कि नरभक्षक राजा का नाम सौदास रखा गया है।

सौदासीय कथा पर सुतसोम जातक का प्रभाव कहीं अधिक गहरा है। सौदास को ब्राह्मण शाप के फलस्वरूप १२ वर्ष तक राक्षस बनना पड़ा। इसे वैदिक साहित्य की सुदास-विषयक सामग्री का स्वाभाविक विकास समझा जा सकता है। किन्तु महाभारत तथा रामायण दोनों में नरमांसाहार-प्रधान शाप का कारण माना गया है, वह बौद्ध साहित्य का प्रभाव प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त महाभारत, रामायण तथा परवर्ती रामकथाओं में सौदास को जो कल्माषपाद नाम दिया गया है, इसका मूलस्रोत सुतसोम-जातक ही है। महाभारत की सौदासीय कथा में दो और तत्व मिलते हैं जो सुतसोम जातक का प्रभाव सूचित करते हैं—(१) राक्षस बनने के बाद ही सौदास वसिष्ठ के पुत्रों का भक्षण करता है, (२) वशिष्ठ केवल शाप ही नहीं देते, अपितु वह सौदास को मुक्त भी करते हैं। अतः यह निर्विवाद है कि सुतसोम जातक ने सौदासीय कथा के विकास को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। अब इन दोनों कथाओं के विकास का अलग सिंहावलोकन अपेक्षित है।

(३३) सुतसोम की कथा का सरलतम रूप संयुक्तावदान में सुरक्षित है। इसके अनुसार एक नरभक्षक राक्षस किसी राजा की सत्यप्रतिज्ञता तथा सत्यवादिता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उस राजा का भक्षण करने का इरादा छोड़ दिया।[२४]

सुतसोम-विषयक कथाओं में भी नरभक्षक राजा बोधिसत्व के व्यक्तित्व (विशेषकर उनकी सत्यवादिता) से प्रभावित होकर अपना व्यसन छोड़ देता है और फलस्वरूप अपना राज्य पुन: प्राप्त कर लेता है। कुछ रचनाओं में वह विरक्त होकर तपस्वी बन जाता है, अर्थात् जयद्दिस जातक (तपस्वी), हिन्देशियाई सुतसोम जातक (बौद्ध संन्यासी), जैनियों की सौदासीय कथा (श्रावक)। चीनी मैत्रिराजराष्ट्रपाल-प्रज्ञा-पारमिता के अनुसार कल्माषपाद में ज्ञान का उदय हुआ जिससे वह मुक्ति के योग्य बन गया।

नरभक्षक के इस हृदय-परिवर्तन का कारण बोधिसत्व की सत्यवादिता अथवा (जयद्दिसजातक के अनुसार) उनकी पितृभक्ति को माना गया है। अत: प्रस्तुत कथा को बोधिसत्व की पारमिताओं के प्रतिपादन का माध्यम बना दिया गया है। एक ओर चरियपिटक तथा निदान कथा में सुतसोमजातक को सत्यवादिता पारमिता का उदाहरण बनाया गया; दूसरी ओर चीनी अनुवादों में सुतसोम जातक को तथा चरियपिटक में जयद्दिस जातक को शीलपारमिता का दृष्टान्त माना गया है।

---

२४. इसी तरह सौदास ने सत्यप्रतिज्ञ उत्तक को अपने पास न लौटने का परामर्श दिया (दे० ऊपर अनु० ११)।

सन्त (विशेषकर बोधिसत्व) के सम्पर्क का प्रभाव दिखलाना सुतसोम जातक का मूल उद्देश्य प्रतीत होता है"। फिर भी प्राचीन संयुक्तावदान को छोड़कर इस कथा के जितने भी रूप बौद्ध एवं जैन साहित्य में मिलते हैं। सब का प्रधान उद्देश्य है मांसाहार के कुपरिणाम का प्रतिपादन। प्रभावे राजा के मांसाहारी बनने के कई कारणों की कल्पना कर ली गई है; महासुतसोम जातक के अनुसार वह अपने पूर्वजन्म में नरभक्षक यक्ष था, जयद्दिस जातक में यक्षिणी ने उसे बचपन में नरमांस का भोजन करना सिखाया तथा जातकमाला के सुतसोम जातक में यह माना गया है कि वह मांसाहारी सिंहनी की सन्तान है। दममूकावदान में जातकमाला के इस कारण के अतिरिक्त ब्राह्मण-शाप का भी वर्णन किया गया है।

जातकमाला में जो सौदास की जन्मकथा मिलती है, इसकी कल्पना में महासुतसोम-जातक का 'कल्मापपाद' नाम भी सहायक हुआ होगा क्योंकि कल्मापपाद का अर्थ है—"वह जिनके पैर (सिंह के समान) चितकबरे हों।"

सुतसोम विषयक विभिन्न कथाओं के विषय में दो और बातों का उल्लेख करना है। महासुतसोम जातक के अनुसार आहत कल्मापपाद ने स्वास्थ्य-लाभ के उद्देश्य से किसी वृक्ष-देवता को राजाओं का बलिदान चढ़ाने की प्रतिज्ञा की थी तथा पूर्व-जन्म के किसी साथी यक्ष से उड़ने का वरदान प्राप्त किया था; जातकमाला तथा सिंहसौदास मांसभक्ष-निवृत्ति के अनुसार सौदास ने अपने नागरिकों के हाथों से निकलने के उद्देश्य से भूतयज्ञ का प्रण किया था और फलस्वरूप उसे पंख मिले थे, षट्पारमितादा समुच्चय तथा अर्वाचीन संयुक्तावदान में माना गया है कि निर्वासित राजा ने अपना राज्य पुनः प्राप्त करने के लिये इस प्रकार का प्रण किया था। मंत्रिराजराष्ट्रपाल-प्रज्ञापारमिता के अनुसार कल्मापपाद ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर १००० राजाओं का बलिदान चढ़ाने का संकल्प किया था।

नरभक्षक राजा के कैदियों की कैदियों की संख्या को उत्तरोत्तर बढ़ा दिया गया है। संयुक्तावदान में एक ही सत्यसंध राजा की चर्चा है; सुतसोम विषयक अधिकांश कथाओं में कैदी राजाओं की संख्या ९९ अथवा १०० है; अर्वाचीन संयुक्तावदान में इनकी संख्या ५०० है और दममूकावदान तथा मंत्रिराजराष्ट्रपाल—प्रज्ञापारमिता में १००० राजाओं का उल्लेख है।

(३४) सौदास की कथा का विकास अपेक्षाकृत कम जटिल है। इसका मूल स्रोत ऋग्वेदीय सुदास के दोनों पुरोहितों का पारस्परिक वैर है। वैदिक साहित्य में सौदासों पर वसिष्ठ की विजय का तथा बृहद्देवता में सुदास के प्रति वसिष्ठ के शाप का उल्लेख किया गया है। महाभारत की कथा में वसिष्ठ के शाप के स्थान पर उनके पुत्र शक्ति तथा किसी और ब्राह्मण के शाप की कथा मिलती है। रामायण तथा परवर्ती

२५. इसी कारण से महासुतसोमजातक तथा जातकमाला के अनुसार सुतसोम ने जो गाथाचतुष्टय को किसी ब्राह्मण से सीख लिया था, इसकी प्रथम दो गाथाओं का विषय सत्संग की महिमा ही है।
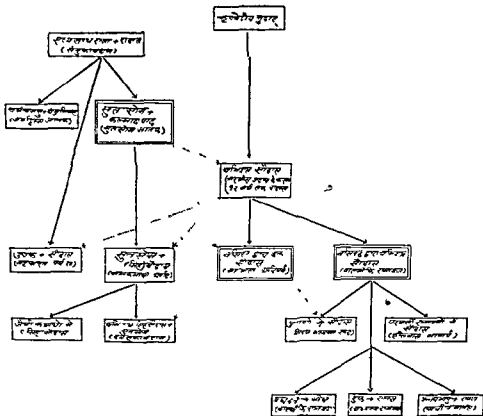
सौदास की कथा-विकास का रेखा चित्र

कथाओं में भी वसिष्ठ का शाप सौदास के राक्षसत्व का कारण माना गया है। सौदासीय-कथा पर आधारित अन्य तीन वृत्तान्तों में भी ब्राह्मण का शाप उल्लिखित है। अतः *सौदासीय कथा का प्रधान उद्देश्य है ब्राह्मण-शाप के महत्त्व का प्रतिपादन।*

रामायण तथा परवर्त्ती वृत्तान्तों में दो नये तत्त्व पाये जाते हैं—(१) विश्वामित्र-वसिष्ठ वैर के स्थान पर किसी राक्षस का षड्यंत्र जिसके साथी को सौदास ने मार डाला था; (२) कल्माषपाद नाम की व्युत्पत्ति के विषय में सौदास के प्रति शाप की कल्पना।

सौदासीय कथा के निर्वहण के विषय में महाभारत ने माना है कि वसिष्ठ ने १२ वर्ष तक शापग्रस्त सौदास को मुक्त किया था; रामायण आदि वृत्तान्तों में १२ वर्ष के बाद वसिष्ठ का शाप अपने आप से समाप्त हो जाता है और सौदास अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लेता है। स्कन्द पुराण एक शैव ग्रन्थ है अतः इसमें शिव के वरदान का भी *उल्लेख किया गया है, जिसके फलस्वरूप सौदास को ब्रह्महत्या दोष से मुक्ति मिलती है।* कृत्तिवास रामायण में सौदास की मुक्ति में गंगाजल भी सहायक माना गया है। समस्त कथाओं में सौदास पुनः अपना राज्य प्राप्त कर लेता है।

सौदासीय कथा के जो रूपान्तर परवर्त्ती राम-कथा-साहित्य में मिलते हैं, इनकी *सामान्य विशेषता यह है कि ब्रह्मदत्त, शुक तथा रावण तीनों राम के सम्पर्क से शाप-मुक्त* हो जाते हैं। अतः सौदासीय कथा को राम की महिमा प्रतिपादित करने का माध्यम बना दिया गया है। रामभक्ति के पल्लवन के पश्चात् राम-कथा के समस्त पात्रों का उदात्तीकरण हुआ है; अध्यात्म रामायण (३, ५, ६०) के अनुसार रावण ने विष्णु के हाथ से मारे जाने तथा इस तरह मुक्ति पाने की इच्छा से सीता का हरण किया था। प्रतापभानु की कथा के अनुसार रावण वास्तव में एक भगवद्भक्त धर्मभीरु राजा था—

> करै जे धरम करम मन बानी।
> बासुदेव अर्पित नृप ग्यानी॥
>
> (रामचरितमानस १, १५६, २)

अपने शत्रु के षड्यंत्र से ब्राह्मणों का शाप भाजन बनकर उसने अपनी दयनीय दशा द्वारा भगवान् को अवतार लेने के लिये बाध्य किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक दीर्घकालीन विकास के अन्त में सौदास की कथा भक्तवत्सल भगवान राम के गुणगान में परिणत हो गई है।

(३५) रेखाचित्र में सुतसोम तथा सौदास की कथाओं का पारस्परिक प्रभाव तथा दोनों का क्रमिक विकास दिखलाने का प्रयास किया गया है।

डा० विश्वनाथ मिश्र

अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्त

पश्चिम में अन्य साहित्यिक रूपों की भाँति नाट्य कला का विकास भी सर्वप्रथम यूनान में हुआ; और नाट्य सिद्धान्तों की विवेचना भी सब से पहिले यूनान में ही अरस्तू (ई० पू० ३८४–३२२) के ग्रन्थ 'दि पोएटिक्स' में देखने को मिली। साहित्य के विकास-क्रम में किसी साहित्यिक रूप की उत्पत्ति और थोड़े बहुत विकास के अनन्तर ही, उसके सिद्धान्तों की शास्त्रीय विवेचना मिलती है: अरस्तू के इस ग्रन्थ के पूर्व भी हम यूनानी नाटक का सम्यक् विकास देखते हैं। यूनानी नाटककारों में सब से पहिले ईस्किलस (ई० पू० ५२५–४५६) का नाम आता है। इस लेखक की रचनाओं में नाट्य कला का जो रूप है, उससे यह निश्चित धारणा बनती है कि इसके पूर्व भी इस साहित्यिक रूप के विकास की एक परंपरा रही होगी। इस सम्बन्ध में केवल इसके उल्लेख मात्र मिलते हैं कि मिस्र में और स्वयं यूनान में इसके पूर्व नाटकीय अभिनय हुआ करते थे, किन्तु एक भी नाटकीय कृति प्राप्त नहीं होती। ईस्किलस की सभी रचनाएँ दुखान्तकी हैं। इस लेखक के बाद सौफोक्लीज (ई० पू० ४९५–४०६) तथा यूरीपिडीज (ई० पू० ४८०–४०६) ने दुखान्तकी नाटकों की कला को और विकसित किया। मानव जीवन के दुःखमय अवसान का चित्रण करने वाली इन रचनाओं के अतिरिक्त एरिस्टोफेन्स (ई० पू० ४४८–३८०) मेनेन्डर (ई० पू० ३४३–२९२) आदि की कृतियों में यूनान के सुखान्तकी नाटक का रूप प्राप्त है। अरस्तू के समय तक इन नाटककारों में इस प्रकार ईस्किलस, सौफोक्लीज, यूरीपिडीज एवं एरिस्टोफेन्स हो चुके थे, और इन्हीं की रचनाओं के विश्लेषण के आधार पर उन्होंने नाट्य सिद्धान्तों की विवेचना उपस्थित की।

अरस्तू ने सभी कलाओं को सामान्यतः अनुकृति मूलक माना है[1]; और नाटक को मानवीय चेष्टाओं की अनुकृति कहा है।[2] उनके इन मन्तव्यों से स्वभावतः यह धारणा बनती है कि वे कला को यथार्थ का अनुकरण मानते हैं, किन्तु नाट्य कला का

---

१. बैरेट एच० क्लार्क 'योरोपियन थियरीज ऑफ दि ड्रामा' (सं० १९५६) में अरस्तू के दि पोएटिक्स के अनुवाद देखिये पृ० ६, स्तम्भ १, पृ० ९–११।

२. वही, पृ० ७, स्त० २, प० ९–१२।

आगे चल कर उन्होंने जो विवेचन किया है उससे कुछ और ही दृष्टिकोण प्रकट होता है। अरस्तू के समय तक यूनानी नाटक के जो दुखान्त और सुखान्त दो रूप विकसित हो गये थे, उनमें, दुखान्तकी में उन्होंने मानव चरित्र के सद् स्वरूप के सम्भाव्य उत्कृष्ट रूप की ओर सुखान्तकी में उसके असद् स्वरूप के और भी ह्रासोन्मुख रूप की अनुभूति मानी है।[३] अरस्तू के अनुसार, नाटकीय रचनाओं में इस प्रकार, मानवीय चेष्टाओं के यथार्थ स्वरूप की नहीं वरन् सम्भाव्य उत्कृष्ट या निकृष्ट रूप की अनुकृति होती है। यह जीवन की यथार्थता का नाटककार की भावना और कल्पना में अनुरंजित चित्रण है, और इसे वास्तविकता का "अनुकृति-मूलक चित्रण नहीं, वरन् आदर्शीकृत चित्रण कहा जा सकता है। अरस्तू, इस प्रकार, अन्य कलाओं के संबंध में तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु नाटकीय रचनाओं में तो निश्चित रूप से, जीवन के यथार्थ नहीं वरन् आदर्श स्वरूप की अभिव्यक्ति मानते हैं।

अरस्तू ने, दुखान्तकी की कला को, सुखान्तकी से अधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। इसीलिए सम्भवत उन्होंने दुखान्तकी के विभिन्न तत्वों की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार दुखान्तकी किसी महान्, उदात्त एवं व्यापक प्रभाव के कार्य की, सम्मोहक भाषा में, वर्णनात्मक नहीं वरन् अभिनयात्मक रूप में, अनुकरण के विभिन्न प्रकारों का उपयोग करते हुये अनुकृति है, जो करुणा और भय की भावनाओं को जागरूक करके मनुष्य के इन मनोद्वेगों का परिशोधन करती है।[४] अरस्तू ने दुखान्तकी के कथावस्तु, चरित्र, रचना रीति, मनोद्वेग, दृश्य विधान और संगीत, ये षट् तत्व भी बताये हैं। इनमें सब से महत्वपूर्ण तत्व कथा वस्तु है, जिसमें विभिन्न घटनाओं के संयोग के सहारे किसी महान् कार्य की अनुकृति उपस्थित की जाती है। अरस्तू ने इस कार्य को ही दुखान्तकी का मूल तत्व स्वीकार किया है, और उनका कहना है कि उसमें उसकी सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति होनी चाहिए।[५] इस सम्पूर्णता से उनका तात्पर्य है कि उस महान कार्य के प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों ही प्रदर्शित किये जाने चाहिए; और इस प्रदर्शन में अनुपात और अनुक्रम के सहारे सौंदर्य की योजना होनी चाहिए।[६] इस संबंध में उन्होंने यह भी लिखा है कि दुखान्तकी नाटक किसी महान् चरित्र के जीवन का इतिहास अथवा इतिवृत्त नहीं, वरन् एक महत्वपूर्ण अथवा व्यापक प्रभाव वाले कार्य का वर्णन है।[७] इसलिए उसमें उस कार्य से ही संबंधित प्रसंगों की उचित विस्तार के साथ योजना होनी चाहिए।

अरस्तू ने दुखान्तकी की मूल आत्मा और उसकी कथावस्तु के आधार भूत तत्व, कार्य पर विचार करने के बाद कथा की रूप योजना पर विचार किया है। कथावस्तु

---

३ वही, पृ० ७, स्त० १, प० २७–३०।
४ वही, पृ० ६, स्त० २, प० २४–३२।
५. वही, पृ० १२, स्त० १, अ० ८, प० २२–२५।
६. वही, पृ० ११, स्त०, १, अ० ७, प० ६–३६।
७ वही, पृ० ११, स्त० २, अ० ७, प० १–६, तथा पृ० १२, स्त० १, प० १–२ एवं १६–२५।

घटना क्रम से दृष्टि के सरल और मिश्रित, दो प्रकार की हो सकती है। सरल कथा, एक सीधी रेखा की भांति बिना किसी प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन के बढ़ती जाती है। मिश्रित कथा में, आकस्मिक परिवर्तन और नव घटनाओं के संयोग से कौतूहल वृद्धि के सहारे मनोरंजन की योजना होती है। इसी आधार पर उन्होंने मिश्रित कथाओं का उपयोग करने वाले दुखान्तकियों को श्रेष्ठ माना है।[८] कथावस्तु के विकास में आकस्मिक परिवर्तन अथवा घटना वैचित्र्य एवं प्रत्यभिज्ञान की योजना, दुखान्तकी नाटक के मूल उद्देश्य भय और करुणा की भावनाओं को जाग्रत करने की दृष्टि से होनी चाहिए।[९] इन भावनाओं को जागरूक करने के लिए, दुखान्तकीकार को, किसी उदात्तमना व्यक्ति को अपनी किसी आकस्मिक भूल अथवा किसी चरित्रगत दुर्बलता के कारण उत्थान से पतन की ओर आते हुए दिखाना चाहिए। भय और करुणा की उत्पत्ति इन भावनाओं को जागरूक करने वाले दृश्यों की योजना से भी हो सकती है; किन्तु यह शैली सरल कथा वस्तु की भांति निम्न कोटि की है: नाटककार को कथा क्रम के विकास के सहारे इन्हें उत्पन्न करना चाहिए।[१०] इस उद्देश्य की पूर्ति की दृष्टि से नाटककार प्रसिद्ध कथा में आवश्यक परिवर्तन भी कर सकता है।

अरस्तू के अनुसार, कथावस्तु के बाद, दुखान्तकी का महत्वपूर्ण तत्व चरित्र है। दुखान्तकी के नायक का उदात्तमना होना आवश्यक है। उदात्तमना होने से उनका यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि वह पूर्णतः सदगुणों से ही सम्पन्न हो, उसमें चरित्रगत दुर्बलताएं भी हो सकती है।[११] किन्तु सुख के प्रसंग से उसका दुःख की ओर अग्रसर होना उसकी आकस्मिक भूल या चारित्रिक त्रुटि के कारण दिखाया जाना चाहिए।[१२] तभी नाटक भय और करुणा की भावनाओं को जगाकर उनका परिशोधन कर सकेगा। अरस्तू ने दुखान्तकी के नायक के चरित्र चित्रण में उदात्त गुणों की अवधारणा के साथ औचित्य, अनुरूपता तथा समरसता का निर्वाह भी आवश्यक माना है।[१३] विरोधी चरित्रों की सृष्टि में नाटककार, यदि, मित्रों या एक ही परिवार के व्यक्तियों के बीच अनजाने संघर्ष का चित्रण कर सके जो उसकी रचना उत्कृष्ट होगी।[१४] किसी चरित्र के अभिज्ञान के लिए नाटककार उसके शरीर के नैसर्गिक चिह्नों, स्मृति, बौद्धिक विश्लेषण, पत्र आदि का उपयोग कर सकता है; किन्तु यह प्रसंग घटना वैचित्र्य तथा प्रत्यभिज्ञान के द्वारा चमत्कारिक रूप में अवतरित किया जाना चाहिए।[१५] औचित्य, अनुरूपता एवं समरसता का उपयोग नायक के अतिरिक्त अन्य चरित्रों के चित्रण में भी अनिवार्य है।

---

८. वही, पृ० १४, स्त० २, अ० १३, प० ५–८
९. वही, पृ० १४, स्त० १, प० ४–८
१०. वही, पृ० १५, स्त० २, अ० १४, प० १–५
११. वही, पृ० १५, स्त० १, पं० १०–१४
१२. वही, पृ० १५ स्त० १, प० २०–२९
१३. वही, पृ० १७, स्त० १, पं० ५–१४
१४. वही, पृ० १६, स्त० १, प० १८–२३ तथा स्त० २, प० १७–१८
१५. वही, पृ० १८, स्त० २, प० ३०–३४

चरित्र चित्रण में औचित्य के निर्वाह के लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि पुरुष में स्त्री और स्त्री में पुरुष के गुणों की स्थापना न हो जाय।[16] चरित्र में अनुरूपता की सृष्टि के लिए उसमें स्वाभाविकता को बराबर बनाये रखना चाहिए। चारित्रिक समरसता से सम्भवतः अरस्तू का तात्पर्य नाटक के मूल कार्य के साथ चरित्रों के निरंतर योग से है। चरित्र चित्रण के संबंध में उनका विचार है कि वह चेष्टाओं एवं क्रिया-कलापों के माध्यम से उपयुक्त होता है।[17]

अरस्तू ने दुखान्तकी के अन्य तत्वों मनोद्वेग, रचना रीति आदि पर विशेष विचार न करके केवल संकेत मात्र दे दिये हैं। मनोद्वेगों की अभिव्यक्ति में नाटककार को परिस्थिति की प्रेरणा और सम्भावनाओं का अनुसरण करते हुए विश्वजनीनता की सृष्टि करनी चाहिए।[18] इस संबंध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अभिनेताओं को विभिन्न भावनाओं को स्वाभाविक एवं प्रभावोत्पादक रूप में अभिव्यक्त करना है।[19] यह तभी सम्भव हो सकेगा जब नाटककार स्वयं प्रार्थना, वर्णन, प्रश्नवाचन भयोत्पादन आदि के मनोविज्ञान तथा अभिव्यंजना कौशल से परिचित हो।[20] यह अभिव्यंजना कौशल दुखान्तकी का चौथा तत्व रचना रीति है, जिसके अन्तर्गत शब्द योजना, छन्द प्रयोग आदि आते हैं; अरस्तू ने इस पर विचार नहीं किया है। इसी प्रकार, दुखान्तकी के पाँचवें तत्व दृश्य विधान को भी रगमंच पर प्रयोग से संबंधित शिल्प कह कर, छोड़ दिया गया है। अन्तिम तत्व संगीत भी दुखान्तकी के प्रयोगात्मक रूप से संबंधित है; इसीलिए उसकी विवेचना भी नहीं है।

अरस्तू ने दुखान्तकी की कला से सुखान्तकी निकृष्ट स्वीकार करने के कारण ही सम्भवत: उस पर विशेष विस्तार से विचार नहीं किया है:—उनके समय तक सुखान्तकी रचनाओं का विशेष विकास भी तो नहीं हुआ था। सुखान्तकी रचना मानव चरित्र के दुर्बल पक्ष का उद्घाटन करती है। अरस्तू के अनुसार उसमें भी जैसा हम पहले कह आये हैं मानव चरित्र की दुर्बलताओं का यथार्थ चित्रण नहीं वरन् सम्भाव्य, और भी हीनतर रूप का अनुकरण होना चाहिए।[21] मानव चरित्र के इस दुर्बल पक्ष की अनुकृति में उसके कुत्सित स्वरूप का नहीं वरन् विद्रूपता का चित्रण होना चाहिए।[22] यह विद्रूपता चरित्र विशेष की किसी दुर्बलता से संबंधित हो सकती है।—अरस्तू ने इस संबंध में मानसिक असगति, अनौचित्य, अर्थहीनता, विपरीतता, जटिलता, द्वन्द्वात्मक वृत्ति, अनैतिकता आदि

---

१६. वही, पृ० १७, स्त० १, पं० ८–६
१७. वही, पृ० १०, स्त० १, पं० ४५–५० तथा स्त० २, पं० १
१८. वही, पृ० १०, स्त० २, पं० ४०-४२ तथा पृ० ११, स्त० १, पं० १-४
१६. वही, पृ० २१, स्त० १, पं० १६-२०
२०. वही, पृ० २१, स्त० १, पं० २६-३३
२१. वही, पृ० ७, स्त० १, पं० २६-३०
२२. वही, पृ० ८, स्त० १, अ० ५, पं० २-४
२३. डॉ० एस० बी० क्षत्री—'नाटक की परख,' पृ० ११७ में देखिये अरस्तू के ग्रन्थ 'एथिक्स' का उद्धरण।

चारित्रिक दुर्बलताओं के उपयोग का परामर्श दिया है।[२४] उन्होंने यह भी कहा है कि इस प्रकार के चित्रण का उद्देश्य किसी प्रकार की ध्वंसात्मक भावना—हँसी उड़ाना, निन्दा करना या कष्ट देना—नहीं होनी चाहिए।[२५] कला की सामान्य रूप में चर्चा करते हुए, उन्होंने उससे उत्पन्न होने वाले अनुशासन एवं आनन्द के भावों का उल्लेख किया है:—[२६] सुखान्त की रचनाओं से भी तो इन उद्देश्यों की सिद्धि होती है। यद्यपि अरस्तू ने इस तथ्य को स्पष्ट नहीं किया है।

पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के बहुचर्चित संकलनों का उल्लेख भी सर्वप्रथम अरस्तू के ग्रन्थ दि पोएटिक्स में ही मिलता है। कार्य-सकलन को तो उन्होंने दुखान्त की रचनाओं के लिए ही नहीं, महाकाव्यों के लिए भी आवश्यक माना है।[२६] काल संकलन के संबंध में एक स्थान पर उन्होंने यह कहा है कि दुखान्तकी का घटनाक्रम विशेष रूप से सूर्य की एक कालावधि में सीमित रहता है।[२७] 'सूर्य की एक कालावधि' से क्या तात्पर्य है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया; इसीलिए विद्वानों को इस संबंध में अटकलें लगाने की छूट मिल गयी है, और कोई इसका तात्पर्य चौबीस घंटे, कोई बारह घंटे और कुछ और भी कम या अधिक लेते हैं। फिर भी यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि काल संकलन भी दुखान्त की रचना के लिए अरस्तू की दृष्टि से अपेक्षित है। महाकाव्य का अनुशीलन करते हुए उन्होंने संकलनों की चर्चा फिर से उठायी है.—इस कोटि की कुछ रचनाएँ अपने को एक चरित्र, एक समय और एक कार्य तक भी सीमित रहती है।[२८] अरस्तू के अनुसार इन्हें ही संकलन-त्रय कहा जा सकता है; और यद्यपि अरस्तु ने स्पष्ट कहा नहीं है, तथापि इनका उपयोग यूनानी नाटकों में भी है। स्थल संकलन की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की है; किन्तु आगे चलकर रोम के प्रसिद्ध आलोचक होरेस ने अरस्तू के 'एक चरित्र' के स्थान पर उसका प्रतिपादन करके सकलन-त्रय के शास्त्रीय सिद्धान्त की पूर्णतः प्रतिष्ठा की।

अरस्तू के नाट्य कला के विवेचन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण दुखान्तकी के मानसिक प्रभाव 'कथार्सिस' का सिद्धान्त है। उन्होंने स्वय यह स्पष्ट नहीं किया है कि उनका 'कथार्सिस' से क्या तात्पर्य है : सम्भवत. वह अंश जिसमें इस सिद्धान्त का विवेचन रहा हो, प्राप्त ही न हो।[२९] अंग्रेजी में इस शब्द के दो अनुवाद 'पर्गेशन' और 'प्यूरीफिकेशन' किये गये हैं: हिंदी में इनके लिए 'विरेचन' और 'परिशोधन' का प्रयोग मिलता है। 'कथार्सिस' शब्द की अलग-अलग विद्वानो ने अलग-अलग व्याख्याएँ उपस्थित

---

२४. वही, पृ० ११७।

२५. ब्रिटेन एच क्लार्क—'मोहो विज्ञान थिअरीज़ ऑफ दि ड्रामा', पृ० ७, स्त० २, अध्याय ४, प० ६-८।

२६. वही, पृ० २१, स्त० १-२, अ० २३, पृ० १-६

२७. वही, पृ० ६, स्त० १, अ० ५, प० ३५-३७

२८. वही, पृ० २१, स्त० २, प० ३७

२९. अरस्तू के ग्रन्थ 'दि पोएटिक्स' की खडित प्रति ही प्राप्त है; इसलिए सभव है सम्पूर्ण प्रति में 'कथार्सिस' की विवेचना भी रही हो।

भी है। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि यह शब्द अपने साथ रूपकात्मक प्रयोग की भावना लिए हुए है। मूलत. यह शब्द चिकित्सा शास्त्र से सबधित माना जाता है और इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए योरोपीय पुनरुत्थान के युग में एक इटालवी विद्वान मिन्टर्नो ने इस सिद्धान्त का विश्लेषण किया था : विरेचक औषधियाँ किसी रोगी के शरीर के विषाक्त तत्वों को बाहर निकालकर जिस प्रकार उसे स्वस्थ बनाती हैं, उसी प्रकार दुखान्त की रचना पाठकों अथवा दर्शकों के मन में भय और करुणा की भावनाओं को जगाकर, उनके मन से इन भावनाओं के दूषित प्रभाव को बहिष्कृत करके उसे स्वस्थ-चित्त बनाती है।[30] इसी व्याख्या का आधार लेकर कुछ विद्वान 'कथार्सिस' का तात्पर्य अन्तं-आत्मा का परिशोधन लेते हैं, कुछ नैतिक दृष्टि का विस्तार मानते हैं; कुछ मानसिक उन्नयन का अर्थ ग्रहण करते हैं, कुछ चरित्र सशोधन मात्र समझते हैं; और कुछ कलात्मक आनन्द के रूप में स्वीकार करते हैं। वस्तुत 'कथार्सिस,' दुखान्तकी के पाठ अथवा दर्शन द्वारा उत्पन्न मानसिक सन्तुलन है, जो अपने साथ अपनी इन सभी व्याख्याओं के भावों को समाहित किये हुए है, सम्भव है, उसके अर्थ विधान के कुछ ऐसे पद भी हों जिनकी ओर अभी हमारी दृष्टि ही न गयी हो।

अरस्तू के नाट्य सिद्धान्तों के इस अध्ययन से उनकी विचार परंपरा के निम्न-लिखित सूत्र हैं:—

१. सभी कलाएँ अनुकृति मूलक हैं।

२. नाट्य कला भी अनुकृति मूलक है; किन्तु वह यथार्थ की अनुकृति नहीं, वरन् जीवन के सम्भाव्य रूप की, मनुष्य जैसा हो सकता है उसकी अनुकृति है।

३. दुखान्तकी रचना मानव चरित्र के उदात्त स्वरूप के सम्भाव्य उत्कृष्ट रूप की अनुकृति है।

४. सुखान्तकी में मानव चरित्र के ह्रासोन्मुख रूप के, और भी निकृष्ट रूप का अनुकरण होता है।

५. दुखान्तकी का मूल तत्व कार्य है, और एक दुखान्तकी रचना में व्यापक महत्व के एक कार्य का पूर्णता के साथ चित्रण होना चाहिए।

६ दुखान्तकी का उद्देश्य भय और करुणा की भावनाओं को जगाकर 'कथार्सिस, की प्रक्रिया अर्थात् मानसिक स्वास्थ्य को उत्पन्न करना है।

७. कला मात्र का उद्देश्य अनुशासन और आनन्द की कृतियों को जागरूक करना है।

अरस्तू अपने इस नाटकीय दृष्टिकोण को लेकर, विशुद्ध वैज्ञानिक के रूप में नहीं, जैसाकि कुछ लोग उन्हें घोषित करते हैं, वरन् मानवतावादी विचारक के रूप में हमारे आगे आते हैं।

---

३० एस० एच० बूचर . एरिस्टाटिल्स थियरी ऑफ पोएट्री एँड फाइन आर्ट' (चतुर्थ सस्करण') पृ० ३४७, पद टिप्पणी में उद्धृत।

डा० भगवती प्रसाद सिंह

श्री कृष्णदास पयहारी

साधना एवं कृतित्व

श्री कृष्णदास पयहारी स्वामी रामानद के प्रशिष्य और अनतानद के शिष्य थे। रामानदीय सप्रदाय का वर्तमान व्यापक रूप बहुत अश में इन्ही की देन है[1]। वास्तव में सप्रदाय प्रवर्तक के महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये जिन चारित्रिक गुणो की अपेक्षा थी, कृष्णदास के प्रभावशाली व्यक्तित्व में वे पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थे। उनके प्रशिष्य नाभादास के निम्नाकित शब्द इसके साक्षी हैं[2]।

> जाके सिर कर धर्यो तासु कर तर नहिं अड्डयो।
> अर्प्यो पद निर्वान सोक निर्भय कर छड्डयो।।
> तेज पुज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
> सेवत चरन सरोज राव-राना भुवि जेता।।
> दाहिमा वश दिनकर उदय सत कमल हिय सुख दयो।
> निर्वेद अवधि कलि कृष्णदास अन परिहरि पय पान कियो।।

ये राजस्थान के निवासी दाधीच्य ब्राह्मण थे। इनका गुरु प्रदत्त नाम कृष्णदास था। दीक्षा के अनन्तर योगसाधना में प्रवृत्त होने पर इन्होंने अन्न त्याग कर केवल दुग्ध-पान का व्रत ले लिया था इसलिये तात्कालीन सतसमाज में ये 'पयहारी' नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी मुख्य साधनाभूमि गलता थी।[3] भक्तमाल में इनकी सिद्धियो का वर्णन करते

---

१. रामभक्तों के ३७ द्वारों में से २० द्वारे श्री कृष्णदास पयहारी की ही परपरा के हैं। इनकी शताधिक शाखा प्रशाखाएँ देश के विभिन्न भागों में फैली हुई हैं।

२. श्री भक्तमाल (भक्ति रसायनी व्याख्या-वृन्दावन)—पृ० २६५।

३. जयपुर नगर के पूर्वी भाग में सूरज पोल से गलता को मार्ग जाता है। यह स्थान वहां से थोड़ी ही दूरी पर पहाड़ी में स्थित है। पयहारी जी की गद्दी और धूनी का दर्शन करने प्रति वर्ष हजारों यात्री यहाँ आते हैं। इस आचार्य पीठ की परपरा अब तक अक्षुण्ण रूप से चल रही है।

हुए कहा गया है कि एक बार इन्होंने अतिथि रूप में आए हुए सिंह की अभ्यर्थना अपना मांस अर्पित करके की थी और इस प्रकार कलियुग में परोपकारी महर्षि दधीच के आदर्श की स्थापना की थी।[४] प्रियादास ने अपनी टीका में पयहारी जी की सिद्धाई के दो और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—एक है कुल्लू (पंजाब) के राजपुत्र की प्राण रक्षा कर उसे अपना कृपापात्र बनाना और दूसरा है एक स्त्री के गर्भस्थ बालक के विषय में सत्य भविष्य वाणी करना कि वह महान् संत होगा।

'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के रचयिता जीवाराम 'युगलप्रिया' ने गलता के अतिरिक्त पयहारी जी की एक दूसरी तपोभूमि पुष्कर का भी उल्लेख किया है और उन्हें माधुर्यभाव का रामोपासक माना है।[५] उक्त ग्रंथ के टीकाकार वासुदेवदास ने इनकी साधना के विषय में कुछ अधिक विवरण दिये हैं। उनके अनुसार अनन्तानंद से मंत्रदीक्षा लेकर पयहारी जी तीर्थयात्रा को चले गए। लौटने पर उन्हें गुरु के देहावसान का समाचार मिला। गुरुपीठ में ही ठहर कर उन्होंने एक विशाल भंडारा किया। इसके पश्चात् वे पुष्कर चले गए और वहाँ १४ वर्ष तक घोर तपस्या की। इस अनुष्ठान में छः वर्ष के भीतर ही उन्हें आराध्य युगल श्री सीताराम ने साक्षात् दर्शन देकर कृतार्थ किया।[६] इस प्रकार पुष्कर में योग सिद्धि प्राप्त कर के वे गलता लौट आये और वहाँ की रम्य प्राकृतिक शोभा से आकृष्ट होकर वे कुछ दिन ठहर गए। इस बीच आमेर नरेश पृथ्वीराज (सिंहासना

४. गलते गलित अमित गुण सदाचार सुठि नीति।
दधीच पाछे दूजी करी कृष्णदास कलि जीति।।
कृष्णदास कलि जीति न्यौति नाहर पल दीयौ।
अतिथि धर्म प्रतिपालि प्रगट जस जग में लीयौ।।
उदासीनता (की) अवधि कनक कामिनि नहिं रातो।
रामचरण मकरंद रहत निसिदिन मदमातो।।
—श्री भक्तमाल (वृंदावन)—पृ० ६१५

५. कृपा अनंतानंद रसिक पूरन पयहारी।
कृष्णदास रसरीति उपासक सियव्रतधारी।।
पुष्कर छाया भजनभूमि प्रगटी सिय प्यारी।
पूर्व सूचिका धरी कथा प्रिय नेह सुधारी।।
जिमि उलूक अरु काग रति निरय रास रस रूप गति।
आचारज शृंगार पथ शिष्य अग्र से विमल मति।।
—रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ० १३

६. तारक जुगुल मंत्रराज जपठान्यो व्रत द्वादश जुगुल वर्ष हर्ष उर छाय कै।।
छठए बरस दिव्य दंपति दरस पाय उठि हरषाय दंडवत कीनी भाय कै।।
—र० प्र० भ०, पृ० १३

रोहणकाल फाल्गुन कृष्ण ५, स० १५५६) का दीवान विद्याधर उनके दर्शनार्थ आया। वह इनसे बहुत प्रभावित हुआ। उसने लौट कर महाराज को एक तपोनिष्ठ महात्मा के आने का समाचार सुनाया। उन दिनो आमेर के राजगुरु नाथपथी योगी तारानाथ थे। उन्हें भी अपने अनुयायियो से यह सूचना मिली। वे तत्काल ही कुछ योगियों को साथ लकर पयहारी जी के पास गए और उनसे गलता छोडकर अन्यत्र चले जाने का अनुरोध किया। कृष्णदास जी ने केवल एक रात ठहरने की अनुमति चाही, किंतु वे न माने। शारीरिक बल प्रयोग करके इन्हें हटाने की इच्छा रखते हुए भी वे साहस न कर सके। अत अपनी परपरानुसार यत्र मत्र तथा कृत्या द्वारा इन्हें विचलित करने का प्रयत्न किया। इन पर उसका कोई प्रभाव नही हुआ। उलटे विरोधी ही उसके शिकार बने। योगियो ने क्रुद्ध होकर, जिस स्थान पर पयहारी जी बैठे थे, उसके ऊपर की एक चट्टान लुढका दी जिससे इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। किंतु कृष्णदास जी ने अपने अद्भुत यागवल से उसे बीच में ही रोक दिया।[७] अत में योगी तारानाथ सिंह बनकर गरजता हुआ सामने आया। पयहारी जी ने कमडल का जल अभिमत्रित करके उसके ऊपर फेंका जिससे वह गदहा हो गया। इतना ही नही उनकी अलौकिक सिद्धि के प्रताप से सभी स्थानीय योगियो की कर्ण मुद्राएँ निकल कर उनके सामने एकत्र हा गई। प्रात काल जब आमेर नरेश गुरु का दर्शन करने गए तो उन्हें मुद्राहीन देखकर बडे आश्चर्य में पड गए। कारण पूछने पर गुरु तो लज्जा-वश कुछ न बाले परन्तु दीवान ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। महाराज पृथ्वी राज ने पयहारी जी की सेवा में गुरु सहित उपस्थित होकर क्षमा याचना की। अन्य योगी भी आकर उनके चरणों पर पडे। पयहारी जी ने उन्हें क्षमा कर दिया। गदहा बने हुए नाथपथियो को अपना पूर्वरूप मिल गया। कर्ण मुद्रायें भी सब को पूर्ववत् प्राप्त हो गई। पयहारी जी ने उन से गलता छोडकर किसी दूसरे स्थान पर अड्डा बनाने को कहा साथ हो उन्हें दड के रूप में नित्य पाँच बोझ लकडी धूनी के लिये पहुँचाने का आदेश दिया। इसके पश्चात् योगियों की इष्टदेवी भी आई और कृष्णदास जी की शिष्या हो गई। पृथ्वीराज ने तारानाथ से नाता तोडकर पयहारी जी का शिष्यत्व ग्रहण किया। उन्हें षडक्षर राममत्र की दीक्षा के साथ ही साधु सेवा और

---

७ राज गुरु सेवरा ने सुनि एक सिद्ध आये देखि घबराए तेज कही कहा कीजिए ।।
मिलि दस पाँच गए कही ह्याते उठि जावो जायगे अवश्य आजु रैन रहे दीजिए ।।
जत्र मत्र मूठि काल कृत्या लै चलाई सब उलटि पठाई निज कियो फल लीजिए ।।
तब सिसियाय सिला ऊपर गिराई स्वामी अधर झुलाई कह्यो इन्है न पतीजिए ।।

—रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ० १३

संकीर्तन में कालयापन करते हुए नित्य रामनाम जप का उपदेश हुआ।[८] इसी समय से गलता पयहारी जी का प्रधान पीठ बन गया। यहीं पर कुछ दिनों बाद उन्होंने दो शरणागत बालकों—कील्हदास और अग्रदास को पंचसंस्कार युक्त करके साधना में प्रविष्ट किया। एक लम्बी आयु भोगने के पश्चात् गद्दी का दायित्व बड़े शिष्य कील्हदास को सौंप कर श्री कृष्णदास जी ने अपनी ऐहिक लीला संवरण की।

कील्हदास ने गुरु द्वारा उपदिष्ट साधना पद्धति का सम्यक् प्रचार एवं संवर्द्धन किया। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि तत्कालीन देशाधिपति ने मथुरा प्रवास के समय इनकी योग सिद्धि के परीक्षार्थ सिर पर लोहे की कील ठुकवा दी थी[९] किन्तु उस स्थिति में भी ये समाधिस्थ रहे। ये सांख्ययोग के पारगत विद्वान् थे। इनके शिष्य द्वारका

---

८. सुनो पृथिराज कुश वस में विदित जन्म,
पाय सीतानाथ भजो क्यों न मन लायकै।
स्वामी हम संसृति भुलाने नहिं जानें कैसो,
वैष्णव धरम प्रभु कहो समुझाय कै॥
सुनिकै प्रवृत्ति को निवृत्ति को स्वरूप कह्यो,
नाम को महत्त्व सुनि दियो शीय नाय कै।
द्वादश तिलक माला छाप नाम मंत्र ध्यान,
पायो सुख छायो भयो अभय बजायकै॥

—रसिक प्रकाश भक्त माल, पृ० १४

नाभादास ने आमेर नरेश पृथ्वीसिंह की गणना तत्त्वदर्शी राम भक्तों में की है। पयहारी जी के प्रसाद से प्राप्त इनकी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

(श्री) कृष्णदास उपदेश परम तत्त्व परचौ पायो।
निरगुन सगुन निरूपि तिमिर अज्ञान नसायो॥
काछ वाच निकलंक मनो गांगेय युधिष्ठिर।
हरि पूजा प्रहलाद धर्मध्वजधारी जग पर॥
पृथीराज परचौ प्रगट तन सख चक्र मंडित कियो।
आमेर अछत कूरम को द्वारिका नाथ दरसन दियो॥

—श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृ० ७१६

९. कील कील सिरदई नृपति तबहूँ नहि जागे।
प्रबल समाधी रसिक रामसिय छवि अनुरागे॥

—र० प्र० भ०, पृ० १४

एक समै सहज सुभाय मधुपुरी आए यमुना सुनीर न्हाइ बैठे सुचि तीर में॥
स्यामल स्वरूप रघुनंदन को हिए आयो अचल समाधि लागी सतन की भीर में॥
देश दुनीपति पादसाह सुनि कौतुक ज्यों पेखन को आयो नहि जानै पर पीर में॥
कील सिर दई कछू वेदना न भई रही अचल समाधि जैसी लागी रघुवीर में॥

—र० प्र० भ०, पृ० १५

दास भी अष्टांगयोग के निष्णात साधक थे। उन्होंने अपना प्राण ब्रह्मरंध्र से त्याग किया था। इसी प्रकार कील्हदास के छोटे गुरुभाई अग्रदास और उनके लोकविश्रुत शिष्य नाभादास के विषय में भी अनेक चामत्कारकारिक घटनाओं का उल्लेख साम्प्रदायिक साहित्य में मिलता[10] है।

पयहारी जी के देहावसान के अनन्तर भी उनका अद्भुत प्रताप भक्ति क्षेत्र को आच्छादित किए रहा और रामानंदीय संप्रदाय के उपासक उनसे परोक्ष प्रेरणा प्राप्त करते रहे। देवरिया जनपद (उत्तर प्रदेश) के प्रसिद्ध महात्मा लक्ष्मीनारायण दास पयहारी के विषय में प्रसिद्ध है कि उन्हें सर्वप्रथम रामभक्ति का प्रसाद गज रूप में समागत श्रीकृष्णदास पयहारी द्वारा ही मिला था[11]। इस घटना के बाद भी उन्हें समय-समय पर पयहारी जी के स्वप्न में दर्शन देते रहने की कथायें साम्प्रदायिक साहित्य में मिलती हैं।[12]

पयहारी जी और उनके शिष्य प्रशिष्यों से सम्बन्ध में प्रचलित इन कथाओं से उनकी योग साधना में असाधारण आस्था एवं गति का पता चलता है। रामोपासना के अंतर्गत यह योग प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती गई। आगे चल कर उसने एक पृथक् 'साधना प्रणाली का रूप धारण कर लिया। और तपसी शाखा के नाम से अभिहित की जाने लगी। इसके प्रवर्तक थे पयहारी श्री कृष्णदास और साम्प्रदायिक संगठन कर्त्ता थे उनके उत्तराधिकारी गलता गद्दी के द्वितीय आचार्य कील्हदास। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि स्वामी रामानंद के नाम से प्रसिद्ध रामरक्षा, ध्यानलीला ध्यान तिलक, योगचिंतामणि आदि रचनायें भी योगपरक ही है किंतु उनमें राजयोग की अपेक्षा हठयोग और सगुण की

---

१० देखिये श्रीभक्तमाल (वृंदावन पृ० २७५–२७६ तथा
भक्ति सुधा विन्दु स्वाद तिलक (रूपकला) पृ० ४४–५०

११. जयपुर राज्य राज रजधानी। तहाँ अवतरे मुनि विग्यानी॥
कृष्णदास पावन व्रतधारी। रहे कहावत श्री पवहारी॥
बहुत काल तप कीन्ह कठोरा। दिव्य दिवस रघुवंश निहोरा॥
दिवस एक बन फिरत अकेला। धार्‌यो भेष महा गज मेला॥
तेहि छन अंधकार भइ भारी। दिखराया महिमा पवहारी॥
वगवंत होइ चला चिंघारी। जहँ बैठा बालक ब्रह्मचारी॥
लीन्ह चढ़ाइ कान्ह पर तिनही। अति स्यामल गज भय नहि जिनही॥
दीक्षा दै कृतार्थ तेहि कीन्हा। सादर पौहारी पद दीन्हा॥

दासान्तं पवहारिणं परगुरुं राम स्वरूपं मुनि।
गायत्री जप निर्मल गुरुवर श्री कृष्णदासाभिधै:
धृत्वाद्वरित वपु: सुदक्षिण पदै: पवहारिभि: स्थापितम्
पंकौली नगरात्सुदूर विजने सान्द्रे सुरम्ये वटे॥

१२. हरिपूजन में कृष्णदास पुनि आइ मिले हर्षाई,
लक्ष्मीनारायण चेत करो यह मुक्ति की राह बताई।
अवध प्रसाद होइ हैं तव गुरु ऐसो गिरा सुनाई॥

अपेक्षा निर्गुण साधना को प्रधानता दी गई, उनके आराध्य ज्ञानियों के ही ध्येय हैं अपनी पराशक्ति सीता सहित परम धाम में नित्यलीलारत, ध्यानमग्न भक्तों को लोकोत्तर आनंद का रसास्वादन कराने वाले अवतारी राम नहीं। इस लिए स्वामी रामानंद की प्राप्त रचनाओं से रामोपासना की इस शाखा विशेष का प्रकृत सैद्धांतिक सम्बन्ध स्थापित होता नहीं दिखाई देता। बहुत सभव है उनकी कुछ हिंदी रचनायें साकेत विहारी राम विषयक भी रही हों, जो क्रूर काल के प्रवाह के साथ अनन्त में विलीन हो गई हों।

यह आज भी रामभक्ति क्षेत्र की एक सशक्त साधना धारा है। प्रयाग, हरिद्वार, नासिक आदि तीर्थों में कुंभ के अवसर पर कोपीन, मूंज की करधनी और विभूतिधारी रामोपासक नागाओं के जो अखाड़े बड़ी सजधज के साथ एकत्र होते हैं वे प्रायः इसी शाखा से सम्बन्ध रखते हैं। इनको अनी और अखाड़ों में संगठित करने का श्रेय महात्मा *बालानन्द को है जिनकी गद्दी जयपुर में अब तक स्थापित है।*[13] *शैव नागाओं से* इनकी विभिन्नता इस बात में रहती है कि इनकी साधना भावयोग प्रधान होती है जब कि शैवों की हठयोग प्रधान। अब तक इस शाखा के उपजीव्य ग्रंथों में श्री कृष्णदास पयहारी तथा कीदास कील्ह कोई रचना में नही आई है।

प्राचीन हस्तलेखों की खोज करते हुए मुझे कुछ दिनों पूर्व पयहारी जी का 'राज-योग' नामक ग्रंथ प्राप्त हुआ है। यह एक छोटी सी रचना है जिसमें कुल २८ छंद हैं—२७ रोला और एक दोहा। निम्नांकित पंक्ति से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ अग्रदास की शिक्षा के लिए लिखा गया था—[14]

तब उहाँ अग्र! देखहु सुधीरि।
जनु भर्‌यो उदधि अति अगम नीर॥

इसके प्रतिलिपिकार, कील्हदास की परम्परा में आविर्भूत, महात्मा कामदराम के कोई अज्ञातनामा शिष्य हैं। अयात में दी गई पुष्पिका में अपना परिचय देते हुए वे लिखते हैं—

"॥इति श्री स्वामी पयोहारि कृष्णदास कृत राजयोगम्। श्री राम।।"

"कृष्णदास कुल कील मत सांख्य ध्यान सिय राम।
श्री गुरु कामद राम निधि राम बीज रट नाम॥"

इस छोटे से ग्रंथ में अभिव्यक्त विचारों से पयहारी जी की परपराप्रसिद्ध योग साधना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वे नाथपंथियों की हठयोगी पद्धति के प्रतिकूल पातंजलि की अष्टांग योग प्रणाली के प्रचारक थे। 'राजयोग' से उनका तात्पर्य इसी साधना पद्धति से है जिसका तत्त्ववाद सेश्वर सांख्य है। नाभादास ने कील्हदास के प्रसंग में इसका उल्लेख किया है—[15]

१३. रामभक्ति में रसिक सप्रदाय, पृ० ३८८।
१४. राजयोग, छं०, ६।
१५. श्रीभक्तमाल (वृंदावन), पृ० ३७३।

रामचरण चितवनि रहत निसिदिन लौ लागी,
सर्वभूत शिर नमित सूर भजनानँद भागी ।।
साख्य योग मत सुदृढ किए अनुभव हस्तामल ।
ब्रह्मरंध्र करि गौन भये हरितन करनी बल ।।

कील्हदास की कोई कृति उपलब्ध न होने से हमें इस सम्बन्ध में उनके अनुयायियों और नाभादास द्वारा प्रस्तुत तथ्यों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। किन्तु पयहारी जी के दूसरे प्रसिद्ध शिष्य अग्रदास की रचना 'ध्यान मजरी' से 'राजयोग' में प्रतिपादित सिद्धांतों का सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अग्रदास ने उक्त ग्रंथ में अपने 'ध्यान-योग' को गुरु (श्री कृष्णदास पयहारी) का प्रसाद बता कर प्रकारान्तर से इसकी पुष्टि की है—[१६]

श्री गुरु सत अनुग्रहते अस गोपुर वासी ।
रसिक जनन हित करन रहसि यह ताहि प्रकाशी ।।
ध्यान मजरी नाम सुनत मन मोद बढावै ।
श्री रघुबर को ध्यान मुदित मन अग्र सो गावै ।।

अग्रदास राम भक्ति में रसिक भावना के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय में सीताराम के युगल स्वरूप की उपासना विहित है[१७]—

पोडश वर्ष किशोर राम नित सुन्दर राजै।
राम रूप को निरखि विभाकर कोटिक लाजै ।।
अस राजत रघुवीर धरि आसन सुखकारी ।
रूप सच्चिदानद वामदिसि जनक कुमारी ।।

"राजयोग" में भी 'परमधाम' में नित्यलीला मग्न, शक्तियुक्त, आराध्य का यही स्वरूप ध्येय बताया गया है[१८]—

आगे सुपताका उडत देखि। तहँ सेत छत्र छाया सुपेखि ।।
आसन सफेद तहँ अरुन भूमि। चहुँ दिशि पकाश नहिं बरन घूमि ।।
को बरनि सकत प्रभु को सरूप। रवि कोटि चन्द छवि ते अनूप ।।
नभ नील मेघ इमि श्याम गात। लखि पीत बसन विद्युत लजात ।।
इमि बसत राम निज सहित वाम। सच सत कहत जेहि परम धाम ।।

पयहारी जी ने इष्टदेव के इस ध्यान में तल्लीन जीन्मुक्त भक्तों को शास्त्रानुमादित चार प्रकार की मुक्तियों-सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य से श्रेष्टतर पाँचवी 'ध्यान लीन' मुक्ति का अधिकारी बताया है[१९]—

---

१६ ध्यान मजरी (अग्रदास), छ० ७९, ८० ।
१७ राजयोग, छ० १८, १९, २०, २१, २२ ।
१८. वही, छ० २४, २६ ।

जे चारि मुक्ति बैकुंठ मानि । ते भक्ति मुक्ति फल लेहु जानि ॥
तब पँचई मुक्ति पावो प्रवीन । जो रहत अहोनिसि ध्यान लीन ॥

उनकी सम्मति में योगसाधना राममक्ति प्राप्ति का एक साधना मात्र है[२०]—

तहँ गए मिटत है जन्म मरण । तेहि हेत जोग जत रामशरण ॥

आमेर नरेश पृथ्वीसिंह के प्रसग में नाभादास ने पयहारी जी को निर्गुण तथा सगुण दोनो तत्त्वो का पारगत आचार्य कहा है । राजयोग में अग्रदास की उपदिष्ट निम्नांकित साधना प्रणाली इसका समर्थन करती है[१९]—

प्राणहि अपान दृढ गाथि डोरि । कुंडलनि आव सम युक्ति जोरि ॥
तब चलत पवन जहँ ब्रह्मरध्र । तहँ छोडि जाहि सब त्रिगुण बंध॥
उलटै सु इला पिंगला नारि । सुषुमना शुद्ध लीजे विचारि ॥
पहुँचै सु जबै अनहद गेह । राखै सु एक हरि सो सनेह ॥

इस स्थिति की प्राप्ति का एक मात्र उपाय रामनाम का अखड जप है[२१]—

आठ पहर चौसठि घरी ररकार घहराय ।
सकल मोह दावा मिटै तब भाना ठहराय ॥

स्वामी रामानंद का भी मुख्य उपदेश रामनाम जप ही था[२२] जिसे आगे चल कर गोस्वामी तुलसीदास ने निर्गुण एव सगुण ब्रह्म की ज्ञान प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन और दोनो के बीच 'चतुर दुभाषी' घोषित किया । पयहारी जी भी रामोपासना की इस समन्वयात्मक प्रवृत्ति के पोषक थे । परवर्ती रामभक्त कवियों ने भी अपनी रचनाओ में निर्गुण तत्त्व को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी के अन्य सगुणाश्रयी सम्प्रदायों में प्राय इसके विपरीत, निर्गुण भावना को सगुण के विरोधी रूप में ही चित्रित किया गया है । कृष्ण काव्य की भ्रमरगीत परंपरा में इसके पर्याप्त उदाहरण विद्यमान हैं ।

---

२० राजयोग, छ० ५, ६, ७, ८ ।

१९ वही, छ० २५ ।

२१ वही, छ० २८ ।

२२ मूरख तन धरि कहा कमायो । राम भजन बिन जनम गँमायो ॥
राम भगति गति जाणी नाही । भद्र भूलो घघा माही ॥
रामानंद की हिंदी रचनायें, पृ० ६ ।

कृष्णदास जी के शिष्यों ने रामभक्ति शाखा में इसी उभय (निर्गुण सगुण) प्रबोधक ध्यान योग का प्रचार किया।[२३] रामोपासना की प्रधान साम्प्रदायिक धारा आज भी इसी पथ पर प्रवहमान है। इस संबंध में यह उल्लेख्य है कि योग समन्वित राम-भक्ति की यह मानस्विनी गोस्वामी तुलसीदास की लोक-संग्रही उपासना पद्धति से सर्वथा पृथक् एकान्तिक साधना का आदर्श लेकर चली है जिसमें वाहन की अपेक्षा मानसी पूजा को प्रधानता दी जाती है। आराध्य और आराधक की तादात्म्य स्थापना के लिये इसके अंतर्गत पचभाव सम्बन्धों की कल्पना की गई है। रामभक्तों का यह भावयोग ही रसिक साधना मूलतत्त्व है। जिसका मर्म न समझने वाले छिछली प्रवृत्ति के साधक सम्प्रदाय को अपनी ऐहिकता परक कृतियों से कलंकित और सतृणाभ्यवहारी आलोचक उन्हीं के सिर इस धारा का प्रतिनिधित्व मढ कर अनेक भ्रान्तियों की सृष्टि करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने गोरखपंथी सिद्धांतों के प्रचार से तत्कालीन समाज में शास्त्रों और महापुरुषों के प्रति फैलती हुई अनास्था की ओर इंगित किया था। श्री कृष्णदास पयहारी ने इसके बहुत पूर्व ही अध्यात्मक्षेत्र में बढती हुई इस भीषण व्याधि का निदान ही नहीं उपचार भी प्रारंभ कर दिया था। मध्यकालीन भारत में नाथपंथियों का मुख्य कार्यक्षेत्र राजस्थान था। वहाँ के निवासी जनसाधारण और सामन्तों को अपनी अद्भुत योग शक्ति से चमत्कृत कर के उन्होंने ही सर्वप्रथम हठयोग का दृढतापूर्वक प्रत्याख्यान कर भावयोग की ओर उन्मुख किया था। उनके शिष्य प्रशिष्यों ने घोर तपश्चर्या के साथ ही देशव्यापी प्रचार द्वारा इस अनुष्ठान को पूरा किया। इस दृष्टि से वैष्णव भक्ति के विकास में पयहारी जी की सेवायें चिरस्मरणीय रहेंगी।

---

२३. नाभादास ने श्रीकृष्णदास के प्रत्यक्ष शिष्यों की संख्या २४ बताई है, जिनकी नामावली इस प्रकार है—

कील्ह अगर केवल्ल चरन व्रत हठी नरायन।
सूरज पुरुषा पृथू तिपुर हरिभक्ति परायन॥
पद्मनाभ गोपाल टेक लीला गदाधारी।
देवा हेम कल्यान गंगा गंगा सम नारी॥
विष्णुदास कन्हर रंगा चाँदन सबिरी गोविन्द पर।
पैहारी परसाद तें सिष्य सबै भये पारकर॥

श्री भक्तमाल (वृंदावन), पृ० २७३

डा० मुंशीराम शर्मा

गोस्वामी तुलसीदास

(तीन दृष्टियाँ)

या व्यापारवती रसान् रसयितु काचित् कवीना नवा
दृष्टि: या परिनिष्ठितार्थ विषया शास्त्रेषु वैपश्चिति:,
ये ते द्वेऽप्यवलम्ब्य विश्वमनिशंयत्कीर्तयन्तोद्विजा -
शान्तादचैव न लब्धमब्धिशयनत्वद्भक्तितुल्य सुखम् ।

ऊपर उद्धृत श्लोक में व्यापारवती, वैपश्चिति और भक्तिवती तीन दृष्टियों का उल्लेख है । कवियों की दृष्टि अभिधा-लक्षणा-व्यजना रूप में व्यापारवती बनती है । शास्त्रकारों की दृष्टि वैपश्चिति होती है जिसमें विशुद्ध रूप से बुद्धि सचरित रहती है । अध्यात्म परायण भक्तों के लिये भक्तिभावना की दृष्टि ही सर्वोपरि है । सामान्य आलोचन में ये दृष्टियाँ पृथक्-पृथक् आधार रखती है, पर किसी विकसित-व्यक्तित्व में ये तीनो एकत्र भी हो जाती हैं जहाँ इनका समन्वित रूप हृदयङ्गम होने लगता है । व्यास, वाल्मीकि, तुलसीदास, दयानद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि ऐसे ही व्यक्तित्व थे ।

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस में तीनो दृष्टियो का सुन्दर सामञ्जस्य है । उसमें जहाँ वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एव व्यग्यार्थ की लक्षिका शब्द शक्तियाँ हैं, वहाँ शास्त्रीय ज्ञान भी भरा पड़ा है और इन दोनो के साथ भक्तिभावना तो पद-पद पर परि-लक्षित होती है ।

शब्द में अपार शक्ति है । यह शब्द वर्णों से बनता है और वर्ण ध्वनि पर आधारित है । ध्वनि निरर्थक एव सार्थक दो प्रकार की है । सभव है जो ध्वनि हमारी दृष्टि में निरर्थक है, वह कहीं सार्थक भी हो । आकाश ध्वनियों से ओतप्रोत है । गत और अनागत सभी ध्वनियाँ इसमें सुरक्षित हैं । इसे व्यापक मन भी कहा जाता है । परम आकाश में तो इन सबका भी मूल व्याप्त है, जहाँ निरर्थकता के निवास की कल्पना भी नही की जा सकती, जहाँ सार्थकता ही सार्थकता है । अत. ध्वनि को एकान्त निरर्थक कह देना साहस का ही काम है । हम जिसे निरर्थक समझते हैं वह सार्थक हो सकती है ।

एक वर्ण की कई ध्वनियाँ हो सकती हैं। एक अ वर्ण की ही ३६ ध्वनियाँ हैं। और प्रत्येक ध्वनि के साथ एक-एक अर्थ संयुक्त है। कहीं वह निषेधपरक है, कहीं अच्छे का अर्थ देता है, कहीं उसमें आधिक्य व्यंजित होता है, तो कहीं भूतकाल की अभिव्यक्ति होती है, कहीं उससे आह्वान सूचित होता है, तो कहीं विकलता और विह्वलता प्रकट होती है। ऐसे विविध अर्थों का प्रकाशक केवल अ ही नहीं, प्रायः सभी वर्ण हैं। क का अर्थ कहीं जल है, कहीं सुख। ख का अर्थ कहीं इन्द्रिय है, कहीं आकाश। द से दमन, दया और दान तीन अर्थ ध्वनित होते हैं। न से निषेध और सादृश्य दोनों की व्यंजना होती है। इस प्रकार वर्णों में एक अर्थ नहीं, अर्थों के संघ विद्यमान हैं। वैसे भी वाणी में अर्थ और अर्थ में वाणी निहित रहती है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' कहकर इस तथ्य का समर्थन कर दिया है। क्रोसे ने भी अपने सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) नाम के ग्रंथ में अभिव्यक्त और अभिव्यक्ति को एक ही माना है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य उसकी दृष्टि में अभिव्यक्त के साथ लगा हुआ है। अभिव्यक्त से अभिव्यक्ति भिन्न नहीं है।

यह तो वर्ण और अर्थ का सम्बन्ध हुआ। ये दोनो आकाश में फैले हुए हैं इन दोनो के विस्तार को बाँधनेवाला, सागर को गागर में भरने वाला, स्वच्छन्द को छन्दित और नियमबद्ध करने वाला छन्द है। एक नियमित मात्रा और वर्ण वाले छन्द में, एक सम्यक् आरोह और अवरोह के स्वर-क्रम में जहाँ ध्वनिगत सौन्दर्य रहता है, वहाँ भाव-धारा भी आबद्ध होकर सघन और एक सान्द्र रूप धारण कर लेती है जिससे श्रवणेन्द्रिय के साथ अन्त मन भी प्रभावित होता है। श्रवण द्वारा मन तक पहुँचकर छन्द आनन्द देता है। वैदिक सप्त-स्वरों, षडज, ऋषभ गांधार आदि को लेकर जिन गायत्री, त्रिष्टुप् जगती आदि छन्दों का आविर्भाव हुआ था, उन्हीं का विकास, लय का आश्रय लेकर संस्कृत के मालिनी, शिखरिणी आदि—विविध छन्दों में दिखाई दिया और वही प्राकृत गाथाओं तथा दूहों में होता हुआ हिन्दी के सवैया, घनाक्षरी आदि छन्दों में प्रस्तार पा गया। कभी स्वरों की प्रधानता रही, कभी लय की, कभी मद्र, मद गति की और कभी द्रुति की। कभी ध्वनि में प्रवृत्ति भरी गई तो कभी निवृत्ति। युगीन विशेषताओं की अभिव्यक्ति और आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ छन्द आज तक मानवमन का साथी बना रहा है। आगे भी बना रहेगा, क्योंकि उसके बिना अर्थों एवं भावों का तारतम्य स्पष्ट नहीं हो सकता।

ऊपर हमने एक-एक ध्वनि के साथ एक-एक अर्थ को संबद्ध किया है। आचार्यों ने परवर्ती युगों में इन्हें शब्द शक्ति का नाम देकर बाह्य उच्चारण की दृष्टि से कोमला, परुषा और उपनागरिका; गुणों की दृष्टि से माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तथा अर्थ की दृष्टि से अभिधा लक्षणा और व्यञ्जना नाम की वृत्तियों एवं शक्तियों में विभाजित किया। देश विदेश की रुचि को ध्यान में रखकर वृत्तियों को गौडी, वैदर्भी और पाचाली रीति भी कहा गया है। शब्द और अर्थ के चमत्कार को दृष्टि में रखकर अलंकारों से भी वाणी को सुशोभित किया गया है। इन समस्त साधनों द्वारा वाणी व्यापारवती बनी है। काव्य जगत वाणी के इसी व्यापार में, इसी विशेष दृष्टिकोण

से वैभव-संपन्न बना है। गोस्वामी तुलसीदास की कृतियाँ वाणी के इस वैभव से जगमगा रही हैं। रामचरितमानस के प्रथम श्लोक में ही उन्होंने अपनी एतद्विषयक शक्ति का परिचय दे दिया है। आलोचकों ने उनकी भाषा, शब्द-शक्ति, अलंकार, छन्द आदि पर कई प्रबन्ध प्रस्तुत कर दिये हैं।

वर्ण, अर्थ, छन्द, शक्ति, अलङ्कृति आदि के साथ रस की भी गणना होती है। रस की निष्पत्ति में यह सभी सहायक बनते हैं। ध्वनि या वर्ण में अर्थ के साथ भाव भी रहता है। अर्थ बुद्धि से तो भाव प्राण, हृदय आदि से होता हुआ आत्मा से संबद्ध है। एक ज्ञान कराता है तो दूसरा प्रभावित करता है। एक बोध तक जाता है तो दूसरा क्रिया तक। कर्म में प्रवृत्ति भाव से होती है, ज्ञान से नहीं, पर अपने चरम बिन्दु में दोनों ही स्थिर कर देने वाले हैं। ज्ञान तथा भाव दोनों में डूबा हुआ व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है, गुमसुम, नीरव, मूक जिसमें शरीर रहते हुए भी शरीर और उसकी आवश्यकताओं का भाव नहीं होता, इन्द्रियाँ व्यापार-शून्य हो जाती हैं और मन भी काम करना बन्द कर देता है।

रस इस प्रकार वर्ण और अर्थों के समन्वय में छिपा रहता है और जो व्यक्ति इन दोनों के माध्यम से उस तक पहुँच जाता है, वह भी सांसारिक दृष्टि से छिप जाता है। अपने को छिपाने की आकांक्षा तो अनेक करते हैं; पर छिपाने की आकांक्षा विरले ही कर पाते हैं और वस्तुतः छिप जाने की अवस्था बहुत ही कम व्यक्तियों को सुलभ हो पाती है। यह विशोका, ज्योतिष्मती या मधुमती भूमिका जिसके भाग्य में आ गई, वह धन्य है। वर्ण और अर्थ की व्यापारवती दृष्टि काव्य में रस तक ही जाती है। यही उसका अंतिम गंतव्य है।

वैपश्चिति दृष्टि शास्त्रीय दृष्टि है, जिसका ध्येय इस दृश्यात्मक जगत के मूल में निहित वास्तविक सत्ता का साक्षात्कार करना है। प्रपंच के इस विविध रूप विस्तार के पीछे एक अन्तिम तत्व है। वही इन नानारूपों एवं नामों में प्रकट हो रहा है। विपश्चित शास्त्रज्ञ की मीमांसा का विषय यही तत्व है। इस मीमांसा में कभी हम उस अन्तिम तत्व का अपने संबंध से विचार करते हैं, कभी इस जगत का अंतिम तत्व से क्या संबंध है और कभी इस जगत का हमसे क्या संबंध है—इस पर मनन चलता रहा है। इसी को जगत, जीव और ईश्वर संबंध की मीमांसा कहते हैं। पश्चिम तथा पूर्व के दार्शनिक इन्हीं में से किसी संबंध की समस्या का समाधान खोजते रहे हैं। यह विशुद्ध रूप से बुद्धि का विषय है। मनोविज्ञान पहले इसी के अन्दर था, अब वह दर्शन नहीं, विज्ञान के अंतर्गत आ गया है और अपना उच्च पद खो बैठा है। वनस्पति-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान के साथ मनोविज्ञान भी विज्ञान की एक शाखा समझा जाता है। दर्शन शास्त्र से वह पृथक् हो गया है। इस पार्थक्य का आधार मन की विविध गतियों का—इन्द्रियों के माध्यम से शारीरिक चेष्टाओं एवं नाड़ी संस्थान को प्रभावित करना है, बुद्धि के विविध स्तरों तक जाना नहीं है। यह अवर से संबद्ध है, पर से नहीं।

गोस्वामी जी ने रामचरितमानस् में इस वैपश्चिति-दृष्टिकोण को भी अपनाया है। कहीं राम लक्ष्मण संवाद में, कहीं कागभुशुण्डि-गरुड़ संवाद में और कहीं शंकर पार्वती संवाद में ईश्वर जीव और माया के संबंधों का निरूपण हुआ है। गोस्वामी जी जीव को ईश्वर का अंश मानते हुए भी उससे पृथक् और माया को मिथ्या मानते हैं। वे प्रमुखतः अद्वैतवादी हैं, पर कहीं आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्गीय अनुग्रह सिद्धान्त, शुद्धाद्वैत और बाल पूजा का समर्थन करने लगते हैं, कहीं आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैत का सहारा लेते हैं और कहीं सत्य, असत्य तथा सत्यासत्य तीनों मतों को भ्रमपूर्ण कहते हुए विशुद्ध आत्मवाद की भी प्रतिष्ठा करते हैं।

वैपश्चिति तथा व्यापारवती दोनों दृष्टियों के धनी होते हुए भी गोस्वामी जी भक्त हैं। विद्वान् उपर्युक्त दोनों दृष्टियों को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने जी खोलकर दोनों की यशोगाथा गाई है, पर साधकों को जो आनन्द भक्ति-भावना में मिला है वह ऊपर की दोनों दृष्टियों में भी नहीं। गोस्वामीजी का भी निर्णीत सिद्धान्त है —"बिनु हरि भगति न जाहि कलेसा।" उत्तर कांड में उन्होंने ज्ञान को साधारण दीपक तो भक्ति को मणि दीपक से उपमित किया है। साधारण दीपक वायु आदि के वेग से बुझ जाता है, मणि-दीपक नहीं बुझ पाता। यह विघ्न-बाधा रूप नाना—अन्तरायों के बीच भी प्रज्वलित रहता है। रामचरितमानस, विनय पत्रिका आदि सभी ग्रंथों का उद्देश्य इसी भक्ति भावना की प्रतिष्ठा करना है। व्यापारवती दृष्टि कवि की है। तुलसी उच्च कोटि के कवि होते हुए भी अपने को कवि नहीं कहते। शास्त्र-संबंधी बुद्धि-वैभव के स्वामी होते हुए भी अपने को चतुर तक नहीं कहते, पर यह डंके की चोट कहते हैं —"एहि महँ रघुपति नाम उदारा" "मति-अनुरूप राम गुन गावौं;" "बन्दहु राम नाम रघुबर को" "कबहुँक अम्ब अवसर पाइ। मेरिऔ सुधि दयाइबी कछु करुन कथा चलाइ" "भरोसो जाहि दूसरो सो करो" "मो कों तो राम को नाम कलपतरु कल्यान फल।" भगवद् भक्ति गोस्वामी जी का प्राण है। व्यापारवती तथा वैपश्चिति दृष्टियाँ उसकी अनुवर्त्तिनी हैं सहवर्त्तिनी नहीं। फिर भी गोस्वामी जी की कृतियों में तीनों का सुन्दर सामंजस्य है। भक्ति को गोस्वामी जी मंगलकर्त्री मानते हैं जो रामचरितमानस के प्रथम श्लोक में समाविष्ट "मंगलानां च कर्त्तारौ" पद से व्यंजित हो रही है।

डॉ० रामरतन भटनागर

तुलसी-संस्कृति

मध्ययुगीन हिंदू संस्कृति को हम वैष्णव संस्कृति के रूप में पल्लवित पाते हैं और विदेशी अथवा ईरानी संस्कृति को मुगल संस्कृति के रूप में। मुगल संस्कृति में हमें विशुद्ध ईरानी संस्कृति के दर्शन नहीं होते, वरन वह भारतीय संस्कारों में घुलमिलकर एतद्देशीय बन जाती है और उसका रूप समन्वयात्मक ही माना जा सकता है। यह स्पष्ट है कि संस्कृति की ये दो धाराएँ समानान्तर चलती रहती हैं और आदान-प्रदान होने के बावजूद भी एक रस नहीं हो पाती। मुगल संस्कृति उत्तर भारत के नगरों, फौजी छावनियों (उर्दू) और दिल्ली-आगरा-जौनपुर-लखनऊ जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों में ऐश्वर्य को प्राप्त होती है तो वैष्णव संस्कृति मथुरा, काशी, चित्रकूट जैसे सांस्कृतिक पीठों, राजस्थान जैसे राजपूत प्रतिरोध के केन्द्र तथा ग्रामीण जनपदों में जन-संस्कृति का बल पाकर प्रतिष्ठित एवं पल्लवित होती है। उसे पूर्व मध्ययुग की राजपूत संस्कृति तथा तांत्रिक संस्कृति का उत्तराधिकार प्राप्त होता है और उसमें परंपरागत भारतीय सांस्कृतिक मूल्य परिपूर्णता को प्राप्त होते हैं। इस संस्कृति का दक्षिण भारत के सांस्कृतिक अभ्युत्थान से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। पहली शताब्दी पूर्व ईसवी से ही दक्षिण भारत स्वतन्त्र संस्कृति को रूप देने लगता है और आठवीं-नवीं शताब्दी के शैव और वैष्णव भक्ति-आंदोलन आलवारों और अडियारों के माध्यम से एक अत्यन्त अभिनव सांस्कृतिक पुनरुत्थान का निर्माण करते हैं। ये आन्दोलन उत्तर की पुराण-रचनाओं से रस खींचते हैं परन्तु उस पर दक्षिण की आत्मविभोरता, सरसता तथा आत्म समर्पणप्रधान रहस्यमयी मनोवृत्तियों का भी उत्कर्ष हमें प्राप्त होता है। १२वीं शताब्दी के बाद यह दक्षिणी संस्कृति उत्तर भारत में आकर वैष्णव धर्म के नवीन उत्थान का रूप धारण करती है और नामदेव रामानन्द-कबीर-नानक-तुलसी सूर द्वारा नये वैष्णव संस्कारों से युक्त होकर उत्तर भारत में चलता सिक्का बन जाती है। वह प्रतिरोधी शक्तियों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है और इस प्रकार राष्ट्रीय संस्कृति बन कर इस्लामी धर्मसंस्कार तथा ईरानी संस्कृति से मोर्चा लेती है। उसमें बहुत कुछ ऐसा है जो सनातन है, परंपरित एवं मूलबद्ध है, परन्तु उसने उसे हार्दिकता, तेजस्विता एवं साधनात्मकता देकर नूतन तथा समर्थ बना दिया है।

तुलसी में हमें इस वैष्णव संस्कृति का चरमोत्कर्ष दिखाई देता है। उनके कोमल और कठोर सराग, सनातन और नूतन जीवन-मूल्य, भावबोध, और कर्मबोध उदात्त जीवन चिन्तन तथा भावुकतापूर्ण रसमाधना में क्षण उसे विलक्षण, विशिष्ट एवं असामान्य बना देते हैं। उसमें एक ओर अपार विनम्रता और आत्मदान है तो दूसरी ओर अद्भुत दृढ़ता और अप्रतिहतनिष्ठा है। वह पूर्वपरम्परा में सर्वश्रेष्ठ को सहज में ही आत्मसात कर लेती है और 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' रहकर अपने को सनातन घोषित करती है परन्तु साथ ही "क्वचिदन्यतोपि" के बहाने नूतन का भी समावेश करने से नहीं चूकती। यह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्कृति है और उसका साहित्य मध्ययुग का राष्ट्रीय साहित्य कहा जा सकता है।

राष्ट्रीयता से हमारा क्या तात्पर्य है? मध्ययुग की राष्ट्रीयता का एक स्वरूप हमें पृथ्वीराज रासो में मिलता है परन्तु यह राष्ट्रीयता विदेशी आक्रमणकारियों के प्रति सन्नद्ध होते हुए भी व्यक्तिगत स्वार्थों से कलुषित और दुर्बल है। उसका साहित्य वाग्जाल अधिक उत्पन्न करता है, शस्त्र की झंकार अधिक भरता है उसमें वह सतर्चेतना नहीं मिलती जो ज्ञानदेव, नामदेव, रामानन्द, नानक, कबीर, तुलसी और सूर में श्रेष्ठ साहित्यिक मूल्यों से ही अनुप्राणित नहीं है, श्रेष्ठतम सनातन सांस्कृतिक उपादानों से भी पुष्ट है। उसमें राष्ट्र की आत्मा का निर्मल तेज है, उसकी वाणी कोमल परन्तु दृढ़ है, उसमें आत्मोपलब्धि के साथ-साथ इस्लामी एवं ईरानी संस्कारों के प्रति चुनौती का स्वर भी मुखरित है। उसे हम राष्ट्रीय इस अर्थ में कहते हैं कि भारत-राष्ट्र के मस्तिष्क, हृदय तथा आत्मा के पवित्रतम संस्कार उसमें वाणीबद्ध हैं। आखिर राष्ट्र संस्कृति ही तो है? राष्ट्रीय संस्कृति का सर्वश्रेष्ठ आकलन ही तो राष्ट्रीय साहित्य है। राष्ट्रीय संस्कृति में सनातन भारतीय मूल्यों की रक्षा का प्रयत्न होगा ही। जो संस्कार समूचे राष्ट्र को सम्पन्न, सप्राण तथा सतेज बनाते हैं वे ही राष्ट्रीय संस्कार कहे जा सकते हैं। राष्ट्रीय संस्कार मूलत मानव-मूल्य होते हुए भी इसलिए राष्ट्रीय हैं कि उनमें राष्ट्र की विशेषता विजड़ित है। वैष्णव संस्कृति में ये राष्ट्रीय संस्कार सर्वरूपेण सुरक्षित हैं और तुलसी-साहित्य में उन्होंने काव्य का सर्वमान्य रूप ग्रहण किया है। इसीलिए हम वैष्णव संस्कृति को राष्ट्रीय संस्कृति कहते हैं।

हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी चैतन्योन्मुखता है। यूरोप, ईरान, मध्यएशिया और चीन की संस्कृतियाँ मूलत भौतिक हैं और उनमें मनुष्य को प्राकृतिक परिवेश का एक अंग मात्र माना गया है। प्रकृति जडोन्मुख है और प्रकृति-धर्मा मानव भी जडधर्मी है। फलस्वरूप इन संस्कृतियों में देहबुद्धि की प्रधानता है और वे अधिक-से अधिक मानव-जीवन को परिवारबद्ध या धर्म (सम्प्रदाय) बद्ध रूप में ही देख सकती हैं। उसे विराट् जीवन से संपृक्त करके देखने की क्षमता उनमें नहीं है। परन्तु भारतीय संस्कृति चेतन (ब्रह्म) को मूलाधार मान कर सत्तात्मक जगत के पीछे अभेद को देखती है और अपनी चेतनाभूमि को जडबद्ध होने से बचाती है। तुलसी जग को सियाराममय जान कर करबद्ध प्रणाम करते हैं तो वे जड जगत के पीछे इसी सूक्ष्म इन्द्रियातीत ब्रह्मचेतना का साक्षात्कार करते हैं। जड (प्रकृति) विकृति है, चैतन्य (ब्रह्म)

ही सत्य है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति चैतन्य और सूक्ष्म से जड और स्थूल की ओर वर्ती हैं और जीवन-मात्र को ब्रह्म की अभिव्यक्ति मानती है। इसी चैतन्य की अनुभूति को "कैवल्य"-ज्ञान (अभेद ज्ञान या अद्वैत) कहा गया है और उसे मोक्ष (जडबुद्धि अथवा सासारिक बधनों मे मुक्ति) माना गया है। अविद्या, भेदबुद्धि ही ससृति प्रपच, ससार का मूल है और कैवल्य पद के प्राप्त होने पर इस भ्रमबुद्धि का नाश हो जाता है। यह चैतन्य-बुद्धि (ब्रह्म बुद्धि) भक्ति के द्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाती है। इसीलिए तुलसी ने कहा है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। ससृति मूल अविद्या नासा॥
(उत्तर, ११९)

इस मूलगत चैतन्य या ब्रह्म को ही तुलसी ने "राम" कहा है, यह जान लेने से तुलसी की रामकथा की ऐतिहासिक या पौराणिक स्थूलता का परिहार हो जाता है और वह अगतिक न रह कर गतिमान, सूक्ष्म और परव्यजक बन जाती है। तुलसी ने बडे उत्साह से राम के इस ब्रह्म रूप को प्रकट किया है। जडो-मुख प्रकृति जिस भेद-बुद्धि का सृजन करती है उसे तुलसी ने 'माया' कहा है परन्तु उनके राम इस माया को उसके सारे समाज के साथ नटी की तरह नचाते हैं क्योकि वे मायापति हैं—

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानद घन रामा। अज बिग्यान रूप बलधामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखड अनता। अखिल अमोघ सक्ति भगवता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरजन सुख-सदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥
(उत्तर, ७२)

इन अर्द्धालियों में ब्रह्म राम के जिन गुणो का बोध है वे चैतन्य के ही गुण हो सकते हैं, जड के नहीं। यह चैतन्य अजन्मा विज्ञानरूप अनत शक्तिशाली, व्यापक, अखड, अखिल, अगुण इद्रियातीत, समदरसी, निराकार, निर्मोह, नित्य, निरजन और अविनाशी होने पर भी समस्त नैतिक मूल्यो का मूल स्रोत और प्रकृत्या सच्चिदानद होने के कारण अखिल सुख-सदोह है। इन विशेषणों की गहराई में उतरें तो भारतीय विज्ञान-दृष्टि का पता चलता है जो चैतन्य की परिपूर्ण सगुणात्मक निर्गुणात्मक कल्पना

करती है और उसे दृश्यमान जगत के समस्त विस्तार एवं मानव-मन के द्वैतात्मक अथवा द्वन्द्वात्मक जगत का मूल कारण मानती है।

इसी मूलभूत एकता की कल्पना से भारतीय विज्ञानियों, (अद्वैतवादी दार्शनिकों), ने नैतिक मूल्यों का अनुमान लगाया है। मोह, तृष्णा, क्रोध, लोभ, श्रीमद, काम, मत्सर, चोर, चिंता, आदि को तुलसी ने "माया कटक प्रचंड" (उत्तर, ७०-१,) कह कर अभेदबुद्धि-प्रधान प्रज्ञचेतना का विश्लेषण किया है और उससे ऊपर उठने के लिए मनुष्य को ललकारा है। जडोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रतीक रावण है तो ब्रह्ममय चैतन्योन्मुख तथा नैतिक प्रवृत्तियों के प्रतीक राम हैं और इन दोनों का द्वन्द्व राम-रावण-समर के रूप में कल्पित है। इस्लामी और ईरानी भोगवादी प्रवृत्तियाँ मूलतः जडोन्मुख होने के कारण भारतीय सांस्कृतिक चेतना के लिए चुनौती थीं, तुलसी इस बात को जानते थे। अतः अपने राष्ट्रीय चिन्तन में उन्होंने एतद्देशीय सांस्कृतिक उपकरणों को पुनः स्थापित किया और भोग विलास के स्थान पर त्याग, तपस्या एवं सहिष्णुता के नए मूल्यों की स्थापना की। जहाँ अन्य देशों में नीति के मूल्य मानवीय हैं और मानव-संबंधों से निःसृत हैं, वहाँ हमारे देश के सांस्कृतिक चिन्तन में नीति का मूल उत्स ब्रह्म-निष्ठा है। इसीलिए जहाँ दूसरे देशों में मानवीय संबंधों के बदलने पर सांस्कृतिक मूल्यों के बदल जाने की आशंका है, वैसी कोई आशंका हमारे देश में नहीं है। जब तक भारतीय प्रज्ञा की अभेदमयी चैतन्यदृष्टि सुरक्षित है, तब तक हमारे मानव मूल्य सनातन जीवन मूल्य हैं और उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। इसका फल यह है कि भारतवर्ष में नीति और धर्म आस्तिकता और आस्था के पर्यायवाची बन गये हैं। वैष्णव भक्त के लिए उसका आराध्य मूर्तिमान धर्म है, अतः उसके लिए अनीति या दुर्नीति का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए तुलसी ने राम को "माया मनुष्य" बनाते हुए भी उनके "हरि" रूप को ही अक्षुण्ण रखा है। वे उन्हें "सद्धर्मवर्मं", (किष्किन्धाकाण्ड : मंगलाचरण) मानते हैं। धर्म है ऋत् अधर्म अनृत है। धर्म मानव-संबंधनिरपेक्ष, सनातन तथा सार्वभौमिक है, अधर्म व्यक्तिमूलक, अवसरवादी, क्षणिक और संकीर्ण है। नैतिकता की कसौटी है परहित अर्थात् अहिंसा। उसी से आत्मतोष, स्वान्तः सुखाय, का लाभ और असत्तम का निवारण होता है। परन्तु यह अहिंसा साधक के आत्मदान का ही दूसरा नाम है और इसके लिए एकांत ब्रह्मनिष्ठा, (अनन्य भक्ति), की आवश्यकता है। भारतीय नीतिदर्शन आस्थामूलक और निरपेक्ष है। इसीलिए उसमें जो समाधान हैं वे व्यक्ति-जीवन के परिष्कार, उन्नयन तथा उत्सर्ग से अधिक संबंध रखते हैं, समष्टिगत जीवन को वे व्यक्ति के माध्यम से ही छूते हैं।

वैष्णव संस्कृति की इस नैतिक विशेषता के साथ आत्मपरिष्कार अनिवार्य रूप से जुड़ा है और यह आत्मपरिष्कार व्यष्टि तथा समष्टि दोनों पर लागू है। विजय-रथ-रूपक में इस आंतरिक जागरूकता को वाणी मिली है जो वैष्णव साधना का प्रमुख अंग है। राम कहते हैं कि वह रथ दूसरा है जिससे मनुष्य विजय प्राप्त करता है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका॥

बल विवेक दम परहित घोरे । छमा कृपा समता रजु जोरे ॥
ईस भजनु सारथी सुजाना । विरति चर्म सतोप कृपाना ॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचडा । बर विग्यान कठिन कोदडा ॥
अमल अचल मन त्रोन समाना । सम जम नियम सिलीमुख नाना ॥
कवच अभेद विप्र गुर पूजा । एहि सम विजय उपाय न दूजा ॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें । जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताके ॥

(लका, ८०)

इस आत्मसाधना के विषय मे सकल्प-विकल्प के बडे सुन्दर और मनोमय चित्र हमें विनयपत्रिका' में मिलते हैं । कवि अपनी जीवन-चर्या के सबध में अनेक विकल्प करता है, जैसे "कबहुक हौ यह रहनि रहौगी ' पद में, और रामचरितमानस के सत ज्ञानी-भक्त के रूप में इस जीवन की एक विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करता है । तुलसीदास ही' क्यो सारे वैष्णव कवि आत्मपरिष्कार से ही आरभ करते हैं और उनका साहित्य उनके सकल्प, आत्मप्रबोध तथा आत्मोपलब्धि का ही साहित्य है । यह कहा जा सकता है कि वैष्णव सस्कृति का यह स्वरूप आदर्श मात्र है उसमें व्यावहारिक रूप से सपूर्ण राष्ट्र की सस्कृति बनने की क्षमता नही है परन्तु जितना बडा घेरा घेर कर वैष्णव सस्कृति चली है उतना बडा वृत्त किसी भी सस्कृति ने नही घेरा है । उसके समाधान साप्रदायिक नही है और वह मानव मात्र के लिए नई जीवन-योजना प्रस्तुत करती है ।

प्रकृतिप्रेम, परिवारनिष्ठा, वर्णाश्रम व्यवस्था तथा उदात्त चरित्र भी भारतीय सस्कृति के अभिन्न अग रहे हैं । वैष्णव सस्कृति मे इन तत्वो की स्थिति क्या है ? कहा जाता है कि वैष्णव काव्य म प्रकृति उपेक्षित रही है, वह आराध्य के नाते ही प्रवेश पाती है और उसी को सार्थक करने मे उसकी सफलता है । इसमें सदेह नही कि वैष्णव कवि के लिये प्रकृति परिवार, वर्णाश्रम, चरित्र सभी स्वतन्त्र रूप से उपभोग्य नही हैं, वे निवदित होकर ही प्रसाद रूप में ग्रहीत हो सकते हैं । ' नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।" क्योकि भक्त कवि-साधक आँख फोडना नही चाहता, इस अजन से अपनी दृष्टि ही बदलना चाहता है । आँख फोडे वैसा अजन क्या हितकर होगा ? लांछा है कि तुलसी प्रकृतिप्रेमी नहीं है परन्तु प्रकृति का जैसा सूक्ष्म निरीक्षण उनके काव्य में है, वैसा अन्यत्र कहाँ है ? चित्रकूट के प्राकृतिक वैभव का वर्णन करते हुए वे अघाते ही नही । उनके उपमान, प्रतिमान, प्रतीक सदर्भ, उदाहरण, सब प्रकृति से ग्रहीत हैं । तब यह कैसे कहा जा सकता है कि तुलसी प्रकृति-सौंदर्य के प्रति विरागी हैं । इसी प्रकार तुलसी का वैराग्य पलायन न होकर जीवन के श्रेष्ठतम सस्कारो के आकलन का प्रयत्न मात्र है । उनकी परिवारनिष्ठा उनकी रामकथा में पग पग पर ध्वनित है और वर्णाश्रम तथा चारित्र्य का उनसे अधिक प्रबल प्रवक्ता और कहाँ मिलेगा ? सच तो यह है कि वैष्णव सस्कृति (उसे तुलसी सस्कृति ही क्यो न कहें ?) चिन्मय दृष्टि पर आधृत नई जीवन्त सस्कृति है जो अपनी सीमाओं के भीतर अधिक से अधिक सनातन का ग्रहण करने में समर्थ है और जिसमें मानव-सकल्प का श्रेष्ठतम आत्मसात हो गया है ।

अ-राष्ट्रीय भोगवादी इस्लामी ? ईरानी ? संस्कृति के सम्मुख राष्ट्रीय त्यागवादी, अहिंसक तथा आत्मशोधी वैष्णव संस्कृति की प्रतिष्ठा मध्ययुग का सबसे बड़ा चमत्कार है और तुलसी जैसे वैष्णव भक्त को यह श्रेय प्राप्त है कि इस घटना के अवतरण में उनकी साहित्यिक एवं साधनात्मक प्रतिभा समर्थ बन सकी है। सच तो यह है कि तुलसी मध्ययुग के हमारे सबसे बड़े राष्ट्रीय और सांस्कृतिक कवि हैं क्योंकि उनमें मूर्तभूत भारतीय मूल्य कालिदास और वाल्मीकि से भी अधिक सुन्दर रीति से संकलित हुए हैं। उन्हें हम व्यास की समकक्षता में रख सकते हैं जो काव्य को चिरंतन जीवन-मूल्यों का प्रकाशक बनाते हैं। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ भारतीय सांस्कृतिक काव्य या राष्ट्रीयकाव्य के पाँच क्रमागत संस्करण हैं। प्रत्येक संस्करण नवीन होने पर भी प्राचीन पाठ के बहुत निकट है। इन कवियों में हमारे भारतीय राष्ट्रीय या सांस्कृतिक चेतना का विकासमान इतिहास मिल जाता है। इन्होंने युगधर्म के अनुरूप भारतीय राष्ट्रीयता को अभिव्यक्ति दी है, परन्तु आवरणपृष्ठ भिन्न होने पर भी इनकी रचनाओं के भीतर एक ही सांस्कृतिक मूल्यों की अंत:सलिला प्रवाहित हो रही है। वाल्मीकि, कालिदास और रवीन्द्रनाथ में काव्य का इन्द्रधनुषी वैभव हमें चमत्कृत करता है तो व्यास और तुलसी में संस्कृति का दैदीप्यमान तेज हमें पावन कर देता है। व्यास और तुलसी के युग, सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन के युग थे, समृद्ध संस्कृति के युग वे नहीं थे। फलत: उन्हें काव्य-संस्कारों से दृष्टि हटा कर आत्मा के निराकार वैभव को सरल रूपरेखाओं में बाँधना पड़ा। उनका स्वर आकांक्षा और उल्लास का स्वर नहीं आत्मशोध और उत्सर्ग का स्वर है। परन्तु उनकी आत्मग्लानि को हम आत्महीनता न समझें। उसमें श्रेष्ठतम जीवन-मूल्यों के नवनिर्माण का संकल्प है और उन्होंने जिन कैलाश-शिखरों की कल्पना की है वे सामान्य जन के लिए अकल्पित हैं। इस ऊँचाई से देखने पर ही हम उनके सांस्कृतिक जीवन की समृद्धि और संपन्नता का अनुमान लगा सकेंगे।

२

मध्ययुग का सांस्कृतिक और राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व हम दीन-इलाही के प्रवर्तक अकबर को दें या रामचरितमानस के महाकवि तुलसी को ? कहा जाता है कि सम्राट् अकबर ने जिस स्वर्णयुग का सूत्रपात किया, उसके मूल में समन्वय, सहिष्णुता और अभिजात्य सुरक्षित था। उसके आधार पर परिवर्ती काल में ताजमहल जैसी अद्वितीय कलाकृति निर्मित हुई और शाहजहाँ के समय तक यह समन्वय अक्षुण्ण बना रहा। परन्तु इस संबंध में दो बातें हम भुला देते हैं। एक तो यह है कि सामंती संस्कृतियों में जन-संस्कृति बनने की क्षमता सामान्यत: नहीं होती और वे राष्ट्रीय संस्कृति न होकर वर्गविशेष की संस्कृति मात्र रह जाती हैं। स्वदेशी सामंती संस्कृति के संबंध में जब यह सीमा है तो विदेशी सामंती संस्कृति की तो इससे भी अधिक सीमाएँ हैं। दिल्ली-आगरे की मध्ययुगीन संस्कृति, पठान-ईरानी-तूरानी भौतिक सांस्कृतिक उपादानों और अरबी, (इस्लामी) धार्मिक उपकरणों पर आधारित थी। पठानों की संस्कृति में बहुत कुछ एतद्देशीय था क्योंकि गांधार-कुभा का प्रदेश भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का अविच्छिन्न अंग रहा है परन्तु मुगलों के साथ तूरानी-ईरानी संस्कार इतनी बड़ी मात्रा

में बाहर से आये कि पठान संस्कृति के ऊपर एक नया सांस्कृतिक भवन ही खडा हो गया जो भोगवाद, भाग्यवाद तथा विलासविभ्रमप्रधान कलाचेतना से चमत्कारक बना हुआ था। पूर्वमध्ययुग की राजपूत और पठान संस्कृतियों में अनेक प्रजाति-तत्व समान थे। और उनके उपकरण बहुत कुछ मध्य एशियाई होने के नाते विरोधी नहीं थे, परन्तु तूरानी-ईरानी संस्कृतियों पर अवलंबित मुगल संस्कृति एक कृत्रिम पौधा था जो भारतीय वातावरण में अधिक देर तक जीवित नहीं रह सकता था। उसने अपने प्रतिवाद के द्वारा शीघ्र ही विरोध खड़ा कर दिया। तुलसी के साहित्य में यह विरोध बड़ी सशक्त वाणी में पल्लवित है। तुलसी ने सनातन आर्य-संस्कृति के साथ मध्ययुगीन लोकसंस्कृति का गठबंधन किया और ग्रामीण संस्कारों से पुष्ट व्यापक मानव-चेतना को रामभक्ति का तेज और रामराज्य का स्वप्न देकर एक नवीन सांस्कृतिक अभियान की घोषणा की। नामदेव-रामानंद से आरम्भ होकर एकनाथ-तुकाराम-रामदास के मराठी संत-साहित्य तक हमें मध्ययुगीन संत-साहित्य का एक क्रमबद्ध प्रसार मिलता है। इस ऐतिहासिक विकास के बीच में तुलसीदास और उनके साहित्य की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार तुलसी की ऐतिहासिक स्थिति केन्द्रीय बन जाती है और उनका साहित्य संत-साहित्य में मूर्धन्य स्थान को प्राप्त होता है। इस संपूर्ण साहित्य-विकास में हम वैष्णव धर्म और संस्कृति को धीरे-धीरे खुलता पाते हैं। दीन-इलाही अकबर का स्वप्न मात्र था। "कुछ इतिहासकार उसे अकबर की राजनैतिक चाल भी कहते हैं"। और उसका समन्वय कृत्रिम, औपचारिक तथा अवैज्ञानिक था। उसके केन्द्र में न कोई महान् व्यक्तित्व था, न किसी प्रकार की उदात्त साधना। ऐसी स्थिति में वह आकाशबेलि बन कर नष्ट हो गया। परजीवी पौधा कितनी देर तक ठहरता? परन्तु संत-साधना की पीठिका पर स्थित तुलसी का रामकाव्य नवीन सांस्कृतिक उत्थान का महामंत्र बन गया क्योंकि उसके पीछे सैकड़ों संतों, भक्तों, संगीतज्ञों और कलाविदों का आत्मदान था और उसकी भूमि अपने देश की ही उर्वरा भूमि थी। उसकी जड़ें उपनिषद्, गीता तथा पुराणों में थीं और उसका छायाच्छद भारतीय काव्य परंपरा में प्रथित पल्लवों की हरीतिमा और पुष्पों के शोभा-भार से अलंकृत था। उसने देश के लोकजीवन से अपना रस खींचा और गंध-मधु के अक्षय आत्मदान से सारे देश को आनन्द-कानन बना दिया। इस तुलसी-रूपी जंगम-तरु पर रामयश-रूपी भ्रमर की शोभा दर्शनीय थी। स्वयं राम उसकी गंध-माधुरी पर मुग्ध हो गये तो सहृदय जनों का तो कहना ही क्या? तुलसी-साहित्य के शब्द-शब्द पर जिस संस्कृति की छाप है, वही मध्ययुग की सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व कर सकती है। दीन-इलाही उसके सामने भ्रूण-हत्या से अधिक महत्व नहीं रखता। विदेशी पौधों की कलमें लगाकर राजोपवन तैयार किये जा सकते हैं, उनमें महाकातारों की नैसर्गिक शोभा नहीं होती। दीन-इलाही की असफलता से यह सिद्ध हो गया कि प्राणवान ही प्राण का संचय कर सकता है, धर्म के कृत्रिम वहंभार से राजनीति शोभनीय नहीं बन सकती। मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति के महावन में तुलसी अक्षय-वट की भाँति प्रतिष्ठित है और उनके साहित्य के द्रोण-पुट में वैष्णव संस्कृति का अक्षय मधु महाकाल के कोप से बच कर अनंत असीम के लिए सुरक्षित रह सका है।

३

जिन ग्रथों में और जितनी दूर तक तुलसी को आध्यात्मिक जीवन का महाकवि कहा जा सकता है उन ग्रथों में और उतनी दूर तक कदाचित् दात को छोड कर महार के किसी भी कवि को इसी विशेषता से अभिहित नही किया जा सकता। इसमें सदेह नही कि हमारे महाकवियों की भूमि आध्यात्मिक रही है। व्यास, वाल्मीकि और कालिदास तीनों धर्मदृष्टि-सपन्न हैं यद्यपि तीनों में यह दृष्टि विशेष व्यवहारदर्शन, नैतिक जीवन और सौन्दर्यचेतना के तीन विभिन्न रूपों में प्रकाशित हुई है। परन्तु इन कवियों का काव्य अध्यात्म से उतना ओतप्रोत नही है जितना तुलसी या सूरदास का काव्य। आध्यात्मिक जीवन आतरिक जीवन है, वह भौतिक जीवन न होकर आत्मा का जीवन है और तुलसी के काव्य में इसी आतरिक तथा आत्मिक सत्य की वाणी मिली है। कहा जाता है कि तुलसी का काव्य जीवन के प्रतिषेध का काव्य है, वह विरागात्मक है, उसमें जीवन की अस्वीकृति है अथवा पलायन है, परन्तु ऐसा कह कर हम जीवन को बहिर्चेतना तक सीमित कर देते हैं जो निश्चय ही एकागी दृष्टि है। अतरगी जीवन भी कम महत्वपूर्ण नही है वरन् एक प्रकार से बहिर्जगत हमारे अतरग में ही प्राणवान बनता है। बाहर जो है वह तथ्यगत, अनेकरूपी और विविध है। वह अर्थवान तभी है जब उसमें केन्द्रीयता की स्थापना हो और यह केन्द्रीयता द्रष्टा के आत्मिक व्यक्तिगत, दृष्टिकोण का ही फल है। फलत यह कहा जा सकता है कि तुलसी का बहिर्जीवन के प्रति निषेध या विराग उनकी आतरिक सपन्नता का ही द्योतक है। विराग इसलिए कि राम के प्रति उत्कृष्ट और परिपूर्ण राग का सग्रह हो सके। वैसे विराग अपने में निरर्थक है। तुलसी केवल राम के नाते ही बहिर्जगत के 'नाते-नेह' मानते हैं- इसीलिए उनके प्रकृति प्रेम, मानवीय सवेग, कविकर्म तथा जीवन चेतना का एकमात्र लक्ष्य 'राम" हैं। ये 'राम' पौराणिक या अवतारी राम मात्र नहीं हैं। इनसे तुलसी का आध्यात्मिक जगत पूर्णत ओतप्रोत है। वस्तुत वे उनके आध्यात्मिक जगत के प्रतीक मात्र हैं जो चरम सत्य होने के साथ बहिरान्तर को समान रूप से आप्लुत किये हुए हैं। उनके "राम" के इस प्रतीक-रूप को समझने पर ही हम उनके साहित्य के महत्व को ठीक ठीक समझ सकेंगे और उसे आध्यात्मिक सिद्ध करने में समर्थ होंगे।

, इसीलिए जब सस्कृति की बात उठती है तो हम तुलसी के काव्य में उसे भरपूर पाते हैं, परन्तु वह उस सस्कृति से भिन्न है जो व्यास, वाल्मीकि और कालिदास के काव्य में सुरक्षित है। वास्तव में भारतीय सस्कृति एक और अविच्छिन्न है परन्तु इन महाकवियों में उसके विभिन्न पक्षों पर बल मिलता है। व्यास में भारतीय सस्कृति की धर्मशीलता है, वाल्मीकि में चरित्रमूलकता, कालिदास में सौन्दर्यचेतनता या प्रकृति, नारी और जीवन के प्रति उनके अबाध तथा कोमल आकर्षण में प्रत्यक्ष है। तुलसी में भारतीय सस्कृति का अतर्भूत आतरिक पक्ष, अध्यात्म, पल्लवित हुआ है। शेष सब कुछ अग बन कर आया है। इसी से तुलसी के काव्य की रूपरेखा ही भिन्न है। यदि वह किसी अन्य कवि से मिलती है तो व्यास से ही, परन्तु उनके ग्रथों में व्यास की आत्मसयमित रेखाकन-पद्धति के साथ

सामाजिक समाधि-भाषा भी है। उन्होंने सत्य-शिव-सुन्दरम् में "शिव" को ही महार्घता दी है और उसमें अद्वैतम् एवं आनन्दम् को जोड़ कर उसे पंच-सूत्री बनाया है।

प्रारम्भ में ही यह बता देना है कि तुलसी-संस्कृति कहने से यह तात्पर्य नहीं कि जिस संस्कृति की रूपरेखा "मानस" और अन्य रचनाओं में मिलती है वह एकांततः तुलसी का आविष्कार है। उसमें बहुत कुछ (कदाचित् सभी) परंपरागत है, प्राचीन है, परन्तु तुलसी के साक्षात्कार ने उसे नवीनता प्रदान की है और वह उनका अनुभूत सत्य बन गया है। स्वयं तुलसी "नानापुराणनिगमागमसम्मत" कह कर अपने सांस्कृतिक दाय की ओर इंगित करते हैं। उनका सांस्कृतिक जगत सब धर्मों का सारभूत सत्य है। उनकी आध्यात्मिक संस्कृति में भारतीय आध्यात्मिक चेतना ही नहीं, मानव-मात्र की मूलभूत तथा अंतरंगी आध्यात्मिकता मूर्तिमान हुई है। इसी से उसमें सार्वभौमिक प्रश्न और समाधान प्रस्तुत हैं। देशकालजातिनिरपेक्ष विश्व-मानव को तुलसी ने आत्मिक स्तर पर साकार किया है। यह उर्वरा धरती मानव-मात्र के लिए समान रूप से उपलब्ध है, परन्तु भारतीय जीवन में उसका अपेक्षाकृत अधिक उपयोग हुआ है। उपनिषद् गीता, भागवत और रामचरितमानस वैष्णव परम्परा के भीतर इसी अध्यात्म-भूमि का प्रकाशन करते हैं परन्तु बौद्ध साहित्य और शैव तथा तंत्र ग्रंथों में विभिन्न पर्यायों में समानान्तर रूप से इसी भूमि का प्रसार है। तुलसी के साथ जोड़ कर हम इस संस्कृति को मध्ययुग की ऐतिहासिकता देते हैं, उसे व्यक्तिगत साधना से सम्पन्न करते हैं और अपने अत्यन्तसमीपी समीकरण की ओर इंगित करते हैं। यह संस्कृति तुलसी के व्यक्तिगत जीवन (या व्यक्तित्व) की अनिवार्यता थी परन्तु उसमें शाश्वत जीवन-धर्म भी उसी अनिवार्यता और शक्तिमत्ता से प्रवहमान है।

इस तुलसी संस्कृति का प्रथम सोपान भौतिक जगत से परे सर्वव्यापिनी चिन्मय जगत् की सत्ता है। यह चिन्मय जगत धर्ममय, मूलभूत और अंतरंगी है। उपनिषद् के शब्दों में वह "सत्यस्य सत्य" और "एकम् अद्वितीय" है। वह "अजातम्, अमृतम्, एकतम्, असंस्कारतम्" है। पदार्थ मात्र नित्य है, परन्तु नश्वर पदार्थों से परे ऋत और सत्य के के रूप में सूक्ष्म, चिन्मय, सच्चिदानन्द, अद्वैत वास्तविकता विराजमान है। इसी चरम सत्ता को तुलसी ने "राम" में मूर्तिमान किया है राम ब्रह्म हैं। वही एकमात्र सत्य हैं। तुलसी उन्हें "हरि", "कृष्ण", "विष्णु" "शिव" आदि अनेक पर्यायों से याद करते हैं, परन्तु इस मूलभूत चिन्मयता के प्रति उनका पूर्व गृह निरन्तर बना रहता है। काकभुसुण्डि-प्रसंग में अखिल ब्रह्माण्ड में, अनेक सर्ग-प्रलय के बीच में तुलसी ने इस चिन्मयता (ब्रह्म या राम) को एकमात्र अपरिवर्तनीय माना है। वे राम को इस प्रकार परिभाषित करते हैं।

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

(बालकाण्ड, ११६)

राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्व रहित सब उर पुर वासी॥

(वही, १२० क)

संशय सर्प ग्रसन उरगादा । शमन सु कर्कश तर्क विषादा ।।
भव भंजन रंजन सुर यूथः । त्रातु सदा नो कृपा वरूथाः ।।
अमलमखिलमनवद्यमपार । नौमि राम भंजन महि भार ।।
भक्त कल्प पादप आरामः । तर्जन क्रोध लोभ मद काम. ।।
अति नागर भव सागर सेतुः । त्रातु सदा दिनकर कुल केतुः ।।
अतुलित भुज प्रताप बल धामा । कलिमल विपुल विभंजन नामा ।।
धर्म वर्म नर्मद गुण ग्रामः । संतत शं तनोतु मम रामः ।।
जदपि विरज व्यापक अविनासी । सबके हृदय निरंतर वासी ।।

(अरण्य० १३)

तात राम नहिं नर भूपाला । भुवनेस्वर कालहु कर काला ।
ब्रह्म अनामय अज भगवंता । व्यापक अजित अनादि अनंता ।।
गो द्विज धेनु देव हितकारी । कृपासिंधु मानुष तनुधारी ।।
जन रंजन भंजन खल व्राता । वेद धर्म रच्छक सुनु भ्राता ।।

(सुन्दर, ३६)

विस्वरूप रघुवंस मनि, करहु बचन विश्वासु ।
लोक कल्पना वेद कर, अंग अंग प्रति जासु ।।
पद पाताल सीस अज धामा । अपर लोक अंग अंग बिस्रामा ।।
भ्रकुटि बिलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घनमाला ।।
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा । निसि अरु दिवस निमेष अपारा ।।
स्रवन दिसा दस वेद बखानी । मारुत स्वास निगम निज बानी ।।
अधर लोभ जम दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ।।
आनन अनल अंबुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ।।
रोम राजि अष्टादस भारा । अस्थि सैल सरिता नस जारा ।।
उदर उदधि अधगो जातना । जगमय प्रभु का बहु कल्पना ।।
अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास सचराचर, रूप राम भगवान ।।

(लंका० १५)

यह रामतत्व का निर्गुण निर्वैयक्तिक स्वरूप है जो साक्षात्कार विज्ञान का विषय है। यह भावसाधना का विषय नहीं हो सकता। भाव-साधना के लिए ही ब्रह्म को सगुण मान कर उसके साथ अनेक मानवीय सम्बन्धों की कल्पना की गई है। तुलसी ने इन मानवीय सम्बन्धों में से एक को विशेष रूप से चुना है। वे राम को 'स्वामी' के रूप में देखते हैं और उनसे सेवक-सेव्य भाव का नाता जोड़ते हैं। राम के ऐतिहासिक अथवा

पौराणिक स्वरूप से उनकी इस मान्यता की रक्षा भी हो जाती है। क्योंकि राम राजा हैं। लोकसंग्रही तथा धर्म संस्थापक हैं। वे दुष्टों के दण्डदाता और साधु मात्र के परित्राता हैं। युगधर्म को पहचान कर तुलसी ने इसी कल्याणकारी रूप में राम की अभिवंदना की है। परन्तु तुलसी यह जानते हैं कि ये व्यक्तिगत तथा बौद्धिक संबंध ब्रह्म जिज्ञासा का सब कुछ परिशेष नहीं कर देते, चिन्मय परोक्ष सत्ता का महदाश इनसे बाहर रह जाता है। नभचुंबी कैलाश-शिखरों की ऊँचाइयाँ अन्धकार में खो गई हैं और हमारी आँखें पदतल में पड़े हुए पर्वतीय विस्तार को ही देख पाती हैं।

तुलसी-संस्कृति की दूसरी धारणा है कि यह चरम सत्ता मानव-हृदय में अंतर्यामिन् के रूप में निवसित है। मानवात्मा में ब्रह्म का निवास है। 'तद्दूरे तदवंतिके' कह कर उपनिषद् ने जिस अन्यतम नैकट्य की कल्पना की है, वह संत-साधना का अनुभूत सत्य है। बौद्धों का भी विश्वास है कि आदि बुद्ध सूक्ष्म रूप में सबके हृदय में विराजमान हैं। सर्वव्यापिन् चिद्शक्ति ब्रह्म ही मानव-हृदय के भीतर आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार भीतर-बाहर समान रूप से एक ही चिन्मयता का प्रसार है। सच तो यह है कि ब्रह्म और आत्मा पर्यायवाची शब्द हैं क्योंकि उसी एक सर्वव्यापिन् और अंतर्यामिन् चिन्मय शक्ति के लिए दोनों का उपयोग हुआ है। राम के प्रति आस्था इसी बहिरांतर-भूत चरमसत्ता की अनुभूति का दूसरा नाम है और रामभक्ति इसी चिन्मयता के प्रति भक्त का तादात्म्य-भाव है।

तीसरे, यह चरम वास्तविकता मनुष्य के लिए परमादर्श है जिसे सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के रूप में कल्पित करने की चेष्टा हुई है। मनुष्य के सभी मानदण्ड यहाँ आकर समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग सब की पराकाष्ठा ईश्वर है। वह परम सत्य परम शिव, परम आनन्द है। सभी धर्मों का एक मात्र लक्ष्य इसी परात्पर की उपलब्धि है। उसे पाकर ही परम शांति की प्राप्ति होती है क्योंकि शाश्वत होने के कारण वही एक प्रकार से संग्रहणीय है। भगवान बुद्ध ने स्पष्ट कहा है: यद अनिच्चम् तम नालम् अभिनंदितम नालम् अभिवादितम् नालम् अज्झोसितम्। जो शाश्वत् नहीं है वह मनुष्य के लिए न आनन्द का विषय हो सकता है, न अभिवादन का, न आकर्षण का। इसी अंतिम लक्ष्य को तुलसी ने राम कहा है और उन्हें एक मात्र वास्तविकता माना है। उन्होंने राम, रामभक्ति और रामाश्रित जीवन को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना है। चौथी कल्पना यह है कि यह वास्तविकता मानवीय संबंधों में प्रेम के रूप में प्रकाशित है। महायान-दर्शन में 'महाकरुणाचित्तम्' को 'बोधि' का सार बतलाया गया है। तुलसी के राम भी परम कारुणीक हैं। भक्त की ओर से भक्ति और भगवान की ओर से करुणा का प्रसार आरोहण अवरोहण के दो प्रमुख सूत्र हैं। परन्तु मनुष्य-मनुष्य के पारस्परिक संबंधों में 'परहित-धर्म' के रूप में इसी करुणा की अपरिसीम व्याप्ति है। तुलसी स्पष्ट कहते हैं।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

तुलसी ने इस धर्म को "संत-स्वभाव" के रूप में ग्रहण किया है और संत-चर्या की रूपरेखा यों प्रस्तुत की है:—

कबहुंक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा ते संत सुभाव गहौंगो ।।
यथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहितनिरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ।।
परुष वचन अतिदुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान, सम सीतल मन, परगुन, नहिं दोष कहौंगो ।।
परिहरि देहजनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो ।।

(विनयपत्रिका, १७२)

परन्तु भक्त के लिए मानव धर्म भगवान के नाते ही धर्म है। इसीलिए तुलसी का मानववाद कोरा बुद्धिवाद न होकर आध्यात्मिक एकात्मता अथवा सत्ता मात्र की चिन्मयता पर आधारित है। "नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं" पंक्ति में तुलसी ने अपनी इसी आध्यात्मिक मानववादी प्रेरणा का स्पष्ट किया है। इसी क्रियात्मक वेदांत का मूलाधार है। यह स्पष्ट है कि हम भक्तों और संतों को पलायनवादी नहीं कह सकते क्योंकि वे मनुष्यमात्र के प्रति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा का जाग्रत करने के लिए ही प्रपंचात्मक क्षुद्र बंधनों को तोड़ते हैं। उनका विराग आत्मप्रसार ही कहा जा सकता है। उसमें विराट् चैतन्य की अनुभूति के द्वारा आत्मसंकोच का चुनौती मिलती है। बौद्धधर्म की महाकरुणा की अनुभूति की तरह वैष्णव धर्म की चिन्मयता की यह सक्रिय अनुभूति भी श्रेष्ठतम मानव धर्म है और उसे प्रकारांतर ही समझा जा सकता है।

पाँचवी धारणा है कि रामाश्रित जीवन नैतिक जीवन है, आत्मदानी और बलिदानी जीवन है। वैराग्य, आत्मसमर्पण, नैतिक अनुशासन और संयम हरिभक्तिपथ के अनिवार्य अंग हैं। व्यक्तिगत रूप से ध्यान, धारणा, नामस्मरण आदि में इस मार्ग का प्रकाशन है। तुलसी ने नवधा या दशधा भक्ति के रूप में अपने हरिभक्तिपथ की विस्तृत भूमिका हमारे सामने प्रस्तुत की है।

ऋग्वेद की ऋचाओं में हमें आदि मानव की सुख-समृद्धि की आकांक्षा मिलती है, परन्तु धीरे धीरे चरम सत्ता "ईश्वर" ही मनुष्य की आकांक्षा का लक्ष्य बन गई है। रहस्यधर्मी मर्मी सन्तों की यही पुकार है। साक्षात्कार के लिए तीव्र आग्रह मानव की सर्वोच्च भाव साधना कही जा सकती है। इसी ने कालांतर में मोक्ष या निर्वाण के प्रति आकांक्षा का रूप धारण किया है। मोक्ष या निर्वाण का तात्पर्य है उन सब प्रपंचों से मुक्ति जो ईश्वर-साक्षात्कार में बाधक हैं और अंतत स्वेच्छा का ईश्वरेच्छा में ही पर्यवसान। इस आत्मसमर्पण को ही भक्ति कहा गया है जिसे मध्ययुगीन संतों ने पंचम पुरुषार्थ के रूप में स्थापित किया है। भक्त इस संसार में 'रामराज्य' की स्थापना चाहता है और अपने भीतर इस रामराज्य का अनुभव परिपूर्ण आत्मसमर्पण के रूप में करता है। नामस्मरण इसी विनयमूलक भक्तिभाव का चरमतात्पर्य है। तुलसी

ने तो नाम को "राम" से भी बड़ा बतलाया है और उसे रामचरितमानस की भूमिका के रूप में रखा है। उनका मत है :—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ।।
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ।।
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू ।।
देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ।।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परहिं पहचानें ।।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेषें ।।
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी ।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ।।

(बाल, २१)

नाम की उपयोगिता रूप को विशेषत्व में बांधने और उसे महार्घ बनाने में है। इसीलिए सगुणोपासना में नाम अत्यन्त उपयोगी वस्तु है परन्तु निर्गुण ब्रह्म (ब्रह्म राम) से भी नाम को बड़ा बतलाया गया है क्योंकि नाम का अर्थ है मूल्य और नामस्मरण से अनायास ही नये मूल्य की सृष्टि हो जाती है। प्रश्न अन्ततः यह है कि हमारे मूल्य चिन्मय हैं या जड़मय। नाम देकर हम परोक्ष में पदार्थ को सार्थकता देते हैं और उस पर गुणों अथवा विशेषताओं का आरोप करते हैं उससे ही हमारे भावबोध को स्थायित्व की प्राप्ति होती है। तुलसी के अनुसार ब्रह्म का ब्रह्मत्व रत्नच्छाया की भाँति स्वप्रकाश है

ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनन्दरासी ।।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ।।
नाम निरूपन नाम जतन से। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते ।।

(वही, २२)

इस तर्क-शृंखला पर चलते हुए तुलसी चिन्मयत्व के निराकार और साकार दोनों रूपों के भीतर भाव-साधना अथवा चिन्मयत्व की प्रतीति को महत्वपूर्ण रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। यह गम्भीर भावबोध ही तुलसी के व्यक्तित्व और उनकी साधना की देन है। छठा सोपान करुणा, मैत्री अथवा अहिंसा का सन्देश है जो जीवन की अखण्डता तथा चिन्मयता के प्रति क्रियात्मक भावाभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है। भगवान राम के चरित्र में कवि ने इसे सम्पूर्ण रूप से मूर्तिमान किया है। वे परम कारुणीक हैं। उनकी करुणा ही भक्त का बल और आश्वासन है। इसे ही तुलसी ने भक्तवत्सलता का नाम दिया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य भक्त के आत्मसमर्पण-भाव और भगवान की भक्त-वत्सलता का ही उदाहरण कहा जा सकता है। "विनयपत्रिका" में भक्त और भगवान के इस सबंध को अन्यतम नैकट्य का रूप दे दिया गया है और उसकी अभिव्यक्ति वैयक्तिक भाव-साधना में हुई है। यह भाव साधना अत्यन्त मार्मिक है और इसमें मानवीय सङ्कल्प-विकल्प तथा सूक्ष्मतम आध्यात्मिक परिस्फूर्ति का चित्र आकर्षक ढंग से उभरा है। कहने

का तात्पर्य यह है कि भक्त को सर्वदिक् भगवान की करुणा और भक्तवत्सलता का ही प्रसार दिखलाई पड़ता है और इसी में उसे मूलगत चिन्मयता की झलक दिखलाई पड़ती है। इसी भावभूमि पर वह विश्वमैत्री की अनुभूति प्राप्त करता है। वैसे तुलसी ने स्वयं भगवान राम के मुख से मित्रता के विशिष्ट गुणों का वर्णन कराया है और उनके राम मित्रता के आदर्श कहे जा सकते हैं। परन्तु व्यापक रूप से विश्वमैत्री की कल्पना भी उनमें परिपूर्ण रूप से दिखलाई देती है। यह विश्वमैत्री ही उनके साहित्य में मत की "रहनि" बन कर सामने आई है। तुलसी कहते हैं—

> काज कहा नरतनु धरि सार्‌यो।
> पर-उपकार सार श्रुति को जो सो धोखेहु न विचार्‌यो ॥
> द्वैत मूल, भय सूल, सोग फल, भवतरु टरै न टार्‌यो।
> राम-भजन तीछन कुठार लै सो नहिं काटि निवार्‌यो ॥
> ससय-सिंधु नाम-बोहित भजि निज आतमा न तार्‌यो।
> जनम अनेक विवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‌यो ॥
> देखि आन की सहज संपदा द्वेष-अनल मन जार्‌यो।
> सम दम दया दीन-पालन सीतल हिय हरि न सभार्‌यो ॥
>
> (विनय०, २०२)

वैष्णव भक्ति-परम्परा में विशुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक भूमि पर अहिंसा का अपार महत्व है क्योंकि उसी में प्राणिमात्र की एकात्मता तथा चिन्मयता का प्रकाशन सम्भव है। परन्तु यह अहिंसा-भाव से भिन्न है। इसमें दानवीय शक्तियों के विरुद्ध कटिबद्धता का भाव मिश्रित है। गीता की 'यदायदाहि धर्मस्य" वाली घोषणा ही रामचरितमानस की भूमिका बन गई है। हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी यह द्वन्द्व राम के व्यक्तित्व में ही समाधान पाता है और कवि स्पष्ट रूप से कहता है—"राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।"। बाल० १२१। वह राम-जन्म के कारणों का वर्णन करता हुआ अन्त में धर्म के अवरोध और अधर्म के आतंक को ही मूल कारण बतलाता है—

> जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
> करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ॥
> तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ॥
> असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ॥
> जग बिस्तरहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ॥
>
> (बाल० १२१)

इस भूमिका पर वैष्णव धर्म को हिंसा का समर्थक नहीं कह सकते क्योंकि यह हिंसा अहिंसा के पोषक और संरक्षक तत्वों के संवर्द्धन के लिए ही है। और हिंसा के शमन के लिए ही सात्विकी हिंसा के रूप में राक्षस-वध की कल्पना की गई है और यह हिंसा व्यक्ति द्वारा नहीं, स्वयं भगवान द्वारा संचालित

होती है। परम कारुणीक राम अपनी भक्तवत्सलता और करुणा से द्रवित होकर ही भक्तों और सद्वृत्तियों के परित्राण के लिए हिंसा का आश्रय लेते हैं। जीवन की चिन्मयता और पावनता के संरक्षण के लिए की गई हिंसा धर्म का अनिवार्य अंग है, ऐसा तुलसी मानते हैं परन्तु इसमें श्रेष्ठतम नैतिक और मानवीय मूल्यों का बहिष्कार और अस्वीकार कहीं भी नहीं है। रामचरितमानस के स्वरूप की स्थापना करते हुए तुलसी रामभक्ति को प्राथमिकता देते हैं और पश्चात् राम के चरित्र को। इसके बाद राम-रावण युद्ध के रूप में वे काव्य और रस की महाधारा की कल्पना करते हैं और अंत में इन तीनों धाराओं का पर्यवसान राम के स्वरूप में करते हैं। यही उनके रामचरितमानस की योजना है। उन्होंने इसे यों रखा है—

रामभगति सुरसरितहि जाई । मिली सुकीरति सरजु सुहाई ।।
सानुज राम समर जसु पावन । मिलेउ महानदु सोग सुहावन ।।
जुग बिच भगति देवधुनि धारा । सोहति सहित सुबिरति बिचारा ।।
त्रिबिध ताप त्रासक तिमुहानी । राम सरूप सिंधु समुहानी ।।
(बाल० ४०)

इस स्थल पर "राम समर" को "जस पावन" कह कर तुलसी धर्मयुद्ध की सार्थकता का ही उद्घोष करते हैं। इस भूमिका पर वैष्णव धर्म की अहिंसा अकर्मण्यता अथवा अवसादजन्य-कातरता नहीं रह जाती। वह आतरिक-शक्ति से ओतप्रोत अधर्म के प्रति खड्गबद्धता बन जाती है। धर्म के इस व्यापक और सूक्ष्म स्वरूप में हिंसा-अहिंसा के द्वन्द का समाधान स्वतः होता है।

सातवीं बात यह है कि यह अध्यात्म-साधना सीमा से आगे बढ़ कर असीम को अपने भीतर आत्मसात कर लेती है। "सुखावती", 'ब्रह्मनिर्वाण" और "परिनिव्वाण" परम सुखम् अथवा "महासुह" के रूप में जिस तादात्म्यता की कल्पना प्राचीनों ने की थी, उसी को तुलसी ने अपनी जीवन-साधना बनाया है। परन्तु यह साधना व्यक्तिगत चेतना मात्र नहीं है, वह समष्टिगत जीवन-चेतना भी है। तुलसी के समस्त काव्य में इसी की स्फूर्ति व्याप्त है। वह अपने ही जीवन को राममय बना कर साधना अथवा भक्तिधर्म की इतिश्री नहीं समझते। उन्होंने सभी को राममय बनाना चाहा है। उनका कवि कर्म इसी अथक प्रयास का प्रमाण है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि तुलसी की सांस्कृतिक चेतना भारतीय अध्यात्म-चेतना का ही दूसरा नाम है। उन्होंने संस्कृति को अध्यात्म का पर्याय माना है क्योंकि वही मानव के आचार-विचार और व्यवहार का मूलाधार है। उसी से चरित्र, नैतिकता, जीवन-दृष्टि तथा प्रकृति-दर्शन का तार जुड़ता है। उन्हें अलग-अलग न देख कर तुलसी मूल में देखते हैं। फलत अध्यात्म का जितना और जैसा प्रसार हमें तुलसी में मिलता है, वैसा अन्यत्र असंभव है। रामकथा उनके लिए साधन-मात्र है, उदाहरण मात्र है क्योंकि उसमें उनकी 'राम"भावना पूर्णतः चरितार्थ होती है। वह ऐतिहासिक या पौराणिक सत्य न होकर भाव-सत्य है क्योंकि उसमें राम का नाम ही नहीं, उनका

कर्तव्य भी है। यह कर्त्तव्य वाल्मीकि और कालिदास में चारित्रिक भूमि पर प्रतिष्ठित है क्योंकि उनके राम मानव के श्रेष्ठतम आदर्श हैं, नरश्रेष्ठ हैं, परन्तु तुलसी के लिए रामकथा देवकथा। (इष्टदेव कथा) है, और उसमें उन्होंने अखण्डता तथा अनन्तता की व्याप्ति देखी है। "हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता" कह कर उन्होंने रामकथा में काफी मौलिकता की गुंजाइश कर दी है और यह मौलिकता राम को विष्णुत्व (अवतार) से ऊपर उठा कर ब्रह्मत्व, (परात्पर) तक ले जाती है। इस प्रकार तुलसी में परंपरा गत रामकथा का पर्यवसान रामत्व (ब्रह्मत्व अथवा ब्रह्म-भावना) में होता है और अंतर्यामिन् होने के नाते उनके राम उनकी भाव-साधना (भक्ति) के आलंबन भी बने रहते हैं। फलत राम में निर्गुण और सगुण का समाधान हो जाता है और वह एक साथ ज्ञान (विज्ञान अथवा साक्षात्कार) और भक्ति (व्यक्तिगत भावसाधना) के केन्द्र बन जाते हैं। ज्ञानमार्गी दृष्टिकोण निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण है और भक्तिमार्गी दृष्टिकोण वैयक्तिक, परन्तु दोनों के लक्ष्य एक ही "राम" हैं, दोनों चैतन्य की अनुभूति के दो स्वरूप हैं। निर्गुण राम में चैतन्य का ऐसा बोध है जो समरस, तटस्थ, मूलभूत तथा अनाकांक्षी है। सगुण राम में यही चैतन्य तरल आत्मद्रवित कारुणिक व्यक्तिगत तथा प्रतीकात्मक बन कर सामने आता है। एक में अहंकार, मन, बुद्धि का प्रकाश है तो दूसरे में समर्पित हृदय का आनंद मूर्तिमान है। धर्म की भूमि इन दोनों भूमियों को जोड़ती है क्योंकि उसमें विवेक और प्रेम (करुणा) दोनों का प्रसार है। श्रद्धा मैत्री तथा करुणा में ही मनुष्य के धर्म की ज्योति जाग्रत होती है। तीनों के मूल में अहिंसा-धर्म है जो मूलत चैतन्य का धर्म है। इसी चैतन्य का तुलसी ने राम तथा रामत्व में साक्षात्कार किया है।

रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड (दो० ८६–९०) के अन्त में तुलसी ने अपने भक्तिवाद की रूपरेखा अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत की है। भक्ति रामकृपा से प्राप्त होती है, यह तुलसी का समर्पण-भाव है

रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम-प्रभुताई।
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥
(८९)

दूसरी अनिवार्यता है गुरुकृपा

बिनु गुरु होइ कि ग्यान (८९ क)

तीसरी अनिवार्यता है सहज संतोषपूर्ण नैतिक जीवन

कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरइ॥
(८९ ख)

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल विहीन तरु कबहु कि जामा॥
बिनु बिग्यान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ॥

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई ॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा ॥
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं ॥
निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। परस कि होइ बिहीन समीरा ॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा ॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहु जीवन लह बिश्रामु ॥ ९० क ॥

इस प्रकार तुलसी अपने रामाश्रित जीवन की तीन भित्तियाँ देते हैं :—हरिकृपा, गुरुकृपा और नैतिक जीवन। विजय रथ रूपक में इस नैतिक जीवन की ऐसी झाँकी प्रस्तुत की गई है जो एक ही साथ बहिर्जीवन और अंतर्जीवन पर लागू है। हरिकृपा और गुरुकृपा अन्योन्याश्रित है और साधक का उन पर कोई अधिकार नहीं। परन्तु नैतिक जीवन उसका अपना कर्त्तव्य है। तुलसी संस्कृति के मूल में यही नैतिक जीवन है जो शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, विवेक, दम, परहित। परोपकार, क्षमा कृपा समता ईशाराधना विरति, संतोष दान बुद्धि, विज्ञान मानसिक निर्मलता तथा अचलता संयम नियम विप्र-गुरु-भक्ति पर आधारित है। स्मृति ग्रंथों और गीतोक्त स्थितप्रज्ञ ज्ञानी कर्म संन्यासी और भक्त के व्यक्तित्व में ये नैतिक तत्व समान रूप से ओतप्रोत रहते हैं। वस्तुतः यही तत्व मानव संस्कृति के मूलाधार हैं। शताब्दियों के विकास में मनुष्य ने इनका अर्जन किया है। अपने प्राणविक जीवन में मनुष्य ने जिन संस्कारों का चयन किया, वे उत्तरोत्तर परिष्कृत होते गये और अंत में वही मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के मूलाधार बने। इन तत्वों ने मनुष्य के विकास सरणि को रूपान्तरित कर दिया। वह प्राकृतिक न रह कर चेतनाप्राण बन गया। मनुष्य स्वयं अपना भाग्यविधाता बना। वह प्रकृति के अनगढ हाथों का खिलौना नहीं रह गया। तुलसी-संस्कृति यही उदात्त मानव संस्कृति है प्रकृति पर चैतन्य को मूलाधार बना कर मानव का देवत्व की भूमि पर उठाती है और उसके हाथ में विकास के नये सूत्र देती है। यह श्रेय की बात है कि उपनिषद्काल में ही भारतवर्ष ने मनुष्य की स्वतन्त्र-चेतना और मूलभूत आध्यात्मिकता की घोषणा कर दी थी। वैदिक ऋतु की कल्पना सत्य में बदल गई और वरुण-भक्ति का स्थान ब्रह्म चेतना ने ले लिया। इसके पश्चात सत्य का धर्म के रूप में मूर्तिमान कर उसके लक्षणों का आविष्कार हुआ। धर्म के इन लक्षणों ने ही मानव संस्कृति की नींव डाली। तुलसी के राम धर्म के ही मूर्त्त रूप हैं। इस प्रकार तुलसी का धर्मचेतना वैदिक काल से मध्ययुग तक के सम्पूर्ण अध्यात्म को अपने भीतर आत्मसात कर लेती है। उसने अपने युग की भौतिकवादी ईरानी भोगलिप्सा को भी चुनौती दी जो देह के पोषण पर गर्व कर सकती थी और भारतीय जीवन को तात्कालिकता से ऊपर उठा कर शाश्वत मूल्यों पर आधारित करती थी। यही नहीं, उसमें भविष्यत् संस्कृति के व्यापक तत्व समाहित थे। आज भी तुलसी का सपना सम्पूर्णतः सार्थक नहीं हुआ है क्योंकि तुलसी संस्कृति मानव मात्र की गतिमान सांस्कृतिक चेतना है और उसमें नये-नये ज्ञान विज्ञानों के साथ श्रेष्ठ-

तम अध्यात्म को आत्मसात् करने की क्षमता है। यह जड़ को चेतन की ओर से देखती है। उसमें सत्यं, शिवं, सुन्दरम् अलग-अलग न रह कर अद्वैतम् में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और इस अद्वैतम् चैतन्यम् के प्रति प्रणति ही "परम विश्राम" का सर्जक बन जाता है। इसी प्रणति में तुलसी ने परम आनन्द की कल्पना की है। इस प्रणति में तटस्थता है अपने व्यक्तित्व का अभाव है, साक्षात्कार का आनन्द है, मर्यादा और संयम है। इसमें वह निर्बाध आत्मदान और आत्मोल्लास नहीं है जो सूरदास और मीरा की भाव-साधना में है, परन्तु इससे तुलसी का साक्षात्कार छोटा नहीं हो जाता। सूरदास के काव्य में आनन्दम् की अभिव्यक्ति है तो तुलसी के काव्य में अद्वैतम् की। सूर की आनन्द-भूमि भी अद्वैतमूलक और साक्षात्कारजन्य है और तुलसी की अद्वैतानुभूति में भी आनन्द के स्रोत खुले हैं। दोनों की भावभूमि और साधना में प्रकृतिभेद हो सकता है, परन्तु दोनों एक ही धरातल की अनुभूतियां हैं। यह स्पष्ट है कि तुलसी की भावभूमि सर्वसुगम, नैतिक और मर्यादित होने के कारण व्यक्ति-मात्र के लिए संग्राह्य है। सूरदास की आनन्द-भूमि तक विरले ही पहुँचेंगे। महान युगद्रष्टा की भांति तुलसी ने विशिष्टों और अपवादों के लिए नहीं, सार्वभौमिक मानवता के लिए मूलगत आध्यात्मिक संस्कृति की योजना की है। उन्होंने मानव-मन के गहन गर्त में हुंकृत महाभय से त्राण देने के लिए धनुर्धर राम के रूप में जिस कर्मठ चैतन्य की उद्भावना की है वह काल को भी जीतने में समर्थ है क्योंकि काल राम का कोदण्ड मात्र है। पौराणिक, ऐतिहासिक और चारित्रिक भूमियों के साथ आध्यात्मिक भूमि को लेकर चलने के कारण तुलसी की रामकथा मानव-चैतन्य के तीन स्तरों पर एक साथ चलने वाली जीवन्त प्रेरणा बन गई है। उसकी सांस्कृतिक चेतना में वह सब सिमट आता है जो व्यास, वाल्मीकि और कालिदास में शेष रह गया है या एकांगी रूप में प्रकाशवान है।

डा० कन्हैयालाल सहल

मानसिक स्वास्थ्य और गीता

"मानसिक स्वास्थ्य" का आन्दोलन बहुत पुराना नहीं है। आज से करीब ४५ वर्ष पहले सन् १९०८ में क्लिफर्ड डब्ल्यू० बीयर्स ने इस आन्दोलन को गति देने में महत्वपूर्ण योग दिया था। बीयर्स स्वयं न तो कोई मनोवैज्ञानिक था और न कोई मानसिक चिकित्सक ही। वह स्वयं मानसिक गत्यवरोध का शिकार था। उसने अपने अनुभवों को एक प्रभावशाली ग्रन्थ में व्यक्त किया है जिसका नाम है A mind that found itself। मानसिक रोगियों का जिस ढंग से इलाज होता था उससे बीयर्स सतुष्ट नहीं था। उसकी प्रबल इच्छा यह होती थी कि इस प्रकार की चिकित्सा में रोगियों के साथ बड़ी सुहानुभूति बरती जाय। उसने विलियम जैम्स जैसे मनोवैज्ञानिक तथा एडाल्फ मेयर जैसे मानसिक चिकित्सक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। मेयर ने ही इस प्रकार के आन्दोलन के लिए *"मानसिक स्वास्थ्य' इस शब्द का नाम सुझाया था।* कोई भी *मानसिक विकृति का* शिकार होता तो उस समय लोग यही समझते थे कि इस पर भूतप्रेत का असर है। 'मानसिक स्वास्थ्य" का वैज्ञानिक अध्ययन करने वालों ने सबसे पहले जनता को इस विषय में शिक्षित करना प्रारम्भ किया कि मानसिक विकार भी अन्य विकारों की तरह ही है। बीयर्स के प्रयत्नों से अन्य बहुत से उत्साही लोग शामिल हो गये और ६ मई सन् १९०८ का 'मानसिक स्वास्थ्य' के सम्बन्ध में पहली सभा की स्थापना हुई जो आगे चलकर उस राष्ट्रीय समिति का अंग बन गई जिसकी स्थापना सन् १९०९ में हुई। दस वर्ष बाद मानसिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी का निर्माण हुआ जिसके कारण इस आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय रूप प्राप्त हुआ। सन् १९३० में जब मानसिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में वाशिंगटन में पहली अन्तर्राष्ट्रीय काँग्रेस हुई तो ५३ देशों के प्रतिनिधियों ने उसमें भाग लिया था। इससे स्पष्ट है कि बीयर्स ने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया था, केवल दो दशाब्दियों के थोड़े से समय में ही विश्व का प्रत्येक देश किसी न किसी रूप में इस आन्दोलन में अभिरुचि रखने लगा।

मानसिक स्वास्थ्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। शारीरिक कष्ट, मानसिक वेदनाएँ, घोर दारिद्र्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का संघर्ष, सामाजिक अपमान, ईर्ष्या-द्वेष, धार्मिक द्वन्द्व, प्रेमियों का वैषम्य, सभी का सम्बन्ध इस विषय से है। इसलिए प्रारम्भ में ही यह समझ

लेना आवश्यक है कि यह विषय केवल चिकित्सकों से ही सम्बन्ध नहीं रखता, इसका सम्बन्ध मानव-मात्र से है। क्या कालेज, क्या स्कूल, क्या घर, क्या मन्दिर, क्या मसजिद क्या न्यायालय, क्या कार्यालय, उन सभी संस्थाओं से इसका सम्बन्ध है जो मनुष्य के आचार-विचार किंवा उसके वर्ताव-व्यवहार को किसी भी कदर प्रभावित करती हैं।

"मानसिक स्वास्थ्य" की परिभाषा देना भी एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है किन्तु यदि इसकी परिभाषा देनी पड़े तो इसके पहले रवि बाबू की एक प्रार्थना की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा जिसमें कहा गया है कि 'हे भगवन् ! दुखों से मेरी रक्षा करो, यह प्रार्थना मैं नहीं करना चाहता। दुःख आवें, विपत्तियों के पहाड़ टूटें, उन सबका मैं स्वागत करता हूँ, किन्तु मैं तो केवल यह चाहता हूँ कि विपत्तियों के सामने मैं कन्धा न डाल दूँ, हे भगवन् ! मैं आपसे केवल यही माँगता हूँ कि आप मुझे ऐसी शक्ति दें जिससे मैं विपत्तियों से लोहा ले सकूँ।' "गीताकार ने इसी भावना को सूत्रबद्ध करते हुए लिखा है "नात्मानमवसादयेत्" अर्थात् कोई भी अपने आपको अवसाद के वशीभूत न होने दे।

मानसिक स्वास्थ्य वस्तुतः एक ऐसी अदम्य मनोवृत्ति है जिसका आश्रय लेकर हम आनन्दपूर्ण उत्साह की उमंग के साथ कठिनाइयों से जूझते हैं और जीवन के प्रति एक आशापूर्ण दृष्टिकोण बनाये रहते हैं। इस वृत्ति के कारण ही हमें अपने काम में रस आता है, हम लगन के साथ अपने कर्त्तव्यों का पालन करते चले जाते हैं और विघ्न बाधाओं के होते हुए भी हम जीवन का दाव नहीं हारते, उसे जीतने के लिए हम मृत्यु तक का वरण कर लेते हैं। सच तो यह है कि जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है उसे जीने में आनन्द का अनुभव होता है। केवल कुछ नियमों अथवा सूत्रों को कण्ठाग्र कर लेने से मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त नहीं किया जा सकता, मानसिक दृष्टि से कोई व्यक्ति स्वस्थ है अथवा नहीं, इस बात का पता तभी चलता है जब हम उसे जीवन के विविध क्षेत्रों में काम करते हुए देखते हैं।

अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से गीता की व्याख्या की है। किन्तु गीता के पहले अध्याय से ही स्पष्ट है कि अर्जुन अपना मानसिक स्वास्थ्य खो बैठा था। इस अध्याय का नाम भी "अर्जुन विषादयोग" रखा गया है जो बहुत ही उपयुक्त है। अपने सम्बन्धियों को युद्ध क्षेत्र में एकत्र देखकर अर्जुन के अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गये, मुँह सूख गया, शरीर कांपने लगा और रोए खड़े हो गये, गाण्डीव हाथ से छूटने लगा, बदन में आग-सी लग गई, खड़ा रहना तक उसके लिए दूभर हो गया, उसका दिमाग चक्कर खाने लगा। अर्जुन ने स्पष्ट स्वीकार किया "भ्रमतीव च मे मनः।" उसके जीवन का रस जाता रहा। उसने कहा, "अपने सगे-सम्बन्धियों को मारकर मैं विजय नहीं चाहता। न मुझे राज्य चाहिए न सुख। हे गोविन्द ! मुझे राज्य और भोग से क्या काम ? अथवा जीने से मुझे क्या लाभ ?" इतना कह कर अर्जुन ने धनुष-बाण डाल दिया और अपने मन को शोक में डुबाये हुए रथ के पिछले भाग में जाकर बैठ गया।

यहाँ पर यह प्रश्न सहज उपस्थित होता है कि जिस अर्जुन ने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। युद्ध के समय उसका मन विचलित क्यों हो उठा ? स्पष्ट है कि किसी भी

प्रकार के भयकर युद्ध से अर्जुन विचलित नही हो सकता था, उसके विचलित होने का कारण था उसका मानसिक सघर्ष और उसकी किंकर्त्तव्यमूढता । कृष्ण ने उसे आडे हाथो लेते हुए कहा था कि हे अर्जुन ! तुझे यह हृदय-दौर्बल्य शोभा नही देता, इस विषम घडी में तुझे यह मोह कहाँ से पैदा हो गया ? अर्जुन ने उत्तर देते हुए कहा कि कार्पण्यदोष से मेरी वृत्ति मारी गई है, मैं कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नही कर पा रहा । जान पडता है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय न कर सकने पर भी मानसिक स्वास्थ्य जाता रहता है, धर्म समूढचित्तता एक प्रकार के मानसिक शैथिल्य की अवस्था है और मानसिक स्वास्थ्य के लिए दृढतापूर्वक स्थित रहने की आवश्यकता है । गीता के अन्तिम अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन से पूछा ।

कच्चिदेतच्छ्रु त पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञान समोह प्रनष्टस्ते धनजय ।।

अर्थात, हे अर्जुन ! यह तूने एकाग्रचित्त से सुना । हे धनजय । इस अज्ञान के कारण जो मोह तुझे हुआ था, वह क्या नष्ट हो गया ? उत्तर में अर्जुन ने कहा ।

नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देह करिष्ये वचन तव ।।

अर्थात हे अच्युत ! आपकी कृपा स मेरा मोह नष्ट हो गया है, मुझे समझ आ गई है शका का समाधान हो जान से मैं अब स्वस्थ हो गया हूँ , आपका कहा करूँगा । उक्त श्लोक में "स्थिताऽस्मि' पर ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है । 'स्थितोऽस्मि' निश्चय ही स्वस्थ हो गया हूँ का पर्याय जान पडता है ।

इस प्रकार उपक्रम और उपसहार दोनों से स्पष्ट है कि गीता में मानसिक स्वास्थ्य की समस्या का समाधान किया गया है। गीताकार के शब्दो में यदि हम "मानसिक स्वास्थ्य का स्वरूप निर्धारित करना चाहें तो वह कुछ इस प्रकार का होगा—

"इहैव तैर्जित सर्गो यषा साम्य स्थित मनः ।
×   ×   ×
य लब्ध्वा चापर लाभ मन्यते नाधिक तत ।
यस्मिन् स्थितो न दु खेन गुरुणापि विचाल्यते ।।
यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
नि स्पृह सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते सदा ।।

अर्थात साम्य में जिनका मन स्थित है, उन्होंने यही इस ससार पर विजय प्राप्त कर ली । जिस साम्य को प्राप्त कर लन पर साधक और किसी भी लाभ को अपेक्षया बडा लाभ नहीं मानता । इस प्रकार के साम्य में स्थित होने पर भारी से भारी दु ख आ पडने पर भी वह विचलित नही होता । वस्तुत योग की स्थिति वही है जब भली भाति नियमबद्ध मन अपने में स्थिर होता है और समस्त कामनाओं के प्रति नि स्पृह हो जाता है ।

बुद्धि की ग्रस्थिरता से मानसिक स्वास्थ्य जाता रहता है सम्भवतः इसीलिए गीता में बार-बार स्थितप्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, समबुद्धि ग्रादि का विशद विवेचन किया गया है।

गीता में बुद्धि का जिस प्रकार विवेचन हुआ है, उसको लेकर हम बुद्धि के तीन रूप स्थिर कर सकते हैं।

(१) विवेक।

(२) एकाग्रता या भक्ति ग्रौर

(३) दृढ़ संकल्प।

जो बुद्धि सत् ग्रौर ग्रसत् में, विवेक स्थापित करती है, वह ज्ञान की ग्रोर ले जाती है। जो बुद्धि एक ही वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित रखती है, वह भक्ति की ग्रोर उन्मुख है। गीता में जहाँ, "मयि बुद्धि निवेशय" कहा गया है, वहाँ बुद्धि एकाग्रता या भक्ति के ग्रर्थ में प्रयुक्त है। "व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन" कह कर गीताकार ने बुद्धि के उस रूप का विवेचन किया है जिसका सम्बन्ध दृढ़ संकल्प ग्रथवा निश्चय से है। बुद्धि के इन तीनों रूपों को गीताकार ने क्रमशः ज्ञान, भक्ति ग्रौर कर्म के नाम से ग्रभिहित किया है।

सब मनुष्यों में ज्ञान, भक्ति ग्रौर कर्म का समान विकास देखने को नहीं मिलता। इन तीनों में वैषम्य होने पर मानसिक सन्तुलन जाता रहता है जिसके कारण हम पद-पद पर ठोकर खाते हैं ग्रौर हमारा जीवन दुःखमय बन जाता है। जिस निष्काम कर्म ग्रथवा ग्रनासक्ति योग का सिद्धांत गीता में प्रतिपादित किया गया है, वह ज्ञान, भक्ति ग्रौर कर्म के समन्वय से ही जीवन में चरितार्थ किया जा सकता है।

गीता में सिद्धि ग्रौर ग्रसिद्धि के समत्व ग्रथवा कर्म कौशल को योग की संज्ञा दी गई है। किन्तु गीता में जिसे योगी कहा गया है, वह व्यक्ति ग्राधुनिक मनोवैज्ञानिक शब्दावली में संश्लिष्ट व्यक्तित्व (Integrated Personality) का ही चित्र उपस्थित करता है। योगी को प्रशस्य ठहराते हुए गीताकार कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक.।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

यहाँ जिस योगी की प्रशंसा की गई है, उसमें ज्ञान, भक्ति ग्रौर कर्म तीनों का समन्वय मिलता है।

गीता में किसी प्रकार के ग्रतिवाद का समर्थन नहीं किया गया है। ग्रत्यन्त भोजन करना, कुछ न खाना, खूब सोना ग्रौर खूब जागना, ये सब योग-सिद्धि में बाधक समझे गये हैं। गीता में युक्ताहार-विहार को ही योगी के लिए वांछनीय ठहराया गया है। उदाहरणार्थ

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

कर्मन्द्रियों को वश में कर मन से विषयों का चिन्तन करते रहना गीताकार की दृष्टि में पाखण्ड है। वाञ्छनीय यह है कि मन के द्वारा इन्द्रियों का नियमन कर कर्मयोग की सिद्धि की जाय।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।

आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक स्वास्थ्य के लिए सन्तुलन, साम्य, समत्व, आनुरूप्य आदि को आवश्यक समझता है। गीता में ये सब भाव रत्नों की भाँति बिखरे पड़े हैं।

प्रारम्भ से कहा गया है कि मानसिक स्वास्थ्य जीवन के प्रति आशापूर्ण दृष्टिकोण बनाये रहने से प्राप्त होता है। अदम्य आशापूर्ण मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप किस प्रकार रुग्ण शरीर वाला व्यक्ति भी मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त कर लेता है, यह स्व० श्री किशोरी लाल घनश्याम मशरूवाला जी के निम्न लिखित गद्य-काव्य से स्पष्ट है —

'दुःख। तू है कहाँ ?"

श्वास-पीडित के श्वास में, मलेरिया के बुखार में, शीतजन्य खाँसी में, इन्फ्लूएंजा में अथवा न्युमोनिया में मैंने तुझे नहीं देखा।

दुःख। तू है कहाँ ?

ऋणी की दरिद्रता में, गरीब की झोपड़ी में, धनिक की चिन्ता में मैंने तुझे नहीं देखा।

दुःख। तू है कहाँ ?
जाड़ों की ठंड में, गर्मियों की धूप में या वर्षा की झड़ी में मैंने तुझे नहीं देखा।
दुःख। तू है कहाँ।
मित्रों के क्लेश में, पत्नी के रोष में, शत्रुओं के द्वेष में मैंने तुझे नहीं देखा।

o o o

दुःख ने उत्तर दिया " मैं तो सर्वत्र हूँ। परन्तु भाई मेरे, हृदय की गहराई के जिस किले में छिप कर तू बोल रहा है, वहाँ मैं तुझे छू नहीं सकता।"

तो ठीक है, मैं उस किले से बाहर ही नहीं निकलूंगा।

इस गद्य काव्य में जितनी पीडाओं और मुसीबतों का उल्लेख है, वे सब मशरूवाला जी पर बीत चुकी थीं। बीमारी ने तो अंत तक उनका पीछा नहीं छोड़ा। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी जीवन के प्रति जो आशापूर्ण दृष्टिकोण उन्होंने बनाये रखा, वह निश्चय ही उनके मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक था।

जो व्यक्ति मानसिक दृष्टि से स्वस्थ है, वह प्रसन्नता को अपने हाथ से नहीं जाने देता। इसे ही गीताकार ने प्रसाद के नाम से अभिहित किया है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।

बुद्धि के विचलित होने से मानसिक स्वास्थ्य दूषित होता है और बुद्धि विचलित तभी होती है जब मनुष्य प्रसन्नचित रहना बन्द कर देता है। इसलिए, मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने में मानसिक प्रसन्नता की आदत डाले।

मानसिक स्वास्थ्य अकस्मात् प्राप्त नहीं हो जाता। मन तो सभी को मिला है, किन्तु मन-मन में भी कितना अन्तर है। कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं जो विपत्तियों से भयभीत नहो होते, प्रलोभन जिन्हें वशीभूत नहीं कर पाते और मृत्यु भी जिनके मानसिक समत्व पर आघात नही कर पाती। इसके विरुद्ध असख्य जन ऐसे हैं जो बात की बात में घबडा जाते हैं और मृत्यु के पहले ही न जाने कितनी बार मर चुकते हैं।

व्याधि से आधि भयकर होती है। शारीरिक पीडा के कारण लोग आत्म-हत्या करते नही देखे जाते और मानसिक व्यथाओ के कारण आत्म-हत्या करने वालों की कमी नही। इससे जान पडता है कि शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा भी मानसिक स्वास्थ्य कही अधिक महत्वपूर्ण है। सच तो शायद यह है कि शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य दोनो का अभिन्न सम्बन्ध है।

इस अपूर्ण ससार मे शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो जिसका मन पूर्णत स्वस्थ हो। जूलियस सीजर एक क्लेओपेट्रा के प्रेम में अपने साम्राज्य को भूल गया था। बादशाह डेविड के लिए प्रसिद्ध है कि वह कभी तो उदार बन जाता और कभी निर्दय, और कभी धर्मात्मा और कभी पापात्मा। कभी तो ईश्वरोपासना में तल्लीन हो जाता और कभी पाप-कर्म में प्रवृत्त हो जाता। कुछ समय बाद फिर पश्चात्ताप की कविताएँ लिखता और ध्यान मग्न हो जाता। बादशाह सोलन तो ज्ञान का अवतार माना जाता है किन्तु वह अपने पुत्र के लिए कुछ नही कर सका। कन्फ्यूसियस से एक बार कोई सज्जन मिलने के लिए आये। दार्शनिक ने किसी से कहलवा दिया कि वह घर पर नही है किन्तु आगन्तुक सज्जन ज्यो ही जाने को हुए, ऊपर के कमरे में बैठे हुए कन्फ्यूसियस ने गाना शुरू कर दिया। जिससे उस सज्जन को पता लग गया कि दार्शनिक घर पर ही है। मिल्टन के लिए तो प्रसिद्ध ही है कि जब अपनी १७ वर्षीय पत्नी से उनकी नहीं पट सकी तो आपने तलाक पर एक पुस्तक ही लिख डाली। लोगो ने जब इसका विरोध किया तो कवि ने वाक् स्वातन्त्र्य का जोरो से समर्थन शुरू कर दिया। चीन के सबसे बड़े कवि Tuo Vinuming के लिए कहा जाता है कि वे मदिरा के बडे शौकीन थे। वे एकान्त सेवी थे और दर्शकों से मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते थे। इस बात की भी उन्हें परवाह न थी और कि मेजवान से उनका कोई परिचय है अथवा नहीं। आप स्वय कभी मेहमानो को निमत्रित करते तो सबसे पहले "पीने बैठ जाते थे और पी चुकने पर कहा करते मैं मदिरा पान कर चुका और अब निद्रादेवी के वशीभूत हो रहा हूँ। अब आप लोग अपने-अपने घर जा सकते है।" इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि योगी व्यक्तित्व के पुरुष (Integrated Personality ससार में बहुत दुर्लभ हैं।

डा० कृष्णदेव उपाध्याय

अथातो लोक-साहित्य जिज्ञासा

'लोक' शब्द की निरुक्ति

लोक शब्द संस्कृत के 'लोक-दर्शने' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है[1]। इस धातु का अर्थ 'देखना' है जिसका लट् लकार में अन्य पुरुष एक वचन का रूप 'लोकते' है। अतः 'लोक' शब्द का अर्थ हुआ जो देखा जाय—लोक्यते इति लोकः—अथवा जो देखने का कार्य करे। अतः वह समस्त जन-समुदाय जो इस काम को करता है 'लोक' के नाम से अभिहित किया जाता है।

'लोक' शब्द की प्राचीनता

लोक शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इसका प्रयोग साधारण जनता के अर्थ में ऋग्वेद में अनेक स्थानो पर किया गया है। ऋग्वेद में 'लोक'-शब्द के लिए 'जन' शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है[2]। वैदिक ऋषि कहता है कि विश्वामित्र के द्वारा उच्चरित यह ब्रह्म या मंत्र भारत के लोगों की रक्षा करता है।

"य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्र मतुष्टव।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जन ॥"

ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त में 'लोक' शब्द का व्यवहार जीव तथा स्थान दोनो अर्थों में किया गया है[3]।

"नाभ्या आसीदंतरिक्ष शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्या भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयत्"

उपनिषदों में भी अनेक स्थानो पर लोक शब्द का व्यवहार हुआ है। जैमिनीय उपनिषद्ब्राह्मण में यथार्थ ही कहा गया है कि यह लोक अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तुयें यह प्रभूत या व्याप्त है। प्रयत्न करके भी कौन इसे पूरी तरह से जान सकता है[4]।

---

१. सिद्धान्त कौमुदी पृ० ४१७ (वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १९८९)।
२. ऋग्वेद ३।५३।१२।
३. वही १०।९०।१४।
४. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३।२८।

वहु व्याहितो वा अय वहुशो लोकः ।
क एतस्य अस्य पुनरीहतो अयात् ।।"

महर्षि व्यास ने अपनी 'शत साहस्री संहिता' की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह ग्रन्थ (महाभारत) अज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धे होकर व्यथित लोक (साधारण जनता) को आँखों को ज्ञान रूपी अजन की शलाका लगा कर खोल देता है[५] ।

"अज्ञान तिमिरान्धस्य लोकस्य तु विचेष्टतः ।
ज्ञानाञ्जन शलाकाभिः नेत्रोन्मीलन कारणम् ।।"

इसी प्रकार महाभारत में वर्णित विषयों की चर्चा करते हुए लोक-गाथा का उल्लेख किया गया है । व्यास मुनि ने अन्यत्र इसी ग्रन्थ में लिखा है कि जो व्यक्ति लोक का स्वतः अपने चक्षुओं से देखता है वही उसे सम्यक् रूप से जान सकता है[६] ।

"प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर. ।"

इस प्रकार साधारण जन-समुदाय के अर्थ में 'लोक' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आरहा है ।

'लोक' शब्द की परिभाषा

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'लोक' के सबध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'लोक' शब्द का अर्थ 'जानपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं । ये लोग नगर के परिष्कृत, रुचिसम्पन्न तथा सुसस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि रखने वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं[७] । डा० कुञ्जविहारी दास, अध्यक्ष, उड़िया विभाग विश्वभारती, शान्ति-निकेतन ने लोक गीतों की परिभाषा बतलाते हुए 'लोक' शब्द की भी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है । उन्होंने लिखा है कि लोकगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है जो सुसस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रहकर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं ।[८]

इससे स्पष्टतया ज्ञात होता है कि जो लोग सस्कृत या परिष्कृत लोगों के प्रभाव से दूर रहकर अपनी पुरातन परिस्थिति में विद्यमान हैं उन्हें 'लोक' कहते हैं । इन्हीं लोगों

---

५ महाभारत आदि पर्व १।८४ ।

६. वही ,, ,, १।६६ ।

७. डा० द्विवेदी 'जनपद' वर्ष १ अक १पृ०–६५ ।

८. The People that live in more or less primitive Conditions outside *the sphere of sophisticated influences*
Dr. K B Das—A study of Orissan Folklore

के साहित्य को 'लोक-साहित्य' कहा जाता है। यह साहित्य प्रायः मौखिक होता है तथा परम्परागत (Traditional) रूप से चला आता है। यह साहित्य जबतक मौखिक रहता है तभी तक इसमें ताजगी रहती है, तभी तक इसमें जीवन पाया जाता है। लिपि की कारा में बाँधकर रखते ही इसकी सजीवनी शक्ति नष्ट हो जाती है।

'फोकलोर' शब्द की उत्पत्ति

सर्व साधारण जनता के रहन-सहन, रीति-रिवाज, अन्धविश्वास, प्रथा, परम्परा, धर्म आदि विषयों के अध्ययन की ओर यूरोपीय विद्वानों का ध्यान सबसे पहिले आकृष्ट हुआ था। इस प्रसंग में सर्वप्रथम जान आब्रे का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने आज से प्राय. ३०० वर्ष पूर्व 'रिमेन्स आफ जेंटिलिज्म एण्ड जुडाइज्म' नामक पुस्तक लिखी थी। इसके लगभग २०० वर्षों के पश्चात् जे० बैण्ड ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "आब्जरवेशन आन पापुलर ऐन्टीक्विटीज़" सन् १८७७ ई० में प्रकाशित की। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जन-जीवन का अनुशीलन करने वाले शास्त्र को 'पापुलर एन्टीक्विटीज' (Popular Antiquities) के नाम से पुकारा जाता था। सन् १८४६ ई० में इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता विलियम जान टाम्स (William John Thomes) ने 'फोकलोर' इस नये शब्द का निर्माण किया।[९] टाम्स द्वारा निर्मित यह शब्द इतना अधिक लोक-प्रिय हुआ कि यूरोप की प्राय सभी भाषाओं में इसका प्रयोग किया जाने लगा और आज संसार की सभी सभ्य भाषाओं में इस विषय का अध्ययन प्रारम्भ हो गया है। डा० फ्रेजर ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'गोल्डेन बाऊ' (Golden Bough) को १२ भागों में लिखकर इस विषय को दृढ आधार शिला पर प्रतिष्ठित कर दिया है। इ० बी० टायलर ने 'प्रिमिटिव कल्चर' नामक ग्रन्थ का निर्माण दो भागों में किया है जिसमें उन्होंने आदिम सभ्यता के उद्भव तथा विकास पर प्रचुर प्रकाश डाला है। इन विद्वानों के प्रयास से 'फोकलोर' अध्ययन का एक पृथक् विषय किंवा शास्त्र बन गया है। गोमे (Gowme) ने तो इसे 'ऐतिहासिक विज्ञान' (Historial Science) तक की संज्ञा प्रदान की है।

फोकलोर या लोक संस्कृति

'फोकलोर' दो शब्दों से मिलकर बना हुआ है—(१) फोक (Folk) तथा (२) लोर (Lore)। अंग्रेजी के 'फोक' शब्द की उत्पत्ति ऐंग्लोसेक्सन शब्द Folc से मानी जाती है। जर्मन भाषा में इसे Volk कहते हैं। डा० बार्कर ने 'फोक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'फोक' शब्द से सभ्यता से दूर रहने वाली किसी पूरी जाति का बोध होता है परन्तु इसका यदि विस्तृत अर्थ लिया जाय तो किसी सुसंस्कृत राष्ट्र के सभी लोग इस नाम से पुकारे जा सकते हैं। लेकिन 'फोकलोर' के सन्दर्भ में 'फोक' का अर्थ असंस्कृत लोग ही समझना चाहिए। दूसरा शब्द 'लोर' ऐंग्लोसेक्सन लर (Lar) शब्द से बना है जिसका अर्थ है जो सीखा गया हो अर्थात् ज्ञान। इस प्रकार 'फोलोकर' शब्द का व्युत्पत्ति सम्य अर्थ हुआ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान'।

आजकल हिन्दी में 'फोकलोर' के लिए 'लोक वार्ता' शब्द चल पडा है जिसके निर्माण

---

९. मेरिया लीच—डिक्शनरी आफ फोकलोर भाग १ पृ०–४०३।

का श्रेय डा० वासुदेव शरण अग्रवाल को प्राप्त है। डा० अग्रवाल ने इस शब्द का चुनाव वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'वार्ता' शब्द के आधार पर किया है।[10] परन्तु इस शब्द को ग्रहण करने में अनेक आपत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं प्रथम तो यह शब्द पर्याप्त व्यापक नहीं प्रतीत होता। 'लोकवार्ता' शब्द में अधिक से अधिक लोकचर्चा या लोकचर्या का भार वहन करने की क्षमता है। संस्कृत के कोशों में 'वार्ता' का अर्थ प्रवाद, अफवाह या किम्वदन्ती दिया गया है। आप्टे ने अपने संस्कृत कोश में लोकवार्ता का अर्थ लोकप्रिय सूचना (Popular Report) या सार्वजनिक अफवाह (Public rumour) दिया है।[11] सर मोनियर विलियम्स ने भी लोकवार्ता का ऐसा ही अर्थ किया है। इस प्रकार संस्कृत के कोशों में कहीं भी 'वार्ता' शब्द का प्रयोग ज्ञान या 'लोर' के अर्थ में नहीं उपलब्ध होता।

संस्कृत साहित्य में 'वार्ता' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में पाया जाता है। मनु ने चार विद्याओं का उल्लेख करते हुए 'आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीतिश्च शाश्वती' ऐसा लिखा है। यहां पर 'वार्ता' शब्द से अभिप्राय अर्थशास्त्र से है। महाभारत में भी 'वार्ता' शब्द पाया जाता है—जैसे—का वार्ता? किमाश्चर्यं? क: पन्था कश्चमोदते। यहाँ वार्ता का अभिप्राय समाचार, सूचना या संवाद है। अत: संस्कृत साहित्य में कहीं भी 'वार्ता' का अर्थ 'ज्ञान' नहीं पाया जाता। ऐसी परिस्थिति में 'फोकलोर' के लिए हिन्दी में प्रचलित लोक-वार्ता' शब्द का प्रयोग चिन्त्य है।

वर्तमान लेखक की विनम्र सम्मति में 'फोकलोर' के लिए हिन्दी में 'लोक संस्कृति, शब्द का प्रयोग करना समुचित होगा। लोकसंस्कृति के अन्तर्गत जन जीवन से संबंधित जितने आचार-विचार, विधि-निषेध, विश्वास, प्रथा, परम्परा, धर्म, मूढ़ाग्रह, अनुष्ठान आदि हैं, वे सभी आते हैं 'फोकलोर' के अन्तर्गत भी यही विषय समाविष्ट हैं। अत: लोक-संस्कृति शब्द फोकलोर के व्यापक तथा विस्तृत अर्थ को प्रकाशित करने में सर्वथा समर्थ है। 'लोक वार्ता' में जो अव्याप्ति दोष है उससे 'लोकसंस्कृति' शब्द रहित है। अत फोकलोर के लिए 'लोकसंस्कृति' का प्रयोग तथा प्रचार ही समुचित जान पड़ता है।[12]

लोक-संस्कृति और लोक साहित्य

आजकल अनेक विद्वान् भ्रमवश 'लोक संस्कृति' तथा 'लोक साहित्य' के पार्थक्य को बिना समझे बूझे एक शब्द का प्रयोग दूसरे के लिए कर दिया करते हैं जिससे उनके भाव को समझने में बड़ी कठिनाई होती है। अत: इन दोनों शब्दों के अन्तर को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान लेखक ने 'लोक संस्कृति' शब्द का प्रयोग 'फोकलोर'

---

१०. डा० सत्येन्द्र—ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन पृ० १।

११. वामन शिवराम आप्टे—संस्कृत—इङ्गलिश डिक्शनरी

१२. डा० कृष्णदेव उपाध्याय—हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास भाग १६, प्रस्तावना पृ० ६–१२।

के लिए किया है तथा लोक साहित्य फोकलिट्रेचर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। श्रीमती सोफिया बर्न ने फोकलोर के क्षेत्रविस्तार को तीन भागो में विभक्त किया है।[13]

(१) लोक विश्वास तथा अन्धपरम्परायें।
(२) रीति-रिवाज तथा प्रथायें।
(३) लोक साहित्य।

उपर्युक्त श्रेणी-विभाजन पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि लोक सािहत्य लोक सस्कृति का एक भाग है। उसका एक अग है। यदि लोकसस्कृति की उपमा किसी विशाल वट वृक्ष से दी जाय तो लोक-साहित्य को उसकी एक शाखा मात्र समझना चाहिए। यदि लोक-सस्कृति शरीर है तो लोकसाहित्य उसका एक अवयव है। प्रथम अगी है दूसरा अग। लोक सस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है परन्तु लाक साहित्य का ... अपेक्षाकृत सकुचित है। लोक सस्कृति की व्यापकता जन-जीवन के समस्त व्यापारो तथा क्रिया-कलापो में उपलब्ध होती है परन्तु लोक साहित्य जनता के गीतो, कथाओ, गाथाओ, कहावतो और मुहावरो तक ही सीमित है। लोक साहित्य का अन्तर्भाव लोकसस्कृति में होता है परन्तु लोकसस्कृति का समावेश लोक साहित्य में सभव नही है।

लोक साहित्य की प्राचीन परम्परा

इस देश में लाक साहित्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। हमारे सबसे प्राचीन तथा पवित्र ग्रथ ऋग्वेद में लोक-गीतो का बीज पाया जाता है। प्राचीन साहित्य में जिन गाथाओ का उल्लेख स्थान स्थान पर हुआ है, वे ही लोक गीतो के पूर्व प्रतिनिधि है। पद्य या गीत के अर्थ में गाथा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के अनेक मन्त्रो में उपलब्ध होता है।[14] गाने के अर्थ में गाथिन्' शब्द का प्रयोग अनेक स्थानो पर मिलता है।[15] 'गाथा' शब्द का व्यवहार एक प्रकार के विशिष्ट साहित्य के अर्थ में ऋग्वेद में किया गया है जहाँ इसे रैभी' और 'नाराशसी' से पृथक् निर्दिष्ट किया गया है।[16] ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रथो में गाथाओ का विशिष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में ऋक् तथा गाथा में पार्थक्य दिखलाया गया है। दोनो में अन्तर यह था कि ऋक दैवी होती थी और गाथा मानुषी अर्थात् गाथाओ के निर्माण या उत्पत्ति में मनुष्य का योग होना अत्यन्त आवश्यक था। ब्राह्मण ग्रथो के अनुशीलन से पता लगता है कि गाथाएँ ऋक्, यजु और साम से भिन्न होती थी अर्थात् गाथाओ का प्रयोग मन्त्र के रूप में नही किया जाता था। अतः प्राचीनकाल में किसी विशिष्ट राजा के किसी अवदान-सत्कृत्य को लक्षित करके जो लोक-गीत समाज में प्रचलित

---

१३. हैण्डबुक आफ फोक्लोर।

१४. कण्वा इन्द्रस्य गाथया। मदे सोमस्य वोचत। ऋ० वे० ८।३२।१
त गायया पुराण्या पुनानमभ्यनूपत। वही० ९।९९।४

१५ इन्द्रमिद् गाथिनो वृहदिन्द्रमर्केभिरर्किण। वही० १।७।२

१६. रैभ्यासीदनुदेयी नाराशसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो, गाथयैति परिष्कृत ॥ वही० १०।८५।६

में तथा जनता के द्वारा गाये जाने को वे ही 'गाथा' नाम से साहित्य के एक पृथक् अंग के रूप में स्वीकृत किए गए। यास्क के प्रसिद्ध ग्रंथ निरुक्त की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने गाथा का यह अर्थ स्पष्ट रूप से बतलाया है।[१७]—

" स पुनरितिहास. ऋग्वद्धो गाथावद्धश्च। ऋक् प्रकार एव कश्चित् गाथेत्युच्यते। गाथा: शंसति इति उक्तं गाथाना कुर्वीतेति"।

इसका आशय यह है कि वैदिक सूक्तों में कहीं-कहीं जो इतिहास उपलब्ध होता है, वह कहीं ऋचाओं के द्वारा और कहीं गाथाओं के द्वारा निबद्ध है। वैदिक गाथाओं के नमूने शतपथ ब्राह्मण[१८] तथा ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं जिनमें अश्वमेध यज्ञ करने वाले राजाओं के उदात्तचरित्र का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में ये गाथायें कहीं केवल श्लोक नाम से निर्दिष्ट है तो कहीं[१९] इन्हें 'यज्ञ-गाथा' या केवल गाथा कहा गया है। जनमेजय के सम्बन्ध में यह गाथा कही गई है।

"आसन्दीवति धान्यादं रुक्मिणं हरितस्रुजम्।
अश्वं बबन्ध सारङ्गं देवेभ्यो जनमेजयः॥"

इसी प्रकार से दुष्यन्त के पुत्र भरत की चर्चा अनेक गाथाओं में उपलब्ध होती है।[२०]

इन ऐतिहासिक गाथाओं की परम्परा महाभारत काल में भी अक्षुण्ण दिखाई देती है। व्यास की इस शतसाहस्री संहिता में दुष्यन्त के पुत्र भरत के संबंध में अनेक गाथाएँ उपलब्ध हैं। ऐतरेय ब्राह्मण वाली गाथाएँ ठीक उसी रूप में श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कंद में भी पाई जाती है।

ये गाथाएँ राजसूय यज्ञ के अवसर पर तो गाई जाती थीं, इसके अतिरिक्त विवाह के शुभ महोत्सव पर भी इन गाथाओं के गाने का विधान मैत्रायणी संहिता में उपलब्ध होता है।[२१] इसी विधान के अनुसार पारस्कर गृह्य-सूत्र में विवाह संबंधी दो गाथाएँ मिलती हैं।[२२]

---

१७. निरुक्त ४।६ की व्याख्या देखिए।
५. ऐतरेय ब्राह्मण ३६।६ श्लोक १–३, ५.
१८. शतपथ ब्राह्मण काण्ड १६, अध्याय १ ब्राह्मण ५।
१९. ऐतरेय ब्राह्मण ८।४।
२०. तदेवाऽभि यज्ञगाथा गीयते। ता गाथां दर्शयति। ऐ० ब्रा० ३६।७।
तत्र प्रथमं श्लोकमाह। वही ३६।६
५. नैषधीय चरित २।८५।
२१. मैत्रायिणी संहिता ३।७।३।
२२. पारस्कर गृह्यसूत्र काण्ड १, खण्डिका ७।

"अन्य गाथा गायति ।
सरस्वती प्रेदभव सुभगे वाजिनीवती ।
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्राजायामस्याग्रत ॥"

इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र में सीमन्तोन्नयन के अवसर पर गाथा गाने की प्रथा का उल्लेख हुआ है ।[२३]

पालि जातकों के अनुशीलन से पालि भाषा में उपनिबद्ध गाथाओं का पता चलता है । ये गाथाएँ प्राचीन काल से परम्परा रूप में प्रचलित थीं । इनमें उस काल में विख्यात लोक-प्रिय कथाओं का साराश उपस्थित किया गया है । सिहचर्मजातक में ऐसी दो गाथाएँ दी गई हैं ।[२४] राजा हाल का शालवाहन ने एक करोड में से सुन्दर चुनी हुई सात सौ गाथाओं का सकलन कर 'गाथा सप्तशती' की रचना की है । सस्कृत की सुप्रसिद्ध कवयित्री विज्जका ने धान कूटते समय स्त्रियों द्वारा गीत गाने का उल्लेख किया है । इसी प्रकार महाकवि श्री हर्ष ने जाँत पीसते समय स्त्रियों में गीतों की चर्चा की है ।[२५]

लोक साहित्य का वर्गीकरण

लोक साहित्य को प्रधानतया पाँच भागो में विभक्त किया जा सकता है ।

(१) लोक-गीत (फोकलिरिक्स)
(२) लोक-गाथा (फोकबैलडस)
(३) लोक-कथा (फोक टेल्स)
४) लोक-नाट्य (फोक ड्रामा)
(५) लोक-सुभाषित (फोक सेइम्स)

विभिन्न लोक-गीतो को भी अनेक श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है ।

(१) सस्कार सबधी गीत ।
(२) ऋतु सबधी गीत ।
(३) व्रत सबधी गीत ।
(४) जाति सबधी गीत ।
(५) श्रम सबधी गीत ।
(६) विविध गीत ।

सस्कार सबधी गीतो में पुत्र जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत विवाह, गौना और मृत्यु के गीत अधिक प्रसिद्ध हैं । पुत्र के जन्म होने के अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'सोहर' कहते हैं । इन्हें 'सोहिलो' भी कहा जाता है । 'सोहर' छद में निबद्ध होने के कारण इन गीतो का नाम यह पड गया । सोहरों का प्रधान वर्ण्य विषय शृङ्गार है ।

---

२३ आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५ ।
२४ पालि जातकावली पृ० १७ ।
२५. The Ballad is a song that tells a story or to tasce the other point of view, a story told in song
इगलिश गेण्ड स्काटिश पापुलर बैलेडस भूमिका पृ० ११ ।

बालक का जब पहली बार बाल काटा जाता है। तब उस संस्कार को 'मुण्डन' कहते हैं। यह संस्कार जन्म के विषम वर्षों में किया जाता है। द्विजातियों में यज्ञोपवीत संस्कार का विधान है। इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'जनेऊ' के गीत कहते हैं। विवाह के गीत दो प्रकार के पाये जाते हैं। (१) कन्या पक्ष के गीत (२) वरपक्ष के गीत। कन्या के घर में गाये जाने वाले गीतों में जहाँ दुःख तथा विषाद का स्वर सुनाई पड़ता है वहाँ वर पक्ष के गीतों में उत्साह और उमंग पाया जाता है। विवाह के गीतों में अनेक विधि-विधानों का भी उल्लेख उपलब्ध होता है जो इस अवसर पर सम्पन्न किये जाते हैं।

ऋतु सम्बन्धी गीत वे हैं जो विभिन्न ऋतुओं में गाये जाते हैं। सावन के मनभावन महीने में कजली गाई जाती है। मिर्जापुर की कजली बड़ी प्रसिद्ध है। यहाँ भाद्रकृष्ण तीज को कजली का मेला लगता है जहाँ स्त्रियाँ तथा पुरुष सम्मिलित होकर कजली गाते हैं। काशी में भी कजली के दंगल होते हैं जहाँ गवैये रात-रात भर इन्हें गाते रहते हैं। मिथिला में कजली से मिलता जुलता हुआ गीत 'मलार' है। फागुन मास में होली गाई जाती है जिसे 'फगुआ' भी कहते हैं। इन गीतों में राधा-कृष्ण, सीता राम तथा शिव-पार्वती के होली खेलने का उल्लेख पाया जाता है। चैता चैत में बड़े ही मधुर स्वर में गाया जाता है जो श्रोताओं के हृदय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। बारहमासा के गीत हैं जिनमें किसी विरहिणी स्त्री के बारहों महीने के कष्टों का वर्णन रहता है। ये गीत बड़े ही मधुर तथा हृदयद्रावक होते हैं। जायसी ने पद्मावत में नागमती के वियोग का वर्णन बारहमासा के माध्यम से किया है।

व्रत सम्बंधी गीत वे हैं जो विभिन्न व्रतों के समय गाये जाते हैं। जैसे नागपंचमी, पिड़िया बहुरा, गोधन आदि गीत। कुछ ऐसे भी लोकगीत हैं जिन्हें किसी विशेष जाति के लोग ही गाते हैं। उदाहरण के लिए बिरहा अहीर लोगों का राष्ट्रीय गीत है जिसे वे बड़े प्रेम के साथ गाते हैं। पचरा के गीत दुसाध जाति के लोगों का गीत है। जब कोई नीच जाति का व्यक्ति बीमार हो जाता है तो दुसाध जाति का कोई वृद्ध पुरुष बुलाया जाता है जो पचरा के गीतों को गाकर रोगी को नीरोग कर देता है। इन गीतों में देवी का आवाहन कर बीमार व्यक्ति को स्वस्थ करने की प्रार्थना की जाती है।

किसी कार्य को करते समय जो गीत गाये जाते हैं उन्हें श्रम-गीत कहते हैं। खेत में धान की रोपनी करते समय, निरात समय, जाँत पीसते तथा चर्खा चलाते समय ये गीत विशेष रूप से गाये जाते हैं। जाँत के गीत 'जाँतसार' के नाम से प्रसिद्ध हैं इनमें बड़ी मनोरमता तथा हृदयद्रावकता पाई जाती है। विविध गीतों के अन्तर्गत झूमर अलचारी, पूर्वी और निर्गुन आदि गीत आते हैं। इनमें पूर्वी की लय बड़ी ही मधुर तथा कोमल होती है।

लोक-गाथा—लोक-गाथा को अंग्रेजी में बैलेड कहते हैं। इसकी परिभाषा बतलाते हुए प्रो० कीट्रीज ने लिखा है कि यह वह गीत है जो किसी कथा को कहता है अथवा यह वह कथा है जो गीतों में कही गई हो २६। बैलड शब्द की उत्पत्ति लैटिन बैलारे (Ballare) धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ नाचना है। राबर्ट ग्रेम्स ने लिखा है कि बैलेड का

सम्बध 'बॅले' (Ballet) से है जिसमें सगीत और नृत्य की प्रधानता रहती है।"[27] इससे ज्ञात होता है कि बैलेड का मूल अर्थ या अभिप्राय उस प्रबन्धात्मक गीत से था जो नृत्य के समय साथ-साथ गाया जाता था। परन्तु कुछ काल के पश्चात् इसका प्रयोग किसी ऐसे गीत के लिए किया जाने लगा जिसे सामान्य जनता या एक दल सामूहिक रूप से गाता हो। आजकल जो लोक-गाथाए गाई जाती हैं उनमें गीत के साथ-साथ सगीत का भी अभिन्न साहचर्य पाया जाता है। गवैये आल्हा को गाते समय ढोल भी बजाते जाते हैं जिससे उसके सुनने का आनन्द सौगुना बढ जाता है।

लोक-गाथाओ की उत्पत्ति के सबध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं जिनमें ग्रिम का समुदायवाद श्लेगल का व्यक्तिवाद, स्टेन्थल का जातिवाद, विशपर्सी का चारणवाद और प्रो० चाइल्ड का व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद प्रसिद्ध है। इन सभी विद्वानो ने अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार लोक गाथाओ के उद्भव तथा विकास को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। स्थानाभाव के कारण इन सिद्धान्तो का विशेष प्रतिपादन नही किया जा सकता। लोक गाथाओ की निजी विशेषतायें हैं जिनके कारण इसे लोकसाहित्य की विधाओ में विशेष स्थान प्राप्त है।

'लोक-कथाओ, का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। डा० हर्टल तथा प्रो० बेनेफी का कथन है कि यूरोप की समस्त कथाओ का स्रोत भारत है। यह वह आदि देश है जहाँ से लोक-कथायें ससार के विभिन्न देशो में फैली हैं। कथासरित्सागर तो वास्तव में कथाओ का अगाध समुद्र है। हरिभद्राचार्य ने कथाओं को चार भागो में विभक्त किया है :—

(१) अर्थ कथा (२) काम कथा (३) धर्म कथा (४) सकीर्ण कथा। आधुनिक लोक-कथाओं को प्रधानतया छ श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है।—

(१) नीति कथा (२) व्रत कथा (३) प्रेमकथा (४) मनोरजक कथा
(५) दन्तकथा (६) पौराणिक कथा।

नीति की कथाओ में कथा के उपसहार रूप में कोई नीति या वाक्य कहा जाता है। ऐसी कथाओ के पात्र प्रायः पशु-पक्षी आदि होते हैं। इनको अग्रेजी में "फेबुल" कहते हैं। पौराणिक कथा वह है जिसमें किसी देवी देवता की कथा सन्निहित रहती है। जैसे समुद्रमन्थन की कथा। इन कहानियो को 'मिथ' कहा जाता है। ऐसी कथाएँ जिसमें इतिहास तथा कल्पना दोनो का मिश्रण है दन्तकथा के नाम से अभिहित की जाती है। ये अग्रेजी में 'लीजेण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

लोक नाट्य वे हैं जो जन साधारण द्वारा मनोरजन के लिए खेले जाते हे। उत्तर प्रदेश में रास, नौटकी, विदेसिया आदि लोक नाट्य प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार से मध्य प्रदेश में 'माच' गुजरात में 'भवाई' तथा महाराष्ट्र में गोंधल आदि लोक-नाट्यो का प्रचार है। ये नाटक खुले मैदान में किये जाते हैं जिसमें किसी विशेष वेश-भूषा या साज-सज्जा की आवश्यकता नहीं होती। लोक सुभाषित के अन्तर्गत लोकोक्तियाँ, मुहावरे पहेलिया, ढकोसले, बच्चो के खेल के गीत आदि आते हैं। ये भी लोक साहित्य के अग

---

२७. दि इगलिश बैलेड भूमिका।

बालक का जब पहली बार बाल काटा जाता है। तब उस संस्कार को 'मुण्डन' कहते हैं। यह संस्कार जन्म के विषम वर्षों में किया जाता है। द्विजातियों में यज्ञोपवीत संस्कार का विधान है। इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उन्हें 'जनेऊ' के गीत कहते हैं। विवाह के गीत दो प्रकार के पाये जाते हैं। (१) कन्या पक्ष के गीत (२) वरपक्ष के गीत। कन्या के घर में गाये जाने वाले गीतों में जहाँ दुःख तथा विषाद का स्वर सुनाई पड़ता है वहाँ वर पक्ष के गीतों में उछाह और उमंग पाया जाता है। विवाह के गीतों में अनेक विधि-विधानों का भी उल्लेख उपलब्ध होता हैं जो इस अवसर पर सम्पन्न किये जाते हैं।

ऋतु सम्बन्धी गीत वे हैं जो विभिन्न ऋतुओं में गाये जाते हैं। सावन के मनभावन महीने में कजली गाई जाती है। मिर्जापुर की कजली बड़ी प्रसिद्ध है। यहाँ भाद्रकृष्ण तीज को कजली का मेला लगता है जहाँ स्त्रियाँ तथा पुरुष सम्मिलित होकर कजली गाते हैं। काशी में भी कजली के दंगल होते हैं जहाँ गवैये रात-रात भर इन्हें गाते रहते हैं। मिथिला में कजली से मिलता जुलता हुआ गीत 'मलार' है। फागुन मास में होली गाई जाती है जिसे 'फगुआ भी कहते हैं। इन गीतों में राधा-कृष्ण, सीता-राम तथा शिव पार्वती के होली खेलने का उल्लेख पाया जाता हैं। चैता चैत्र में बड़े ही मधुर स्वर में गाया जाता है जो श्रोताओं के हृदय को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। बारहमासा वे गीत हैं जिनमें किसी विरहिणी स्त्री के बारहों महीने के कष्टों का वर्णन रहता है। ये गीत बड़े ही मधुर तथा हृदयद्रावक होते हैं। जायसी ने पद्मावत में नागमती के वियोग का वर्णन बारह मासा के माध्यम से किया है।

व्रत सम्बधी गीत वे हैं जो विभिन्न व्रतों के समय गाये जाते हैं। जैसे नागपंचमी, पिंडिया, बहुरा, गोधन आदि गीत। कुछ ऐसे भी लोकगीत हैं जिन्हें किसी विशेष जाति के लोग ही गाते हैं। उदाहरण के लिए बिरहा अहीर लोगों का राष्ट्रीय गीत है जिसे वे बड़े प्रेम के साथ गाते हैं। पचरा के गीत दुसाध जाति के लोगों का गीत हैं। जब कोई नीच जाति का व्यक्ति बीमार हो जाता है तो दुसाध जाति का कोई वृद्ध पुरुष बुलाया जाता है जो पचरा के गीतों को गाकर रोगी को नीरोग कर देता है। इन गीतों में देवी का आवाहन कर बीमार व्यक्ति को स्वस्थ करने की प्रार्थना की जाती है।

किसी कार्य को करते समय जो गीत गाये जाते हैं उन्हें श्रम-गीत कहते हैं। खेत में धान की रोपनी करते समय, निराते समय, जाँत पीसते तथा चर्खा चलाते समय ये गीत विशेष रूप से गाये जाते हैं। जाँत के गीत 'जाँतसार' के नाम से प्रसिद्ध हैं इनमें बड़ी मनोरमता तथा हृदयद्रावकता पाई जाती है। विविध गीतों के अन्तर्गत झूमर अलचारी, पूर्वी और निर्गुन आदि गीत आते हैं। इनमें पूर्वी की लय बड़ी ही मधुर तथा कोमल होती है।

लोक-गाथा—लोक-गाथा को अंग्रेजी में बैलेड कहते हैं। इसकी परिभाषा बतलाते हुए प्रो० कीट्रीज ने लिखा है कि यह वह गीत है जो किसी कथा को कहता है अथवा यह वह कथा है जो गीतों में कही गई हो २६। बैलड शब्द की उत्पत्ति लैटिन बेलारे (Ballare) धातु से मानी जाती है जिसका अर्थ नाचना है। राबर्ट ग्रेब्स ने लिखा है कि बैलेड का

सम्बध 'बॅले' (Ballet) से है जिसमें सगीत और नृत्य की प्रधानता रहती है।[२७] इससे ज्ञात होता है कि बैलेड का मूल अर्थ या अभिप्राय उस प्रबन्धात्मक गीत से था जो नृत्य के समय साथ-साथ गाया जाता था। परन्तु कुछ काल के पश्चात् इसका प्रयोग किसी ऐसे गीत के लिए किया जाने लगा जिसे सामान्य जनता का एक दल सामूहिक रूप से गाता हो। आजकल जो लोक-गाथाएं गाई जाती हैं उनमें गीत के साथ-साथ सगीत का भी अभिन्न साहचर्य पाया जाता है। गवैये आल्हा को गाते समय ढोल भी बजाते जाते हैं जिससे उसके सुनने का आनन्द सौगुना बढ जाता है।

लोक-गाथाओ की उत्पत्ति के सबध में अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं जिनमें ग्रिम का समुदायवाद श्रेगल का व्यक्तिवाद, स्टेन्थल का जातिवाद, विशयपर्सी का चारणवाद और प्रो० चाइल्ड का व्यक्तित्वहीन व्यक्तिवाद प्रसिद्ध है। इन सभी विद्वानो ने अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार लोक गाथाओ के उद्भव तथा विकास को प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। स्थानाभाव के कारण इन सिद्धान्तो का विशेष प्रतिपादन नही किया जा सकता। लोक गाथाओं की निजी विशेषतायें हैं जिनके कारण इसे लोकसाहित्य की विधाओं में विशेष स्थान प्राप्त है।

'लोक-कथाओ, का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। डा० हर्टेल तथा प्रो० बेनेफी का कथन है कि यूरोप की समस्त कथाओ का स्रोत भारत है। यह वह आदि देश है जहाँ से लोक-कथायें ससार के विभिन्न देशो में फैली हैं। कथासरित्सागर तो वास्तव में कथाओ का अगाध समुद्र है। हरिभद्राचार्य ने कथाओ को चार भागो में विभक्त किया है :—

(१) अर्थ कथा (२) काम कथा (३) धर्म कथा (४) सकीर्ण कथा। आधुनिक लोक-कथाओ को प्रधानतया छ श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है।—

(१) नीति कथा (२) व्रत कथा (३) प्रेमकथा (४) मनोरजक कथा
(५) दन्तकथा (६) पौराणिक कथा।

नीति की कथाओ में कथा के उपसहार रूप में कोई नीति का वाक्य कहा जाता है। ऐसी कथाओं के पात्र प्रायः पशु-पक्षी आदि होते हैं। इनको अग्रेजी में "फेबुल" कहते हैं। पौराणिक कथा वह है जिसमें किसी देवी देवता की कथा सन्निहित रहती है। जैसे समुद्रमन्थन की कथा। इन कहानियो को 'मिथ' कहा जाता है। ऐसी कथाएँ जिसमें इतिहास तथा कल्पना दोनो का मिश्रण है दन्तकथा के नाम से अभिहित की जाती है। ये अग्रेजी में 'लीजेण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

लोक-नाट्य वे हैं जो जन साधारण द्वारा मनोरजन के लिए खेले जाते हैं। उत्तर प्रदेश में रास, नौटकी, विदेसिया आदि लोक नाट्य प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार से मध्य प्रदेश में 'माच' गुजरात में 'भवाई' तथा महाराष्ट्र में गोधल आदि लोक-नाट्यों का प्रचार है। ये नाटक खुले मैदान में किये जाते हैं जिसमें किसी विशेष वेश-भूषा या साज-सज्जा की आवश्यकता नही होती। लोक सुभाषित के अन्तर्गत लोकोक्तियाँ, मुहावरे पहेलियां, ढकोसले, बच्चो के खेल के गीत आदि आते हैं। ये भी लोक साहित्य के अग

२७. दि इगलिश बैलेड भूमिका।

है और इनका अध्ययन भी उसी उत्साह से होना चाहिए जिस प्रकार लोक-गीतों का हो रहा है।

हिन्दी में लोक साहित्य के संकलन तथा अध्ययन का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में है। फिर भी गत तीस वर्षों में इस दिशा में जो कार्य हुआ है वह संतोषप्रद है। यह शुभ लक्षण है कि अनेक विद्वान बड़ी लगन के साथ इस कार्य को कर रहे हैं। डा० सत्येन्द्र ने ब्रज लोक साहित्य का संकलन तथा सम्पादन बड़ी विद्वत्ता से किया है। पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के कार्यों को भला कौन भुला सकता है। उत्तर प्रदेश के प्रयाग तथा लखनऊ विश्वविद्यालयों में लोक साहित्य एम० ए० की उच्च परीक्षा में अध्ययन का विषय स्वीकार कर लिया गया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने भी इसे एम० ए० के पाठ्य-क्रम में स्थान दिया है। आगरा विश्वविद्यालय क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से इस प्रदेश का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय है। आज उसी विश्वविद्यालय के उप-कुलपति प्रो० भटनागर का अभिनन्दन हम कर रहे हैं अतः आशा है कि हमारे उपकुलपति के कार्य काल में ही इस विश्वविद्यालय म भी लोकसाहित्य को सर्वोच्च कक्षा तक प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्त हो जायेगा।

प्रो० कपिलेश्वर प्रसाद

महिमा धर्म और भक्त कवि भीमभोई

धर्म क्षेत्र में उत्कल

धर्म क्षेत्र में उत्कल भारत की सक्षिप्त प्रतिमूर्त्ति है। भारत-भूमि में जितने धर्म और धर्म साधना का उन्मेष और उत्थान हुआ है, सभी का प्रभाव उडीसा पर पडा है, उडीसा ने अपने लघु क्षेत्र में सभी साधना मार्गों को ग्रहण किया है। तान्त्रिक, बौद्ध, वैष्णव आदि जितने भी मुख्य मुख्य धर्म-मार्ग हो गए हैं, सभी का स्पर्श उडीसा की मिट्टी से है। पुरी मन्दिर के 'बड देउल' (बडा मन्दिर) इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। जगन्नाथ प्रभु किसी एक धर्म के इष्टदेव नही है, किसी एक मार्ग के उपास्य नही हैं। समय-समय पर उडीसा की लोकभूमि मे प्रवाहित होने वाली धार्मिक विचारधारा से जगन्नाथ-पूजा समृद्ध हुई है। इस हेतु वे 'बड ठाकुर' (बड़े देव) हैं, उनका मन्दिर 'बड देउल' (बडा मन्दिर) है और उनका पथ 'बड दाण्ड' (प्रशस्त मार्ग) है।

महिमा धर्म का अभ्युदय काल

उडीसा में जितने धार्मिक आन्दोलन हुए हैं उनमे महिमा धर्म एक है। इसका अभ्युदय काल उडिया साहित्य के मध्ययुग का अन्तिम चरण है उस समय उडीसा में गौडीय वैष्णव धर्म की विजय पताका लहरा रही थी। बगला सकीर्त्तन से उडीसा का पुर-पल्ली गूज रहा था। राधा-कृष्ण की रसमय लीला को धर्म सापेक्ष और धर्म निरपेक्ष दानो रूपो में इस युग के कवि रसबोध की सामग्री बना रहे थे। वैष्णव धर्म प्रधान रूप से राजपोषित लोक स्वीकृत धर्म के रूप में अधिष्ठित था। धर्म में विकृति और समाज में दुर्गुणो का समावेश देखकर इस धर्म का उदय हुआ। तत्कालीन धार्मिक स्थिति का विवरण यहाँ दिया जाता है—

> 'राग अहकार हृदरे सहि न पारे दण्डे;
> रावण पराए हेलेणि पृथ्वी भारत खंडे ।।
> लोभ मोहे चिन बुडाइ लघि लेणि धर्मकु,
> लाभ वणिज रे मातिले छाडि निज धर्मकु ।।
> वाइ प्राय होइ भ्रमन्ति विधिमत न जाणि,
> विप प्राय फिंगि देलेणि वेद सिद्धचक वाणी ।।'

(सत्यमहिमाधर्म चउतिशा ग्रन्थमाला, पृ० ६)

हृदय राग (क्रोध) और अहंकार से भर गया है, सहिष्णुता का अभाव हो गया है। सम्पूर्ण भारत में रावण जैसे अत्याचारी भर गए हैं। लोग लोभ और मोह में मन देकर धर्म और कर्त्तव्य को भूल गए हैं तथा वाणिज्य-व्यापार में लग गए हैं। विधि नियम न जानकर पागल की तरह घूमते फिरते हैं। लोगों ने वेद और सिद्धों की वाणी को विष तुल्य समझकर ठुकरा दिया है।

'नव खण्ड मेदिनीरु चारि धर्म उठि लेणि आकाराकु।
वहुत अन्याय देखि ब्रह्माण्डर चाहिं पातक भाराकु।।
यहिं थिले येते देवदेवीगण शून्यकु गलेणि उठि।
काहारि हस्ते न खाइवाकु पूजा अकर्म देखिए सृष्टि।
श्री पुरुषोत्तम कपिलास धाम तहुं उठि लाणि धर्म।
तीर्थमाने सवु भ्रष्ट होइलेणि, काहिंरे नाहिं ना धर्म।'

इस पृथ्वी से धर्म लुप्त हो गया। ब्रह्माण्ड के इस पाप और अन्याय को देखकर सभी देव देवी शून्य को चले गए। इस सृष्टि में होने वाले अकर्म को देखकर पूजा और नैवेद्य ग्रहण करना छोड़ दिया। श्री पुरुषोत्तम तथा कपिलास धाम से भी धर्म उठ गया। सभी तीर्थ भ्रष्ट हो गए, कहीं भी धर्म का नाम नहीं।

महिमा गोसाईं का बुद्ध रूप में अवतार

इस अव्यवस्था को देखकर महिमा गोसाईं बुद्ध रूप में अवतरित हुए। महिमा धर्म के इतिहास में महिमा गोसाईं के अवतार के अनुरूप व्याख्या दी गई है। "इस कलियुग में लोग एक ब्रह्म की उपासना त्यागकर नाना प्रकार की देव-देवी पूजा में लीन हो अधर्म कर जीवन को पतनोन्मुख कर रहे हैं। इस स्थिति में सुधार लाने के लिए जगत प्रभु ने अपनी शक्ति के बल से शरीर धारण कर ब्रह्म की उपासना का मार्ग दिखलाया है।"

'वहुत अन्याय देखिलु, तेणुटि आम्भे उदे हेलु
स्वरूप बुद्ध अवतार, निर्वेद करिछुं विस्तार।
धर्मरे रहु वोलि मही, तेणु मुं आसि अछि याहिं।'
(श्रुतिनिषेध गीता)

बहुत अन्याय देख इस पृथ्वी पर बुद्ध रूप में अवतरित होकर निर्वेद (महिमा धर्म का शून्यवाद) का प्रचार कर रहा हूँ। धर्मरक्षा के लिए मैं इस पृथ्वी पर आया हूँ।

महिमा धर्म प्रवर्त्तक महिमा गोसाईं भगवान के अवतार रूप में गृहीत हुए। हर धर्म सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने धर्म प्रवर्त्तक को स्वयं भगवान मानते आए हैं, इस धर्म के अनुयायियों ने भी ऐसा ही माना। भीमभोई के शब्दों में भगवान की अवतारलीला प्रारम्भकाल से चली आ रही है। जगत की रक्षा के लिए वे बार-बार पृथ्वी पर आते हैं।

"फेडि शून्य वासी कहन्ति आश्वासी अवतार आम्भे नोहु,
फेरु थाउ एहि परि चारि युगे बुद्ध शरीरटि वहु रे,"
(चउतिशा ग्रन्थमाला, पृ० ३२)

शून्यवासी स्पष्ट रूप से समझाकर कहते हैं कि हम अवतार नही है। हम इसी भाँति चारो युगो में बुद्ध रूप में व्यक्त होते रहते हैं।

श्री विश्वनाथ बाबा ने अवतारवाद की चर्चा कर अनेक प्रभु के महिमा अवतार को इस रूप में दर्शाया है—

'स्वमहिमा शक्ति रे से हेले अवतार।
अद्भुत प्रबुद्ध रूप मानव शरीर।
सर्वावतार वरिष्ठ अयोनि सभूत।
परम गुरु रूपरे होइले विख्यात।
पुण्य भारत भूमिरे हेले अवतीर्ण।
महिमा याहार करि नुहइ वर्णन।'

(चिन्मय ब्रह्मगीता द्वादश अध्याय)

सभी अवतारो में श्रेष्ठ, स्वयभू अदभत प्रबुद्ध रूप अपनी महिमा शक्ति से इस पवित्र भारत भमि में मानव-रूप में अवतरित होकर परम गुरु रूप में विख्यात हुए, उनकी महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।

पुन भीमभोई कहते हैं—

'उदे होइअछ धर्म रक्षा अर्थे स्वय बुद्ध वैष्णव।
आपणे आपण आपे निरिमाण शून्य ब्रह्म गुरुदेव ये।
अनुसरिछि ध्याइ, आउ अन्यरे भरसा नाहि।'

(चउतिशा ग्रन्थमाला)

धर्मरक्षा हेतु स्वय बुद्ध वैष्णव उदय हुए हो। स्वयभू रूप में अवतरित शून्य ब्रह्म गुरुदेव हो। केवल तुम्हारी शरण में आया हूँ और किसीका भरासा नही।

पुन विशाद भाव से—

'अणाकार अरुप ब्रह्म मूरति हे।
एवे विजय करि छन्ति धरति हे।।
अरुप पुरुष रूपवन्त होइले, ब्रह्माण्डकु अइले,
भगत हितकारी, करुणा कृपाधारी।
माया सिंधु सागरु नेवे उद्धार करि।
पिण्ड प्राणकु देइ कर भगति हे।।'

अणाकार अरूप ब्रह्ममूर्त्ति अभी अभी इस धरती पर पधारे हैं। अरूप पुरुष न रूप ग्रहण किया है वे इस ससार में आए हैं। वे भक्तहितकारी करुणाकर तथा कृपालु हैं, वे माया रूपी सिन्धु से उद्धार करेंगे। मन प्राण से उनकी भक्ति करो।

महिमा गोसाई अपने धर्म सम्प्रदाय में बुद्ध स्वामी या प्रबुद्ध स्वामी नाम से परिचित हैं। भीमभोई ने भी महिमा गोसाई को बुद्ध अवतार रूप में ग्रहण किया है।

'बुद्ध अवतारे गुरु बुलि एसंसारे,
सत्य धर्म देइ याइछन्ति घरे घरे ।'

गुरु रूप में बुद्ध अवतार इस संसार में सत्य और धर्म का वितरण कर गए हैं।

'बुद्ध अवतारे गुरु जगते निजये ।
वाना उडअछि तिनिपुरे जये जये ।'

बुद्धावतार गुरु इस संसार में पधारे हैं, त्रिभुवन में उनकी जयपताका उड़ रही है।

महिमा धर्म के अन्य कवि जयकृष्ण ने भी महिमा गोसाईं को अनादि अणाकार पुरुष के अवतार रूप में ग्रहण किया है—

'अनन्त या अन्त न पान्ति, योगान्ते होइले योगान्ती'
अवर्ण पुरुष, अवनीरे दृश्य ।
अणाकार अछि आकार होइ ।।'

वह अनन्त पुरुष है, उसका अन्त योगी योग के अन्त में भी नहीं पाते। वह अवर्ण पुरुष पृथ्वी पर दृश्य हुआ है, अणाकार पुरुष साकार हुआ है।

महिमा धर्म के प्रवर्त्तक महिमा गोसाईं को परम गुरु या अलेख गुरु कहा जाता है। उड़ीसा की धर्म साधना में गुरुवाद चिरदिन से आ रहा है। गुरु के सार्वभौम स्वेच्छाचार के विरुद्ध मध्यकालीन भक्तकवि 'पंच सखा' ने विप्लव की घोषणा की थी। इस दल ने मानव गुरु को केवल दीक्षा गुरु या सहायक रूप में ग्रहण कर स्वयं परम ब्रह्म को अपना गुरु माना है। महिमा धर्म में गुरु कल्पना और भी अधिक मर्यादित हुई है।

'श्री गुरु लोडइ दया करिवाकु, सेवक लोडइ दया ।
वेनिजन तहिं एक प्राण होइ न थाइ अन्तरे माया ।'

जिस समय गुरु दया करना चाहता है और शिष्य दया चाहता है, उस समय दोनों के प्राण एक हो जाते हैं और तब हृदय माया शून्य हो जाता है।

महिमा धर्मावलम्बी संन्यासी और भक्त

प्रबुद्ध अवतार महिमा गोसाईं के परम शिष्य हैं गोविन्द बाबा। इस धर्म के अन्य उल्लेख योग्य सन्यासी हैं नृसिंह बाबा, नन्द बाबा, दीनबन्धु बाबा, श्री विश्वनाथ बाबा और श्री अनन्तचरण बाबा। विश्वनाथ बाबा और अनन्त बाबा ने महिमा धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ भी रचे हैं। विश्वनाथ बाबा कृत 'महिमा धर्म प्रतिपादक' और 'सत्य महिमा धर्मर इतिहास' तथा अनन्तचरण बाबा कृत 'यम नियम शिक्षा' आदि प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इन धर्माचार्यों के अतिरिक्त जिन भक्त कवियों ने इस धर्म के प्रचार में योग दिया, उनमें भक्तकवि भीमभोई और जयकृष्ण प्रमुख हैं। भीमभोई के समान इनके भी भजन अत्यन्त सरल एवं हृदयग्राही हैं।

महिमाधर्म की व्याख्या

महिमा गोसाईं द्वारा प्रचारित महिमा धर्म को अलेख धर्म और कुम्भीपटिआ धर्म भी कहा जाता है। महिमा धर्म इसलिए कहा जाता है कि महिमा गोसाईं ने इस धर्म का प्रवर्त्तन किया। भगवान की महिमा अनन्त है। इस अनन्त महिमा की अभिव्यक्ति इस धर्म में हुई है। इसका गान ही इस धर्म का लक्ष्य है, इसलिए यह महिमा धर्म नाम से अभिहित हुआ। इस महिमा का उल्लेख इन पदों में मिलता है—

'न उलटे जिह्व वदना वर्णिवा अरूप अभेद सम।
अगोचर पथे बोलाइल तेणु अनन्त महिमा नाम।'

(स्तुति चिन्तामणि)

तुम अरूप और अभेद हो। तुम्हारी वदना करने में जिह्वा समर्थ नही। तुम्हारा पथ अगोचर है, अतएव तुम अनन्त महिमा नामधारी हो।

पुन.—

ब्रह्मर महिमा ब्रह्म जाणे, केवा सामरथ त्रिभुवने।
अव्यय ब्रह्मकु कलिवाकु ताकु, अशेप ब्रह्माण्डे येते छन्ति हे।
न दिशन्ति, सर्व ब्रह्माण्डे वडि मा कहु छन्ति।

(भजनमाला)

ब्रह्म की महिमा ब्रह्म ही जानता है और कोई इस त्रिभुवन में इसे जानने में समर्थ नही है। अव्यय ब्रह्म को जानने के लिए अशेप ब्रह्माण्ड में जितने व्यक्ति हैं, सभी गर्व करते हैं, पर उनमें एक भी समर्थ नही है।

'शेप नुहइ अशेप ताहाक गुण सीमा।
शेप करि न पारिले हरिहर ब्रह्मा।
स्वय पर ब्रह्म गुरु मुरति, अटन्ति से महिमा हो।'

चउतिण ग्रन्थमाला

उनकी गुण-सीमा का अन्त नही है, वह अशेप और असीम है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उनकी महिमा का वर्णन न कर सके। ये महिमा स्वय परब्रह्म गुरु रूप है।

'मानि भीमभोई खटे, माया देखा उछि अनेक वाटे
सुमन रे, ब्रह्मटि महिमा अटे।

(चउतिशा ग्रन्थमाला)

भक्त भीमभोई महिमा की सेवा करते है। उनकी माया अनेक रूपो में दिखती है। ब्रह्म ही महिमा है।

'से ब्रह्म महिमा केहि न जाणन्ति समुद्रु अटे गुरु।
ताहार निज नाम लोडि बुझिले सरि सम नुहे मेरु।

भेउँ दिन माटि पृथ्वी होइलाणि मनुष्य जनम लभि ।
महिमा सम्पूर्ण लेगि न पारिले वहि गले भावि भावि ।

(स्तुति चिन्तामणि)

इस ब्रह्म की महिमा को कोई नहीं जानते, यह समुद्र से भी अधिक गंभीर है। उसके नाम को यदि अच्छी तरह समझा जाय तो, वह नाम सुमेरु पर्वत से भी बड़ा सिद्ध होगा। जिस दिन यह पृथ्वी बनी, मनुष्य आए, उस दिन से एक भी सम्पूर्ण महिमा लिखने में समर्थ न हो सका, सभी केवल सोच-विचार में रह गए।

इस धर्म को अलेख धर्म भी कहा जाता है। संस्कृत 'लेख' शब्द का अर्थ 'देव' और चिन्ह' है। अलेख शब्द का व्यवहार संस्कृत साहित्य में नहीं देखा जाता। जो हो, इस धर्म में देवपूजा नहीं है और चिन्हशून्य ब्रह्म का ध्यान किया जाता है, इसलिए इसे 'अलेख धर्म' कहते हैं। 'अलेख' का प्रयोग अलेख पुरुष परम ब्रह्म के अर्थ में भी हुआ है। 'जिस परम ब्रह्म की महिमा का उल्लेख चार युगों में कवियों ने करने का तो प्रयत्न किया, पर समर्थ न हो पाए, उसी परम ब्रह्म को अलेख नाम दिया गया।'

'चारि युगे कवि लेखि न पारिले,
अलेख बोलिण नाम तहुँ देले।'

भीमभोई ने निराकार ब्रह्म को महिमा और अलेख दोनों नामों से अभिहित किया है—

"क्षीणानले जगि अछन्ति रहि (सुमनरे)
क्षमा महिमांकु ध्यायि (सुमनरे)
'डगर अटड महिमा नाम।'
"अलेख पाटनपुर सेठारे नांक घर।"

इसे कुम्भीपटिया धर्म इसलिए कहा जाता है कि इस धर्म के अनुयायी कुम्भ वृक्ष का वल्कल पहनते हैं। इस धर्म में प्रचलित कषाय वस्त्र धारण की प्रथा भीमभोई से आरम्भ हुई।

महिमा धर्मोत्पत्ति सम्बन्धी मत

इस धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पं० विनायक मिश्र का अनुमान है कि चैतन्य के धर्ममत के सम्पर्क में उड़ीसा के समुद्र-कूलवर्ती अंचल का बौद्ध वैष्णव (सहजिया वैष्णव) मत परिवर्तित हो गया, पर अरण्य के बीच अन्य धर्म के संसर्ग से दूर रहकर वैष्णव धर्म बाद में महिमा धर्म नाम से अभिहित हुआ।

बौद्धमत तथा उत्कलीय वैष्णव मत का प्रभाव

महिमा धर्म का बौद्ध धर्म तथा बौद्ध वैष्णव धर्म से अनेक प्रकार का सामंजस्य है। पं० विनायक मिश्र के शब्दों में महिमा धर्म सहजिया वैष्णव धर्म की शाखा है। डा० आर्तवल्लभ महंती के मतानुसार महिमा धर्म बौद्ध धर्म का एक प्रकार से रूपान्तर है।

उत्कलीय वैष्णव कवियों की रचना में बौद्ध मत का जो शून्य, निरंजन, अलेख ब्रह्म और आदि माता के नाम मिलते हैं, उन्हें हम महिमा धर्म में भी पाते हैं—। बौद्ध वष्णव साहित्य में स्थल स्थल पर अलेख का उल्लेख है। अच्युतानन्द की कृति में 'हिन्दू भजे अलेख' जैसा पद मिलता है। फिर अच्युतानन्द ने जगन्नाथ को बौद्ध मूर्ति रूप में वर्णित किया है—

"मथुरा से आसि से ब्रह्म राशि,
वउद रूपे कलि रे प्रकाशि।"

वह ब्रह्म मथुरा से आकर बुद्धरूप में कलियुग में प्रकट हुए हैं।

ब्रह्म ज्ञान भक्ति योग

महिमा धर्म द्वारा प्रवर्तित भक्ति मार्ग को ब्रह्म ज्ञान भक्तियोग कहा जाता है, समन्वय जिसका मुख्य आधार है। इसे निम्नांकित पद में सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है।

"ब्रह्म ज्ञान विहिते निष्काम कर्म योग
निस्तार करि न पारे भव सिन्धु मार्ग।
निष्काम भकति योग हुए विचलित,
सुज्ञान पद यद्यपि नुहे सुप्रापत।"

ब्रह्मज्ञान बिना निष्काम कर्मयोग करनेवाला भवसिन्धु मार्ग पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार सुज्ञान न होने पर निष्काम भक्तियोग करने वाला भी विचलित हो जा सकता है।

इस धर्म में जाति-पाँति भेद-भाव नहीं है।

ब्रह्म भक्तिरे नाहिं जातित्व कल्पना।
उच्च-नीच भेद गर्व न कर भावना।
सर्व जाति दोष विनाशइ निष्ठा-भक्ति।
अव्यभिचार भावरे ब्रह्मे कर प्रीति।"

ब्रह्म भक्ति में जाति विचार तथा उच्च-नीच भेद भाव के लिए स्थान नहीं है। यह पवित्र भक्ति सभी जातिगत दोषों को दूर करती है। शुद्ध हृदय से ब्रह्म से प्रेम करना चाहिए।

भक्त लक्षण

महिमा धर्म का मार्ग ज्ञानभक्ति का मार्ग है। भक्त सभी ज्ञान का आकार होगा, पर ज्ञान को चरम न मानकर प्रभु का सेवक या दास भाव से जीवन यापन करेगा। ज्ञान-नेत्र से सृष्टि के ब्रह्माण्ड को हृदयंगम कर वह अपने भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रतिफलित देखेगा। इसी प्रकार भक्त किसी गुण के खण्ड आश्रम में लीन नहीं होगा।

समाज में सभों के भीतर वह अपनी आत्मा का दर्शन करेगा, सभी विभेद कल्पना भूलकर ब्रह्मज्ञान द्वारा सभों के साथ एकत्व बोध करेगा। एकत्व का ज्ञान उसे प्रभु के नाम की ओर आकृष्ट करेगा। इस भाव से उस प्रभु के ऊपर अटल रहेगा। तभी वह ज्ञान भक्ति मार्ग का भक्त सिद्ध होगा।

कवि जयकृष्ण ने भी अनुरूप भाव से भक्त का लक्षण किया है—

'तांकर ये भक्त जन, गुण हे तांक लक्षण
दर्शन स्पर्शन शेप भोजने प्राण पोषण।
निर्गुण भजनापद गायते मन प्रमोद,
सत शान्ति क्षमा हृद दया सुमन प्रसन्न।
पुलक कदम परि, प्रफुल्ल अंगकु धरि,
क्षणकरे तिनिपूर करि पारन्ति गमन।
सहस्त्र पद कविता, सकल ठारे पण्डिता
जाणइ सकल कथा कहइ आसा प्रमाण।
अहिंसादि अकल्याण, गतागत कथा जणा
से जन प्रभुंक किण-दास बोलि करि जाण।'

महिमा धर्म के भक्तों के लक्षण सुनिए। भक्त उस ब्रह्म के दर्शन और ध्यान के बाद भोजन कर प्राण-रक्षा करते हैं। निर्गुण ब्रह्म के पद गाकर मन को प्रफुल्लित रखते हैं। सत्य, शांति, क्षमा एवं दया से मन को पूर्ण और प्रसन्न रखते हैं। भक्ति की प्रकृत अवस्था में प्रस्फुटित कदम्ब की भाँति विकसित शरीर धारण कर क्षण में त्रिभुवन गमन कर सकते हैं। ये सौ पद जानते हैं और ये पंडित-ज्ञानी होते हैं। ये अहिंसा के पुजारी होते हैं सभी बातें जानते हैं तथा सभी बातें बताने में सक्षम होते हैं। ये सभी लक्षण जिनमें पाए जाते हैं, उन्हें महिमा प्रभु का क्रीत दास समझिए।

महिमा धर्म सम्बन्धी मत

महिमा या अलेख धर्म के सम्बन्ध में निम्न मन्तव्य बंगीय समाचार पत्र 'सुलभ समाचार' में प्रकाशित हुआ था, जो उल्लेख योग्य है।

"ये लोग हिन्दू हैं, किन्तु देव देवी को नहीं मानते, एक निराकार, अलेख पुरुष को मानते हैं। इनका मत है कि अलेख की बात कोई लिखकर समाप्त नहीं कर सकता। अलेख स्वामी नामक व्यक्ति ने अपने को ईश्वर का अवतार कहकर १८६४ ई० में यह धर्म प्रचलित किया। उड़ीसा और मध्य-भारत में इस धर्म का खूब प्रचार हुआ। प्रायः तीस गाँव के लोग इस धर्म में दीक्षित हुए। ये कुम्भ नामक वृक्ष का वल्कल कमर के पास पहनते हैं, इसलिए इन्हें कुम्भीपटिआ कहते हैं। इस धर्म में गृही और उदास दोनों श्रेणी के व्यक्ति हैं। उदासीन सभी जाति के घर से अन्न ग्रहण करते हैं। केवल प्रजा पीड़क राजा आदि का अन्न खाने वाले ब्राह्मण और वस्त्र धोने वाले रजक तथा अपवित्र कार्य करने वाले हलखोर आदि का अन्न ग्रहण नहीं करते। सत्य-कथन, विश्वास और गुरु की सम्पूर्ण अधीनता

इस पंथ के विशेष लक्षण हैं। ये प्रतिदिन सवेरे सूर्य की ओर मुँह करके नाक के पास हाथ जोड़कर उपासना करते हैं। किसी प्रकार का रोग होने पर ये औषध नही खाते, केवल अलेख पुरुष की कृपा पर निर्भर करते हैं। जगन्नाथ मन्दिर के ध्वंस से देवदेवी पूजा उठ जायगी और सभी उनका धर्म अपनाएंगे, इस उद्देश्य से इन लोगो ने एक बार पुरी मन्दिर पर आक्रमण किया था।"

महिमा धर्म के नियम

श्री विश्वनाथ बाबा कृत सम्प्रदाय ग्रन्थ 'महिमा प्रतिपादक' से इस धर्म के मुख्य-नियम दिए जाते हैं—

(१) यह दृश्यमान जगत परमब्रह्म की महिमा से अर्थात् उनकी सत्ता और माया के संयोग से उत्पन्न है, उसी चेतनामय के प्रभाव से सभी पदार्थ चेतनाशील हैं, वही परम ब्रह्म सबो के कर्त्ता हैं।

(२) वही परम ब्रह्म प्रभु महिमा धर्मियो के उपास्यदेव हैं।

(३) ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप अलेख, अरूप, अदृश्य, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अनाम, अदेह, निरुपाधि निर्विकल्प, निरजन, निर्विकार, विभु, परमेश्वर, दयामय, सर्वान्तिर्यामी, ज्ञानभक्तिदाता, सर्वत्र निर्लिप्त रूप में वर्तमान हैं और सभों के लिए मगलमय हैं।

(४) अलेख परम ब्रह्म के समीप शरीर, मन और वचन से शरीर और आत्मा के अर्पण के साथ शरण पाकर सभी कर्म उनके आगे अर्पित करना और सर्वदा उनकी भक्ति करना।

(५) साकार प्रतिमा देवी-देवताओं की पूजा और अन्य तीर्थ-व्रत न करना।

(६) उषाकाल (ब्रह्म वेला) में स्नान शौचादि से निवृत्त होकर पवित्र मन से ब्रह्म का दर्शन करना।

(७) सर्वदा साधु-सगति कर सत्कार्य में प्रवृत्त रहना।

(८) बुरी सगति और बुरे कार्यों से दूर रहना।

(९) काम, क्रोध, लोभ-मोह, मद मात्सर्य रूपी शत्रुओ का दमन करना।

(१०) सत् शास्त्र अध्ययन कर काल्पनिक असत्य पाखड शास्त्र आदि का त्याग करना।

(११) चोरी, परस्त्री-गमन, जीवहिंसा इत्यादि न कर अहिंसा का आश्रय लेना।

(१२) दूषित आहार और देव-देवी के नाम से सकल्प किया हुआ द्रव्य त्याग कर दिन में भोजन करना और रात में भोजन न करना।

(१३) मिथ्या, दभ और कुटिल भावो का त्याग करना।

(१४) सत्य, शान्ति, दया, क्षमा सरलता आदि का सर्वदा आचरण करना।

(१५) जाति, विद्या, धन आदि का गर्व न करना।

(१६) ब्रह्मनिष्ठ सन्यासी गुरु से उपदेश ग्रहण कर पाखड गुरु का त्याग करना।

(१७) वाह्याडम्बर सोने-चांदी आदि के गहने त्यागकर गैरिक वस्त्र पहनना।

(१८) ब्रह्मनिष्ठ गृहस्थ के लिए, सन्यासी साधु की अतिथि सेवा में नियुक्त रहना, किसी के धन में लोभ न करना।

(१९) सुख-दुख में समान रहना और किसी प्रकार का दुख उपस्थित होने पर चिन्ता न करना।

(२०) किसी भी परिस्थिति में सत्य महिमा धर्म से विचलित न होना।

(२१) सर्वदा जगत कल्याण और धर्मोन्नति के लिए यत्नशील रहना और सत्कार्य में अर्थ व्यय करना तथा असत् कार्य में अर्थ व्यय न करना।

(२२) चित्त की एकाग्रता के लिए मैत्री, करुणादि भावों का अवलम्बन करना।

(२३) गृहस्थ ब्रह्मचर्य के लिए, नियमानुसार स्त्री-संग करना और पर स्त्री को माता के तुल्य मानना।

(२४) सांसारिक विषयों में उदार रहकर परमब्रह्म को चित्त अर्पित कर निष्काम भाव से कर्म करना।

(२५) वृथा कर्म जुआदि खेल और नटनाट्यादि एवं असत् आलाप से दूर रहना और साथ ही ब्रह्म साधन के अतिरिक्त अन्य साधन न करना।

(२६) संसार की अनित्यता का बोधकर नित्य आत्मदान सम्बन्धी चर्चा करना।

(२७) त्यागी व्यक्ति के लिए भी, उपर्युक्त नियम का पालन कर कामिनी-कांचन आदि से मोहित न होना और न उनका स्पर्श करना।

(२८) विधिवत् अवधूताश्रम सन्यास मत ग्रहण करना।

(२९) अपनी सन्यास धर्म नीति का विधिवत् पालन करना और कभी भी उससे विचलित न होना।

(३०) जगज्जन को पिता-माता मानकर भिक्षाटन द्वारा जीवन यात्रा अतिवाहित करना।

(३१) ब्रह्म स्मरण भजन आदि के सिवा क्षण भर भी अन्य सांसारिक विषयों में रत न होना और वेदान्तादि शास्त्र चर्चा कर महावाक्य (महिमा धर्म का महामंत्र) ग्रहण करना।

(३२) जगज्जन के उपकार के लिए सत्य सनातन महिमा धर्मोपदेश का प्रचार करना।

भक्त कवि भीमभोई

उड़िया साहित्य में भीम धीवर, भीमदास और भीमभोई नामक तीन भक्त कवि हो गए हैं। इनमें प्रथम भीम जाति के धीवर (निषाद) हैं और इनकी कृति का नाम कपटपाश है। दूसरे भीम जाति के करण (कायस्थ) हैं और गौडीय वैष्णव मतावलम्बी हैं। इनकी दो वैष्णव कृतियाँ 'भक्ति रत्नावलि' और 'हरिभक्ति चन्द्रोदय' उपलब्ध हैं। तीसरे भीम जाति के कंध (आदिवासी जाति) हैं और साथ ही ये अंधे भी थे। तीनों में ये श्रेष्ठ हैं।

भीमभोई के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएँ—

अंधकवि भीमभोई का नाम महिमा धर्म के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से जड़ित है। ये मध्ययुगीन उड़िया साहित्य के ज्योतिर्मय नक्षत्र हैं। इनके भजन पंचसखा के भजन की तरह गाँव-गाँव में सुने जाते हैं। इनके भजनों से लोग इतने मुग्ध हुए कि लोगों ने इन्हें

ही महिमा धर्म के प्रवर्त्तक रूप में ग्रहण किया। अनेक साहित्यिक आलोचक इन्हें महिमा धर्म या कुम्भीपटिआ धर्म के प्रतिष्ठाता रूप मे ग्रहण करते हैं। किन्तु महिमा धर्म के प्रवर्त्तक महिमा गोसाईं है, न कि भीमभोई। इस तथ्य को श्री चित्तरजनदास ने 'उडीसार महिमा धर्म' नामक पुस्तक में सुस्पष्ट किया है। भीमभोई ने महिमा गोसाईं के आदेश से महिमा धर्म सम्बन्धी साहित्य लिखकर इस धर्म की ओर लोगो का ध्यान खींचा। इनकी कृतियाँ महिमा धर्म का पद्यबद्ध रूपान्तर मात्र है।

भीमभोई एक पक्के गृहस्थ थे। महिमा गादी को न जाकर अपने निवास स्थान पर ही धर्म ग्रन्थ लिखने के लिए महिमा गोसाईं ने इन्हें आदेश दिया था। आलोचको का जो यह मत है कि वे महिमा धर्म, अलेख धर्म या कुम्भीपटिया धर्म के प्रवर्त्तक थे, वह भ्रान्त धारणा पर आधारित है। महिमा धर्म में गृहस्थ को धर्म प्रचार और शिष्य-सग्रह का अधिकार नही है। धार्मिक दृष्टि से भीमभोई का गुरु पदत्व असभव सिद्ध होता है। भीमभोई ने अपनी रचना के किसी स्थल पर अपने शिष्य वर्ग को उपदेश नही दिया है या अपने को गुरू पद में पर्यवसित नही किया है। सर्वत्र केवल परब्रह्म के भक्तिभाव विह्वल एकनिष्ठ उपासक और स्तावक का उनका रूप दिखाई पडता है।

जीवन परिचय

इनके जन्मकाल के सम्बन्ध में प्रो० विनायक मिश्र का मत है कि इन्होने प्राय: १८६० ई० में जन्म ग्रहण किया और १८९४ ई० में इस ससार से चल बसे। डा० आर्त्तवल्लभ महन्ती के मतानुसार इसका जन्मकाल सभवत १८४४ ई० और मृत्यु-काल १८९४ ई० है। ये सबलपुर के निकटवर्ती रेढाखोल में कध परिवार में उत्पन्न हुए। माता के गर्भ में रहते समय अथवा जन्म के कुछ दिन बाद इनके पिता की मृत्यु हो गई।

"गर्भधारी पिता छाडि गले मोते जन्मरु निणखा होइ।"

जन्म के दो वर्ष बाद इन्हें हेतुबुद्धि हुई। चार वर्ष पूरा होते ही जेठ मास में 'शख चक्र चिन्हधारी 'भोगी पुत्र' को हाथ में खपडा लेकर 'दिग्र माता, दिग्र माता अन्न भिक्षा गोटा चारि' कहते हुए अपनी आँखो देखा था। इन के प्रति लोगो की अवज्ञा भी देखी थी। पितृहीन भीम ने ग्यारह वर्ष तक अत्यन्त दुख में समय बिताया। बारह वर्ष से बच्चो के साथ वन में भटकते दिन बीता। बाद में पूर्वजन्म की घोर तपस्या से वे कवि पडित हुए।

"पूर्वकाल घोर तपस्या पूर्णरू होइलि कवि पडित।"

जन्माध रहने और अत्यन्त दीन रहने के कारण पढने लिखने की सुविधा नही मिली। बाल्यकाल मजदूरी करते बीता। ये अत्यन्त बुद्धिमान थे। इनकी ग्राहिका शक्ति अत्यन्त प्रबल थी। इसलिए भागवत और पुराणादि सुनकर उन्हें ज्यो का त्यो याद रखने और हृदगम करने में सुविधा हुई।

भीम जन्माध थे। इस सम्बन्ध में श्यामघन कृत 'अलेख मालिका', अच्युतानन्द कृत 'आदि निर्गुण परब्रह्म' और महाशून्य सहिता' तथा श्रीधर कृत 'सिद्ध चन्द्रिका' तथा यशोवन्तदास कृत 'मालिका' सभी एकमत हैं। अलेख धर्म सम्बन्धी इन प्रधान ग्रथों के

अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि भीम बाल्यावस्था में अंधे थे। बीच में बुद्ध-स्वामी के उपस्थित काल में कुछ समय के लिए इन्होंने नेत्रज्योति पाई थी, फिर विषय दर्शन से मुक्त रहने के लिए अन्धत्व ग्रहण किया था। उपर्युक्त विचार डा० आर्त्तवल्लम महन्ती के हैं। प्रो० विनायक मिश्र का मत है कि प्राय: युवावस्था के पूर्व इनकी नेत्रज्योति नष्ट हुई थी। प्रो० विजयचन्द्र मजूमदार का भी विचार इनसे मिलता है और इनके अनुसार वे अपनी युवावस्था के आरम्भिक दिनों में अंधे हुए थे।

कवि कृत 'कलि भागवत' के आधार पर 'मॉडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फॉलोवर्स' नामक पुस्तक में श्री नरेन्द्रनाथ वसु ने भीमभोई का जीवन दिया है। इस विवरण से भी भीम की आजन्म चक्षुहीनता सिद्ध होती है। दीक्षा ग्रहण के सम्बन्ध में प्रो० विजय-चन्द्र मजमदार का भिन्न मत है। भीम कुम्भीपटिआ परिव्राजक की संगति में रहकर इस धर्म के प्रति आकृष्ट हुए और बाद में स्वयं ढेंकानल जिलान्तर्गत जोरन्दा स्थित गुरुपीठ में जाकर दीक्षित हुए। पर हमें महिमा धर्म के मुख्य ग्रंथो में ऐसा विवरण नहीं मिलता। प्रभु ने स्वयं भीम को दीक्षित किया था दीक्षा स्थान भीम का निजग्राम है। वसु महाशय का आधार ग्रन्थ 'कलि भागवत्' उपलब्ध नहीं। इसमें जन्मस्थान कूपपतन तथा नाम को लेकर भ्रमात्मक विचार हैं, अतएव यह विश्वास योग्य ग्रंथ नहीं।

भीमभोई यौवन के आरम्भ में महिमा धर्म में दीक्षित होकर धर्म प्रचार में लगे। इन्होंने विवाह किया, दो संतानें भी हुई। पुत्र का नाम कपिलेश्वर और पुत्री का नाम लावण्यवती है। पत्नी का नाम अन्नपूर्णा था। भक्त इनकी पत्नी को आदि अन्न-पूर्ण कहते हैं। भीमभोई की मृत्यु १८९४ में सोनपुर गडजात अन्तर्गत खलियापालि ग्राम में हुआ था। वहाँ इनका समाधि मन्दिर है। इनकी पत्नी का भी समाधि मन्दिर इसके पास है।

भीमभोई की कृतियाँ

'स्तुति चिन्तामणि' भीमभोई का श्रेष्ठ ग्रंथ है। केवल महिमा धर्म ही नहीं, साधारण गृहस्थों और भक्तों की दृष्टि में भी इसका अत्यधिक आदर है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आद्यन्त गीता, ब्रह्मनिरूपण गीता, निर्वेद साधन, नवीन नारी गीता, अष्टक विहारी गीता और अनेक चन्द्रतिण तथा भजनादि की रचना की है जिनमें अनेक अप्र-काशित हैं। श्री युत् नगेन्द्रनाथ वसु ने इन्हें 'कलि भागवत्' नामक कृति का लेखक भी स्वीकार किया है। 'खलिआपालि' गादी में ब्रह्मसयुक्त गीता' नामक उनकी एक अधूरी कृति पाई जाती है।

'स्तुति चिन्तामणि' गीति-काव्य है। इस ग्रन्थ में सौ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में बीस पद हैं। यह महिमा धर्म सम्बन्धी उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है।

'श्रुति निषेध गीता' एक विवरणात्मक पद्यबद्ध भीमभोई ने अलेख ब्रह्म रचना है। इस कृति में की उपासना के सम्बन्ध में लिखते हुए बाह्य कर्म सम्बन्धी उपासना पद्धति का निषेध किया है। इन्होंने दृढ भाव से व्यक्त किया है।

"वाह्य मतेर कर्म एहि, कलेहें किछि फल नाहिं।"

वाह्य कर्म करने से कोई लाभ नही होगा।

यह ग्रन्थ अनादि ब्रह्म, अलेख पुरुष, अवधूत गोस्वामी और भक्त गोविन्द के बीच वार्ता रूप में रचित है। बाहर के देवता की उपासना की जगह अन्तर के देवता की उपासना प्रतिपादित हुई है। तुलसी माला की जगह कठघटिका रूपी माला से नामोच्चारण का उपदेश दिया गया है। विष्णु निर्माल्य त्याग कर नाम निर्माल्य जपने, दशमी पालन को दशाप योग में परिणत करने और एकादशी को एकाक्षर रूप में ग्रहण किया है का उपदेश दिया गया है।

भीमभोई के भजन दो भागों में प्रकाशित हुए हैं, प्रत्येक में सौ-सौ भजन हैं। भीमभोई ने महिमा गोसाई को बुद्ध प्रबुद्ध नाम से नामित किया है। महिमा धर्म के मत से वे स्वयं बुद्ध भगवान हैं। उड़िया साहित्य के भक्तकवि अच्युतानन्द, बलराम और हिन्दी के ज्ञानाश्रयी भक्तिशाखा के कवि कबीर, दादू आदि ने राम या कृष्ण को अलख निरंजन कहा है और भीमभोई ने महिमा गोसाई को अलख निरजन कहा है। भीमभोई का ब्रह्म अलख, निरंजन अणाकार अनादि रूप में अवतीर्ण हुआ है।

"पिता अटन्ति मो अनादि ठाकुर, माता आदि शक्ति नारी।"

अनादि ठाकुर मेरे पिता हैं और आदि शक्ति नारी मेरी माता है।

भीमभोई-प्रचारित महिमा-धर्म की विशेषताएँ

भीमभोई प्रचारित महिमा धर्म में सभी के लिये स्थान है। एक महापापी भी महिमा नाम के भजन से मुक्ति लाभ कर सकता है। अन्य धर्मों के समान इस धर्म का भी मेरुदण्ड सत्य है। मिथ्या, प्रवचना और इन्द्रिय लोलुपता का इसमें स्थान नही है। जिस महासत्य को अन्यान्य धर्म प्रधान अवलम्बन रूप में ग्रहण करते हैं, भीमभोई द्वारा प्रचारित धर्म की भी वही आत्मा है।

मिथ्या भाषण, परदाराभिगमन, चोरी, परापवाद, धनलोभादि से दूर रहने के लिए भीम ने उपदेश दिया है और कहा है कि महिमा धर्म में इन सबों के लिए स्थान नहीं है। पर पुरुष को पिता और परस्त्री को माता और दुःख-सुख को समान मानने का उपदेश दिया है।

बौद्ध वैष्णव अच्युतानन्द दास की सहिताओं से यह सिद्ध है कि नित्य स्थली की राधा ने मानव रूप में कंध गृह में जन्म लेकर भीम नाम ग्रहण किया था। वास्तव में भीम राधा के तुल्य भक्त हैं। वैष्णवगोस्वामी के ग्रंथ में राधा भक्तों के बीच श्रेष्ठ हैं। राधा जिस प्रकार कृष्णभक्ति में डूबी हैं, उसी प्रकार भक्त भीमभोई भी भगवान के लिए पागल हैं।

"दिवा निशि उदास मते थिव वातुल पराए होइ।
बालक मते येवे भ्रमि पारिव तेवे ब्रह्म भेंट पाइ॥"

जब रात दिन पागल की तरह उदास भाव से बालक रूप में भ्रम पाओगे, तभी ब्रह्म से भेंट हो सकेगी।

और भी,

"प्रेमे पुलकित अश्रुजल युक्त क्रोध भरे गद्‌गदे ।
कपाल रे हस्त देइ भीम भक्त भणे तिनिशत पदे ।।"

प्रेम से पुलकित, अश्रुजल युक्त अभिमानपूर्ण क्रोध से गद्‌गद् होकर सिर पर हाथ देकर भीमभोई ने तीन सौ पद रचे ।

"ध्यान योग बले गुरुंक रूपकु वंदना करिण जाणे ।
दर्शन वेलदे किस मुं बोलइ गोचर न थाइ मने ।।"

ध्यान और योग द्वारा गुरु के रूप की वंदना करना जानता हूँ । पर दर्शन के समय मैं क्या क्या कहता हूँ, यह याद नहीं रहता ।

ज्ञान और भक्ति में भक्ति श्रेष्ठ है । ज्ञानबल से लोग भक्ति नहीं भी पा सकते हैं । निष्काम भक्ति के पाद देश में ज्ञान परिचारक रूप में स्थित है ।

प्राणी के उद्धार के लिए आकुल आवेदन और आत्मबलिदान की भावना की अभिव्यक्ति हुई है ।

"शरण वाछित काधि काधि भक्त गड़ि गलेणि सकल ।
दोप अपराध क्षमा करि स्वामी जाग्रतरे प्रतिपाल,
प्राणिक आरत दुख अप्रमित देखु देखु केवा सहु ।।
मो जीवन पछे नर्के पडिथाउ जगत उद्धार होउ,

भक्तगण शरण-प्राप्ति की इच्छा से रो रोकर चरणों में लोट पड़े हैं । हे भगवन्, उनके दोष, अपराध आदि को क्षमाकर उनका प्रतिपाल करो । प्राणियों के असीम दुख को कौन सह सकता है ? मेरा जीवन नर्क में रहे, पर जगत का उद्धार हो ।

भक्ति के पदों को वैष्णव कवियों ने विनय के पद, दैन्य बोध और आकांक्षा में विभक्त किया है । भीमभोई रचित पदावली में भी ये सभी कोटियाँ मिलती हैं ।

विनय के पद—

"मेलिछ पसरा निर्वेदरे परा अरुपे करिव पारि ।
पेन मो विनति बुझ तु व्यकति भवे भक्तहितकारी ।।"

निर्वेद "महिमा धर्म" का द्वार खोल रखे हो, हमारा उद्धार करो । यदि तुम वास्तव में भक्त हितकारी हो तो, मेरी प्रार्थना स्वीकार करो ।

प्रार्थना में भक्त का अभिमानपूर्ण आवेदन निवेदन व्यक्त है, भक्तिकवि ने अभिमान पूर्वक ब्रह्म के पास एक प्रधान अभियोग उपस्थित किया है—

"सन्तापरे केते दहुअछ मोते येते देउछ कपण ।
भक्त-रक्षण नाना वहिअछ धन्य तुम्भ प्रभुपर्ण ।।"

तुम भक्त रक्षक कहलाते हो, किन्तु मुझे दुख और कष्ट की ज्वाला में जलाते हो । धन्य है तुम्हारी प्रभुता ।

भक्त क्रोध में ब्रह्म को गाली देकर अनुताप व्यक्त करता है—

"अम्वरीष हेलि कोपे गालि देलि न धरिव प्रभु दोष ।"

अम्बरीष की भाँति क्रोध में गाली दी । हे प्रभु, इसे ध्यान में न लाना ।

दैन्य बोध—

अपनी दीनता-हीनता के बोध के साथ भजन—

"मुँ ये श्री छामुरे सत्य निष्कामरे नाम अपराधी चोर ।
अछि भेवे दोष मने वहि रोष खड़गे छेद मो शिर ।।"

मैं सत्य और निष्काम भाव से तुम्हारे सामने आया हूँ । मुझे लोग अपराधी और चोर कहते हैं । यदि दोषी हूँ तो क्रोध कर तलवार से मेरा सिर अलग कर दो ।

शरणापत्ति—

"मुँ हीन पामर कीट जीव छार तो पयरे अनुसरि ।
करपत्र जोड़ि विनय करूछि सुकृपा कर श्री हरि ।।"

हे भगवन्, मैं हीन नीच कीट मृग से भी गया बीता तुम्हारी शरण में आया हूँ । हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ, दया करो ।

आत्म समर्पण—

"जगत धारण मुकति कारण तु ये ब्रह्माण्ड-करता ।
पिण्ड प्राण आदि लागि या अनादि दुख-सुख सर्व चिन्ता ।।"

हे जगत के धारक, मुक्ति कारक और ब्रह्माण्ड के कर्त्ता ! हे अनादि पुरुष ! इसी शरीर और प्राण के लिए ये सभी सुख दुख चिन्ताएँ लगी रहती हैं ।

भक्त की आकांक्षा—

अपने इष्ट तथा आत्मा की आकाक्षा पूर्ति के लिए आवेदन—

"निरेख जीवकु अनास्थ न करि निष्कामरे फल देव ।
निणखा प्राणिकि शून्य नाम ब्रह्म कृपा जले तारि नेव ।।"

हे शून्य नाम ब्रह्म ! इस अनाथ, असहाय जीव पर अविश्वास न कर निष्काम भक्ति का फल दो । अनाथ प्राणी को अपने कृपा-जल से उद्धार करो ।

आत्मा की सद्गति के लिए भक्त हृदय की आर्तवेदना आकुलता-व्याकुलता 'स्तुति चिन्तामणि' में स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ती है । भीममोई भक्त रूप में नानक, कबीर आदि के समकक्ष हैं । कर्म और धर्म का समन्वय उनके धर्म का मूल मंत्र है ।

"ब्रह्म मध्ये सार धर्म धनुर्द्धर कर्म अटे वीरवर ।
एकस्थाने थाइ सकल सरीरे पूरि अछि तिनिपुर ।।"

ब्रह्मोपासना में धर्म और कर्म दो सार वस्तुएँ हैं, जिनमें धर्म धनुर्द्धर है और कर्म वीरवर । ब्रह्म एक स्थान में रहते हुए भी तीनों पुरों में वर्त्तमान हैं ।

सर्व व्यापी ब्रह्म

सान देहे सान वड देहे वड़ जीव अजीव समान,
विकार अण-विकार ठावे वसि न थाइटि भिन्नाभिन्न ।
दुष्ट दुराचारे दैत्य दानवरे सकल घट विश्राम,
काहि शून्य नाहि सकल भूतरे नोदि जिव ब्रह्म नाम ।।

छोटे शरीर में छोटे और बड़े शरीर में बड़े होकर वह ब्रह्म व्याप्त है, जीव और अजीव में इस दृष्टि से भेद नहीं। विकार और निर्विकार दोनो स्थान पर वह एक समान व्याप्त है। दुष्ट दुराचारी दैत्य दानव सभों के शरीर में उनका वास है। कोई भी स्थान उनसे खाली नहीं है, वे सर्वव्यापी हैं।

भक्तकवि भीमभोई परमब्रह्म के साथ पुत्र रूप से आबद्ध हैं—

"घर द्वार इष्ट बधु वर्ग छाडि ब्रह्माण्ड वुलुछि आसि ।
मोहर पितार रचिला जगते खेल करु अछि वसि ।।"

घर द्वार, बन्धु वर्ग सभो का त्याग कर इस भूमंडल में विचरता हूँ। मैं अपने पिता द्वारा रचित ससार में बैठकर खेल करता हूँ।

मानव सम्प्रदाय द्वारा स्ववृत्ति पालन से धर्म रक्षा सभव है, इसे प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कर्मयोग की प्रशस्ति गाई है—

"मोचि होइ चर्म काटु थाउ पछे नामरे आश्रित हेउ ।
ताहार वृति से केमन्ते छाडिब रोजगार करु थाउ ।।"

मोची होकर अपना चर्म व्यवसाय करता रहे, साथ ही परमब्रह्म का नाम लेता रहे। वह अपनी वृत्ति क्यों छोड़े, अपना जातीय पेशा करता रहे।

हाडि होइ भेवे दाण्ड बाडि घर पछे खटु,
गुरु पाद तले चित्त वृत्ति रखि दृढ चित्ते नाम रटु ।
ताहार वृत्ति से न रखिव तेवे के करिव सेहु कर्म,
मुखे भेवे गुरु नाम जपु थिव उद्धार करिवे ब्रह्म ।।

मेहतर दरवाजे और पीछे के घर को सफाई करते हुए गुरु-चरण में चित्त देकर दृढ चित्त से उनका नाम-स्मरण करे। यदि वह स्ववृति का पालन न करेगा तो; उस कार्य का कौन करेगा। ऐसा करते हुए यदि वह मुख से गुरु नाम स्मरण करता रहेगा तो, ब्रह्म अवश्य उसका उद्धार करेंगे।

मनुष्य होई निर्जीव सगे भाव देखरि केडे अज्ञान ।
शून्यरु येहु पिन्ड प्राण गढिला नाहि ताकु अनुमान ।।

मनुष्य होकर निर्जीव की उपासना करे, यह कितना बड़ा अज्ञान है। शून्य में रहकर जिसने यह शरीर और प्राण रचे, उनका तो कोई ध्यान ही नहीं करता।

'साधुजन माने अविवेक नुह निज कर्म अनुसर,
तद्गत करि नाम आश्रे कले दुस्तरु होइब पार।'

हे साधुजन! तुममें विवेक है, तुम अपना कार्य करो। उनके नाम का आश्रय लेने से निश्चय तुम्हारा उद्धार होगा।

इस प्रकार भक्त भीमभोई प्रतिभाशाली कवि हैं। वे प्रथम भक्त हैं, बाद में कवि। प्रथम दृष्टा हैं, बाद में स्रष्टा। वे भक्ति रस के रसिक हैं, शुद्ध साहित्य रस के रसिक नहीं। उनकी भक्ति विह्वलता काव्य कुशलता के साथ व्यक्त हुई है। उनमें नाम कीर्तन में भक्ति के उन्मेष के साथ-साथ साहित्य का सौन्दर्य बोध भी है।

हिन्दी के निर्गुण ज्ञानाश्रयी भक्ति साहित्य के साथ तुलनीय

महिमा धर्म और भक्त भीमभोई के साहित्य का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इस सम्प्रदाय का साहित्य हिन्दी के निर्गुण भक्त कवियों के साहित्य के साथ तुलनीय है। ज्ञानाश्रयी भक्तिशाखा के भक्त कबीर, दादू आदि के साहित्य में प्राप्त एकेश्वरवाद तथा निर्गुण निराकार ईशोपासना, गुरु की सर्वोपरि महत्ता, मूर्तिपूजा आदि की व्यर्थता सामाजिक जाति-पाँति के भेद-भाव का उन्मूलन, मानव की समता का उद्घोष, धार्मिक वाह्याडम्बरों का खडन तथा अहिंसा धर्म पर जोर, हमें इस सम्प्रदाय के साहित्य में भी उपलब्ध है। स्थान, काल, पात्र की विशिष्टता को छोड़कर धार्मिक सम्प्रदायगत साहित्य में हमें बहुत कुछ साम्य देखने को मिलेगा। निर्गुण ज्ञानाश्रयी भक्ति साहित्य और महिमा धर्माश्रित साहित्य तुलनीय है। हम नीचे हिन्दी के निर्गुण संत साहित्य से समता मूलक कुछ पद उद्धृत कर लेख समाप्त करेंगे।

दादू हिन्दू लागे देहरैं, मुसलमान मसीति।
हम लागे एक अलख सो, सदा निरन्तर प्रीति॥
न तहाँ हिन्दू देहरा, न तहाँ तुरक मसीति।
दादू आपै आप है, नहीं तहाँ रह रीति।

× × × ×

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुन्दर मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय॥

× × × ×

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

× × × ×

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजुँ पहाड़,
या ते वह चक्की भली, पीस खाय संसार।

× × × ×

कांकड़ पाथर जोड़ि के, मस्जिद लियो चुनाय,
ता चढि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा हुआ खुदाय।

× × × ×

दादू पूछै देव तुम, कौन-सा जात कहाव,
बूढा जाति न पांति है, प्रीति से कोई पाव।

× × × ×

जाति न पूछिय साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।"

× × × ×

दाया दिल में राखिए, तू क्यों निर्दय होय।
साईं के सब जीव है, कीटी कुंजर सोय।"

'महिमा धर्म' सम्बंधी उन पुस्तकों की सूची यहाँ दी जा रही है, जिनसे प्र
निबन्ध 'महिमा धर्म और भक्त कवि भीमभोई' लिखने में मुझे पर्याप्त सहायता मिली है

(१) स्तुति चिन्तामणि—सम्पादक डा० आर्त्तवल्लभ महन्ती।
(२) भीमभोई भजनमाला—सम्पादक डा० आर्त्तवल्लभ महन्ती।
(३) श्रुति निषेध गीता—सम्पादक डा० आर्त्तवल्लभ महन्ती।
(४) उडोसार महिमा धर्म—श्री चितरजन दास।
(५) उडिया साहित्येर इतिहास—पं० विनायक मिश्र
(६) टिपिकल सेलेक्शन्स फॉम उडिया लिट्रेचर—स० वि० च० मजुमदार
(७) मॉडर्न बुद्धिज्म एण्ड इट्स फालोवर्स—श्री नगेन्द्रनाथ वसु
(८) महिमा धर्म प्रतिपादक [दो भाग] श्री विश्वनाथ बाबा।

38170

डा० विनय मोहन शर्मा

गुजरात का स्वामी नारायण सम्प्रदाय

गुजरात में विविध धार्मिक आन्दोलनों की लहर तीव्रता के साथ बहती रही है। निर्गुण-सगुण सम्प्रदायों के सभी प्रवाहों का स्पर्श उसकी आध्यात्मिकता को पोषित करता रहा है। "नरसी मेहता" ने १५वीं शताब्दी में ज्ञान और भक्ति का जो माधुर्य जनमन में संचरित किया उसकी सिहरन उसमें आज तक विद्यमान है। कहते हैं, कबीर ने गुजरात-यात्रा में अपने उपदेशों का प्रचुर प्रचार किया जिसकी प्रतिध्वनि मेहता के पदों में सुन पड़ती है। पर अभी कबीर की गुजरात यात्रा के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए। मुझे तो ऐसा लगता है कि विभिन्न प्रांत और देश के अनुभूति-भूमिका में प्रविष्ट सन्तों ने विभिन्न भाषाओं में एक ही "सत्य" को अभिव्यक्त किया है। अतः प्रमाणों के अभाव में सहसा किसी एक संत को दूसरे से प्रभावित कहना समीचीन नहीं है। हम भाव-साम्य में समान अनुभूति-दर्शन से एक विशेष तथ्य को पाकर मुग्ध अवश्य हो सकते हैं।

सोलहवीं शताब्दी में गुजरात में आचार्य वल्लभाचार्य तथा उनके पुत्रों ने यात्राएँ कर वैष्णव मत के पुष्टिमार्ग का खूब प्रचार किया। कहा जाता है कि इस 'मार्ग' की संकुचितता से जनता में उसके प्रति कुछ खिंचाव आ गया था। अतएव उसे पुनः लोक-प्रिय बनाने की दृष्टि से वहाँ स्वामी नारायण सम्प्रदाय का प्रचार हुआ। यह सम्प्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय का ही एक अंग है। इसे "उद्धव मत" भी कहते हैं। वास्तव में इस मत के संस्थापक रामानुज-सम्प्रदाय के स्वामी रामानन्द (कबीर कालीन नहीं) थे जिनका प्रादुर्भाव अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुआ था। स्वामी रामानन्द के शिष्यों ने उन्हें उद्धव का अवतार माना था। इसीसे उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय "उद्धव-सम्प्रदाय" के नाम से अभिहित हुआ। रामानन्द जी जब तक जीवित रहे गुजरात यात्रा करते रहे।

सन् १८०२ में ब्रह्मलीन होने के पूर्व उन्होंने छपिया (उत्तर-प्रदेश) के तेजस्वी ब्राह्मण साधु (स्वामी नारायण) को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इन्हीं स्वामी नारायण ने "सत्संग" मत की स्थापना की। उन्होंने गुजरात और सौराष्ट्र में अपने प्रभुत्व को फैलाया। कहते हैं, डाकू तक उनके प्रभाव से सदाचारी बन गए और राजाओं ने मदिरा आदि का परित्याग कर नैतिकता को अपनाया। एक प्रकार से इसे नैतिक सुधार-मत कहा जा सकता है।

"जात पाँत पूछै नहीं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई ।।"

सिद्धांत के वे प्रबल समर्थक थे अहिन्दू और अछूत सभी उनके भक्त थे। इतना सत्यात्मक उनका व्यक्तित्व था। समता और सादगी उनका मूल मन्त्र था पर जब वे सार्वजनिक समारोहों में भाग लेते तो खूब साज-सज्जा से भूषित रहते। उनकी प्रवचन-शैली अत्यन्त आकर्षक थी। उनके प्रवचनों का संकलन "वचनामृत" और शिक्षापत्री" में किया गया है। स्वामीजी ने अपने सम्प्रदाय के दो पीठ प्रस्थापित किए, एक अहमदाबाद में, दूसरा वड़ताल (कैरा) में और उन पर आचार्य रूप में अपने भतीजों को प्रतिष्ठित किया। गुजरात के शहरों-गाँवों में इनके तत्वाधान में अनेक कृष्ण मन्दिरों की स्थापना हुई।

सम्प्रदाय का आचार-धर्म

सहजानन्द स्वामी ने सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए आचार-धर्म की एक पोथी २११ श्लोकों में लिखा है जो संस्थापक स्वामी नारायण जी के उपदेशों पर आधारित है। मूल में यह गुजराती में लिखी गई थी परन्तु बाद में उसका संस्कृत में अनुवाद किया गया है। क्योंकि सस्कृत हमारी धर्म और संस्कृति की भाषा है। सबसे प्रथम इसमें इष्टदेव श्रीकृष्ण की निम्न शब्दों में स्तुति की गई है—

"वामेयस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि ।
वृन्दावन विहार तं श्री कृष्णं हृदि चिन्तये ।।"

मैं उन वृंदावन विहारी श्रीकृष्ण का हृदय में चिन्तन करता हूँ जिनके बाईं ओर राधा और वक्ष में लक्ष्मी हैं।

आचार्य ने अहिंसा पर अधिक बल दिया है। वे कहते हैं—

"स्त्रिया धनस्य वा प्राप्त्ये साम्राज्यस्य च वा क्वचित् ।
मनुष्यस्यतु कस्यापि हिंसा कार्या न सर्वथा ।।"

व्यभिचार, चौर-कर्म, (पुष्प, काष्ठादि) पर भी दृष्टि नही डालनी चाहिए। पराम का यहाँ तक निषेध है कि जगन्नाथपुरी के 'प्रसाद' को छोड़कर अनुयायी को किसी के हाथ का पका अन्न ग्रहण न करना चाहिए "शिश्नोदर संयम" के अतिरिक्त वाक्-संयम की ओर भी इंगित किया गया है। देवता, तीर्थ, ब्राह्मण, पतिव्रता, साधु और वेद की न तो निन्दा करे, और न सुने। मार्ग में कहीं मन्दिर दिख जाय तो उसे श्रद्धापूर्वक नमन करे। 'स्वधर्मे' निधनं श्रेयं, सिद्धांत का भी उपदेश है, स्ववर्णाश्रम धर्म का परित्याग न करें पाखण्ड और कल्पित धर्म का आचरण न करें। श्रीकृष्ण और उनके अवतारों के खंडन की वार्ता न करे, न सुने। "गुरु करे जानकर पानी पिये छान कर" के समान भी आदेश दिया गया है। गुरु, प्रतिष्ठित व्यक्ति और शस्त्र-धारी का कभी अपमान न करे। पोथी में कहा है—

"गुरुदेव नृपे न गम्य' रिक्तपाणिभि:" "साथ ही" विश्वासघातो नो कार्या: स्वश्लाघा स्वमुखेनच। (न किसी से विश्वासघात करे, न अपने मुह से अपनी कीर्ति का बखान करे।) अब कतिपय विशेष कार्यों का परिचय दिया जा रहा है।

अनुयायी को गुरु से कृष्ण दीक्षा प्राप्त कर गले में तुलसी की माला तथा मस्तक पर उर्ध्वपुंड्र तिलक धारण करना चाहिए। शूद्रों को भी जो कृष्ण भक्त हैं, माला तथा तिलक धारण करने का अधिकार है। अनुयायी को सूर्योदय के पूर्व उठना चाहिए और श्री कृष्ण भगवान का स्मरण कर शौच कर्म से निवृत होना चाहिए। उसके पश्चात् दन्त धावन तथा पवित्र जल से स्नान करना चाहिए। तत्पश्चात् शुद्ध आसन पर बैठकर पूर्व या उत्तराभिमुख हो आचमन करे। पश्चात् उर्ध्वपुण्ड्र तथा सधवा स्त्री कुंकुम का चन्द्रक लगाये, विधवा कुकुम आदि कुछ न कुछ लगाकर कृष्ण भगवान की मानस-पूजा करे। फिर साधक राधा-कृष्ण के चित्र को नमन कर श्री कृष्ण के अष्टाक्षर मन्त्र का जप करे। इतने उपासना कर्म कार्य के उपरान्त अनुयायी अपना दैनिक कर्म करे। एकादशी व्रत रखे तथा कृष्ण-जन्म दिन तथा शिवरात्री को उत्सव मनाये। गो० विट्ठलनाथ जी ने जो व्रत निर्धारित किए हैं। उनका पालन तथा द्वारका की तीर्थयात्रा भी करना चाहिए। साधक को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती तथा सूर्य इन पंच देवताओं की पूजा करनी चाहिए।

यदि साधक पर प्रेत-बाधा का सन्देह हो तो उसे नारायण कवच का जप या हनुमान के मन्त्र का जाप करना चाहिए। इनके अतिरिक्त किसी क्षुद्र देवता की पूजा नहीं करनी चाहिए। सम्प्रदाय में वेद, व्यास सूत्र, श्री मद्भागवत् महाभारत में विष्णु सहस्रनाम, गीता, विदुर नीति, स्कन्द पुराण के विष्णु खण्ड में उल्लिखित श्री वासुदेव माहात्म्य, याज्ञवल्क्य स्मृति का विशेष माहात्म्य है। इनका पठन-पाठन आवश्यक माना जाता है। माता-पिता, गुरु और रोगी को सेव्य माना गया है। वास्तव में यह कोई नया सम्प्रदाय नही है, यह वैष्णवमत का ही एक अग है। इसमें मानव-सेवा तथा सदाचार की प्रमुखता प्रस्थापित की गई है।

सम्प्रदाय के हिन्दी कवि

इस सम्प्रदाय के सस्थापक और प्रचारक हिन्दी प्रातीय होने के कारण इनके अनुयायी हिन्दी से स्वभावत परिचित रहते थे और अठारहवी शताब्दी के पूर्व से गुजरात में हिन्दी का संचार हो गया था। सतो और मुस्लिम शासको ने हिन्दी के व्रज और खडी बोली रूप को प्रचलित कर दिया था। व्रज तो अन्य प्रादेशिक "साहित्यिक भाषा" ही बन चुकी थी। डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा भी है "अब की तरह एक हजार वर्ष पहले हिन्दी ही अपने पूर्व रूप में अन्त प्रादेशिक भाषा के रूप में अखिल उत्तर भारत में फैली थी और तमाम आर्य भाषी लोगों में पढी-पढाई और लिखी जाती है।"–१

इस सम्प्रदाय के ब्रह्मानन्द, निष्कुलानद, हेमानद आदि साधुओं ने हिन्दी में रचनाएँ की हैं। ब्रह्मानन्द स्वामी का एक पद है—

> कान्ह कुवंर मन भाये, आलीरी मेरे कान्ह कुवर मन भाये।
> मैं जु खड़ी थी अपने भुवन, मे चलके अचानक आये॥
> कोमल गात न जात वखाने, छैल छुगन रग छाये।
> ब्रह्मानन्द जोर दृग मो सों, मद मद मुसकाये॥२॥

---

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ—पृष्ठ ७९।

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ६३, पृष्ठ १३६)।

प्रेमानन्द की ब्रजभाषा का आस्वाद लीजिए—

बैरन बाजे रे मोरी बांसुरी।
श्रवन सुनत मोरी सुध-बुध बिसरी नैना बहत रे मोरे आंसुरी।
बिरहा भरी बाजे बन बांसुरी छेदे करेजा रे मोरी पांसुरी।
कैसी करूँ, अब कल न परे मोहे, निकसत नही मोरी सांसुरी॥
प्रेमानन्द घनश्याम पिया मोरे, जीभ में डारी रे प्रेम फांसुरी ॥३॥

गुजरात के इस सम्प्रदाय पर विशेष अध्ययन की आवश्यकता है श्री मुंशी जी ने इस पर "भारती" में अपने कुलपति के पत्रों में थोड़ी चर्चा की है। पर उसके मठाधीशों के प्रकरण पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

३. वही (वर्ष ६३ पृष्ठ १३६)।

श्री वेंकट राघव शर्मा

सर्वज्ञ के वचन

सर्वज्ञ को द्रविड भाषाओं की सबसे पुरानी कन्नड भाषा का कबीर कहें तो अनुचित न होगा। कन्नड की त्रिपदि में, गागर में सागर भरनेवाले बिहारी की तरह कन्नड साहित्य में 'सर्वज्ञ' का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

ये पन्द्रहवी शताब्दी में हुए थे "त्रिपदि" तीन पदोंवाला कन्नड का अपना ही छन्द है जिसके प्रथम पाद में बीस मात्राएँ, द्वितीय पाद में अठारह मात्रायें, तृतीयपाद में तेरह मात्रायें होती हैं। सर्वज्ञ की त्रिपदियाँ सर्वथा कन्नड का सौ फीसदी अपना मौलिक ग्रन्थ है। लगभग दो हजार त्रिपदियों में सर्वज्ञ ने सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक विषयों पर कटु आलोचना तथा निंदा की है। शिवभक्त होने के कारण सर्वज्ञ ने शिवमहिमा एवं शिवमय पर मुक्तकंठ से जयघोष किया था। उनकी कुछ त्रिपदियों का भावानुवाद यहाँ पर दिया गया है।

सूचना—हिन्दी में ह्रस्व 'ए' तथा 'ओ' नहीं हैं; जहाँ इनके नीचे लकीर खींचकर 'ए' तथा 'ओ' लिखे गये हैं वहाँ उन्हें ह्रस्व समझना चाहिए। व्यजनों पर जहाँ ये दोनों मात्रायें लगायी गई हैं वहाँ भी ह्रस्व समझें। सभी व्यजन स्वरान्त होते हैं।

सर्वज्ञ वचनगळु

१. करेल्ल नेट्टरू । केरियेल्लवु बसग ।
धारिणियेल्ल । कुल दैव वागिन्नु ।
यारनु बिडलो ! सर्वज्ञ ॥

२. नडेवुदोन्दे भूमि । कुडियुदोन्दे नीरु ।
सुडुवाग्नियोंदे इरुतिरलु कुलगोत्र ।
नडुवे एत्तणदु ? सर्वज्ञ ॥

३. 'सर्वज्ञ' नेंबवनु । गर्वदिदादवने ? ।
सर्वरोळोन्दोंदु । नुडिगलितु विद्येय ।
पर्वतवे आद सर्वज्ञ ॥

४. नवद्वारगळ मुच्चि । शिवध्यानदोळगिरलु ।
नवखण्ड पृथ्वियोळगण मातेल्ल ।
किवियोळगे इहुदु सर्वज्ञ ॥

५. अन्नदेवर मुन्दे । इन्नु देवरु उण्टे ।
अन्न उण्टादरुणलुण्टु जगकेल्ल ।
अन्नवे प्राण सर्वज्ञ ॥

६. आने नीराटदलि । मीनकंडंजुवदे ? ।
हीनमनदवर बिरुनुडिगे तत्वद ।
ज्ञानियंजुवने सर्वज्ञ ॥

७. तन्नमुख तन्नुगळु । तन्नकण्णिगे मरेयु ।
तन्नगुण दोष गळनरियै इदनरिद ।
इन्नोब्ब बेकु सर्वज्ञ ॥

८. व्यसनदलि देहवु । मसणवनु काणुवदु ।
व्यसनवनु बिट्टु हसनागि दुडिदरे ।
अशनवसनगळु सर्वज्ञ ॥

९. रुद्रकर्तनु तानु । अर्धनारियु आद ।
इद्दवरोळारु सतियर हृदयवनु ।
गेद्दवरु यारु ? सर्वज्ञ ॥

१०. मातिगे मातुगळु । ओतु सासिरवुण्टु ।
मातािडदन्ते नडेदात जगवन्द्य ।
कुतल्लि आळुव ! सर्वज्ञ ॥

सर्वज्ञ के वचन

१. गाँव के सब लोग रिश्तेदार हैं। बस्ती के सब लोग अपने परिवार के हैं। धरित्री के सब लोग कुल के देवता हैं। फिर कहो 'सर्वज्ञ' छोड़ें किसको ?

२ एक ही भूमि पर हम चलते हैं। एक ही पानी को हम सब पीते हैं। तपती हुई एक ही अग्नि के रहते बीच में यह कुल, यह जाति सब कैसे कहो सर्वज्ञ ?

३ 'सर्वज्ञ' कहलाने वाला कोई पुरुष घमण्ड से बना है ? सब लोगों से एक एक बात (शब्द) सीखकर ज्ञान का पहाड़ बन गया। कहो सर्वज्ञ।

४. अपने शरीर के नौ द्वारों को बन्द करके भगवान शंकर के ध्यान में रह। तब नौ खण्डों के तथा पृथ्वी के सब ज्ञान की बातें अपने कानों के अन्दर रहती हैं। कहो सर्वज्ञ।

५ अन्न देवता के सामने दूसरा कौन देवता है ? यदि अन्न है तो सारे जग को खाने को है। अन्न ही प्राण है। कहो सर्वज्ञ।

६ हाथी जलक्रीडा के समय मछली को देखकर डरता है ? नीच लोगों के गर्जन सुनकर बड़ा तत्वज्ञानी डरता है ? कहो सर्वज्ञ।

७ अपना मुख अपनी पीठ दोनों अपनी आँखों से ओझल हैं। अपने गुण दोषों को समझने के लिये दूसरे की आवश्यकता है जो गुण-दोषों को जानता है। कहो सर्वज्ञ।

८ चिता से देह श्मशान को दहनी है अर्थात मर जाती है। चिता का छोड़कर अच्छी तरह परिश्रम कर तो खाना कपड़ा मिल जाता है। कहो सर्वज्ञ।

९. भगवान शंकर खुद अर्धनारीश्वर बने। यहाँ जो है उनमें स्त्रियों के हृदय को जीतनेवाला कौन ? कहो सर्वज्ञ।

१०. कहने के लिये बातें कला के विषय हजारों हैं। जो जिस तरह कहता है उसी तरह करे तो वह बैठे-बैठे दुनियाँ-भर अपना प्रभुत्व करेगा। कहो सर्वज्ञ।

११. मत्यवनु अरिदिहरे । सत्तहागिरबेकु ।
मत्यवनु अरिदु उगुरिदरे सत्तवरि— ।
गत्त हागवकु सर्वज्ञ ॥

१२. मोगद इल्लद ऊट । केसर इल्लदगद्दे ।
बमुरागदबळ-बाळुवेय् देसिगेय ।
बिसिलु । कादन्ते सर्वज्ञ ॥

१३. आगिल्ल होगिल्ल । मेगिल्ल बेळगिल्ल ।
तागिल्ल तप्पु-तडेयिल्ल लिगक्के ।
देगुलवे इल्ल सर्वज्ञ ॥

१४. अन्नवनु इक्कुवदु । नन्नियनु नुडिवदु ।
तन्नते परर बगेदडे कैलास ।
बिन्नणवक्कु सर्वज्ञ ॥

१५ सावु जीवगळेरडु । भाविसलु मोंदय्य ।
जीविसलु बीज सावते जगहितके ।
सावुदे जीव सर्वज्ञ ॥

१६. एलुविनी कायक्के । सले चर्मद होदिके ।
मलमूत्र क्रिमिगळाळगिर्द देहके ।
कुलवावुदय्य सर्वज्ञ ॥

१७. बन्धुगळु आदवरु । बन्दुण्डु होगुवरु ।
बन्धनव कळेयलरियरु, गुरुविन्द ।
बन्धुगळु उण्टे सर्वज्ञ ॥

१८ गुरुविगे दैवक्के । हिरिदु मतखुण्टु ।
गुरुतोर्वे दैवदेडेयनु, दैवता ।
गुरुव तोरुवदे ? सर्वज्ञ ॥

१९. सुरतरुवु मरनल्ल । सुरभियोन्दावल्ल ।
परुषपाषाण दोळगळु गुरुराय ।
नररोळगल्ल सर्वज्ञ ॥

२०. गुरुवचनवुपदेश । गुरुवचन परभक्ति ।
गुरुवचन मोक्षपदवदुवे गुरुवचन ।
परमार्थवय्य सर्वज्ञ ॥

२१. श्वान तेंगिन काय । तानु मेलबल्लुदे ? ।
हीन मनदविनगुपदेशवित्तडदु ।
हानि काणय्य सर्वज्ञ ॥

१. यदि सत्य को जानने हों तो मृत पुरुष जैसे रहें। सत्य को जानकर कहें तो मृत लोगों की परिस्थिति होती है। कहो सर्वज्ञ।

२. दही के बिना खाना, कीचड के बिना खेत, बिना गर्भवती हुई स्त्री का जीवन–ये तीन ग्रीष्मकाल की धूप में बैठने के समान हैं। (बेकार हैं) कहो सर्वज्ञ।

१३. अब तक कुछ नहीं हुआ, आगे नहीं होने का। उच्चनीच भाव नहीं है। गलती नहीं है, रोकथाम नहीं है। शिवलिंग के लिये कोई देवस्थान है नहीं। कहो सर्वज्ञ।

१४. खाने को देना, मत बोलना, अपने जैसे दूसरों को समझना——ऐसा करें तो कैलास प्रत्यक्ष में ही है। कहो सर्वज्ञ।

१५. मृत्यु एव जीवन दोनों यदि सोचें तो एक ही है। जिस तरह जीने के लिये जीव मर जाता है उसी तरह ससार की भलाई के लिये मरना ही जीवन है। कहो सर्वज्ञ।

१६. हड्डी का बदन, माम चमडे का ढक्कन, इसके अन्दर मल मूत्र कीडे आदि रहें तो इस देह का कुल क्या है? कहो सर्वज्ञ।

१७. बन्धुलोग (सम्बन्धी) जो होते हैं आते हैं, खाते हैं, चले जाते हैं। वे (ससार के) बन्धन का निवारण करना नहीं जानते हैं। गुरु से भी अधिक निकट सम्बन्धी और कोई है? कहो सर्वज्ञ।

१८ गुरु में, भगवान म बहुत बडा अतर है। गुरु तो भगवान के यहाँ जाने का मार्ग दिखाता है। क्या भगवान गुरु को दिखा देगा? कहो सर्वज्ञ।

१९. कल्पवृक्ष एक पेड नहीं है। कामधेनु एक गाय नहीं है। वज्र पाषाण के अतर्गत नहीं है। इसी तरह गुरु साधारण आदमियों में नहीं है। कहो सर्वज्ञ।

२०. गुरु के वचन ही उपदेश हैं। गुरुवचन ही परम भक्ति का साधन, गुरुवचन ही मोक्षदायक है। केवल गुरुवचन ही परमार्थ का साधन है। कहो सर्वज्ञ।

२१ क्या कुत्ता नारियल फाडकर खाने आप खा सकता है? नीच मनवालों का दिया हुआ उपदेश पहिचानकर समझो। कहो सर्वज्ञ।

२२. नेट्टागुरुवुग्दु । बोट्टिइनु युदिल्ल ।
नेट्टने गुरुविगेरगिदन ससार ।
गुट्टहोगुवदु सर्वज्ञ ॥

२३. श्रोत्रनल्लदे, जग मे । इन्द्रस्न्टे ? मते ।
श्रोत्र गर्वज्ञ सर्ननी जगवेल्ल ।
श्रोत्रवन्ने देव सर्वज्ञ ॥

२४ चित्रवनु नविलोळुवि । चित्रवनु गगनदोळु ।
पत्र पुष्पगळ विविध वर्णमळिद ।
चित्रिसिदरारु ? सर्वज्ञ ॥

२५. मनेयेतु वनवेनु । मेनहु इद्दरे सानु ।
मनमुट्टि शिवन नेनेयदनु वेट्टद ।
कोनेयल्लिहेनु ? सर्वज्ञ ।

२६ किविगे गानवु नेमु । कविगे नवरस लेसु ।
भववन्ध कळेव गुरु लेसु; मुक्तिगे ।
शिव मन्त्र लेसु सर्वज्ञ ॥

२७ एल्लवू शिवनेंद । रेल्लिहुदु भववय्य ? ।
एल्लरू शिवन नेनेदिहरे कैलास । .
• विल्लिये नोड ! सर्वज्ञ ॥

२८ ज्ञानदिदलि इहवु । ज्ञानदिदलि परवु ।
ज्ञानविल्लदिरे सकलवू तनगिद्दु ।
हानि काणय्य सर्वज्ञ ॥

२९ कल्लिनलि मण्णिनलि । मुल्लिन मोनेयल्लि ।
एल्लि नेनेदलि शिवनिर्प भ्रवनीति ।
इल्लिये इरुव सर्वज्ञ ॥

३०. नालगेय सवि सुख के । चीलवनु तुम्बिदरे ।
शूलेगळु हलवु तेरनागि रुजेगळि ।
कालनोशनवकु सर्वज्ञ ॥

३१ कुलवनु केडिसुवदु । छलवनु बिडिसुवदु ।
होलेयन मनेय होगिसुवदु, कूळिन ।
बलुमे नोडेंद सर्वज्ञ ॥

३२ हणव कण्डाक्षणवे । गुणवतेयागुवळु ।
हण हाद विटनु सारिदरे सूळेगे ।
हेणन कण्डन्ते सर्वज्ञ ॥

२२ कपूर के पहाड को जलाकर भी तिलक लगाने के लिये भस्म नही मिला। जो सीधा जाकर गुरु के चरणो पर गिर पडता है तो उसका (ससार) भवबधन जल जायगा। कहो सर्वज्ञ।

२३. "एक" के सिवा इस जगत में दूसरा कोई है ? और इस जगत में एक ही सर्व-ज्ञानी, सर्व-कर्ता भगवान है। कहो सर्वज्ञ।

२४. मोर के चित्रित पख, गगन की विचित्र वार्ते, पत्तो में फूलों में नाना तरह के रगो से चित्रित करने वाला कौन। कहो सर्वज्ञ।

२५ घर में रहे तो क्या, वन में रहे तो क्या ? मन में रहे तो बस! मन से शिवध्यान न करनेवाला पर्वत शिखर पर रहे तो भी क्या लाभ है ? कहो सर्वज्ञ।

२६ कानो को गान अच्छा लगता है, कवि को नवरस अच्छा लगता है। भवबधन निवारण करने वाला गुरु अच्छा है, मुक्ति पाने के लिए शिवमत्र ही अच्छा है। कहो सर्वज्ञ।

२७ यदि सब शिवमय कहें तो ससार कहाँ है ? सब लोग शिव का ध्यान करें तो कैलाश यही देख सकते हैं। कहो सर्वज्ञ।

२८. ज्ञान ही इह है। ज्ञान ही पर है। ज्ञान के न होने पर सब अपने लिए होते हुए भी अहितकर समझो। कहो सर्वज्ञ।

२९. पत्थर में, मिट्टी में, काँटे की नोक में जहाँ कहीं भी शिव रहता है। 'वह' वहीं रहता है जहाँ तुम रहते हो। कहो सर्वज्ञ।

३०. जिह्वा की रुचि के लिए अपने पेट को भरते रहो तो कई तरह की पीडाएँ बीमारियाँ आदि मृत्यु के वश में कर देती हैं। कहो सर्वज्ञ।

३१. कुल के गौरव को मिट्टी में मिलाना, घमण्ड को दूर करना, भक्त के घर में प्रवेश करवाना यह सब मत्र की महिमा देखो। कहो सर्वज्ञ।

३२ पैसे को देखते ही गुणवती बन जाती है। यदि कोई निर्धन कुलटा के पास जाता है तो उसे सांप के समान देखती है। कहो सर्वज्ञ।

३३. नंबिदंतिरबेकु । नंबदले इरबेकु ।
इंबरिदु एच्चरिरबेकु हेण्णनु ।
नंबिपद केट्ट सर्वज्ञ ॥

३४. येच्चन मनेयागि । बेच्चबके होद्दागि ।
इच्छेयनु अखि सतियागि, स्वर्गक्के ।
किच्चु हच्चेंद ! सर्वज्ञ ॥

३५. उत्तमद अंगनेगे । ओतिकावलदेके ? ।
चित्तदलि चेलुवे तानाद बळिकिन्नु ।
मत्ते मुसुकेके ? सर्वज्ञ ।

३६. सुण्ण बिल्लद वीळे । बण्णविल्लद मदुवे ।
हेण्णिल्लदवन संसार, मळ्ळोळगे ।
एण्णे होयिदन्ते सर्वज्ञ ।

३७. पर पुरुषननु तन्न । परम पितनदरितु ।
स्थिर चित्तवुल्ल सुदतियनु सन्नेयलि ।
करेयुववरारु ? सर्वज्ञ ।

३८. रुद्रकर्तनु तानु । अर्ध नारियु आद ।
इद्दवरोळारु सतियर हृदयवनु ।
गेद्दवरु यारु ? सर्वज्ञ ।

३९. अबुधिय गानवनु । अवरद कलहवनु ।
शंभुविन महिमे, सतियर हृदयव ।
निवरिदारु ? सर्वज्ञ ।

४०. सिरिय ससारवनु । स्थिरवेन्दु नबदिरु ।
हिरिदोन्दु सन्ते नेरेदोन्दु जावक्के ।
हरिदु होदन्ते सर्वज्ञ ॥

४१. आळाग बल्लवनु । आळुवनु अरसागि ।
आळागि बाळलरियदनु कडेयलि ।
हाळागि होह सर्वज्ञ ।

४२. सुरिनालगेगे मतव । चित्तदालगेगे सतिय ।
नित्तु वाळुव मनुजर संगवु ।
सतत बेड सर्वज्ञ ।

४३. वचनदोळगेल्लवरु । शुचि, वीर, साधुगळु ।
कुच, शस्त्र, हेम सोक्किदरे लोकदोळ ।
गचलदवरारु ? सर्वज्ञ ।

३३. इस तरह रहो कि तुम्हें विश्वास है। इस तरह रहो कि तुम्हें विश्वास नही है। परिस्थिति को समझकर सावधान रहो। स्त्री पर विश्वास करने वाला बरबाद हुआ। कहो सर्वज्ञ।

३४. अच्छा घर रहे, खर्च के लिए पैसा रहे, अपनी इच्छा समझने वाली पत्नी रहे तो स्वर्ग को भी आग लगा दो। कहो सर्वज्ञ।

३५. उत्तम स्त्री को बडा पहरा क्यो ? मन के पवित्र बनने के बाद परदे की आवश्यकता क्यो ? कहो सर्वज्ञ।

३६. चूने के बिना पान, रग के बिना शादी, स्त्री के बिना परिवार यह सब रेत में डाला तेल जैसा बेकार है। कहो सर्वज्ञ।

३७. पर पुरुष को अपना परम पूज्य पिता समझनेवाली, स्थिर चित्त वाली सती को इशारे से बुलानेवाला कौन ? कहो सर्वज्ञ।

३८. भगवान शकर स्वय अर्धनारी बन गए। यहाँ जितने हैं उनमें स्त्रियो के हृदय को किसने जीता ? कहो सर्वज्ञ।

३९. सागर के सगीत को, गगन के कोलाहल को, जगदीश की महिमा को, स्त्रियो के हृदय को किसने पहचाना ? कहो सर्वज्ञ।

४०. ससार की सम्पत्ति स्थिर है। यह विश्वास मत रखो—बहुत बडा मेला लगकर एक ही याम में बह जाता है। कहो सर्वज्ञ।

४१. जो नौकर बन सकता है वही राजा बनकर प्रभुत्व कर सकता है। जो नौकर बनकर जो नही सकता, वह अन्त में बरबाद हो जाता है। कहो सर्वज्ञ।

४२. अन्न के लालच से अपने धर्म को छोडकर, पैसे के लालच से स्त्री को देकर जो जीता है, उसका सग, चाहे हम मर जायें तो भी नही चाहियें। कहो सर्वज्ञ।

४३ कहने के लिए सभी लोग पवित्र ह, वीर हैं, साधु हैं। स्त्री, युद्धसामग्री, पैसा आदि की हवा लगते ही विचलित न होनेवाला कौन है ? कहो सर्वज्ञ।

❁

श्री नटवरलाल, अंबालाल व्यास

कवि नर्मद

मध्य कालीन गुजराती साहित्य में नरसिंह, अखो, प्रेमानन्द, श्यामल भट्ट, दयाराम एव अन्यान्य कवि अपनी-अपनी मनोहर रचनाओ के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। कवि दलपतराम डाह्याभाई मध्ययुग और आधुनिक युग के बीच की कडी के समान हैं। कवि दलपतराम के समय से ही सारे भारतवर्ष के साथ साथ गुजरात में भी अग्रेजी शिक्षा का आरम्भ हुआ। कवि दलपतराम तो अग्रेजी भाषा में दीक्षित नही हुए थे परन्तु फार्बस जैसे अग्रेजो के सपर्क से वे भी विशाल दृष्टि वाल हो सके थे। उसी समय सूरत में कवि नर्मदाशकर लालशकर (१८३३-१८८६) धीरे धीरे प्रसिद्धि पा रहे थे। वस्तुत गुजराती साहित्य में नर्मद से ही अर्वाचीन युग का अरुणोदय होता है।

कवि नर्मद का समय तो आज से करीब १२५ वर्ष पहले का है पर इस युग और उस युग में कितना महान् अन्तर था? उस समय दियासलाई या स्लेट (Slate) भी नही मिलती थी। अग्रेजो ने रेलो का प्रारम्भ किया जिसे लोग आश्चर्य से देखते और इजन की पूजा करते थे। उसी समय एक बात सारे गुजरात में फैल गई कि आने वाली वसन्त-पचमी के दिन सारी सृष्टि का प्रलय हो जायेगा। सभी लोग वसत-पचमी के दिन प्रलय की प्रतीक्षा करते ही रहे पर कुछ भी न हुआ। ऐसी थी उस युग के लोगो की अधश्रद्धा[1] स्कूलो में सामान्य रूप से पढना-लिखना और हिसाब करना सिखाया जाता था। भूगोल और व्याकरण जैसे विषय बिलकुल उपेक्षित थे। पृथ्वी गोल नही है, यदि पृथ्वी गोल होती तो हम कैसे खडे रह सकते हैं? इन्सपेक्टर के पूछने पर ही बतलाया जाता था कि पृथ्वी गोल है; गोल है ही नही।' ऐसा उस समय भूगोल का ज्ञान दिया जाता था। इन्सपैक्टर लोग भी सामान्यत भूगोल या व्याकरण जैसे विषय को छूते ही नही थे। एक उत्साही शिक्षक ने विदेशी इन्सपैक्टर से एक बार प्रार्थना की कि विद्यार्थियो के भूगोल ज्ञान की परीक्षा ली जाय तब उस विदेशी इन्सपेक्टर ने एकदम ही क्रुद्ध होकर अभिमान से कहा। What grammar and Geography to the blacks"[1] मुद्रित समाचार

१. 'वीर नर्मद"—विश्वनाथ मगनलाल भट्ट।

पत्र की दो प्रतियों में साम्य होने से उस समय के कई शिक्षित लोगों को बहुत ही आश्चर्य हुआ कि ऐसा कैसे हो सकता है।

ऐसे सामाजिक अंधश्रद्धापूर्ण और अज्ञानपूर्ण युग में गुजरात के ज्योतिर्धर कवि नर्मद ने कविता के साथ साथ ही समाज सुधारने के कार्य का श्रीगणेश किया। नर्मद का जीवन उनके साहसों से रोमांचित था। उनके जीवन मंत्र थे प्रेम और शौर्य। उनके जीवन के प्रत्येक कार्य में हमें प्रेम के नित्य नवीन दर्शन होते हैं या वीरोचित शौर्य के दर्शन। महाकाव्य लिखने के प्रयास में चाहे उसे सफलता न मिली हो, परन्तु यह सत्य है कि महाकाव्य के नायक के समान ही उनका जीवन अत्यन्त भव्य और महान् था, यह निर्विवाद ही है।[२]

पुराने आचार-विचार का त्याग कर देना ही चाहिये, ऐसा अभिमत करने वाले करसनदास 'मूलजी' महीपतराम, दुर्गाराम, मछाराम आदि के नेता नर्मद ही थे। ये सब भाषणों से, निबन्धों से, कविता से एवं समाचार पत्रों में लेख लिखकर सोये हुए देश को जागृत करने का प्रयास कर रहे थे।[३] नर्मदाशंकर अपने कार्यों में अत्यन्त ही उत्साह बर्तते थे। उन्होंने बुद्धिवर्धक सभा में व्याख्यान देकर, बुद्धिवर्धक और तदनन्तर "डांडियो" नामक समाचार पत्र में लेख लिखकर, 'नर्म कविता' के अलग अलग अंक प्रकाशित करके सुधार (Reform) का झंडा फहराया और पुराने रास्ते पर चलने वाले देश को नये रास्ते पर लाने के लिये आह्वान किया। लोग उनकी कवित्व शक्ति और कार्य शक्ति से काफी प्रभावित हो गये थे।

नर्मद ने मैट्रीकुलेशन तक ही अध्ययन किया था। बाद में उन्होंने बम्बई जाकर कालेज में प्रवेश तो ले लिया था परन्तु सामाजिक परिस्थितियों से वे आगे अध्ययन न कर सके और तुरन्त ही रांदेर प्राथमिक पाठशाला में शिक्षक हो गये। उनके युग में गुजराती में एक भी पिंगल ग्रंथ नहीं था। बहुत कठिनाई से उन्होंने एक जगह से पिंगल की एक हस्तलिखित पुस्तक प्राप्त करके उसके आधार पर गुजराती भाषा में पिंगल ग्रंथ बनाया। आज तो गुजराती साहित्य में अनेक पिंगल ग्रंथ हैं और रामनारायण विश्वनाथ पाठक का 'बृहत्पिंगल' तो भारतीय भाषाओं के पिंगल विषयक ग्रंथों में अभूतपूर्व, अनन्य एवं अनुपम माना जा सकता है। फिर भी आज नर्मद के पिंगल ग्रंथ का गुजराती साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान है ही।

विधवा-विवाह के मानने वाले इस कवि ने स्वयं भी विधवा से विवाह किया था और उनके कार्यों में उनकी अपनी सहधर्मिणी डाही लक्ष्मी से पूर्णरूपेण सहायता मिलती थी। कई वर्षों तक शिक्षक का व्यवसाय करने के बाद उन्हें प्रतीत हुआ कि व्यवसाय के साथ साथ तो साहित्यसृजन हो नहीं सकता अतः अत्यन्त दरिद्र अवस्था होते हुए भी उन्होंने अपने व्यवसाय से त्याग पत्र दे दिया और केवल साहित्य सेवा में ही निरत रहने लगे। अपने प्रण को उन्होंने अपने जीवन के अन्त तक निबाहा और कभी किसी राजा महाराजा या सेठ-साहूकार की मिथ्या प्रशंसा नहीं की। अनेक कष्टों का सामना करते हुए भी

२. गुजराती साहित्य की विकास रेखा खंड २ पृष्ठ ३०-डॉ० धीरू भाई ठाकर।
३. साहित्य प्रारम्भिका पृष्ठ ४८-हिम्मतलाल ग. अंजारिया।

इस उदार कवि ने अपनी मृत्यु के समय में काव्य में अपने मित्रों और रिश्तेदारों से दुःख न करने के लिये कहा है। उन के अवसान के साथ आधुनिक गुजरात के प्रधान ज्योतिर्धर की ज्योति नष्ट हो गई। डॉ० कनैयालाल मुंशी जी ने उन्हें The first amongst the Moderns अर्वाचीनों में सर्वप्रथम कहा है।

वैसे तो दलपतराय से ही कविता में नवीन विषयों का आना आरम्भ हो गया था पर, प्रणय और देश-भक्ति के गीतों से गुर्जरगिरा को शोभायमान करने वाले तो नर्मद ही हैं। गुजरात की और भारतवर्ष की प्रशंसा का वर्णन करने वाले अनेक काव्य उन्होंने सर्व प्रथम गुजराती भाषा में लिखे हैं :—

जय जय गरवी गुजरात, दीपे अरुणु परभात।
ध्वज प्रकाश शे झललल कसुंबी प्रेम शौर्य-अंकित।
तु भणव भणव निज संतति सहुने प्रेमभक्तिनी रीत।
ऊँची तुज सुन्दर जात, जय जय गुर्वी गुजरात॥

गौरवशाली गुजरात की जय हो। सुन्दर प्रभात शोभायमान हो रहा है। प्रेम एवं शौर्य से अंकित ध्वज ही प्रकाशित हो उठेगा। तू अपनी संतति को प्रेम और भक्ति की रीति बता दे। तेरी जाति बहुत ही ऊँची है।

'जय जय गरवी गुजरात' उनका प्रसिद्ध गीत है और आज भी गुजरात के बहुत से राजकीय सांस्कृतिक एवं सामाजिक समारोहों का प्रारम्भ इसी गीत से होता है। देश भक्ति के कार्यों के अतिरिक्त प्रकृति वर्णन के अच्छे काव्यों की उन्होंने रचना की है जिनमें वर्षा वर्णन और वसंत वर्णन बहुत ही प्रसिद्ध है। उन्ह की "शुरवीर ना लक्षण, वीर रस कविता', हिन्दुओ नी पडती, 'सुरत नी हकीकत' आदि सभी कविताओं का संग्रह उनकी प्रसिद्ध कविता "नर्म कविता" शीर्षक से गुजराती प्रेस बम्बई द्वारा मुद्रित हुआ है। इस वृहद ग्रंथ की कविता की समता करते हुए आज प्रतीत होता है कि उनके काव्यों में सर्व काल के लिए रहने वाले तथ्य कम ही हैं।[४] फिर भी उस युग में उनकी कविता की प्रशंसा करने वाले बहुत थे।

नर्मदा शंकर गुजराती के प्रथम गद्य लेखक माने जाते हैं।[५] वैसे तो नर्मद से पहले ही गद्य का प्रारम्भ हो ही गया था, पर उसे शुद्ध संस्कृत एवं परिमार्जित रूप तो नर्मद ने ही दिया। गद्य में उन्होंने समाज सुधार, नीति, धर्म, साहित्य, इतिहास, भाषा विज्ञान विषयक ग्रंथ लिखे हैं। उनके ग्रंथों में 'कवि अने कविता", 'कवि चरित्र' आदि मुख्य हैं।

उन्हें गुजरात मेवाड़ और भारतवर्ष के इतिहास लिखने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने अपनी कठिनाइयों, मजबूरियों और परिस्थितियों के बावजूद भी खूब परिश्रम से विदेशी इतिहास ग्रन्थों का अध्ययन किया और 'महादर्शन-२' में जगत के प्राचीन

४ साहित्य प्रारम्भिका—पृष्ठ ४६—हिम्मत लाल ग. अजारिया।
५. वही   पृष्ठ ४३

इतिहास का समग्र दर्शन कराया। 'राज्य रंग' के दोनों भागों में उन्होंने जगत के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास की यशोगाथा गाई है। गुजराती साहित्य में जगत का इतिहास लिखने का भागीरथ प्रयत्न जैसा उन्होंने किया, वैसे ही शब्द कोष बनाने का श्री गणेश भी उन्हीके हाथों से हुआ। 'नर्म कोष' और 'कक्ष कोष' उनके प्रसिद्ध शब्दकोष हैं। इसके अतिरिक्त नर्म व्याकरण भाग १-२ में वर्ण और नाम पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। नर्मद ने कृष्णाकुमारी, द्रौपदी दर्शन, सीता हरण, श्रीसार शाकुंतल एवं बालकृष्ण विजय नामक पौराणिक नाटक भी लिखे हैं। अत आधुनिक गद्य के साथ साथ आधुनिक नाटक के जन्मदाता भी वे ही माने जा सकते हैं।

नर्मद ने दयाराम कृत काव्यसंग्रह (छोटा और बड़ा) प्रेमानन्द कृत "दशम स्कंध" और "नलाख्यान", मनोहर स्वामी के 'मनहर पद' और नागर स्त्रियों के गीतों को संशोधन कराकर मुद्रित कराया था। उन्होंने भगवद् गीता का अनुवाद भी किया था। इस तरह हम देख सकते हैं कि उन्होंने अनेक क्षेत्रों में साहित्य सेवा की है और वह सचमुच 'अर्वाचीनों में आद्य" पद के लिये योग्य हैं।

डा० रामकृष्ण गणेश हर्षे

महानुभाव पंथ और साहित्य

महानुभाव कृष्ण भक्ति का एक पुराना सम्प्रदाय महाराष्ट्र में श्री चक्रधर ने शक सवत् ११८५ स्थापित किया है। यह सम्प्रदाय महानुभाव पथ, महात्म पथ, जय कृष्णीय सम्प्रदाय, परमार्ग आदि नामो से प्रसिद्ध है। इसके संस्थापक गुजरात के रहनेवाले थे। राजा त्रिमल्लदेव का विशालदेव नामक एक सामवेदी ब्राह्मण प्रधान था। सन्तानहीन होने के कारण त्रिमल्लदेव ने विशालदेव के पुन हरपालदेव को अपना राज्य दे दिया परन्तु द्यूत व्यसन के कारण उसने सारी सम्पत्ति बरबाद कर दी और गहनो आदि के लिए अपनी सुशीला पत्नी को भी बहुत दुख दिया। पत्नी के आभूषण आदि देने से इन्कार करने के पर ये घर से विरक्त होकर रामटक की ओर चले गये। रास्ते में वे ऋधपुर के महात्मा गोविंद प्रभु के सानिध्य में आए और उनसे उपदेश ग्रहण किया। गोविन्द प्रभु ने उनका नाम 'चक्रधर' रखा। चक्रधर ने औरगल के कमल नाइक की पुत्री हसाम्बा के साथ विवाह किया। कुछ वर्ष बीतने पर वे गृहस्थी से पुन विरक्त हो गए और तीर्थ-यात्रा के उद्देश्य से खूब पयटन किया। यात्रा करते-करते जब वे अचलपुर (इलिचपुर-बरार) पहुँचे तब वहाँ रामदेव दरणा ने उनसे अपने यहाँ चलने का बहुत आग्रह किया और अपनी पुत्री (गौरी) को उन्हें समर्पित कर दिया। इस विवाह के तीन वर्ष बाद वे फिर विरक्त हो गये। एक दिन चन्द्रभागा नदी में स्नान करते समय वे अन्तर्हित हो गये, यह सुन कर गौरी के प्राण पखेरू उड गये। जब वह लौट कर घर आये तब यह दृश्य देख कर वे भी विदेह रूप होकर वहाँ से चले गये। शक सवत ११८५ में भोगावती नदी के तीर पर उन्हें श्री दत्तात्रेय प्रभु का दर्शन हुआ। और उन्होने सन्यास ले लिया। सन्यासी होने के बाद उन्होने महानुभाव पथ की स्थापना की और लोगों को अपना उपदेश देने के निमित्त फिर उन्होने यात्रा प्रारभ की। लगभग दस वर्ष में उनका शिष्य समुदाय बहुत बढ गया जिसमें अच्छे-अच्छे पडित और सदाचारशील विद्वान सम्मिलित थे। शक सवत ११९५ के आसपास वे बद्रिकाश्रम की ओर चले गये, वहाँ ही उनका देहान्त हो गया।

चक्रधर ने किसी ग्रथ की रचना नही की पर उनके शिष्य महीन्द्र भट्ट (म्हाई भट) ने चक्रधर की लीलायें एकत्र की जिनसे चक्रधर के दैनिक चरित्र का एव उनके उपदेशो के विषय की अच्छी जानकारी मिलती है। चक्रधर के पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य नागदेवाचार्य ने इस सम्प्रदाय को खूब सघटित किया। म्हाई भट के लीला चरित्र से केशवभट्ट ने चक्रधर

के सिद्धान्त-सूत्र चुनकर एक सूत्र पाठ निश्चित किया। जा महानुभाव सम्प्रदाय के सब अनुयायियों के लिए वेद के समान है। इन सूत्रों पर संस्कृत के ग्रन्थग्रंथों के समान पंडितों ने, वृत्ति, टीका, भाष्य, महाभाष्य आदि विपुल ग्रंथों की रचना की है। सूत्र पाठ के अनंतर केशव सूरि ने "दृष्टांत पाठ' नामक दूसरा ग्रंथ बनाया। चक्रधर ने लोगों को उपदेश देते समय अनेक व्यावहारिक दृष्टान्त देकर जो निरूपण किया था उसमें करीब ११४ दृष्टांत लेकर उसकी शास्त्रीय पद्धति से सूत्र, दृष्टांत और उनका स्पष्टीकरण इत्यादि का संग्रह किया। इस "दृष्टांत-पाठ" के ऊपर महानुभाव पंथ के पंडितों ने अनेक विवरणात्मक ग्रंथ लिखे हैं। इनके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में 'पूजावसर', 'आचार स्थल', 'स्मृति-स्थल' इत्यादि ग्रंथों का साम्प्रदायिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

यदि महानुभाव सम्प्रदाय के अनुयायियों की परंपरागत बातें विश्वसनीय हों तो यह मानना पड़ेगा कि महानुभाव साहित्य मराठी का प्राचीनतम साहित्य है। यह महाराष्ट्र के लिये गर्व की बात है कि स्वयं गुजराती होकर भी चक्रधर ने महाराष्ट्र भाषा अपनायी और धार्मिक आचरण के लिए महाराष्ट्र भूमि अत्यंत श्रेष्ठ है यह घोषणा की। महानुभाव ग्रंथों में महाराष्ट्र का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

'महन्त राष्ट्र म्हणौनि महाराष्ट्र राष्ट्र म्हणजे देश महंत म्हणजे थोर तर तंव थोर कवण कवण अर्थे पां ना सात्त्विक हा एक दुसरा सुसरूप तिसरा इष्टकारक चवथा निर्दोष पाँचवा सगुण ' (आ० व० २४)

"महाराष्ट्र निर्दोष आन सगुण आपण निर्दोष आन सगुण तैसेंचि आणिकांनहा निर्दोषा आन सगुणा करी अनिष्ट न निफजे म्हणौनि निर्दोष इष्ट निफजे म्हणौनि सगुण आपण अनाचार न करी आणिकांसी करों नेदी ते महाराष्ट्र धर्म सिद्धी जाय ते महाराष्ट्र ' (आ० स्थ० १४)

महाराष्ट्र में कृष्णा और गोदावरी के तीर पर महानुभाव बिखरे हैं। नागपुर, व हाड, मराठवाडा, महाराष्ट्र और कोंकण में महानुभावीयों के तीर्थ स्थान हैं। किन्तु कवीश्वर भास्करभट्ट आम्नाय के दीक्षित कृष्ण मुनि ने पंजाब में इस सम्प्रदाय का बहुत ही प्रसार किया और उसके नाम से कदाचित् पंजाब में इसको "जयकृष्णीय सम्प्रदाय' कहा जाता है। महानुभाव सम्प्रदाय का प्रसार पश्चिमोत्तर भारत में न केवल पंजाब कश्मीर तक सीमित रहा वरन् काबुल-कंदहार में भी उनके मठ या कृष्णमंदिर हैं ऐसा पता लगता है। उनकी धर्मभाषा मराठी है और प्रमुख ग्रंथ भी मराठी में हैं। यद्यपि हिंदी में भी उस सम्प्रदाय के विषय में कुछ ना कुछ रचना हुई है किन्तु उत्तर भारतीय महानुभाव पंडित और विशेषतः संन्यास धर्मी प्राचीन मराठी अच्छी तरह से पढ़ते हैं और बोलते भी हैं।

महानुभाव पंथ के अनुयायी करीब पाँच लाख होंगे और जिन में से करीब दो हजार सन्यासी हैं। मोक्षमार्गी संन्यासियों को चक्रधर स्वामी ने भिक्षाटन अवश्य किया है। एक जगह बहुत दिन तक न रह कर सर्वत्र संचार करने से व्यवहार ज्ञान और सत्संग मिलता ही है किन्तु विशेषतः जहाँ-जहाँ श्री चक्रधर जी ने निवास किया था उन स्थानों

स्थानों का दर्शन अवश्यमेव पुण्यप्रद बताया गया है। इससे गृहस्थ महानुभावों को भी लाभ होता है।

महानुभाव पंथ के संबंध में शुरू से ही महाराष्ट्र में बहुत ही गलतफहमी थी और एकनाथ, वामनपंडित, तुकाराम आदि प्राचीन सन्त कवियों ने भी उनके संबंध में तीव्र निषेध प्रकट किया है। शायद उस समय के महानुभावियों में अनाचार और धर्म-भ्रष्टता मानी गई होगी। मलिन वेष वर्णविहित आचार का अतिक्रमण, कृष्णवस्त्र परिधान, सन्यासी और सन्यासिनी का एकत्र निवास, भिक्षाटन और स्त्रियों की विशेषतः धर्म ग्रंथों का कूटलिपियों में निगूहन इसका वह परिणाम होगा। चक्रधर के प्रमुख शिष्य नागदेवाचार्य के निधनोत्तर उनके तेरह शिष्यों के भिन्न भिन्न आम्नाय हो गये और मूलग्रंथ छिपाने के लिए सकळ, सुंदरी, पारमांडल्य, अंक इत्यादि अनेक कूट-लिपियों का उपयोग किया गया। उनकी संख्या करीब २०-२५ होगी। इनमें से बहुत ही लिपियों का ज्ञान संप्रति लुप्त हो गया है। तेरहवीं शताब्दी के अन्त्यचरणों में महानु-भावीय ग्रंथ सकल, सुंदरी आदि लिपियों में लेख निविष्ट थे। केवल बीसवीं शताब्दी में जब पुरातत्त्वभूषण विश्वनाथ काशीनाथ राजवाडे ने उन्हें खोज निकाला तब से महानु-भावों के ग्रंथों का महत्त्व ज्ञात हुआ।

महानुभाव पंथ की यथार्थ कल्पना 'श्री चक्रधरोक्त सूत्र पाठ" से ही की जाती है। उसकी भाषा सरल, सूत्रबद्ध मार्मिक और उपनिषदा के समान अर्थगंभीर है। यह पंथ वेदविरोधी, अनीश्वरवादी और चातुर्वर्ण्य का विरोधी समझा गया था• किंतु वह गलत है। वह मोक्षवादी सन्यासधर्मी भक्ति संप्रदाय है और वेद, उपनिषद, पुराण गीता-भागवतादि उसके आधारभूत ग्रंथ हैं। बौद्ध और जैन लोगों के समान वे निरीश्वरवादी नहीं हैं। श्री दत्तात्रय प्रभु इस पंथ के आदिकारण माने गये हैं। किंतु श्रीकृष्ण चक्रवर्ती को वे पूर्णावतार मानते हैं और श्रीचक्रधर श्रीकृष्ण परमात्मा के अवताररूप समझे गये हैं। इस पंथ के परात्पर गुरु द्वारावतीकार श्री चांगदेव राउळ, उनके शिष्य ऋद्धिपुर के श्रीगुंडम् राऊळ, और प्रशिष्य प्रतिष्ठान के श्रीचांगदेवराऊळ तथा चक्रधर श्रीदत्तात्रेय प्रभु श्रीकृष्ण परमात्मा और वे तीन पुरुष इस पंथ के गुरु पंचक है।

श्री दत्तात्रेय प्रभु का अवधूत सन्यास मार्ग प्रसिद्ध है। पंथस्थापना के पूर्व श्री दत्तात्रेय प्रभु का दर्शन चक्रधर को हुआ था और इसके बाद उन्होंने सन्यास ग्रहण किया। मोक्ष मार्ग का उपदेश करने में सन्यास का महत्त्व अत्यधिक है। मुमुक्षु मार्गी लोगों के लिए उन्होंने जो उपदेश किया है वह सामान्यतः अन्य वैदिक पंथियों के समान है। किंतु आचार विषयक जो नियम इस पंथ में हैं वे अत्यंत सूक्ष्म और सामान्य लोगों को आचरने के लिए वे बनाने में केवल परंपरागत दृष्टि सामने न रखकर उन्होंने धार्मिक मूलतत्त्व और इसका लोक व्यवहार में रूढ आचार देख कर अनेक दृष्टान्तसहित स्वतंत्र बुद्धि से उनका आचारधर्म विहित किया है। नीति, सदाचार, सन्यासवृत्ति और ईश्वर-भक्ति इनके संबंध में उन्होंने जो आचार-संहिता बनायी है वह मुमुक्षुमार्गीयों को अत्यंत उपयुक्त है इसमें संदेह नहीं।

"स्वदेश संबंधु त्याज्य स्वग्राम संबंधु त्याज्य सर्वक्रियाचा संबंधु. तो विशेषता

स्वाजय ।।१।। पुरुष जेतुल जेतुली विषयसेवा करी तेतुल तेतुळा कर्मी निवळ जाए ।।३।। स्त्री भणिजे मलद्रव्याचा रावो गा प्रणिवें द्रव्यें सेविळीया माजवीति स्त्री दर्शनमात्रें वि माजवी ।।६।। जेणें सबधें विकार उपजे तेयाचा प्रसबधू कीजे ।।१३।। देशाचा सेवरी भाडातळी जन्म क्षेपावें ।।२६।। एका भाडाचो मबे न हा श्रावी. एका स्थानाची सवे न हो श्रावी ।।३७।। धर्म धर्म विधि विरवो परित्यजीनि परमेश्वरा शरण रिघावें ।।७६।। तुमचनि मुगी राड न हो श्रावी ।।६०।। प्राणासि श्राहार देश्रावा इद्रियासि नेदावा ।।६७।। नीरसिं विरसें श्रनें सेवीजेति ।।१११।।" इत्यादि

तत्त्वज्ञान के विषय मे जो निरूपण चक्रधर ने किया है उससे पता चलता है कि वे माधवो के लिए परमेश्वर, देवता, जीव और प्रपच इन चारो पदार्थों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक मानते थे। मवसे परमेश्वर श्रेष्ठ है। वह जीव-प्रपच-व्यतिरिक्त सच्चिदानद स्वरूप, सर्वशक्तियुक्त है। "नित्य-व्यापक परमेश्वर अप्रमेय अनिमित्तबधु, अनाथनाथ कृपालु आर्तदानी' कृपावश होकर परमेश्वर सगुणरूप अवतार धारण करता है। "प्रतिसृष्टि परमेश्वर, अवतरेति अनत अवतार" अवतारो में मनुष्य वेषधारी अवतार श्रेष्ठ है और वह धारण कर 'सकल ही देहधर्म स्वीकरीनि युगानुरूप परमेश्वर नीहति परिविचित् विलक्षण" परमेश्वर के सच्चिदानद स्वरूप में सत् का अर्थ ब्रह्म, चित माया और आनद ईश्वर। तीनो का एकत्र रूप परमेश्वर। ब्रह्म अस्ति नास्ति का विषय नहीं हो सकता है। वह 'सत्य, नित्य, अनत, शाश्वत, सर्वधर्मशून्य'। माया आद्यशक्ति गुणवती, धर्मवती विकारवती और ईश्वर के 'सगरण, सहरण तथा उद्धरण' ये तीनो व्यापारो का प्रमुख साधन। ईश्वर के ऐश्वर्यादि सकलधर्म माया के नित्य सबध से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर का स्वरूप आनदमय, वह ही ब्रह्म, अच्युत, अविक्रिय, अमूर्त, शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त, निरभिमान, सर्वात्मक, सर्वातीत, सवकर्ता, सर्वसाक्षी है। माया के प्रभाव से ही ईश्वर गुणयुक्त, धर्मयुक्त, ऐश्वर्ययुक्त होता है। अन्यथा अव्यक्त परमेश्वर के यहाँ कुछ व्यापार नही।

परमेश्वर और जीवो का नित्यसबध है। 'जीवेश्वरा स्वामिभृत्य सबधु अना दीचा जीवाचा बधमोक्षी परमेश्वरु नीहति"। परमेश्वर कृपावश होकर जब अवतार धारण करता है तब उनके परदर्शी, अपरदर्शी तथा परावरदर्शी ऐसे तीन प्रकार देखने में आते हैं। जड जीवो का उद्धरण यही उनका व्यसन। 'अयोग्यातें योग्य करीनि योग्यासि परमेश्वर ज्ञान देती।" उनके पास बोध करने की पद्धति दृक्, स्पर्श, आलाप तथा अन्त करण वेध रूप होती है।

महाप्रलयकाल मे नित्यवस्तु रहते हैं और अनित्य वस्तु नष्ट हो जाते हैं। नित्यवर्ग में जीव, देवता परमेश्वर, अनित्य में कर्म प्रपच। कारण प्रपच नित्य है। अनादि अविद्या कर्मनेपथ्युक्त जीव माया स्वरूप में रहते हैं, देवताएँ परमेश्वर के शुद्ध रूप में। तमोनिमान जीव को जब माया 'चैतन्यमह' ऐसी प्रेरणा देती है और उस अन्यथा ज्ञान से जीव का जन्म होता है। 'माया सृष्टि जीव जीव सृष्टि प्रपच' ऐसी स्थिति है। प्रथम विश्व, अनन्तर अष्टधा प्रकृति, तदनन्तर विकृति रचना और अत में विकृति विकृति रचना ऐसी सृष्टि रचना महानुभावपथ के अनुसार माया प्रेरित जीव करता है। अष्टधा

प्रकृति का संबंध अष्ट भैरव के साथ रहता है। शेष, हरि-हर-ब्रह्मा विकृति रचना से संबंधित हैं। स्वर्गलोक के इंद्रचन्द्रादि देव, अन्तराल के गन्धर्व गण, अष्ट देवयोनि, कर्म-भूमि की देवताएँ उनका संबंध विकृति-विकृति के साथ है। इस प्रकार मायाप्रेरित प्रपंच रचना तादात्म्य रूप से जीव अपनी कृति मानता है। इसलिये जीव भवचक्र में फँसता है और स्वकर्मानुसार स्वर्ग, नरक, कर्मभूमि और मोक्ष का फलभागी होता है।

प्रपञ्च के संबंध में चक्रधर परिणामवाद या विवर्तवाद का स्वीकार नहीं करते। प्रपंच दीर्घस्वप्न के समान मानते हैं। अपरोक्ष ज्ञान होने के बाद मनुष्य को संसार की अनित्यता और मिथ्यात्व का प्रत्यय आता है। प्रपंच के सूक्ष्म और स्थूल ऐसे दो भेद हैं। शरीर के सप्त धातु, पृथ्वी आप तेजादि पंचमहाभूत तत्त्व और तन्मात्रा सूक्ष्मप्रपंच है। उसके अतिरिक्त पंचभूत तथा त्रिगुणात्मक प्रपंच स्थूल है। जैसी पिंड की वैसी ब्रह्मांड की भी रचना है।

देवताओं को चक्रधर सच मानते हैं और मर्यादित रूप में उन्हीं से सुखप्राप्ति भी होती है। देवताएँ परमेश्वर की शक्ति है। देवता का जैसा वर्ण, जैसे वस्त्र, जितनी भुजाएँ, जैसे आयुध वैसा ही उसका प्रकाश। देवताएँ 'नित्यबद्ध' होती हैं। परमेश्वर के सामर्थ्य से ही उनको ज्ञान, सुख, सामर्थ्य, ऐश्वर्य और प्रकाश मिलता है। 'जीव आर्जक देवता फलदाति' किन्तु चैतन्यरूप माया के व्यापार से परमेश्वर उद्धार करने वाला है। सर्वभाव से ईश्वरानुसरण किया बिना जीव अविद्या मळ से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर भक्ति ही केवल मोक्षदायिनी है। सन्यास से इहामुत्रफलविराग और संबंधविच्छेद से सर्व प्रकार के मळों का विनाश होने के बाद जीव ईश्वर भक्ति के सहारे से अज्ञानच्छेद, अन्यथा ज्ञान त्रुटि, आद्यमल त्रुटि, जीवत्वत्रुटि पाकर माया पारगत होता है। 'परमेश्वरु भक्तासि आपुली अनुभूति रति देति'।

धार्मिक ग्रंथों के अलावा महानुभावों के करीब तेरहवीं शताब्दि के मध्य तक लिखे हुए प्रसिद्ध साहित्यिक ग्रंथ सात हैं। (१) दामोदर पंडित कृत 'वच्छहरण' (शक १२००), (२) नरेन्द्र कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' (शक १२१४), (३) भास्कर भट्ट कृत 'शिशुपालवध' और (४) उद्धव गीता (शक १२३०), (५) विश्वनाथ बाळापुरकर कृत 'ज्ञान-प्रबोध' (शक १२५३), (६) रवळे व्यासकृत 'सैह्याद्रि-वर्णन' (शक १२५५); (७) नारा व्यास बहाळिये कृत 'ऋद्धिपुर वर्णन' (शक १२६५)—इसमें भास्करभट्ट के और नरेन्द्र के ग्रंथ लालित्यपूर्ण हैं। भास्कर भट्ट को 'कवीश्वर' कहलाने हैं और शृंगार और वैराग्य दोनों की तुल्यबल विदग्ध रचना उनकी ही है। नरेन्द्र पंडित रामदेवराव यादव के आश्रित थे और उनकी रचना इतनी अच्छी हुई थी कि रामचन्द्र देव ने अपने नाम पर प्रसिद्ध करने की इच्छा प्रकट कर दी थी और नरेन्द्र पंडित के अनिच्छा से अपुरीहि रह गयी ऐसी कथा उनके 'रुक्मिणी स्वयंवर' के संबंध में प्रचलित है। 'ऋद्धिपुर-वर्णन' और 'सैह्याद्रि-वर्णन' वर्णनात्मक ग्रंथ चक्रधर के गुरु श्री गुंडम राऊळ और सैह्य द्रिस्थित श्रीदत्तात्रेय प्रभु के वर्णन पर है। ज्ञानेश्वर के कालखण्ड में रचे हुए ये ग्रंथ मराठी को महानुभावों की महत्त्वपूर्ण देन है।

महानुभाव वाङ्मय आज भी बहुतांश में अप्रकाशित है। महानुभाव पंथानुयायियों

की महिमा सौन्दर्य वर्णन, लीला-गान, कथा-प्रसंगों से सबन्धित पदों एवं विविध काव्य-रचनाओं का पाठ और गायन करते हैं। 'गोल्लकलाप' में लीला-प्रसंग की भाँति कृष्ण-गोपी-भक्ति, उपासना कर्म आदि गंभीर दार्शनिक विषयों पर प्रवचन होते हैं और भक्ति गीतों का मुक्त गायन होता है। अतएव दर्शक भावमग्न होकर इस लीलागान का रसास्वादन करते हैं। इन रचनाओं में गीतों की विविधता ही नहीं वरन् प्रदर्शन क्रम में नाट्कीय सार्थकता भी होती है। इसमें कथासूत्र का क्रमिक विकास प्रेक्षकों को अच्छी तरह आकर्षित करता है।

प्राचीन-परम्परा

यक्षगान[२] दक्षिण देश की लोक-नाट्य-परम्परा का प्राचीन रूप है। इसीको तमिल में 'कुरुवंजि' कहते हैं। बारहवीं सदी से ही यक्षगान प्रदर्शन आंध्रप्रांत में प्रचलित है। किन्तु इनमें भाग लेने वाली प्राय देवदासियाँ अथवा वारांगनाएँ ही होती थीं। दक्षिण तंजौर नायक राजाओं और महाराष्ट्रशाही राजाओं के शासन में इसका प्रचार दक्षिण भारत में विशेषरूप से हुआ। वारांगनाओं के हाथों में पड़कर यक्षगान गौरवहीन हो गये। न उनका कोई विशेष साहित्यिक रूप रहा और न शिष्ट समाज में उनका आदर ही रहा। इसलिये कूचिपूडि के कुछ भरतनाट्य-शास्त्र के विशेषज्ञों की अभिरुचि परिष्कृत लोकनाट्य रचनाओं की ओर झुकी।

प्रकाण्ड पण्डित

तेरहवीं शताब्दी में कृष्णा मण्डलान्तर्गत 'दिवि' तालूका में अनेक प्रसिद्ध नाट्याचार्य थे। मोठ, कूचिपूडि आदि ग्राम पुराने जमाने में प्राचीन नाट्य-कला के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। काकतीय गणपति चक्रवर्ती (सन् १२५४) ने इस प्रांत के निवासी जायप्पा, नामक ब्राह्मण बालक में प्रसिद्ध नाट्याचार्य एवं सेनापति होने की संभावना की। यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। जायप्पा गणपति देव के दरबार में सेनापति बना, यही नहीं, भरत एवं मतंग मुनि प्रोक्त नाट्यशास्त्रों के आधार पर उन्होंने नृत्त रत्नावली, गीत रत्नावली और वाद्य रत्नावली नामक लक्षण ग्रंथों की संस्कृत रचना की थी। कृष्णामण्डलान्तर्गत श्रीकाकुल प्रांत में सन् १३५० ई० के लगभग गोपालकृष्ण सरस्वती नामक नाट्याचार्य ने भरत नाट्य-शास्त्र पर केवल वृत्ति ही नहीं लिखी वरन् तेलुगु एवं संस्कृत में यक्षगान भी लिखकर सुप्रसिद्ध वाग्गेयकार बने।

सन् १५५० ई० के लगभग नारायण तीर्थ (गुण्टूर जिले में काज ग्राम के निवासी) वल्लावज्झल कुटुम्ब में उत्पन्न हुये। उनके महायक्षगान कृष्ण लीला तरंगिणी के द्वारा कूचिपूडि सम्प्रदाय ही नहीं, वरन् आन्ध्र प्रांत में संकीर्तन सम्प्रदाय भी सम्पन्न हुआ। सन् सोलह सौ ई० में कूचिपूडि से दो मील दूर स्थित मोठ नामक गाँव में क्षेत्रय्या उत्पन्न हुए जिनकी पद रचना नाट्यानुकूल बनकर कूचिपूडि भागवत वालों का आधार बनी। मॉचुपल्लि कैंफियत (स्थानीय लेखा) से यह सिद्ध होता है कि सन् १५०२ ई० में विजय नगर के सम्राट् सालुव नरसिंह रायलु के सम्मुख दरबार में कूचिपूडि भागवतों ने

२. विशेष परिचय के लिये देखिये—यक्षगान क—रा रा सम्मेलन पत्रिका—व म।

केलिका का प्रदर्शन किया था। तलिकोट युद्ध के बाद विजयनगर साम्राज्य का पतन हुआ। उसके पश्चात् दक्षिण में मदुरा एवं तंजोर सांस्कृतिक केन्द्र बने। इसलिये कूचिपूडि से कुछ भागवत दक्षिण की ओर गए जो तंजोर के अच्युतप्प नायक (सन् १५८० ई०) के प्रशंसा पात्र बने और उसीके फलस्वरूप इन्हें अच्युताब्धि नामक गाँव जागीर के रूप में प्राप्त हुआ जो[3] बाद में 'मेलटूर' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस मेलटूर भागवत वर्ग में गजनिनि वीर भद्रय्या, काशी नायय्या, वेंकटराम शास्त्री आदि प्रसिद्ध वाग्गेयकार थे। इन्होंने कई कीर्तन, पद, नाटक एवं यक्षगानों की रचना की थी। श्री वेंकटराम शास्त्री विरचित यक्षगानों के प्रदर्शन आज भी नरसिंह जयंती के शुभ अवसर पर होते हैं।

सिद्धेन्द्र योगी

यक्षगानों में पहले देवदासियाँ या वारांगनायें वेष धारण करती थीं। 'आन्ध्र-समुद्रानिषध' में उच्चकुलोद्भवा के लिये नाचना गाना वर्जित था। नृत्य गीतादि द्विजन्मों का धर्म नहीं था[4]। उस जमाने में यदि ब्राह्मण नाट्य प्रदर्शनों में भाग लेते तो समाज में उनका कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं होता था। समाज में उसका बहिष्कार होता था। इसलिये सिद्धेन्द्र ने वेदाध्ययनादि के साथ-साथ नाट्य शिक्षा में कुशल कूचिपूडि भागवतों को समाज में उपयुक्त स्थान दिलाने के लिए इटगरी पीठाधिपति श्री शंकर स्वामी जी से स्वीकृति पत्र मंगवाया। इससे समाज में धार्मिक गौरव बढ़ गया। कूचिपूडि नाट्याचार्य अपने बच्चों का चोलापनयनादि संस्कारों के साथ साथ राजगोपाल स्वामी के मंदिर में 'पायल-बाँधने' का संस्कार भी किया करते हैं। भागवत प्रदर्शनों में स्त्री वेश धारण करना नितांत वर्जित है। क्योंकि नाट्य जैसे पवित्र ललित कला के लिए नियम एवं निष्ठा की नितान्त आवश्यकता होती है। इस कठिन नियम से नटों में सदाचार एवं आध्यात्मिक दृष्टि पैदा होने की संभावना है। कूचिपूडि में दो मंदिर हैं—(१) रामलिंगेश्वर मंदिर (२) राजगोपाल स्वामी मंदिर। कूचिपूडि भागवतों के गुरु सिद्धेन्द्र योगी अद्वैत के अनुयायी थे। इसलिये उनके शिष्य भी शिव केशव प्रिय बने। त्रिदेवियों का आधार 'अम्बा' भी इनकी प्रिय देवी है। इसलिए इन प्रदर्शनों में केवल शैव एवं वैष्णव ही नहीं सब के सब मुग्ध होते हैं। नरसिंह पात्रधारी पवित्र भावना से उत्प्रेरित होने के लिए भागवत खेले जाने वाले दिन उपवास करता है। प्रदर्शन के अवसर पर नृत्य करने से पृथ्वी पादपीडन का शिकार होती है। पृथ्वी माता कुपित न हो इसलिए वे उसकी वंदना करते हैं।

किंवदंती के अनुसार सिद्धेन्द्र योगी पहले बड़ा नटखट था उसके माँ बाप अंधे थे। भिक्षाटन कर वह उनका पालन पोषण कर रहा था। स्वामी शंकराचार्य एक बार उस गाँव में पधारे और इस बच्चे की बुद्धि कुशलता पर मुग्ध हो उन्होंने श्री कृष्ण मंत्र का उपदेश दिया तदन्तर सिद्धेन्द्र श्री कृष्ण की लीला विलासों का संकीर्तन करता हुआ नाचता रहा। श्री कृष्ण भी उसके नाट्य में भाग लिया करते थे। एक बार पितरों ने पूछा तुम किस लड़के के साथ खेल रहे हो—उसने उत्तर दिया—'मैं श्री कृष्ण के साथ खेलता हूँ' पितरों

३. कूचिपूडि भागवत को तमिल में मेलटूर भागवत कहते हैं।
४. आंध्र का सामाजिक इतिहास सुरवरम प्रताप रेड्डी (पृ० ३०)

ने कहा—अच्छा! "श्री कृष्ण का दर्शन हमें भी एक बार करा दो।" श्री कृष्ण ने स्वप्न में सिद्धेन्द्र से स्वप्न में कहा कि तुम अपने मां-बाप को रुक्मणि कृष्ण का वेश धारण कराओ। कुचिन्न के धूप में मैं उनको दिखाई पड़ूगा। उसी प्रकार मां बाप रुक्मणि कृष्ण का वेश धारण कर नाट्य में तल्लीन रहे और श्री कृष्ण का दर्शन कर धन्य हो गए। तब सिद्धेन्द्र ने कहा कि कुशक्षेम के लिए वेश धारण कर सब ब्राह्मणों को नाट्य में भाग लेना चाहिए नहीं तो वंश क्षय होने की आशंका है। तबसे ब्राह्मण भागवत नाट्य में भाग लेते रहे हैं। इस संदर्भ में श्री वेटूरि प्रभाकर शास्त्री जी ने 'सुग्रीव विजय' की भूमिका में उल्लेख किया है—"यक्षगान वारविनिताओं द्वारा प्रदर्शित किए जाने के कारण कृष्णातीरस्थ कूचिपूडि ग्राम में सिद्धेन्द्र नामक योगी भागवत कथा को पारिजात (मु०), गोल्लकलाप (मु०) आदि नामों पर यक्षगान लिख कर शास्त्रीय भरतनाट्य की रक्षा करते हुए स्त्री-नटियों का निषेध कर उस ग्राम के ब्राह्मणों के द्वारा प्रदर्शित कराया करते थे। उस ग्राम में पैदा हुए प्रत्येक ब्राह्मण को कम से कम एक बार स्त्री वेश धारण करने का नियम अनिवार्य था नहीं तो वंश नाश हेतु शाप मिलता था। इस नाट्य सम्प्रदाय प्रदर्शकों को भागवत एवं नाट्य रचनाओं को 'आट' भागवत या वीथि भागवत कहते हैं।

लोक और शास्त्र का समन्वय—

यह नाट्य परंपरा शास्त्रीय इसलिए है कि इसमें भरत के नाट्य शास्त्र का पालन हुआ है। यह लोक नाट्य का एक विकसित प्राचीन रूप इसलिए है कि विधिनाटक है, जो खुले मैदान में खेला जाता है उसके शास्त्रीय नियम और पद्धति रूढ़िग्रस्त और परंपरागत हैं फिरभी इसमें लोक मानस का परिष्कृत रूप सा परिलक्षित होता है। इसके विकास में रंगमंच की सुविधाओं की इतनी अनिवार्यता नहीं रही। इसमें प्रेक्षकों को भी सक्रिय भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए इसमें नारायण तीर्थ कृत कृष्णलीला तरंगिणी की तरंगें, सिद्धेन्द्र के यशगान लीलाशुक के कृष्णकर्णामृत श्लोक और क्षेत्रय्या के पदों का अनिवार्य रूप से समावेश होता है। कुछ समय वे शब्द सलाम का पाठन करते हैं। इनका रंगमंच बहुत सरल और सामान्य है। कभी कभी यह मंदिरों में भी खेला जाता है नहीं तो बांसों से बनाए हुए पंडाल पर तालपत्रों को बिछाकर उसके नीचे एक वेदी का निर्माण करके उसे रंगमंच बना लेते हैं। हाथों में मशालें लेकर दोनों ओर दो रजक खड़े होते हैं। रात भर अगर प्रदर्शन हो तो भी उनको वैसे ही मशालें हाथ में लेकर खड़े रहना पड़ता है रंगीन पर्दों को दोनों ओर तान कर पकड़ लिया जाता है और रंगमंच के बीच में से दोनों ओर से पात्रों के प्रवेश निष्क्रमण के लिए प्रच्छादन का प्रयोग करते हैं। पात्र के प्रत्यक्ष होते समय मशालों पर गुग्गिल डालते हैं, जिससे खूब धुंआ निकलता है और मशालों के जलने से खूब प्रकाश होता है जिसमें पात्रोन्मीलन किया जाता है।

अभिनय—

नाट्य शास्त्र में अभिनय चार प्रकार का माना गया है—सात्विक, आंगिक, वाचिक तथा आहार्य। भरत के इसी विभाजन को लेकर भागवत के नाट्य शास्त्री चले

हैं। ये प्रदर्शक आहार्य की ओर अधिक श्रद्धा रखते हैं। क्योंकि भावोचित पात्र धारण से ही प्रेक्षक मुग्ध होकर रसास्वादन में तल्लीन हो सकते हैं। ये मुख पर हरिताल से, हाटों और हथेलियों में लाक्ष से लेपते हैं। गैरिक धातुओं से निर्मित वर्ण लेपन से नायिका के मुख पर एवं गंडस्थल पर मकरिका पत्र लेखन करते हैं। उषा सत्यभामा आदि पात्रों के लिए केश पाश का वेणी के रूप में बांधकर उस वेणी पर रंगीन हीरों एवं फूलों को गूँथते हैं। सिर पर चंद्रबका रागिडी, नागर (मु०), पापटपेह (माँगभूषण) पापटपिदे (माँगबतिया) पहनते हैं। कर्णों में नेसर दुद्दुलु (कर्णभूषण) पहनते हैं। विनायक, तुवुरु, नरसिंह आदि पात्रों को पहले ही तैयार कर सिद्धमुख होते हैं। आहार्य रसानुकूल एवं पात्रानुकूल होता है। नायक के लिए 'भुजकीर्तियाँ' एवं किरीट, सहायक पात्रों के लिए तरह तरह के मुकुट शिरावेष्ट एवं पगडियाँ होती हैं। सूत्रधार एवं सहायक जरी शिरोवेष्टन, काश्मीरी दुपट्टा और कर्णों में कुंडल धारण करते हैं। विदूषक बकरंड धारण करता है। उनके व्यंग-प्रसंग, विकृत चेष्टाएँ विराम समय में हास्य की सहायक बनती हैं। हिरण्यकश्यप, बाणासुर आदि क्रूर पात्रों की प्रकृति के अनुकूल चिनिकों पर लाल रंग, लंबी मूँछें, काली दाढ़ी, आँखों के कोनों में काली रेखाएँ होती हैं। विनायक तुवुरु, नरसिंह आदि पात्रों के लिए ससिद्ध मुख होता है।

प्रदर्शन की रोचक उक्तियाँ--

जैसा[५] कि पहले कहा जा चुका है भागवत नाट्य शास्त्र से नियमानुमोदित है। यक्षगानों की तरह कलापों के प्रारम्भ में प्रार्थना होती है। उनकी अत्यंत प्रिया देवी अम्बा हैं। दो 'दोद्यदिद' नामक मृदंग द्वंद पर प्रारंभित 'अम्बपराकु' प्रार्थनागीत पहले गाया जाता है अनंतर 'तोडयमगल' नामक प्राचीन गेय एवं 'जय जय' शब्द का पाठ होता है। नाटक जिस देव को अर्पित है उससे प्रारंभ करने का 'तोडयगीत' कहते हैं। सूत्रधार का कथा कथन संधि वचनों में चलता है उन्हें नाट प्रारंभि, सौराष्ट्र रागों में या जिस राग में पात्र आलापन करके प्रवेश करता है उसी राग पद्धति में बोला जाता है। प्रणय-विरह में—आहिरी, मुखारि, काम्भोजी, आनंद-भैरवी रागों का प्रयोग करते हैं। इनमें दरुवुलु होते हैं यही भरतशास्त्र में प्रयुक्त ध्रुवापद हैं। पात्र प्रावेशिकी ध्रुवापद (दरुवु) सौराष्ट्र, पतुवगली, कल्याणी, भैरवी, बेगड आदि रागों में होता है। कूचिपूडि भागवत मध्यमकाल या द्रुतकाल में गीत हैं। भामकलाप के कुछ दरुवुओं के साहित्य में मिश्र पद्धति के अनुसार चरणों के गाते समय प्रारंभिक काल को बदल कर खंड, मिश्र, चतुरस्र में घुमाकर फिर प्रारंभिक गति काल तक पहुँचने का सम्प्रदाय भी है। इसमें गान में अनुरक्ति एवं विविधता की सृष्टि होती है। इससे आंगिक विकास के लिए एवं नृत्याभिनय के लिए अवकाश मिलता है। यह मध्ययुग की प्राप्रदशीय पद्धति है। इन दरुवुओं में राग के बाद 'अवतरणिका' होती है जिसमें मार्दंगिक वादक रंगमंच पर प्रवेश करते हैं। श्रुति ठीक है या नहीं इसकी परीक्षा करने हेतु जिसे प्रारंभ 'श्रवण' कहते हैं। उसके पश्चात—'चरणाग्नी' रूपी अनुष्ठान में अयास्तुति या विनायक स्तुति अथवा दोनों ही होती हैं। उसके बाद

५ बालांतृप रजनीकांत राव, आंध्र प्रभा, वर्ष २५ अंक २८६।

'परिघट्टन' होता है जिसमें मगतावलम (पूर्वरूप) एव ग्राम में पत्ते हाथ में धारण कर दो नट नृत्य करते हुए रगमच पर आ जाते हैं। गायक मिलकर 'तोडय' मगलगान करते है। 'इन्द्रपूजा' नैवेद्य 'मार्गसारित, इन तीनों अनुष्ठानों के समाप्त होते ही दौवारिक या पारिपार्श्वक रगमच पर प्रवेश कर ध्रुवगान करता है। अत में (आसात) सूत्रधार प्रकट होता है और 'कथा प्रारभ किस प्रकार का है', तथा उसका शीर्षक क्या है, आदि की सूचना देता है। प्रधान पात्र के प्रवेश से पूर्व होने वाले अनुष्ठान को 'पूर्व रग' कहते हैं। सूत्रधार 'गीतविधि' के नियमानुसार स्वय ही प्रधान पात्र को प्रकट करता है। यदि वह कलाप हो तो प्रधान पात्र नायिका ही है। एक नटी या परिपार्श्वक की सहायता से सूत्रधार नदिकेश्वर स्तोत्र के रूप में 'नादी' गाकर ज्योंही समाप्त करते हैं नायिका पर्दे के पीछे से 'प्रावेशिकी ध्रुवागान' गाती है। विप्रलभ शृगार प्रधान कलाप में नायिका के प्रवेश के लिये भरत प्रोक्त दस विधियाँ हैं जो पात्र के पर्दे के पीछे से निकलते ही सम्पन्न होनी चाहिए। लास्य में भी इन दसों अगों की कल्पना जाती है—

(१) गेयपद (२) स्थित पाठ्य (३) आसीन पाठ्य (४) पुष्प गधिका (५) प्रच्छेदक (६) त्रिगूढक (७) सैधव (८) द्विगूढक (९) उत्तमोट्टक (१०) उक्त प्रत्युक्तक।

गेय पद अभिनय पूर्ण है। स्थिति पाठ्य खडे होकर गाया जाने वाला गीताभिनय है। आसीन पाठ्य आधा बैठकर किया जाने वाला गीताभिनय है। पुष्पगधिका में गेय विविध छदों में होत हैं। प्रच्छेदक में क्रोध व शोक का अभिनय होता है। त्रिगूढ में मधुर गान स्त्री वेषधारी पुरुष गाता है। सैधव में सकेत स्थल की सूचना होती है। चतुरस्रपद गीत द्विगूढ है। उत्तमोट्टक रसावर्णक गीत है। उक्तप्रयुक्त सवाद गीत है।

भरतनाट्य सम्बन्धी 'अलरिप्पु' जतिस्वर, वर्ण, पद, शब्द आदि कूचिपूडि भामकलाप के प्रदर्शनों में होते हैं। पूर्व रग में कृत शुद्ध नृत्त 'अलरिप्पु' नृत्त की भाँति होता है। इसी में 'जडवट्टु' (वेणी वचन) नामक घटना आती है। पर्दे के पीछे स्थित भामा अपनी वेणी को पर्दे पर डालकर प्रेक्षकों का और पण्डितों को कला प्रदर्शन की प्रथमा तथा शास्त्र-चर्चा करने की चुनौती देती है। भामा के पर्दे पर प्रवेश करने से पूर्व निम्नलिखित विधियाँ सम्पन्न की जाती हैं—

(१) मुखदर्शन—नायिका सर्व प्रथम पर्दे के पीछे से अपना मुख दिखाती है। इस समय 'ग्रहीय' (मु) रेचक (मु) आदि जो नृत भामा द्वारा प्रस्तुत होते हैं वे 'अलरिप्पु नृत्य के ही समान होते हैं।

(२) अर्ध दर्शन—ऊपर सिर से कमर तक पर्दे से निकालकर, अर्धाङ्गिक विन्यास का प्रदर्शन नायिका करती है। इस अर्ध दर्शन स्थिति में जातिस्वर का गान करते हुए वह नृत्त करती है।

(३) पूर्ण दर्शन—इसमें नायिका पर्दे से पूर्ण रूप से निकल आती है और 'वर्ण' गाते हुए नाट्याभिनय करती है। जिस समय पर्दे के पीछे अनुष्ठान किया जाता है

उस समय केवल पायलों में बधे महावर से अनुलेपित पादों की विन्यासित अँगुलियाँ मात्र पर्दे के ऊपर दिखाई पडती हैं। सूत्रधार की उक्ति प्रयुक्तियों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि भामा इस समय पर्दे के पीछे है।

कलाप गेय प्रधान नाट्य वस्तु होने पर भी, इसमें कथानक की एक रूपता को सुसबद्ध बनाकर रखने में वचन की नितांत आवश्यकता होती है। इसलिए कल्पों में केवल दरुवु, वर्ण आदि गेयों के लिए ही नही, वरन् राग युक्त पद, श्लोक और वचनों को भी उपयुक्त स्थान मिलता है। विस्तृत हस्त विन्यास, भ्रूनेत्रादि संचालन के लिए रसानुकूल पद पाठन होता है। मत्त कोकिल, भुजंग, प्रपात, पंचचामर आदि संस्कृत गेय वृत्तों को, देशीय गीतों को गाते हैं और उनके गुण के अनुरूप त्रिस्र, खण्ड चतुरस्र मिश्र गतियों में नाट्य का अभिनय होता है। कदार्थ दरुवों को गाने एवं अभिनय करने की विशिष्ट पद्धति कूचिपूडिवालों ने अपनाई है। पद्य भाग का पाठन करते हुए मुख और अंगविन्यास के द्वारा समस्त भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं। दरुवु के गेय भाग का गान करते हैं और उस समय 'परुगडु वरुस' (शीघ्र गमन शैली)। कलुपुडु वरुस (जोडने की शैली) नामक पद विन्यास के साथ नृत्त करते हुए गीत पूरे होने से पूर्व रंगमंच पर मण्डलाकार रूप में घूमते हैं। किसी 'दरुवु' (ध्रुवागान) को नाट्याभिनय के पूर्व एवं उत्तर की पूर्ति के लिये जती, एत्तुजती 'तीर्मानपु सोल कट्टु' (व्रतवचन) आदि शब्दों को सूत्रधार एवं उसके सहयोगी गायक झालर और मृदंग के नादानुसार बोलते रहते हैं। उसी समय प्रधान पात्र 'तीर्मान' (व्रत) को पदविन्यास में दिखाकर गीतलय का साथ देते हुए अभिनय प्रदर्शन करता है।

कूचिपूडि भागवत वाचिकाभिनय को भी विशेष स्थान देता है। सूत्रधार के सधिवचन रागयुक्त पद्धति में चलते हैं। प्रधानपात्र के वचन भी सहज व्यवहारिक संभाषण-रूप के विपरीत उदात्तानुदात्त पद्धति में चलते रहते हैं जिनमें प्राचीनता की स्पष्ट झलक मिलती है। बीच बीच में सूत्रधार तथा विदूषक के संभाषण हास्यप्रधान होकर तत्कालीन व्यावहारिक भाषा में सम्मुख आते हैं। भागवत में सात्विक अभिनय पर भी विशेषरूप से बल दिया जाता है। भय, शरीरकम्पन, जुगुप्सा, असूया, प्रणय, क्रोध आदि भावों के सूक्ष्म प्रदर्शन से अभिनय चित्ताकर्षक होता है। 'प्रह्लाद चरित' के प्रदर्शन में नरसिंह स्वामी हिरण्यकश्यप का वध नही करता, वह पेट चीरने बैठता है और पर्दे के पीछे अदृश्य हो जाता है। रंगमंच पर मरण, वध आदि क्रियायें शास्त्रसम्मत नही हैं, इसलिये वर्जित हैं।

पुनरुत्थान की आवश्यकता

कूचिपूडि भागवत आंध्र संस्कृति की एक अपनी अनुपम संपत्ति है। इसकी परम्परा लगभग सात सौ वर्षों की है। सिनेमा आदि अनेक कारणों से इस नाट्यकला का ह्रास बीस पच्चीस वर्षों से होता आ रहा है। स्वराज्य प्राप्ति के पश्चात् भी भारतीय लोक-जीवन कला के तुलनात्मक अध्ययन की ओर कला विशेषज्ञों की दृष्टि नहीं गई है। केन्द्रीय सरकार लोक नाट्य-कला का प्रचार देश विदेश में कर रही है। जनगण मन

की अभिरुचि के प्रतीक अपने जीवन को इसके लिए अर्पित कर चुके हैं। इनके शिष्य वेदांत सत्यनारायण सत्यभामा, गोल्लभामा, उषा, शशिरेखा आदि स्त्री पात्रों का वेष धारण करते हैं। महंकालि सत्यनारायण हिरण्यकश्यप, बाणासुर आदि क्रूर पात्रों का वेष धारण कर जनरंजन करते हैं। आजकल भी ये कई नाटक खेल रहे हैं—भामकलाप, गोल्लकलाप, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद चरित्र, शशिरेखा परिणय, मोहिनी रुक्मिणी कल्याण, शुधजी, श्री दिनमवेष, वानिवेष (प्रमुतावेष) आदि। कूचिपूडि श्री वेंकटारमय्या नाटक मण्डली के दर्शक श्री चिंता कृष्णमूर्ति एव पर्यवेक्षक श्री वन्दा कनक लिंगेश्वर रावजी के तत्वावधान में उक्त नाट्य प्रदर्शन हो रहा है। इस वृन्द में श्री चिंता कृष्णमूर्ति, वेदांत सत्यनारायण, महंकाली सत्यनारायण वेदांत प्रह्लाद शर्मा, पि० कुमार स्वामी, महंकाली श्री रामुडु, पसुमूर्ति रत्तय्या, चिंता राधाकृष्ण मूर्ति, महंकाली श्री सत्यनारायण, दर्भा वेंकटेश्वरलु, पसुमूर्ति आंजनेयुलु, पसुमूर्ति आदिनारायण, महंकाली सुब्बाराव, वेदांत वेंकटरत्न, पसुमूर्ति वेंकटेश्वरुडु, भागवतुल मुरली, भागवतुल वेंकटाचलपति, पसुमूर्ति रामलिंग, पालपति रामकृष्णय्या, वाराणासि गोपाल कृष्णय्या आदि हैं। कूचिपूडि में श्री सिद्धेन्द्र योगी मंदिर की स्थापना करना, भारत में इस कला का प्रचार करना आदि इस मण्डली के मुख्य उद्देश्य हैं। केन्द्रीय-नाटक अकादमी एव आंध्र-नाटक अकादमी तथा आकाशवाणी में इसको उचित स्थान प्राप्त हुआ है।

कूचिपूडि भागवत आज भी भारतीय कला के पुजारियों के लिए एक सजीव, सशक्त एव रसवादी रंगमंच है।

जे० पार्थसारथि

आलवार संतों के गीत

आविर्भाव-काल

तमिल भक्ति-परपरा अनादि काल से चली आ रही है। 'द्राविड पद्धति' के नाम से अभिहित इस परपरा से आर्य पद्धति का मिलन, ईसवी पूर्व की सदियो में किसी समय हुआ, जिसके फलस्वरूप वर्तमान वैदिक या हिंदू धर्म का उदय हुआ। दक्षिण में यह नव-पल्लवित वैदिक-मत सुदृढ होते-होते, एक बार बहुत ही सकटग्रस्त हो गया। उस समय, जैन और बौद्ध राज्याश्रय पाकर मत्री, राजगुरु आदि के उच्च पदो पर बैठ गये थे। धीरे धीरे तमिलनाडु के 'पाण्डिय' तथा 'पल्लव' जैसे सुप्रसिद्ध राजवशजो ने स्वयं अवैदिक मतो को अपनाना आरभ कर दिया। फलत वेद-सम्मत पुराने धर्म का सम्मान कम होने लगा और उसके धर्मावलबियो को जैन-बौद्धो द्वारा अनेक कष्ट भोगने पडे। शास्त्रार्थ और तर्क करने में पुराने धर्म वालो को जैन एव बौद्धों से कभी-कभी हार भी खानी पडी।

ऐसी परिस्थिति में ऐसे युगावतारो की आवश्यकता थी जो वैदिक धर्म की महत्ता ही नही, तर्कवादो से ऊबी जनता के हृदय में विश्वास और आशा को भी पुन स्थापित कर सकें। लगभग पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से नौवी शताब्दी तक वैष्णव 'अळवार' तथा शैव 'नायनमार' सतो के अवतार लेने से इस आवश्यकता की पूर्ति हुई और साथ ही साथ हिंदू धर्म के पुराने इतिहास में एक बार पुन भक्ति की शाश्वत विजय हुई। शास्त्रार्थ करने में भी ये सत जैन-बौद्धो की अपेक्षा कही अधिक समर्थ सिद्ध हुए। परतु कोरे बुद्धिवाद के चक्कर में ही इन्होने अपने आपको नही फँसाया। उससे भी ऊपर उठकर भक्ति की बहुमुखी श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर, उसे जनता के सम्मुख उपस्थित करना इनकी मुख्य विशेषता रही। शास्त्रार्थ में इनको विजयो का आधार न बुद्धिवाद था, न युक्तियों की भरमार। हृदय के अन्तर्गत तैल-धारा-सा प्रवहमान अविच्छिन्न एव अनन्य भगवत्प्रेम ही इनका प्रबल सहारा बना। प्रभु के चरणकमलो पर समर्पित अनन्य भक्ति के अतिरिक्त लौकिक तथा पारलौकिक सिद्धि देनेवाला और कोई पदार्थ नही हो सकता—इस तथ्य का पुष्कल प्रमाण इन सतो की जीवनी तथा वाणी में मिलता है। प्राचीन ऋषि-मुनियो के समान दिव्य-अनुभूति सपन्न इन सतो की वाणी वेद के समकक्ष मानी जाती रही है। इनका

पाठ और इनके रचयिताओं की पूजा दक्षिण के देवालयों में व्यवस्थित ढंग से चली आ रही है।

आऴ्वारों की जीवनियाँ

यहाँ हम 'आळ्वार' कहलाने वाले संतों की जीवनियों तथा गीतों का यथासाध्य अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। 'आळ्वार' शब्द तमिल साहित्य और पुराने शिलालेखों में उत्तम नेतृत्व सूचक 'हमारे स्वामी' या 'उत्तम नायक' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अनेक विद्वानों के मत में इसका अर्थ है 'भगवद्गुणानुभव में मग्न व्यक्ति'। ये मत बारह कहे जाते हैं। इनके जीवन-वृत्तों के आधार बहुत काल बाद के मिलते हैं। कई ऐसी वार्ताएँ तथा काव्य-ग्रंथ हैं जिनकी प्रामाणिकता भी चर्चा का विषय रही है। उदाहरणार्थ दो-चार गुरु परंपराएँ, 'दिव्यसूरिचरितम्' आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं। इन संतों की वाणी के अंत साक्ष्य से भी बहुत-कुछ इनके जीवनों पर प्रकाश पड़ता है। इन सबके साथ सम-सामयिक शिलाशासनादि ऐतिहासिक सामग्रियों की गवेषणा करके तमिल के अनुसंधान-क्षेत्र के विख्यात मार्गदर्शी लेखक श्री मु० राघवैयंगार ने, अपने महान् शोध-ग्रंथ "आळ्वारकळ कालनिलै" में इन भक्त-मणियों का समय करीब पाँचवीं से नौवीं शताब्दी तक निश्चित किया है, जो आजकल बहुमान्य हो गया है। इनका अवतारक्रम इस प्रकार माना जा सकता है—

१. पोय्गै आळ्वार।
२. पूतत् आळ्वार।
३. पेय् आळ्वार।
४. तिरुमळिशै।
५. नम् आळ्वार।
६. मधुरकवि आळ्वार।
७. कुलशेखर आळ्वार।
८. पेरिय आळ्वार।
९. आण्डाळ।
१०. तोंडरडिप्पोडि आळ्वार।
११. तिरुप्पाण।
१२. तिरुमङ्गै आळ्वार।

यह क्रम प्रसिद्ध आचार्यवर्य श्री मणवाळ मामुनिगळ के 'उपदेशरत्नमालै' गीत में दिया हुआ है। इन आळ्वारों के लिए अन्यान्य नाम भी प्रचलित हो गये हैं जैसे नम् आळ्वार (जिनका नाम तमिल संधि-नियमों के अनुसार 'नम्माळ्वार' बन जाता है) के लिए, 'श्री शठ कोप,' पेरियाऴ्वार के लिए 'विष्णुचित्त', आण्डाळ के लिए 'गोदा' या 'कोदै'—इत्यादि। पोय्गै, पूत और पेय् आळ्वार -तीनों एकीकृत 'मुदल आळ्वारगळ' (प्रथम तीन आळ्वार) नाम से भी पुकारे जाते हैं। नम्माळ्वार 'श्रीवैष्णव-कुलपति' के बिरुद से सम्मानित हैं क्योंकि इनकी रचनाएँ श्री वैष्णव सैद्धान्तिक पक्ष की विशेष रूप से आधार मानी जाती हैं)। इस गौरव के उपलक्ष्य में इनको 'अवयवी' और शेष आळ्वारों

को 'अवयव' कहने की प्रथा भी चली आ रही है। गुरुपरंपराओं' के अनुसार आळवार संत, विष्णु के शंख चक्रायुध, आभूषण वाहनादि के अंश माने जाते हैं, जिन्होंने मानव-जगत् के उद्धार के निमित्त इस हेय शरीर को धारण कर लिया। भगवत् संकल्प के अनुरूप विभिन्न जातियों और स्थलों में इनका आविर्भाव हुआ। अन्य विश्वसनीय सामग्री के अभाव में इनकी जीवन-संबंधी प्रचलित कथाओं को हम यहाँ संक्षेप में दे रहे हैं। इनसे उनके व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त हो सकेगा।

प्रथम तीन आल्वार

पोय्गै, भूत और पेय आळवार कांचीपुरम्, कडन्मल्लै तथा मयिलै इन तीनों पास-पास के स्थानों पर क्रमशः कमल, इंदीवर और माधवी पुष्पों में विष्णु के शंख, गदा तथा नंदक के अंशरूप में अवतरित हुए। ये तीनों अयोनिजन्मा तथा प्रादुर्भाव से ही योगिराज थे। इन तीनों का मिलन एक विलक्षण संयोग-से 'तिरुक्कोयिलूर' नामक गाँव में हुआ था जहाँ के प्रसिद्ध देवालय की मूर्ति-दर्शनार्थ ये पधारे थे। एक अंधकारमय रात्रि में घोर वर्षा से त्राण पाने के लिए किसी घर के बाहरी द्वार से संलग्न बैठक में पोय्गै आळवार शयन कर रहे थे। कुछ समय में 'भूतत्ताळ्वार' भी वहाँ पहुँचे और उन्होंने थोड़ी-सी जगह माँगी। पोय्गै ने कहा—यहाँ एक के सोने या दो के बैठने की जगह है। दोनों बैठ गये। थोड़ी देर में एक तीसरे व्यक्ति ने (जो 'पेयाळवार' थे) वहाँ आकर आश्रय माँगा, तो उनको उत्तर मिला कि यहाँ एक के लेटने, दो के बैठने अथवा तीन के खड़े होने के लिए जगह है। तीनों ने वहीं बैठक में खड़े होकर रात बिताने का निश्चय कर लिया। इस संकट-ग्रस्त समय में, गाढ़ांधकार में एक और अदृश्य पुरुष वहाँ आया और इन तीनों में ऐसा समा गया कि तीनों ने अनुभव किया कि कोई चतुर्थ व्यक्ति उनको कष्ट दे रहा है। निबिड़ तमस के कारण कोई भी एक दूसरे को पहचान न पाया भला फिर चतुर्थ अतिथि का पता उनको कैसे लग सकता था? बाहरी दीप के न होने पर भी अपने अंदर देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीप जलाकर इन्होंने अनुमान कर लिया कि वह अपने उपास्य देव ही हो सकते हैं। उसी स्थल पर एक ज्योति मंडल बन गया जिसके मध्य भगवान् गरुडारूढ़ होकर इनके सम्मुख प्रकट हुए। उनके दिव्य दर्शन से अतिशय आनंदमग्न होकर तीनों संत गा उठे। 'तिरुवंदादि' के नाम से एक सौ पद्य प्रत्येक आळवार ने गाये हैं। कहा जाता है, इन तीनों ने कदाचित् इस घटना के बाद मिलकर, एक और प्रसिद्ध योगी संत 'तिरुमळिशै' आळवार से भेंट की, जिनकी कथा नीचे दी जाती है। 'पोय्गै' शब्द का अर्थ 'तटाक' है और 'पोयगै आळवार' का नाम उस तटाक पर आश्रित है जिसमें उन्होंने जन्म लिया। 'भूत' का अर्थ 'पंचभूत संचालित जीवन' है और भूतत्ताळवार का विश्वास था कि अपना भौतिक अस्तित्व भगवान् पर ही पूर्णतः निर्भर है। 'पय्' का अर्थ 'उन्मत्त' है और भक्ति की पराकाष्ठा से उन्मत्त होकर गाना, नाचना, रोना, हँसना आदि क्रमों के करते रहने से 'पयाळवार' का यह नाम पड़ा।

इन तीनों द्वारा रचित गीतों के अन्त साक्ष्य से विदित होता है कि ये समकालीन थे। इनकी भाषा शैली अन्य सन्तों की अपेक्षा पुराने ढंग की है। इनमें अन्य मतों का

उल्लेख नहीं पाया जाता, जो दूसरे आळ्वारों के वाङमय में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इनका समय पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध और छठी शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[1]

तिरुमलिशै आळ्वार

कहा जाता है कि इनके पिता भार्गव ऋषि और माता एक देवकुल जाति स्त्री थीं। माता-पिता से तिरस्कृत यह पुत्र चतुर्थवर्ण के एक व्यक्ति द्वारा पाला-पोसा गया। बड़े होते-होते, सर्वशास्त्र-पारंगत, तथा सिद्धि-प्राप्त परम योगी के रूप में ये विकसित हो उठे। इनके अनुग्रह से एक विष्णु—भक्त को 'कणिकण्णन्' नामक पुत्र की प्राप्ति हुई और आगे चलकर यही सुपुत्र आळ्वार का प्रिय पाद-सेवक भी हो गया। जैन-बौद्धादि मत-मतान्तरों का विशद परिशीलन करके इन्होंने वासुदेव को ही मूलभूत सत्य मान लिया। इसी तत्त्व की ध्यान-समन्वित योग-समाधि में ये 'तिरुवल्लिक्केणि' (आधुनिक मद्रास शहर के अन्तर्गत एक भाग) में स्थित रहे। जहाँ प्रथम तीन आळ्वारों ने इनसे भेंट की। पश्चात्, तीर्थ-यात्रा करते हुए ये कांचीपुरं पहुँच गये। वहाँ पर इन्होंने अपने यहाँ सेवा करने वाली एक बूढ़ी स्त्री को पुनः तरुणी बना दिया। इस अद्भुत घटना को सुन कर, उस देश के राजा ने आळ्वार के शिष्य 'कणिकण्णन्' द्वारा अपना बुढ़ापा हटाने के लिए इनको बुला भेजा। साधारण मनुष्यादेशित इस निमन्त्रण का निरादर करने पर राजा ने इस संत को अपने देश से बाहर निकल जाने का आदेश दे दिया। जाते समय कांचीनगरवासी विष्णु भगवान से अपने साथ आने की प्रार्थना तिरुमळिशै आळ्वार ने एक गीत द्वारा की, जिसके फलस्वरूप वे भी इनके साथ चले गये। राजा ने तुरन्त अपना महदपचार समझकर भक्त शिरोमणि से क्षमायाचना की और सदैव के लिए इनका दासत्व ग्रहण किया। अपनी तीर्थ-यात्रा 'कुम्भकोणम्' में समाप्त कर वहीं इन्होंने योग-समाधि में शेष जीवन बिताया। 'तिरुच्चन्दविरुत्तम्' तथा 'नान्मुकन् तिरुवंदादि' नामक इनकी दो कृतियों में इनके गंभीर तत्त्व-चिन्तन तथा पांडित्य की झलक विद्यमान है। पल्लव राजाओं के शासनकाल में, सातवीं शती के पूर्व में इनका समय निश्चित् किया गया है।[2]

नम्माल्वार और मधुरकवि

तमिल प्रदेश के पाण्ड्य राजाओं के अधीन पृथक् प्रमुख नम्पम एक शासनाधिकारी के पुत्र के रूप में नम्माळ्वार ने जन्म लिया। अपने और पांडिय वंशों के सूचक 'कारिमारन्' शब्द से इनका निजी नाम रखा गया था। ये चतुर्थवर्ण में उत्पन्न हुए, परन्तु इनके शिष्य 'मधुरकवि' एक ब्राह्मण श्रेष्ठ थे जो आळ्वारों में गिने जाते हैं। कथाओं के अनुसार, जन्म-समय से बारह दिन तक, नम्माळ्वार बिना किसी भूख-प्यास के रहे। किंकर्तव्यविमूढ होकर, इनके माता-पिता ने, इन्हें अपने गाँव के विष्णु भगवान को अर्पित करके, देवालय के इमली के पेड़ के नीचे रख दिया। यहीं यह शिशु योग-साधना में मग्न रहा और महायोगीश्वर हो गया। यह अवतारी पुरुष इस पृथ्वी पर केवल पैंतीस वर्ष जीवित रहा।

---

१. आळ्वारकल कालनिलै, पृष्ठ ३६।
२. वही, पृ० ४०–४७।

'मधुरकवि', जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, जब उत्तरभारत में तीर्थयात्रा कर रहे थे तब अयोध्या के निकट दक्षिण दिशा से एक ज्योतिसमूह सा उनका आह्वान करता हुआ निकल उठा। इस सार्थक आमन्त्रण से आकर्षित वह ब्राह्मण हजारों मीलों तक दक्षिण की ओर लौटकर, श्रीरंगम् मधुरै आदि पुण्य क्षेत्रों को पार करता हुआ अपने ही गाँव के निकट पहुँच गया। ताम्रपर्णी नदी के किनारे पर सस्थित देवालय के अन्दर इमली के पेड के विवर में विराजमान शठकोप को उस सुदूर चमकने वाले तेज का आधार मधुर कवि ने पहचान लिया। इस तेज पुंज रूपी योगनिष्ठ नवयुवक को वृद्ध ब्राह्मण ने निजगुरु के रूप में अपनाया। मधुर कवि की एक ही गीत-रचना उपलब्ध है जिसमें स्वगुरु सेवा को ही अपना चरम लक्ष्य मान लिया है। वे कहते हैं

"अपने साक्षात् गुरु-भगवान के सिवा किसी अन्य भगवान को मैं नहीं जानता हूँ और मैं इनके गीत गा-गाकर घूमता-फिरता हूँ।"

'नम्माळ्वार' नाम हमारे श्रेष्ठ स्वामी के अर्थ का प्रतिपादक है। 'हमारे श्रेष्ठ स्वामी' यह श्रीवैष्णवमतानुयायियों द्वारा आदर और स्नेह सूचक चिह्न के रूप में दिया हुआ प्रचलित नाम है। शैशवावस्था में 'शठ' नामक वायु पर, जो मनुष्यों को पीडित करता है, अपना कोप दिखाकर उसे भगाने से, 'शठकोप' का नाम इन्होंने पा लिया। 'वकुळ' पुष्पों को धारण करने से 'वकुळाभरणन', अन्य मतवालों पर विजय प्राप्त करने की कथाओं के कारण 'पराकुश' आदि विरुदों से भी ये सुयश हैं। आळवारों में सबसे महान माने जाने वाले नम्माळवार की कृतियाँ चार हैं। इनको चार वेदों के समान प्रामाणिकता प्राप्त है। ये हैं :—'तिरुवाय्मोळि', 'तिरुविरुत्तम्' 'तिरुवाशिरियम' और 'पेरिय तिरुवदादि'। आळवार मतों के गीत-संग्रह में एक-चौथाई से अधिक भाग इन चार कृतियों का है। प्रथमोक्त कृति के अतिरिक्त अन्य गीतों के नाम उनमें प्रयुक्त छंदों के हैं। 'तिरुवाय्मोळि' नाम का अर्थ है 'दिव्य वचन'। १००२ पद्यों का यह वृहत संग्रह, शेष लघु गीतों के साथ आळवार के विभिन्न अध्यात्म-अनुभवों का परिचायक है। श्रीवैष्णवदर्शन के प्रतिपादन में प्रमाण-स्वरूप इन कृतियों की पंक्तियाँ अधिकांशत उद्धृत की जाती हैं। मधुरकवि आळवार द्वारा अपने गुरु की स्तुति में लिखे गये एक ही गीत का नाम 'कण्णिनुण्शिरुत्ताबु' है। इन दो गुरु-शिष्य सतों का काल मानवी धारा का प्रथम चरण माना जा सकता है।

कुलशेखराल्वार—

ये 'चेर' वंशोद्भव राजा थे। अपने प्रगाढ भगवत् प्रेम के कारण इन्होंने राजभोग का त्याग कर दिया। सप्त गोपाकार प्रकोटों से परिवेष्टित श्रीरंगम् के विशालकाय देवालय के प्रांगण में प्रभु की भक्त मंडलियों में सम्मिलित होकर नृत्य-भजनादि से द्रवित जीवन को ही इन्होंने परम लक्ष्य समझा और वहीं पर इन्होंने अपने जीवन का उत्तरार्द्ध बिताया। ये बाल्यकाल से ही श्रीवैष्णव मत वाले भागवत जनों का बड़ा आदर-सत्कार किया करते थे। कहा जाता है कि एक बार जब उनके अमात्य लोगों ने एक रत्नमाला की चोरी का अपराध वैष्णव भक्तों पर लगाया, क्योंकि इनका संग ही राजा की संसार विमुख प्रवृत्ति का मूल कारण समझा जाता था, तब इन्होंने स्वयं शपथ ली कि भगवत-भक्त लोग ऐसा कार्य कदापि नहीं करेंगे। इसके साक्ष्य में इन्होंने अपने हाथ से एक सर्प रखे हुए घडे के अन्दर

हाथ डालकर उसे बिना किसी हानि के ऊपर निकाल लिया। रामावतार पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। जनश्रुति है कि एक समय जब वे रामायण का व्याख्यान सुन रहे थे, और उसमें रावण द्वारा सीतापहरण का प्रसंग आया, तब तन्मय होकर इन्होंने अपना खड्ग निकाल लिया और अपनी सेनाओं को तुरन्त राम की सहायता के लिये प्रस्थान करने का आदेश दे दिया। मंत्रियों से कई प्रकार के आश्वासन मिलने के बाद ही इनको शान्ति मिली। इनकी रचना 'पेरुमाळ तिरुमोळि' में रामकथा के प्रसंगों पर हृदयग्राही गीत सम्मिलित हैं। इनका समय आठवीं शती के निकट निश्चित किया गया है।

पेरियाल्वार तथा आण्डाल:—

पेरियाळवार और उनकी स्वीकृत पुत्री 'आण्डाळ' की जीवनियाँ परस्पर संबद्ध हैं, जैसे नम्माळवार तथा मधुरकवि आळ्वार की। पेरियाळवार का निजी नाम 'विष्णुचित्त' था और ये अपने वासस्थान 'श्रीविल्लिपुत्तूर' की मूर्ति 'वटपत्रशायी' के कैंकर्य में आजीवन तत्पर रहे। नित्यप्रति ये इष्टदेव पर पुष्पमालाएँ चढाते थे, इसके लिए एक पुष्पवाटिका का भी इन्होंने प्रबन्ध कर रखा था। कहा जाता है कि एक दिन इस बगीचे में तुलसीवन के मध्य एक अति सुंदर नवजात बालिका इनको पड़ी मिली और पितोचित परमवात्सल्य से इन्होंने इसका पालन-पोषण किया। और 'वाक्शक्ति-दायिनी अर्थ देने वाले 'गोदा'[१] नाम से इस कन्या को विभूषित किया। पालित पुत्री भगवत्-प्रेम में इतनी तीव्र हो गई कि अपने को साक्षात् श्री विष्णु भगवान की ही वस्तु समझने लगी। अन्य मनुष्यों से सम्बन्ध उसको रुचिकर न था। जिन कुसुम मालाओं को प्रतिदिन अपने घर में विष्णुचित्त ने भगवान के अलंकार निमित्त तैयार किया था, उन्हें पिता की अनुपस्थिति में गोदा स्वयं पहना करती और दर्पण में देखा करती कि यह माला मेरे पतिस्वामी के लिए सुंदर लगेगी कि नहीं। पिता अपनी कन्या की भूल जाने बिना ही देवालय-मूर्ति को इन मालाओं से अलंकृत करते रहे। पिता को पुत्री के अपराध का पता तब लगा, जब गोदा का एक केश पुष्प-माला में लगा हुआ मिला। उस दिन उन्होंने भगवान को माला नहीं समर्पित की परंतु बहुत चिंतित होकर सो गये। आळ्वार से स्वप्न में भगवान ने स्वयं आविर्भूत होकर माला-समर्पण में अंतराय का कारण पूछ लिया और भगवान् ने कहा कि तुम्हारी पुत्री द्वारा पहले पहनी हुई मालाएँ हमें विशेष प्रिय हैं अतः उन्हें ही कल से लाना। उस दिन से विष्णुचित्त उन्हीं मालाओं को ले जाया करते जो अपनी निजी सुगंधि के साथ-साथ गोदा के केशभार-सौरभ से भी दुगुनी अधिक सुरभित हो उठती थीं। इस घटना के पश्चात् गोदा, 'चूडिक्कोडुत्ताळ्' (जो भगवान को अपनी धारण की हुई मालाएँ देती हैं) तथा 'आण्डाळ्' (भगवान को भी वश में करने वाली) नामों से विख्यात हुई।

विष्णुचित्त के जीवन में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रसंग उल्लेखनीय है। एक समय श्रीवल्लभ नामक पाण्डिय राजा ने अपनी प्रधानपुरी मदुरै में एक विद्वत् सभा आमंत्रित की, जिस में भाग लेकर लोकातीत परतत्व का स्वरूप निर्धारित करने वालों को एक

---

१. 'गोदा' शब्द के विभिन्न अर्थ दिये जाते हैं, परन्तु श्री रामानुजयतिवर के समय में विरचित 'दिव्य सूरिचरितम्' नामक ग्रंथ में इसी आशय की निष्पत्ति विद्यमान है। (देखिए, 'आळ्वारकळ् कालनिलै', पृ० ६९)

बड़ा पुरस्कार देना उन्होंने घोषित किया। विष्णुचित्त स्वत बडे तर्क वितर्क करने वाले विद्वान न थे अपितु, इनके नित्याराधित विष्णुदेव अनर्मन में विराजमान होकर सदा प्रेरणा देते रहे कि तुम इस विद्वत्-गोष्ठी में जाकर, मेरा परतत्त्व रूप स्थापित करो। इस प्रकार रहस्य रूप से निमन्त्रित होकर, विष्णुचित्त राजसभा मे चले गये। विशुद्ध भक्ति झलकने वाले इनके सान्निध्य में पडितो की ईर्ष्या भरी युक्तियाँ नि सार सिद्ध हुई। आळवार के मुख पर व्याप्त दिव्य काति, उनकी आँखो के असाधारण प्रकाश—इन सबने राजा और सभासदो को पूरी तरह वश में कर लिया। परम उपादेय और अतुलनीय तत्त्व वासुदेव ही हैं और इनको प्राप्त करने का विशिष्ट उपाय भक्ति-मार्ग ही है—इस प्रकार विष्णुचित्त के अपने विषय प्रतिपादन समाप्त करते ही, पुरस्कार की थैली इनकी ओर झुक गयी। पाडिय राजा ने इस विजय के उपलक्ष्य में एक उत्सव मनाया। कौतूहल-प्रदर्शनार्थ, सत को एक अलकृत हाथी पर बिठाकर सारे नगर का 'पट्टण-प्रवेश' (बारात) राजा ने किया। उसी समय, आळ्वार के सम्मुख अतरिक्ष मे गरुडारूढ भगवान प्रकट हो गये और उनकी दिव्य-मगल-शोभा से प्रफुल्लित भक्त के मन में चिंता जाग उठी कि यह सौंदर्य-सपत्ति कही बिगड न जाय। सहसा ये प्रार्थना करने लगे कि यह सौंदर्य चिरजीवी हो और भक्त जन इसकी रक्षा में निरतर वास करें इनके गीत की प्रथम दो पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"यही हमारी विनती है कि अनेक वर्ष, अनेक सहस्र वर्ष, अनेक करोड, शत सहस्र वर्ष शोभायमान रहे आपके चरणो का सौंदर्य और उनका रक्षक बल, हे मल्लो को जीतनेवाले नील मेघश्याम!"　　　　(पेरियाळ्वार तिरुमोळि, १, १)

असीम वात्सल्य से भगवान को भी मगल कामनाएँ अर्पित करने वाले बृहत् पितृभाव के कारण, विष्णुचित्त का नाम 'पेरियाळ्वार' या 'महदाळ्वार' पड गया।

मधुरै नगर में प्राप्त स्वर्णराशि को अपने इष्टदेव की सेवा में अर्पित करके अपने गाँव 'श्रीविल्लिपुत्तूर' में विष्णुचित्त निवास करते थे। उनकी पुत्री, अपने अनन्य भगवत्-प्रेम के कारण, मनुष्य-समाज में विवाह कर लेने पर धिक्कारती थी और विष्णुचित्त इसके सबध मे बहुत चिंतित रहा करते थे कि कैसे इस कन्या का ब्याह हो। एक दिन भगवान ने स्वय उनके स्वप्न में आकर कहा कि मझे तुम्हारी पुत्री से पाणि-ग्रहण करने में बडी प्रसन्नता है और उन्हें मेरे श्रीरङ्ग महाक्षेत्र में भेज दो। इस दैवी सुझाव के अनुसार श्रीविष्णुचित्त अपनी पुत्री तथा अन्य बधुजनो के साथ लबी यात्रा करके श्रीरङ्ग की पुण्यभूमि में प्रविष्ट हो गये। उन्होने वहाँ के बृहत् देवालय की मूर्ति से आण्डाळ का साक्षात्कार कराया। और वही भगवत्सानिध्य में अलौकिक प्रेम परिचालित कन्या अतर्धान हो गयी। सीमित अस्तित्व वाली पुत्री प्रेम-पराकाष्ठा से असीम भगवत् तत्त्व में विलीन हो गयी।[४] कृतकृत्य होने पर भी 'पेरियाळवार' दुहितृ-विरह से खिन्न हो गये। अपने प्रिय 'वटपत्रशायी' की सेवा करते हुए इनका वैकुठवास हो गया।

---

४. मूल तमिल ग्रथो में कही भी इस कथन का आधार नही है कि देवदासी प्रथानुसार 'आण्डाळ' भगवान को सौंपी गयी।

पेरियाळ्वार के कुल ४४० गीत 'पेरियाळवार तिरुमोळि' नामक 'दिव्यप्रबंध' के भाग में संगृहीत हैं। आण्डाळ की दो कृतियाँ 'तिरुप्पावै' तथा 'नाच्चियार तिरुमोळि' हैं जिनमें कुल मिलाकर १७० पद्य सम्मिलित हैं। पिता पुत्री दोनों का समय इनकी कृतियों के अंत साक्ष्य पर आठवीं शती का पूर्व भाग निरूपित किया गया है।

तोंडरडिप्पोडि आल्वार

'तोंडरडिप्पोडि' नाम का अर्थ है 'भगवद्दास जनों की चरण-रज'। अपने को अन्य भगवत्-भक्तों की पद-रज कहने में इनकी अभिरुचि थी। इनका जन्म स्थान श्रीरङ्ग नगर के पास 'मण्डङ्गुडि' नामक गाँव था। 'विप्रनारायण' इनका निजी नाम था। और ये शास्त्रादि में पांडित्य प्राप्त कर चुके थे। श्रीरङ्गम में ही एक तुलसीवन बनाकर, श्रीरङ्ग भगवान को प्रतिदिन पुष्पमालाएँ समर्पित करने के कैंकर्य में ये निरत रहा करते थे। कहा जाता है कि एक बार दुर्भाग्यवश इनको एक वेश्या के मोह-जाल में पड़कर कुछ समय तक कामासक्त जीवन बिताना पड़ा। कई कष्ट अनुभव करने के बाद भगवान की दया के फलस्वरूप इनकी आँखें खुल गयीं और फिर से ये अपने भगवदनुराग में सुदृढ़ हो गये। इनकी दो रचनाएँ हैं —'तिरुमालै' ('आत्मनिवेदन' करने वाले ४५ पद्य) तथा 'तिरुप्पळ्ळि एळुच्चि' (१० पद्य का सुप्रभात गीत)। इनका समय आठवीं सदी का प्रथम चरण मानना उचित है।

तिरुप्पाणाल्वार

श्रीरङ्गम के समीपवर्ती 'उरैयूर' गाँव में 'पाणन' नामक पंचम वर्ण की जाति विशेष में इन्होंने जन्म लिया। पुराने काल से 'पाणन' जाति की गिनती तमिल नाडु की अच्छी गायक-मंडलियों में थी। तिरुप्पाण नामक यह भक्त अपनी जाति की स्वाभाविक संगीत-मर्मज्ञता के साथ भगवद् भक्ति विषयक पद रचयिता के रूप में विख्यात हो गये। अस्पृश्य होने के कारण, कावेरी नदी के तट पर संस्थित श्रीरङ्गनाथ के मंदिर में उनको प्रवेश न मिला। फिर भी ये नदी के उस पार रहकर नित्यप्रति तन्मयावस्था में भक्ति-गीत गाया करते थे। एक दिन मंदिर के किसी पुजारी ने जो भगवान के अभिषेक के लिए नदी का जल लाने गये थे, रास्ते में पड़े हुए इस अछूत पर पत्थर फेंककर उसको घायल भी कर दिया। सच्चे भक्त पर चोट लग गयी और उसका प्रभाव भगवान की मूर्ति पर भी पड़े बिना न रहा। उसी रात देवालय के मुख्य तपस्वी पुजारी 'लोकसारंग' नामक ब्राह्मण-श्रेष्ठ के स्वप्न में श्रीरङ्गनाथ भगवान ने आविर्भूत होकर, उन्हें समझा दिया कि 'तिरुप्पाण' को की गई हानि वास्तव में मेरी ही हानि है और उन्होंने आदेश दे दिया कि उस परम भक्त को अपने ही कंधों पर बिठाकर उचित सम्मानपूर्वक देवालय में अर्चामूर्ति के सम्मुख पहुँचा देना। दूसरे दिन यह अन्त्यज भक्त-शिरोमणि 'लोकसारंग' मुनि की पीठ पर आरूढ़ होकर, मंदिर में आये। श्री रङ्गनाथ प्रभु के पादादिकेश दिव्य साक्षात्कार में ये तल्लीन हो गये और अनुभूति की चरम-सीमा में पहुँचकर, उसी अनंत भगवन्-अस्तित्व से अभिन्न हो गये। इनका दस पद्य वाला एकमात्र गीत 'अमलनादिपिरान' (जिसमें भगवान का मनोहारी रूप वर्णन प्रधान है) इसी समय का गाया हुआ कहा जाता है। ये अन्य

आळ्वारो के समकालीन प्रतीत होते हैं और अनुमानतः इनका समय आठवीं शती का प्रथम भाग कहा जा सकता है।

तिरुमंगै आल्वार

चोळ राजाओ के अधीन 'तिरुवालि' या 'मगै' प्रदेश के अधिपतियो के वश में वीर सैनिको को जन्म देने वाली 'कळ्ळर' नामक जाति में ये उत्पन्न हुए। कालक्रम में ये बड़े शूर-वीर नेता तथा चोळ राजाओ के दडनायको में एक बन गये। 'कलियन', 'नीलन' दोनो इनके निजी नाम थे। इनका विवाह एक वैद्यक-श्रेष्ठ तथा परम भागवतोत्तम की पुत्री 'कुमुदवल्लि' से हुआ। वधू उच्चकोटि की वैष्णव भक्तिमती थी और इनके सपर्क से 'कलियन' भी परम वैष्णव-भक्त हो गये। अष्ठोत्तर सहस्र भागवतजनो को नित्यप्रति भोज देने वाले कैंकर्य में इन्होने अपनी सारी सपत्ति व्यय कर दी। यही नही, उप-राजा की हैसियत से चोळ सम्राट को दिये जाने वाला धन भी इन्होने इसी कार्य में लगा दिया जिसके कारण इनको कारावास भी सहना पडा। कहा जाता है कि बदीगृह में इनकी प्रार्थनाएँ सुनकर, भगवान विष्णु ने स्वय इनको एक जगह दिला दी जहाँ बाकी शुल्क चुकाने लिए काफी सपत्ति मिली और जिसे सम्राट को अदा करके इन्होने छुटकारा पा लिया। पुन भक्त-भागवतजनो के सतर्पण कैंकर्य सभालने के लिए इन्होने धनी पथिको का लूटने का व्यवसाय अपनाया। एक दिन विशाल राजमार्ग में कोई नव-विवाहित वर अपनी सर्वाभरण-भूषित पत्नी तथा शेष परिजनों के साथ जा रहा था, तिरुमगै अपने साथियो सहित उस मडली पर टूट पडा। इन्होने उनके सारे द्रव्य लूटकर गठरियो में बाँधकर रखा पर लुटेरो को उन गठरियाँ उठाना असभव हो गया। चकित मुद्रा में तिरुमगै ने दूल्हे से पूछा—'क्या किसी मत्र-पाश में तुमने मुझे डाल दिया ?' युवक दुल्हे ने हँसकर उत्तर दिया कि आओ, इस मत्र का उपदेश तुम्हें भी दे दूँ। तुरन्त लुटेरे को अपने गले से लिपटा कर इन्होने षडाक्षर सहित तिरुमत्र ('ओ नमो नारायणाय') का उपदेश सुना दिया। इस मत्रोच्चारण के साथ इनकी सुप्त आध्यात्मिक चेतना फिर जाग उठी और ये भगवान की गरिमा समझाने वाले गीत वही रचकर गाने लगे। उनके समक्ष खड़ हुए वर-वधू सब अतर्धान हो गये और अतरिक्ष में लक्ष्मी समेत विष्णु भगवान ने गरुडारूढ होकर इनको दर्शन दिया।

अपने उपास्य देव द्वारा इस प्रकार किए हुए निर्हेतुक-कटाक्ष को बारम्बार कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करके सभी विष्णु मदिरो का पर्यटन इन्होने किया और उनकी विभिन्न अर्चामूर्तियों पर विविध चित्ताह्लादकारी गीत रच दिये। श्री रङ्गम के महदाकार देवालय की पूजा पद्धति में नम्माळवार के गीतो का पाठ एक अविभाज्य अग इन्होने बना दिया और इस मदिर के बाहर कई मील लम्बी प्राचीरो को बनवाने का श्रेय इनको ही है। कहा जाता है कि इसका खर्च सभालने के लिए इन्होने नागपट्टिन के बुद्ध विहार में स्थित सुवर्ण प्रतिमा को लूट लिया। पाण्डिय राजा के प्रदेश में 'तिरुक्कुरुगुडि' क्षेत्र पर भगवत सेवा करते हुए इनका देहावसान हो गया। इनका समय आठवी सदी का मध्य भाग हो सकता है इनकी कृतियाँ हैं— पेरियतिरुमोळि' (१०८० पद्यो का सग्रह), 'तिरुक्कुरुताडकम्' (२० पद्यवको) 'तिरुनडुताडकम' (३० पद्यवाला) 'तिरुएळुकूर्रिरुक्कै' (एक ही गीत) शिरिय तिरुमडल' (एक ही गीत) तथा 'पेरियतिरुमडल (एक ही गीत)

भागवत अथवा श्री वैष्णवकुल

कहने की आवश्यकता नहीं कि आळ्वार संतों के भक्ति-प्रचार ने सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों में अमिट प्रभाव छोड़ दिया। भक्ति के भावमय गंगा-प्रवाह में कर्मकाण्डियों को आडंबर-प्रदर्शन और बुद्धिवादियों के तर्क-वितर्क टिक न सके। औपचारिक मंत्र-तंत्रों की अपेक्षा भक्ति, श्रद्धा आदि धर्म के गाराध-भूत तत्वों पर लोग अधिक ध्यान देने लगे। आळ्वारों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, पंचम-सब जातियों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे और ये केवल भक्ति को ही सब कुछ मानने वाले थे। इस दशा में जाति-पाँति के भेदों, उच्च-नीच के भावों पर भारी धक्का लगा। इन संतों के समक्ष एक ही कुल की गणना थी और वह था 'श्रीवैष्णव भक्त-कुल' अथवा 'भागवत कुल' श्री मन्नारायण का नाम संकीर्तन तथा उनके भक्त गणों में सम्मिलित होना ही मनुष्य को कुलीनता प्रदान करने वाला है। इस नारायण-भक्ति कल्पतरु का वर्णन तिरुमंगै आळ्वार ने इस प्रकार किया है —

'जो कुल देता है, संपत्ति दान करता है, भक्ति के कष्टों को मिटा देता है, उच्चतम स्वर्गलोक दिखाता है, सुखमय इहलोकानुभव दिलाता है, आत्मबल तथा अन्यान्य देता है, जननी की अपेक्षा अधिक हितकारी है—वह कल्याणमय शब्द मैंने पहचान लिया, और वह है 'नारायण' का नाम'' 'तिरुप्पाण आळ्वार नीच से नीच पंचम जाति में उत्पन्न भक्त थे फिर भी उनकी अनुराग विशिष्टता के परिणाम स्वरूप उच्च से उच्च कुलीन पर सवार होकर 'मुनिवाहन' कहलायी तोंडरिप्पोडि आळ्वार, जो ब्राह्मण थे, कदाचित पूर्ववर्ती 'तिरुप्पाण' की जीवनी से प्रभावित होकर, श्रीरङ्गनाथ प्रभु की प्रशंसा में कहते हैं कि अपनी भक्त मंडली में वे कोई भेद ही नहीं मानने वाले हैं प्रत्युत अछूता का भी ब्राह्मणों की समानता प्रदान करते हैं अगर इनमें भक्ति की झलक हो[7]। पता चलता है कि उन दिनों तमिल प्रदेश के पुण्य क्षेत्रों में, विशेष रूप से श्रीरङ्गम् के विशाल मंदिर में अपना सब कुछ त्याग कर केवल भक्ति रसास्वादन के चरम लक्ष्य से ही प्रेरित मंडलियाँ थीं जो नाम-संकीर्तन, भजनादि में निरत होकर समय बिताया करती थी। कुलशेखर ने जो चोळराजा थे, अपना समस्त राजवैभव छोड़ इन भक्त गोष्ठियों में सम्मिलित होना ही अधिक श्रेयस्कर माना। अपने गीतों में इसी महदाकांक्षा को वे प्रकट कर देते हैं:—

'भगवान श्रीरङ्गनाथ के पावन प्रांगणवासियों के आनंदमय महान् भक्त जन मंडली का देख किस दिन मैं उसी के साथ रम जाऊँ ?' (वही मेरा जन्म का सार्थक दिन होगा)।' आज भी 'भागवतकुल' ही श्री वैष्णव समाज में एक मात्र कुल माना जाता है। जब एक दाक्षिणात्य वैष्णव अन्य वैष्णवों को अपना परिचय देता है, तब एक ही शब्द से काम पूरा करता है— 'मैं दास कुल (भगवत् सेवा करने वालों के कुल) का हूँ।''

५, (पेरियतिरुमोऴि १, ६,)
६. (तिरुमालै, ४२-३)
७ (पेरुमाळ् तिरुमोऴि, १, १०.)

धर्म और दर्शन पर आलवारों का प्रभाव

श्री वैष्णवधर्म और दर्शन सर्वथा आळवार सतो की ही देन है। मुख्यत ये सत उदात्त भक्ति प्रसूत वाणी से विभूषित कवि थे और इनकी पदावलियो में निहित तत्वों का सपादन तथा प्रचार नाथमुनि से प्रारभ होनेवाली गुरु परम्परा में सम्मिलित यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, पराशरभट्ट, पिल्लैलोकाचार्य आदि आचार्यों ने किया। इन्होंने वेदोपनिषदा में प्रतिपादित सिद्धान्तों को इन सत सूक्तियो के प्रमाण से पुष्टीकरण करके अपने अपने व्याख्यान द्वारा सस्कृत वेद और तमिल वेद, दोनो का एकत्व स्थापित किया। नम्माळ्वार की कृति 'तिरुवाय्मोळि' पर लिखी हुई 'भगवत् विषयम' नामक बृहत टीका मूलत आचार्यों के दिए व्याख्यानो का सग्रह है। आचार्य रामानुज की महान रचना 'श्री भाष्य' मे प्रतिपादित सगुण ब्रह्मन् तमिल वेद में वर्णित तत्व है, यद्यपि तर्क रीति में शकर के मायावाद के खडन में वह प्रस्तुत किया गया है। आळ्वारा के भक्ति सदेश की उदारता श्री रामानुज द्वारा और भी विशद तथा व्यापक बन गयी। इन्हाने सासारिक जीवो के लिए अपना सब कुछ त्यागकर भगवान की शरण में जाकर उसी पर निर्भर रहने का 'शरणागति' या 'प्रपत्ति' मार्ग दिखलाया और यह हर किसी के लिए सुलभ-साध्य था चाहे वह किसी भी वर्ग परिवार या जाति का क्या न हो। इस सिद्धान्त की उदारता, इसकी अत्यन्त प्राचीनता को मन मे रखते हुए, बहुत ही आश्चयजनक सिद्ध है और इसके प्रचार से निम्न जातियो का जो सामाजिक उद्धार सभव हुआ, वह भारतभूमि मे निश्चय ही एतिहासिक महत्व रखता है।[८] आचार्य रामानुज अपने दैनिक जीवन मे भक्ति-सिद्धान्त का साक्षात् उदाहरण जनता के सामने रखने वाले भी थे। श्री वैष्णव भक्ता मे न शूद्र, और ब्राह्मण आदि के जाति-भेद इन्होने न माने, वरन् भक्ति को ही सर्वप्रथम स्थान दिया। व्याध-जाति के एक नेता इनके अत्यन्त प्रिय शिष्य बने और कहा जाता है कि ये प्रतिदिन कावेरी नदी मे स्नान करने के उपरात, इनके कधे पर अपना हाथ लगाकर पैदल घर लौटा करते, यद्यपि अन्य ब्राह्मण लोग इस काय की निन्दा करते थ। सवम विशिष्ट घटना यह है कि गूढतम रहस्य माने जाने वाले मत्र 'ओ नमो नारायणय' का उपदेश, अनक कठिन परीक्षाओ के पश्चात् इन्होने अपन गुरु से प्राप्त किया, पर फिर भी जनता के सामने तुरन्त उसे घोषित कर दिया। यद्यपि गुरु ने इनको चेतावनी दे रखी थी कि इस रहस्य का उद्घाटन नरक मे पहुँचाने वाला पाप है, तो भी इन्होने उदारभाव से चाहा कि समस्त लाक मुक्ति क मार्ग पर चलें, भल ही अपने एक मनुष्य को नरक की प्राप्ति हो।

यह स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास में जन-जीवन पर उदार दृष्टि डालकर उसका उद्धार करने का सबसे पहला महान् प्रयास आळवारा का आदोलन ही था। इनके द्वारा उन्मुक्त किए हुए भक्ति प्रवाह से दक्षिण ही नहीं, वल्कि उत्तर भारत भी रस सिक्त हो गया। यह प्रसिद्ध है कि आचार्य रामानुज की परपरा के राघवाचार्य दक्षिण से आकर काशी में रहा करते थे और इनसे रामानन्द ने दीक्षा पा ली जिनके शिष्य-प्रशिष्यो में रैदास, नरहरि,

---

८ Prof Hiriyanna outlines of Indian Philosophy, P 413 " the social uplift of the lower classes to which it has led is of great value in the history of India "

तुलसीदास आदि उत्तर भारत के प्रमुख संत आते हैं। सच है कि रामानन्द ने अपना एक अलग 'वैरागी संप्रदाय' चलाया परन्तु सारांशतः यह अपने गुरु द्वारा प्राप्त उदारशील सम्प्रदाय को उत्तर-भारत की तत्कालीन परिस्थिति तथा समय के अनुकूल और उदार बनाने का प्रयास मात्र था। पुष्टि मार्गीय भक्ति पद्धति और उसके अष्टछाप कविगण, आळ्वारों की परंपरा से बहुत कुछ प्रभावित हैं क्योंकि इस सम्प्रदाय के वार्ता-ग्रंथों में इनकी कथाएँ मिलती हैं। जितने अन्य चैतन्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क आदि वैष्णव संप्रदाय के संत उत्तर में पल्लवित हुए, वे सब किसी न किसी अंश में प्राचीनतम श्री वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी माने जाते रहे हैं।

नयी चिंतनधारा एवं नये समाज के जन्मदाता आळ्वार संत अन्य नानारूपेण सम्मानित हो गए। हम कह चुके हैं कि इनकी दिव्य सूक्तियाँ श्रीवैष्णव धर्म तथा दर्शन का मूलप्रमाण मानी जाती रही हैं। इनका सतत प्रयोग देवालयों में और सामाजिक जीवन के विभिन्न प्रसंगों में हुआ करता है। मन्दिरों में विशेष उत्सव समय पर ही नहीं, प्रत्युत नित्यप्रति प्रात, मध्याह्न तथा सायंकालीन पूजा-विधान में इनका गाना एक अविभाज्य अंग है। हरएक श्री वैष्णव परिवार में होने वाले पुत्रोत्सव, परिणय, मरण आदि से संबंधित संस्कार तमिल वेद-पाठ के बिना अधूरा ही समझा जाता है। आळ्वारों की प्रतिमाएँ सब देवालयों में पुराने काल से ही स्थापित हो चुकी हैं और इनके पृथक् उत्सव भी मनाये जाते हैं। दक्षिण की इस प्रकार प्रचलित पद्धतियों का स्वरूप ब्रजभूमि में भी वृन्दावन क्षेत्र पर करीब एक सौ वर्ष पूर्व प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री रंगाचार्य जी द्वारा सम्स्थापित श्रीरङ्गनाथ भगवान् के विशाल मन्दिर में भी दर्शनीय है।

साहित्यिक विशेषताएँ

विविध अनुभूतियों का भंडार

आळवार संतों के चार हजार पद्य उनके पश्चात्‌वाली सदियों में 'नालायिरदिव्य-प्रबंध' नाम से एकत्रित हो गये। 'द्राविड-वेद-सागरम्' के नाम से गौरवान्वित यह गीत-संग्रह न केवल श्रीवैष्णव धर्म और दर्शन का मूलग्रंथ है, अपितु साहित्यिक दृष्टि से एक अमूल्य निधि भी है। इसके रचयिताओं ने अपनी हृदय वीणा से अध्यात्म अनुभव-जन्य विविध नाद निकाले हैं। इन गीतों में निसर्गतः भक्तिरस ही सर्वप्रधान है, पर उससे संबद्ध अन्य प्रेम, वात्सल्य, करुणा आदि रसों का भी आस्वादन मिलता है। नायक-नायिका, पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, स्वामी-सेवक आदि विविध सम्बन्ध इन संतों ने ईश्वर से स्थापित किये, जिनके कारण विविध भावों की अभिव्यंजना हुई है। विशेष रूप से नायक-नायिका पद्धति इन गीतों में स्थान पा चुकी है जिसके बारे में पीछे विचार होगा। बस, यहाँ पर इतना कहेंगे कि प्रेमी के जीवन में जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानसिक एवं हार्दिक दशाएँ होती हैं, उन सबका मर्मस्पर्शी प्रस्तुतीकरण इन पदावलियों में विद्यमान है।

भक्ति-गीतों में पाये जाने वाले तत्व तथा भाव-सम्बन्धी दोनों पक्ष, हमारे 'द्राविड-वेद' में अत्यन्त आकर्षक ढांचे में प्रस्तुत हैं। उच्च कविता की विलक्षणता है कि

शुष्क तत्त्वों को भी वह अनुभूति के रूप में या अनुभूतिमय प्रसंगों में उपस्थित करती है। इन गीतों में श्रीमन्नारायण का परतत्त्वनिरूपण, संसार और जीव के अपने-अपने लक्षण आदि दार्शनिक पहलू भी अनुभवसिद्ध तथ्यों के रूप में ही प्रकट हो जाते हैं। भक्ति के भाव-पक्ष के लिये तो यहाँ अग्रस्थान है ही। ऐसा दीख पड़ता है, इन पद्यों में मानो कविता भक्ति के साम्राज्य में विचरकर उसकी ऊँचाइयों तथा गहराइयों को भी माप लेती है। अपने उपास्य देव से एकता प्राप्त करने के लक्ष्य से आळवारों ने जो महा प्रयास उठाये, सांसारिक झंझटों के कारण इनको जो बाधाएँ झेलनी पड़ी, जिस प्रकार जगत से निर्लिप्त रहकर भगवान की शरण में इन्होंने पूर्ण आत्म समर्पण किया जो 'शरणागति' कहलाती है, जैसे भगवदनुग्रह मिलने में विलम्ब से ये तड़प उठे और उसे पाकर परम हर्षित हुए—ऐसे विषय प्रस्तुत करने वाले अनेक रसमय प्रसंग हमें रोमांचित कर देने वाले हैं।

अवतारों की स्तुति

श्री वैष्णव मत के आधारभूत विश्वासों में एक यह है कि भगवान विष्णु अपने भक्तजनों द्वारा सुलभग्राह्य होने के उद्देश्य से पाँच रूपों में प्रकट होते हैं। वे ये हैं—पर रूप (अर्थात वैकुंठधामवासी रूप), व्यूह रूप (जिसमें संकर्षण वासुदेव प्रद्युम्नादि अंश सम्मिलित हैं), विभव रूप (जिसमें धरणी पर लोकहितार्थ वे अवतार लेते हैं), अर्चारूप (अर्थात देवालयों के प्रतिमारूप) तथा अंतर्यामीरूप (जिसमें अखिलांतरात्मा बनकर वे जगत का अप्रत्यक्ष संचालन करते हैं।) यद्यपि आळवारों के गीतों में भगवान के पर-व्यूह अंतर्यामी रूपों का यथेष्ट आभास उपलब्ध है, अर्चा एवं विभव (अवतार) रूपों का उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में पाया जाता है। इसके लिये कुछ विशेष कारण थे। विभिन्न पुण्यक्षेत्रों की अर्चा मूर्तियों के दर्शन तथा भक्ति प्रचार के निमित्त ये संत देश भर में पर्यटन किया करते थे। मंदिरों की मूर्तियों पर, विशेषरूप से तमिल प्रदेश के वृहत् श्री वैष्णव देवालय, श्री रंगम् कांचीपुरम् तथा तिरुवेंकटम् (तिरुपति), इन तीनों अति-प्राचीन क्षेत्रों की मनमोहक मूर्तियों पर रचे हुए इनके गीत उमड़ने वाले परमानुरागप्रवाह के परिचायक हैं। अवतारों की कथाएँ आळवारों के समय में बहुत प्रचलित हुई थीं। भागवतमत के विस्तार के साथ-साथ भगवान की दशावतार-सम्बन्धी कथाएँ (जिनमें उनका भक्तवत्सलत्व, दयासिंधुत्व, सत्यसंकल्पत्व आदि अगणित गुणविशेषों के पुष्कल प्रमाण मिलते हैं) व्यापकता प्राप्त करके जनसाधारण में भक्ति प्रचार की उत्तम माध्यम सिद्ध हुई। इन्हीं अवतार कथाओं के मुख्यतः राम कृष्णावतारों के अंतर्गत सुविख्यात तेजस्वी कार्यों को देवालयों में विराजमान मूर्तियों द्वारा रचित मानकर आळवार संतों ने अवतारवाद और मूर्ति उपासना दोनों का ही शोभायमान सुवर्ण सूत्र में ग्रथित किया है। इसका भी पर्याप्त संकेत ये देते हैं कि उल्लिखित वामन, नृसिंह रामकृष्णादि अवतार, देवालय की प्रतिमाओं के ही नहीं, अपितु साक्षात् आदिपुरुष नारायण के भी अपर रूप हैं। उदाहरण स्वरूप नम्माळवार का एक भगवत् संबोधन इस प्रकार है —

"मेरे प्रिय पिता! 'तिरुवेंकट' (तिरुपति) पुण्यक्षेत्र के निवासी! लंकाद्वीप के आक्रमणकारी! अपने धनुष से एक ही तीर चलाकर, राक्षसाधमों को गिराने

वाले कोदंड-हस्त सम्पन्न ! विशाल और पुरातन विनोदों के स्वामी ! परमपुरुष ! शीतल तुमसी परिमळमंडित मालाधर"[९]

यहाँ, संत की वाणी में तिरुवेंकट देवालय की मूर्ति, और रामावतार के साहसी कार्यों के महान कर्ता, दोनों लोकातीत एक ही परम पुरुष से अभिन्न हैं।

विष्णुचित्त का कृष्णावतार-गान और जीवन झाँकी

आळवारों में रामावतार तथा कृष्णावतार के विशेष प्रेमी क्रमश कुलशेखर तथा पेरियाळवार कहे जाते हैं। सत्य यही है कि दोनों संत, अन्य अवतारों का भी मार्मिक वर्णन करते हैं परन्तु जनमानस पर कदाचित् उक्त दोनों अवतारों के वर्णनों ने अधिक प्रभाव डाल रखा है। विष्णुचित् (जो पेरियाळवार का निजी नाम था) बालकृष्ण की विविध दशाओं के सुंदर चित्र, कभी अपनी ओर से, कभी जननी यशोदा की वाणी के रूप में, और कभी औरों के द्वारा, प्रस्तुत करते हैं। नाटक के साँचे में रचित ये गीत अंग्रेजी कवि ब्राउनिंग के Dramatic Monologues के जैसे बने हुए हैं। शिशु कृष्ण का जन्मोत्सव, पादादि केश सौंदर्य, चंद्रमा बुलाना, तालो बजाकर हँसना, सिर ऊँचा करके मुख हिलाना, छोटे पैरों पर अस्थिर गति से जाना, आदि प्रारंभिक अवस्थाओं का हृदयस्पर्शी ढग से वर्णन इस आळवार ने किया है। माता यशोदा के आह्वान रूप में—जैसे वह स्तन्यपान, स्नान, कर्ण, केशालंकार, पुष्पमाला पहनना आदि के लिये अपने बच्चे को बुला लेती है—कई पद्यों की रचना इन्होंने की हैं। कई अन्य पद्यों में अपने बालक की मक्खन चोरी आदि करतूतों के कारण चिंतित यशोदा की पुकार और पड़ोसियों की निंदा, घनश्याम का गोचारण और गोपियों का उनपर मोह, गोवर्धन पर्वत उठाना, मुरळीगान—इन सब लीलाओं का वर्णन नाटक-रसस्नावित शैली में पाया जाता है। श्री विष्णुचित्त रचित 'मुरळीगान' का गीत एक ऐसी अद्भुत सौंदर्य विशिष्ट वस्तु है, जो निःसंदेह संसार की उच्चतम गीतिकविता की कोटि में आती है। यहाँ उस गीत के दो पद्यों का अनुवाद दिया जाता है—

'गोविंद की छोटी उंगलियाँ वंशी के छिद्र छू-छूकर इधर-उधर जाती हैं, उनके लाल नेत्र (वंशी की ओर देखने से) वक्रित दीख पड़ते हैं, (वंशी बजाने के परिश्रम से) मुँह फेनिल हो जाता है, भौंहों के ऊपर पसीने की बूँदें जम जाती हैं। (इस प्रकार के अंग चेष्टित सौंदर्य के साथ गोविंद द्वारा वंशी बजाते समय) पक्षियों का समूह नीड त्यागकर आ जाता और सामने फैल जाता मानों कटे हुए वृक्षों का वन ही वन सामने पड़ा हो। गायों के झुंड तो अपने पैर फैलाकर, सिर झुकाकर कानों को बिलकुल हिलने भी नहीं देते। (हिलने से गानामृत से वंचित होने का स्वाभाविक भय इनको हुआ होगा)।"

(३, ६, ८)

'कृष्ण का रंग आकाश में उठनेवाले घन मेघ का-सा है, उनका केशभार, जो मुख पर भी छा जाता है, पद्मपुष्पों पर मँडराने वाले भ्रमर-समूह के जैसा काला लगता है। वह वंशी बजाता है और उस सुमधुर नाद को सुनने वाले मृगगण जो समीपवर्ती

९. (तिरुवाय्मोळि, २,६,९-१०)

जगलो में चरते रहते हैं, तत्क्षण खाना भूलकर अमृतमय संगीत जाल में फँसकर बेसुध हो जाते हैं। इन मृगों ने जो घास मुँह में पहले ही से डाल रखी है, वह एक कोने से लटकती रहती है। ये इधर-उधर लेशमात्र भी न हिलकर गतिहीन हो खींचे हुए चित्र की भाँति बिलकुल निस्तब्ध भाव से खड़े रहते हैं।" (३, ६, ६)

शैशवावस्थाओं का चित्तरंजक विस्तार करने वाली पद्य-विधा का संप्रदाय, तमिल साहित्य में "पिल्लैत्तमिल" नाम से चला आ रहा है और इसका मूल स्रोत या कम से कम प्रथम नमूना संत विष्णुचित्त के उक्त गीत माने जा सकते हैं। वात्सल्य भक्ति-भाव तथा उक्ति सौष्ठव से प्रकाशमान इन गीतों का व्यापक प्रचार वैष्णव जगत् में हुआ है और इनका प्रभाव हिन्दी के महाकवि सूरदास तथा अन्य कृष्ण संबंधी कवियों द्वारा कृत पदावलियों में स्पष्टत: देखा जा सकता है।

कृष्णावतार संबंधी गीतों के अलावा कई अन्य पद्यों में विष्णुचित्त के अपने परिशुद्ध जीवन की हलकी सी झाँकियाँ हमें मिलती हैं। आत्म-निवेदन की चरम सीमा जो वैष्णव-दर्शन में 'शरणागति' या 'प्रपत्ति' कहलाती है, इनके गीतों में परिलक्षित है। अपनी पुष्प-वाटिका, घर-बार, गाय बैल, सब कुछ भगवान् को समर्पित करके ये सांसारिक प्रलोभनों से पूर्णत निर्मुक्त जीवन बिताते रहते थे। 'श्रीविल्लिपुत्तूर' के 'वटपत्रशायी' भगवान् की आराधना करके उनके सम्मुख तमिल वेदों का पठन-पाठन आदि कैंकर्य्य में सलग्न इस भक्त ने भगवदाज्ञानुसार अपनी पालित पुत्री गोदा को श्रीरङ्गनाथ के सान्निध्य में भेज दिया और फलस्वरूप उनका घर बिलकुल सूना रहा होगा। ऐसी अवस्था में शोकसंतप्त पितृ-हृदय की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति विष्णुचित्त की इन पंक्तियों में विद्यमान है—

"एक सुन्दर पद्मपुष्पशोभित तटाक के सद्य प्रफुल्लित कुसुमों पर ओस की वर्षा पड़ने से, जिस भाँति उनके पत्ते, मकरंद सब कुछ बिखर जाता है और रमणीयता का नाश हो जाता है, उसी प्रकार मेरा घर बिलकुल शून्य हो गया है। अपनी पुत्री से मैं कहीं नहीं मिल पाता हूँ। (३, ८, १)

"मैं केवल एक ही पुत्रीरूपी सम्पत्तिमान् हूँ। सारा संसार जानता है कि उस पुत्री का जितने प्रेम से, लक्ष्मीदेवी के समान, मैंने पालन-पोषण किया। साक्षात् विष्णु ही उसे अपने साथ ले चला।" (३, ८, ४)

भगवान नारायण की नानाविध सेवाओं द्वारा सुधन्यकृत अपने जीवन के अंत में इन्होंने जो प्रार्थना की है, वह हमें मुग्ध कर देने वाली है—

"उत्तुङ्ग शिखरवाले 'वेंकट' पर्वत पर विराजमान मूर्ति! लोकोद्धार के निमित्त अवतरित महामानव! दामोदर! समर्थ! अपने को और अपने सर्वस्व को आपके चक्र-चिह्न से अंकित करके, आपके अनुग्रह की महदाकाङ्क्षा से प्रेरित होकर मैं जीता आ रहा हूँ। अब आपका पुनीत संकेत किस दिशा में? (५, ४, १, ११)

"जैसे सुवर्ण, दूसरी वस्तुओं पर कसने से उनको भी प्रकाशमान बना देता है, वैसे ही आपके नाम को अपनी जिह्वा पर कसकर मलिनता दूर करके मैं परमधन्य हो गया।

आपको अपने अंदर मैंने बसा लिया है और अपने आपको भी आपके अंदर मैंने मिला दिया। मेरे पिता! मेरे हृषीकेश! मेरे प्राणों के संरक्षक! (५, ४, ५)

"आपके सब पराक्रमी कार्यों में से एक को भी भूले बिना अपने अंतरमन की भित्ति पर मैंने उन्हें लिख लिया। उद्दण्ड राजाओं का दमन करने के हेतु परशुधारण करने वाले राम भगवान्! मेरे अंदर आ बसे हुए स्वामी! अब मुझे छोड़कर आप कहाँ जा सकते हैं?" (५, ४, ६)

कुलशेखर के दो 'लघु नाटक'

कुलशेखराळ्वार के 'पेरुमाळ् तिरुमोळि', नामक गीतसंग्रह में दस गीत हैं जिनमें से दो रामावतार पर, और दो कृष्णावतार पर हैं। शेष मुख्यतः श्रीरङ्गम के भक्त जनमनमोहन अर्चामूर्ति पर आळ्वार का भक्ति उन्माद प्रकट करते हैं। इस आळ्वार की उच्च कल्पना ने कृष्ण-कथा के एक प्रसंग को लेकर, उसे एक लघु नाटक ही बना दिया है। यद्यपि कृष्ण देवकी के निजी पुत्र थे, तो भी वह यशोदा द्वारा पाला-पोसा गया। माता देवकी को अपने ही बालक की क्रीडाएँ देख पुलकित हो उठने के भाग्य से वंचित रहना पड़ा। वह भाग्य अनायास यशोदा को मिला जिसपर देवकी विलाप करती है। ऊर्मिला, यशोधरा आदि उपेक्षित नायिकाओं पर केंद्रित आधुनिक काव्यों की सृष्टि के पहले, सदियों पूर्व, कुलशेखर ने जिस प्रकार 'मानवतावाद' का दिग्दर्शन किया है यह आश्चर्य की बात है।

कृष्ण के प्रति देवकी का वचन यों है—"जब बंधु मित्रपरिवारों की नारियाँ कृष्ण-बालक को अपने उत्संग में रखकर, हमारे स्वामी हमारे कुल के प्रदीप! उदीयमान मेघ-राशि को भी पराजित करने वाले घनश्याम श्रेष्ठ! आदि प्रियवचन कह कर, 'तुम्हारा पिता कौन?' पूछ उठती हैं, तब तुम अपनी लाल उंगलियों और आँखों के कोने से नंद की ओर संकेत करते हो। दिव्य पितृत्व की सारी शोभा नंद को ही पहुँच गयी, न कि हत भाग्य हमारे प्रभु वसुदेव को।" (७, ३)

माखन में घुमा फिराकर, उन्हें मुँह तक उठानेवाले तुम्हारे आधे खिले हुए कमल से हाथ, तुम्हारे दही लिपटे हुए मुँह की झाँकी जिसे देख माता यशोदा तुम्हें रस्सी लेकर पीटने से सकुचाती है, तुम्हारा रुदन और भयभीत मुख भाव, वंकित मुँह के साथ की हुई तुम्हारी नम्रवदना—ये सब देख, वास्तव में यशोदा ने इहलोक में ही आनंद की परमसीमा का अनुभव कर लिया है। (अभागी मेरी बात तो क्या कही जाय)" (७, ८)

नाटकीय पद्धति में दिखाई हुई इस प्रकार की उत्कृष्ट भावुकता कुलशेखर के 'दशरथ चक्रवर्ति विलाप' नामक गीत में भी दर्शनीय है। श्री रामचंद्र के कानन गमन के पश्चात् राजा दशरथ का असीम दुःख कुलशेखर की कल्पना में सजीव हो उठता है। उसका थोड़ा-सा परिचय एक पद्य के अनुवाद से मिल सकता है—

"आज कानन-पथ में तुम जाते हो, दुःसह वन को भी प्रिय मानकर। वैरियों के हाथ वाले भाले के समान तीखे पत्थर तुम्हारे पाँवों में चुभते हुए, रुधिर-प्रवाह होते हुए पाँव से तुम जाते हो। हे मुझ जैसे पापी के पुत्र! केकय राजा की पुत्री के रूप में जनित इस

पापी महिला का वचन सुनकर निराशा में पड़ा हुआ अभागा मैं अब क्या कर सकता हूँ ? हाय ! मेरी दुर्दशा !" (९, ४)

तत्वबोध और शरणागतिभाव

यों तो सभी आळवारों ने अवतार-कथाओं का सुन्दर उपयोग किया है। केवल उदाहरण स्वरूप यहाँ पर एक-दो रसमय प्रसंगों का परिचय दिया गया है। विष्णु तत्व का प्रतिपादन और हृदयग्राहिणी आत्मसमर्पण की भावना प्रथम तीन आळ्वार, तिरुमळिशै, तोंडरिप्पोडि, तिरुप्पाण, मधुरकवि तथा नम्माळवार आदि की कृतियों में मिलती हैं। भगवत्प्राप्ति की आवश्यकता, उसका मार्ग और जीव के अवगुण आदि 'तिरुमळिशै आळवार' के इन गीतों में उच्च भावना समन्वित शैली में हमारे सामने आते हैं—

'हे मेरे मन ! भगवान् की वंदना तथा स्तुति करो यह जानकर कि जीवन बिल्कुल मिट जानेवाला है। अविरल रूप से बीतते रहते दिन खड्ग समान आयु की अवधि घटा देते हैं और व्याधि, जरा और मरण में जीवन की परिणति होती है। यह भी जानलो कि दान की अच्छाई दाता पर निर्भर है, और प्रार्थना करो कि भगवान के चरण कमल तुम्हें उस उत्कृष्ट भोग-सुख को प्रदान करें जिससे पुनर्जन्म संभव न हो।"

(तिरुच्चंद विरुत्तम ११२)

"निकृष्ट इंद्रिय मार्ग बिल्कुल बंद करके तपस्वी मार्ग खोल दो। ज्ञान रूपी ज्योति जगाओ। प्रगाढ़ उत्कंठा के कारण शरीर की हड्डी तक आर्द्र हो, हृदय पिघला हो, अंतरात्मा भी द्रवीभूत हो। तब उसी दशा में उठे हुए परम प्रेम के बिना क्या और किसी अवस्था में चक्रधर भगवान का साक्षात्कार हो सकता है ?" (वही, ७९)

"मैंने सम्मानयोग्य चतुर्वर्णों में किसी में भी जन्म नहीं लिया। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कलाओं का पठन-पाठन मेरी जिह्वा नहीं जानती। पंचेंद्रियों का दमन भी मैं नहीं कर पाया तनिक भी योग्यता मेरे पास नहीं है। हे पवित्र पुरुष आपके प्रकाशमान चरणों की शरण के अतिरिक्त दूसरी रक्षा मुझे कहीं नहीं है, मेरे ईश्वर !" (वही, ९०)

तोंडरिप्पोडि आळवार इस तरह अपनी निरुपाय अवस्था का निवेदन करते हैं मानो वे अपना हृदय खोलकर आराध्यदेव के समक्ष रख देते हैं। तड़पते हुए भक्त-हृदय की करुण पुकार इन पद्यों में हमें सुनाई पड़ती है—

"मेरा अपना गाँव नहीं है, अपनी ज़मीन नहीं है, और कोई पूछनेवाला बंधुजन भी नहीं है। फिर भी हे परम मूर्ति ! इस पार्थिव जीवन में आपके चरणमूल की सुदृढ़ शरण मैंने नहीं ग्रहण की। मेघों के रंगवाले श्याम ! मेरे कण्ण ! (कृष्ण) अब तो मैं भारी क्रंदन करता हूँ। कोई है मेरा अवलंब देनेवाले ? हे श्री रङ्गमहानगर में विराजमान मूर्ति !"

(तिरुमालै, २९)

"मेरे मन में थोड़ी सी भी शुद्धता नहीं है मुँह में से एक भी हितवचन नहीं निकलता है। क्रोध से द्वेषबुद्धि का मैं दमन नहीं कर पाता हूँ किंतु दूसरे पक्षवादियों पर बुरी दृष्टि डालकर परुषवचन बोल देता हूँ। हे स्वच्छ तुलसीदल-मालाधर ! कावेरी

आपको अपने अंदर मैंने बसा लिया है और अपने आपको भी आपके अंदर मैंने मिला दिया। मेरे पिता! मेरे हृषीकेश! मेरे प्राणों के संरक्षक! (५, ४, ५)

"आपके सब पराक्रमी कार्यों में से एक को भी भूले बिना अपने अंतरमन की भित्ति पर मैंने उन्हें लिख लिया। उद्दण्ड राजाओं को दमन करने के हेतु परशुधारण करने वाले राम भगवान्! मेरे अंदर आ बसे हुए स्वामी! अब मुझे छोड़कर आप कहाँ जा सकते हैं?" (५, ४, ६)

कुलशेखर के दो 'लघु नाटक'

कुलशेखराळ्वार के 'पेरुमाळ् तिरुमोळि', नामक गीतसंग्रह में दस गीत हैं जिनमें से दो रामावतार पर, और दो कृष्णावतार पर हैं। शेष मुख्यतः श्रीरङ्गम के भक्त जनमनमोहक अर्चामूर्ति पर आळ्वार का भक्ति-उन्माद प्रकट करते हैं। इस आळ्वार की उच्च कल्पना ने कृष्ण-कथा के एक प्रसंग को लेकर, उसे एक लघु नाटक ही बना दिया है। यद्यपि कृष्ण देवकी का निजी पुत्र था, तो भी वह यशोदा द्वारा पाला-पोसा गया। माता देवकी को अपने ही बालक की क्रीडाएँ देख पुलकित हो उठने के भाग्य से वंचित रहना पडा। वह भाग्य अनायास यशोदा को मिला जिसपर देवकी विलाप करती है। ऊर्मिला, यशोधरा आदि उपेक्षित नायिकाओं पर केंद्रित आधुनिक काव्यों की सृष्टि के पहले, सदियों पूर्व, कुलशेखर ने जिस प्रकार 'मानवतावाद' का दिग्दर्शन किया है यह आश्चर्य की बात है।

कृष्ण के प्रति देवकी का वचन यों है—"जब बंधु मित्रपरिवारों की नारियाँ कृष्ण-बालक को अपने उत्संग में रखकर, हमारे स्वामी हमारे कुल के प्रदीप! उदीयमान मेघ-राशि को भी पराजित करने वाले घनश्याम श्रेष्ठ! आदि प्रियवचन कह कर, 'तुम्हारा पिता कौन?' पूछ उठती हैं, तब तुम अपनी लाल उंगलियों और आँखों के कोने से नंद की ओर संकेत करते हो। दिव्य पितृत्व की सारी शोभा नंद को ही पहुँच गयी, न कि हत भाग्य हमारे प्रभु वसुदेव को।" (७, ३)

मक्खन में घुमा-फिराकर, उन्हें मुँह तक उठानेवाले तुम्हारे आधे खिले हुए कमल-से हाथ, तुम्हारे दही लिपटे हुए मुँह की झाँकी जिसे देख माता यशोदा तुम्हें रस्सी लेकर पीटने से सकुचाती हैं, तुम्हारा रुदन और भयभीत मुख भाव, वक्रित भौंह के साथ की हुई तुम्हारी नम्रवदना—ये सब देख, वास्तव में यशोदा ने इहलोक में ही आनंद की परमसीमा का अनुभव कर लिया है। (अभागी मेरी बात तो क्या कही जाय)" (७, ८)

नाटकीय पद्धति में दिखाई हुई इस प्रकार की उत्कृष्ट भावुकता कुलशेखर के 'दशरथ चक्रवर्ति-विलाप' नामक गीत में भी दर्शनीय है। श्री रामचंद्र के कानन-गमन के पश्चात् राजा दशरथ का असीम दुःख कुलशेखर की कल्पना में सजीव हो उठता है। उसका थोडा-सा परिचय एक पद्य के अनुवाद से मिल सकता है—

"आज कानन-पथ में तुम जाते हो, दुःसह वन को भी प्रिय मानकर। वैरियों के हाथ वाले भाले के समान तीखे पत्थर तुम्हारे पाँवों में चुभते हुए, रुधिर-प्रवाह होते हुए पाँव से तुम जाते हो। हे मुझ जैसे पापी के पुत्र! केकय राजा की पुत्री के रूप में जनित उस

पापी महिला का वचन सुनकर निराशा में पड़ा हुआ अभागा मैं अब क्या कर सकता हूँ ? हाय ! मेरी दुर्दशा !" (९, ५)

तत्वबोध और शरणागतिभाव

यों तो सभी आळवारों ने अवतार-कथाओं का सुन्दर उपयोग किया है। केवल उदाहरण स्वरूप यहाँ पर एक-दो रसमय प्रसंगों का परिचय दिया गया है। विष्णु तत्त्व का प्रतिपादन और हृदयग्राहिणी आत्मसमर्पण की भावना प्रथम तीन आळ्वार, तिरुमळिशै, तोंडरिप्पोडि, तिरुप्पाण, मधुरकवि तथा नम्माळवार आदि की कृतियों में मिलती है। भगवत्प्राप्ति की आवश्यकता, उसका मार्ग और जीव के अवगुण आदि 'तिरुमळिशै आळवार' के इन गीतों में उच्च भावना समन्वित शैली में हमारे सामने आते हैं—

"हे मेरे मन ! भगवान् की वंदना तथा स्तुति करो, यह जानकर कि जीवन बिल्कुल मिट जानेवाला है। अविरल रूप से बीतते रहते दिन खड्ग-समान आयु की अवधि घटा देते हैं और व्याधि, जरा और मरण में जीवन की परिणति होती है। यह भी जानलो कि दान की अच्छाई दाता पर निर्भर है, और प्रार्थना करो कि भगवान् के चरण कमल तुम्हें उस उत्कृष्ट भोग-सुख को प्रदान करें जिससे पुनर्जन्म संभव न हो।"

(तिरुच्चंद विरुत्तम ११२)

"निकृष्ट इंद्रिय मार्ग बिल्कुल बंद करके तपस्वी मार्ग खोल दो। ज्ञान रूपी ज्योति जगाओ। प्रगाढ उत्कंठा के कारण शरीर की हड्डी तक आर्द्र हो, हृदय पिघला हो, अंतरात्मा भी द्रवीभूत हो। तब उसी दशा में उठे हुए परम प्रेम के बिना क्या और किसी अवस्था में चक्रधर भगवान का साक्षात्कार हो सकता है ?"

(वही, ७६)

"मैंने सम्मानयोग्य चतुर्वर्णों में किसी में भी जन्म नहीं लिया। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कलाओं का पठन-पाठन मेरी जिह्वा नहीं जानती। पंचेंद्रियों का दमन भी मैं नहीं कर पाया, तनिक भी योग्यता मेरे पास नहीं है। हे पवित्र पुरुष आपके प्रकाशमान चरणों की शरण के अतिरिक्त दूसरी रक्षा मुझे कहीं नहीं है, मेरे ईश्वर।"

(वही, ६०)

तोंडरिप्पोडि आळवार इस तरह अपनी निरुपाय अवस्था का निवेदन करते हैं मानो वे अपना हृदय खोलकर आराध्यदेव के समक्ष रख देते हैं। तड़पते हुए भक्त-हृदय की करुण पुकार इन पद्यों में हमें सुनाई पड़ती है—

"मेरा अपना गाँव नहीं है, अपनी ज़मीन नहीं है, और कोई पूछनेवाला बंधुजन भी नहीं है। फिर भी हे परम मूर्ति ! इस पार्थिव जीवन में आपके चरणमूल की सुदृढ शरण मैंने नहीं ग्रहण की। मेघों के रंगवाले श्याम ! मेरे कण्ण ! (कृष्ण) अब तो मैं भारी क्रंदन करता हूँ। कोई है मेरा अवलंब देनेवाले ? हे श्री रङ्गमहानगर में विराजमान मूर्ति !"

(तिरुमालै, २९)

"मेरे मन में थोड़ी सी भी शुद्धता नहीं है, मुँह में से एक भी हितवचन नहीं निकलता है। क्रोध से द्वेषबुद्धि का मैं दमन नहीं कर पाता हूँ किंतु दूसरे पक्षवादियों पर बुरी दृष्टि डालकर परुषवचन बोल देता हूँ। हे स्वच्छ तुलसीदल-मालाधर !

नदी परिवेष्टित पुनीत रङ्गभूमि में अधिवासी ! मेरी गति अब क्या हो सकती है, कहिये मुझ पर शासन करने वाले महाप्रभु !" (वही, ३०)

यही भक्त, कई अन्य पद्यों में संसार का हेयत्व तथा गोविंद की चरण-वंदना—दोनों का सुंदर प्रतिपादन अपनी भावप्रधान रीति से करते हैं—

"अगर वेद-विहित एक सौ बरस की पूरी अवधि मनुष्य के लिए प्राप्त होती तो भी उसमें आधा भाग सुषुप्तिवश बेकार होगा। बाकी में पंद्रह साल अनजान बालकपन का होगा, शेष में व्याधि, क्षुधा, संकट, इनका आधिपत्य होगा। स्पष्ट रूप से जीवन इतना नि:सार है कि हे रंगमहानगर निवासी भगवान ! मैं जन्म लेना नहीं चाहता हूँ।" (वही, ३)।

"हे मतिहीन मनुष्य लोग ! गोविंद के अतिरिक्त कोई अन्य देवता भी है क्या ? किसी संकट-ग्रस्त समय के सिवाय अन्य समयों में तुम लोग एक ही जगन्नाथ को पहचान नहीं पाते। जान लीजिए, कोई उनसे महान नहीं है और उनके अतिरिक्त अन्य देवता वास्तविक नहीं हैं, जिन्होंने गौवों का संरक्षण किया था। उस गो-पालक परम पुरुष मेरे प्रभु की चरण-युगल-वंदना कीजिए।" (वही, ६)।

तमिल की प्राचीन नायक-नायिका संबंधी कविता पद्धति और आलवारों द्वारा इसका उपयोग—

पहले संकेत किया जा चुका है कि आळवारों ने ईश्वर से जो संबंध स्थापित किये, उनमें नायक-नायिका का संबंध अधिक महत्व का है। यहाँ यह जानने योग्य है कि नायक और नायिका के वचन के रूप में प्रेम के नाना प्रकार के प्रसंग प्रस्तुत करने की परम्परा तमिल के प्राचीन से प्राचीन साहित्य में चली आ रही है। 'तोल्काप्पियम्' नामक प्रथम व्याकरण, जो आज उपलब्ध संघ-साहित्य में सबसे अधिक पुरातन माना जाता है वैयाकरणिक विषयों के अलावा, कविता की सामग्री का भी विवरण देता है। 'अहम्' या आतंरिक कविता-विधा का परिचय देते हुए यह ग्रंथ बताता है कि प्रेमी तथा प्रेमिका के वचन द्वारा किन-किन प्रसंगों का वर्णन किन-किन प्रकारों से करने से रसानुभूति की परिपूर्ति हो सकती है।

प्रेमी जीवन से संबद्ध प्रसंगों को एक सूत्र में बाँधकर उनको नाटक-लक्षणों से युक्त एक धारावाहिक उपन्यास का रूप तोल्काप्पियम् ने दिया है। पहले किसी सुंदर प्राकृतिक वातावरण में दैव-वशात् नायक-नायिकाओं का मिलन होता है जो पारस्परिक प्रेम में फूलता फलता है। किसी बहाने से प्रेमी प्रेमिका के यहाँ अज्ञात रूप से आया करता है और थोड़े समय के बाद, उस प्रिया से गुप्त गंधर्व-विवाह भी कर लेता है। जब प्रेम की बात इतनी बढ़ जाती है और आसपास के लोग भी प्रेमी के बार-बार आगमन से वास्तविक स्थिति का अनुमान कर लेते हैं, तब किसी के कथन द्वारा रहस्य गुरुजनों तक पहुँच जाता है और प्रेमी प्रेमिकाओं का परिणय मनाने की अनुमति माता-पिता से मिल जाती है। परिणय-पूर्व काल 'कळवु' (गंधर्व वैवाहिक काल) कहा जाता है। इसमें नायक-नायिका का प्रथम मिलन, दोनों के एक दूसरे पर प्रेम-प्रकटन, नायक के

गुप्त आगमन के कारण मार्ग में सम्भाव्य विपत्तियों का नायिका द्वारा निवेदन, आदि अनेक संदर्भ सम्मिलित हैं। परिणय-पश्चात काल 'करपु' (दाम्पत्यकाल) कहा जाता है। पति-पत्नि का प्रणय, कलह, पति के अपने कार्यनिमित्त चले जाने से पत्नी की विरह-वेदना-विलाप, या विरह-सहन के उपयुक्त वचन, दोनों का पुनर्मिलन, आदि कई संदर्भ इस 'करपु' में संयुक्त हैं। *इस प्रकार विभक्त प्रसंगों को नायक, नायिका, धाई, सहेली,* देखने वाले आदि पात्रों के वक्तव्य के रूप में संघ-साहित्य में सम्मिलित 'एट्टुत्तोगै' और 'पत्तुप्पाट्टु' नामक गीतसंग्रह प्रस्तुत करते हैं।

यह भी देखने योग्य है कि समान रूप से प्रेम करने वाले नायक-नायिकाओं की बातें अधिकांशतः इन संग्रहों का विषय हैं। कभी-कभी प्रेमिका से तिरस्कृत नायक के एक पक्षीय व्यर्थ प्रेम की घोषणा भी पद्यों में मिल जाती है। प्रेममग्न पुरुष ताड़ की डालियों से बने हुए घोड़े पर सवार होकर, अपने प्रेमोन्माद की कारणरूपी स्त्री का चित्र दिखाकर, यदि उसकी दया न मिली तो आत्महत्या करने की शपथ ले लेता है। इस पद्धति का नाम 'मडल्' है।

जिस समय आळवार सत अपनी दिव्य अनुभूतियों को कवितावद्ध रूप देने लगे, उस समय से बहुत पहल ही तमिल की पुरानी माधुर्य भक्ति पद्धतियों ने कवि के लिये एक प्रत्यक्ष राजमार्ग प्रशस्त कर रखा था। आळवारों ने इसी राजमार्ग पर चलते हुए उसे अपने अमिट पद चिन्हों से अंकित कर दिया। तमिल संघ-साहित्य के वही नायक-नायिकाओं के कथन, धाई, सहेली देखने वाले आदि की उक्तियाँ, उपेक्षित नायक (या नायिका) के व्यर्थ प्रेम की घोषणाएँ आदि, आळवारों की गीतावलियों में हम देख सकते हैं। परंतु इन सबका संबंध और तात्पर्य परमपुरुष नारायण से ही है जो विशिष्टतः अनेक अवतार लेते हैं तथा देवालयों मे अर्चामूर्ति रूप में हमारे नयनगोचर होते हैं। इसका आशय यह निकलता है कि भगवान पर प्रेममग्न नायिका या नायक और उनके निकटवर्ती अन्य पात्रों की अनुराग भरी उक्तियों द्वारा इन गीतों का निर्वाह होता है। प्रथम तीन आळवार, मधुरकवि, तोंडरिप्पोडि तथा तिरुप्पान् आळवारों को छोड़कर, शेष नंमाळवार्, तिरुमंगै आळवार्, पेरियाळवार्, कुलशेखराळवार् और आण्डाळ— ये पांचों भक्तकुल चूडामणियों ने तमिल भाषा की पूर्ववर्ती प्रेमसंबंधी काव्यरूढियों से अपनी सरस, माधुर्य भक्ति व्यक्त करने में पर्याप्त लाभ उठाया है।

आण्डाळ् की स्वतः सिद्ध माधुर्य भक्ति

माधुर्य भक्ति का विवेचन करते समय, परमानुरागिणी 'आण्डाळ्' को विशेष महत्व दिया जाता है। हम प्रेम द्वारा भगवान के जितने निकट पहुँच सकते हैं उतने ज्ञान वैराग्यादि अन्य साधनों से कभी नहीं पहुँच सकते। नायक-नायिका पद्धति अपनाने से एक प्रकार से नायिका का वेश धारण करके कदाचित् अन्य आळवार सन्तोंने भगवद्‌प्रेम की गहराइयों का थोड़ा-बहुत अनुभव किया होगा। पर 'आण्डाळ्' की अलौकिक माधुर्य भक्ति, नारी-हृदय से उठने वाली स्वतः सिद्ध एकाग्र निष्ठा थी और यह वैष्णवाचार्यों द्वारा भूयिष्ठ प्रशंसा-पात्र बनी रही है। नायक नारायण पर केंद्रित प्रेमपराकाष्ठा से उसका प्रत्येक कार्य अभिभूत हुआ। तत्कालीन प्रथानुसार, कामदेव से अपने अभीष्ट

वरदान के लिये प्रार्थना करना कन्याओं की रिवाज थी और इस प्रकार की प्रार्थनाओं के बीच वह भगवान से ही संयुक्त अपनी अपार प्रेम-लालसा की घोषणा करती है।

'हे मन्मथ ! यौवन-सुषमा से उठने वाला मेरा शरीर, वैरियों के रक्त से रंजित शंख चक्र धारण करने वाले पुरुषोत्तम के लिए ही अर्पित है। अगर मेरे शरीर को केवल मनुष्यों का भोग्य मानकर लोग बातें करें तो वह स्वर्गवासी देव मंडलियों को यज्ञ में दिये हुए हविष्य पर एक जंगली शृगाल के कूदकर सूंघ लेने के समान ही होगा। ऐसी बातें सुनकर मैं जीवन धारण भी नहीं कर सकती हूँ।" (नाच्चियार तिरुमोळि, ५)।

आण्डाळ की कविता प्रेमिका की विचित्र भावावस्थाओं का सुन्दर दर्पण है। कभी प्रियतम से मिलने की आशा कभी उनकी निष्ठुरता पर करुण पुकार, फिर अपने नयनों को तारा ही बनकर भुलाने पर भी न भुला सकने वाले नायक द्वारा रचित सवेदना-इत्यादि विविध भावों से इनके गीत ओत-प्रोत हैं। मेघ, कोकिल आदि चेतन प्राणियों से ही नहीं, शंख, मयूर आदि निर्जीव वस्तुओं द्वारा भी वह निर्दयी स्वामी को संदेश भेज देती है। कालिदास की सुन्दर उक्ति 'प्रेमार्त्ता हि प्रणयकृपणाः चेतनाचेतनेषु' यहाँ सर्वथा अनुकूल बैठती है। मेघ से आण्डाळ कहती है—

'मस्त हाथी के समान उठने वाले हे बड़े मेघ ! 'तिरुवेंकट' पर्वत पर वास करने वाले ! मुझे शेष शायी भगवान द्वारा दिया गया वचन कितना विश्वसनीय था। (अब वह सत्य से कितना दूर हो गया) वह पुरुष, जो लोगों की गति कहलाता है, अज्ञानन-एक वन्याबाला के वध का कारण बना अगर इस प्रकार का अपवाद संसार में फैल गया तो हाय ! उनका आदर कौन करेगा ?

(नाच्चियार तिरुमोळि, ८,६)

प्रेमिका के मन में, चाहे अपनी दशा कितनी ही शोचनीय क्यों न हो, अपने हित की अपेक्षा प्रियतम की भलाई ही सर्वप्रथम ध्यान पाती है। यदि वही अपने दुख के लिए उनको दोषी कहा जाय तो कितना कष्ट होगा यही चिंता उसे अस्थिर कर देती है। विरह-जनित दयनीय स्थिति में कोकिल से वह प्रार्थना करती है—

"अस्थि तक पिघल कर मैं ऐसी दशा में हूँ कि मेरी भाले के समान आँखें रात भर नींद में नहीं मूँदती। दुख सागर में मग्न होकर बिना गोविंद नामक नाव के कष्ट ही कष्ट भोगती रहती हूँ। हे कोयल ! तुम भी कदाचित इस व्याधि से परिचित होगी जिसका जन्म प्रियजनविच्छेद में होता है। कृपा करके अपने मुक्तकंठ से गरुड ध्वजवाले को यहाँ आने का निमंत्रण दे दो।" (वही, ५, ४)

अपने साथ दुर्व्यवहार करने वाले गोविंद को भूलकर सुखी रहने के निश्चय पर प्रेमिका पहुँचती है। पर वह तत्क्षण विफल होता है। यह उपद्रवी कृष्ण चौबीसों घंटे अपने को आवृत्त करके, चारों ओर चक्राकार में नाचते हुए कभी अपना साथ नहीं छोड़ता है। फिर भी इनका निजस्वरूप देखने में नहीं आता।

'कितनी बार रोने पर, प्रार्थना करने पर भी, वह अपना निजस्वरूप दिखाते नहीं, अभयप्रदान भी नहीं देते—ये किस प्रकार के पतिदेव हैं।" (वही, ११३, ५)

यों ही उठने गिरने वाली आशाओं से तरंगित मन को परमानंद से प्रफुल्लित होने का भाग्य तब आया जब भगवान वासुदेव ने स्वयं स्वप्न में आकर उसी प्रिया से

परिणय कर लिया। स्वप्न में परम पुरुष के साथ घटित हुए अपने परिणय के समस्त वैभव-कोलाहल को आण्डाळ ने एक झलकते हुए 'परिणय-गीत' में चित्रित किया है। उसके एक पद्य का अनुवाद यह है —

"दुदुभियो का नाद उठ रहा था; शंखध्वनि सुनाई दे रही थी, उसी समय जगमगाती मुक्तावलियों से अलंकृत अच्छादन के नीचे मेरे प्रिय साथी पुरुषोत्तम मधुसूदन ने आकर अपने पाणि से मेरे पाणि का ग्रहण कर लिया।" (वही,६, ६)

प्रेमी जीवन के मोहक प्रसंगों का चित्रण—

प्रेमी जीवन के कई सदर्भों में से नायिका की प्रेमाकुलावस्था के वर्णन में आळवारों ने अपनी उत्कट भक्ति के साथ अद्भुत भावाभिव्यजनासौन्दर्य भी दिखाया है। एक उदाहरण हम यहाँ देंगे। प्रेम-विभोर कन्या क्रीडा-खेल, आभूषण-अलकार, खाना-पीना, सब कुछ भूलकर कृश हो जाती है। उसकी चिंतित माँ, पुत्री की निजी स्थिति से प्रेमी नायक को समझा देती है कि अब तुम्हारे किये हुये इस दुःख पारावार के उद्धार तुम ही करा सकते हो। तिरुमगै आळवार तथा शठकोप, दोनो ने इस तरह माँ के वचनरूपी अनेक पद्यो की रचना की है। उनमें से कई इस प्रकार हैं—

मेरी पुत्री का मन द्रवित हो गया है, उसकी आँखें भर आती हैं और वह दीर्घ-निश्वास लेती है। खाना-पीना तो वह बिलकुल भूल गयी है। नीद का त्याग कर चुकी है। वह इस तरह पुकारती रहती है—'मेरे शेषशायी पुरुष! हरी-भरी कृषि भूमि सपन्न 'तिरुवालि' के स्वामी! अपनी सखियो से वह कह उठती है—'मेरी प्रिय सखि! क्या हम श्रीरङ्गमहाक्षेत्र को चलें, जहाँ सुन्दर पखवाले पक्षिगण नादगान करते रहते हैं।' "हाय मेरी भाग्यहीनता! ऐसी पुत्री मेरी है जो मेरे आश्रय में सीमित नही रह सकती और इस कारण ससार में मुझ पर एक कलक-सा लग गया है।"

अपने तोते से वह कहती है—तुम भगवान के अनत नाम बोलते जाओ, जैसे गोवर्धनधारी रक्षक! काचीपुरवासी! कोदड भग से प्राप्त सीता के स्वामी! 'वेह्.हा' क्षेत्र की शयनरूपी मूर्ति! मल्लयुद्ध में मल्लो को हराने वाले! बकासुर को केवल हाथो से तोड डालने वाले! आदि। इस तरह कहते ही उसके नयनो से अश्रुजल छाती पर गिर जाता है और वह विषादमग्न दिखाई देती है।

"... जब तोते ने, तिरुक्कुरुगुडि क्षेत्र की नीलमेघ मूर्ति! त्रिलोको की पहुँच के बाहर वाले एक शाश्वत यौवन सपन्न मूलतत्त्व! श्रीरङ्गक्षेत्र ब्रह्मन! मुनिवरो के अत:करण निवासी! ज्योतिष्पुज! उत्तमोत्तम शिरोरत्न! 'तिरुत्तण्का' और 'वेह्.हा' क्षेत्रो के भगवान! आदि नामों का सकीर्तन किया, तब वह वह उठती है, 'अब तुम्हारा पालन जो मैंने किया, सार्थक हो गया', और तोते की अजलिबद्ध हस्त से वदना करती है।

"ऊँचे प्राकारो से आवृत काचीपुरनगरी निवासी पराक्रमी पुरुष! क्षीराब्धि में शयन करने वाले भक्तजन योग्य प्रभु! सुन्दर श्वेत कमल मडित तटाको और हरो-भरी

धान्य भूमियों से शोभित 'अळुदूर' क्षेत्र की मूर्ति ! आदि नामों से भगवान को सबोधित करके सुमधुर नादों का जन्म देने वाली वीणा को वह छाती पर रख देती है। जब वह वीणा बजाती है, बीच-बीच में हँसी की रेखाएँ मुख पर फैल जाती हैं। अपनी कोमल उंगुलियों के लाल हो जाने पर भी वह उनसे वीणा-तंत्रियों को निनादित करती रहती है और प्रेम-मग्न हो शुक पक्षी के समान बातें करती रहती है। ..

ऐसी मेरी कन्या की दुर्दशा दूर करने के निमित्त क्या उपाय आपने सोच रखा है, हे लोकपालक !

(तिरुनेडुंताण्डकम् १२-१४)

मातृवचन के अतिरिक्त, जिन गीतों में प्रेमिका स्वयं अपनी मनोकामना तथा संयोगविरहादि जन्य भावनाएँ प्रकट करती है, उनका भावातिरेक सीधे हम पर प्रभाव डालने वाला है। भावोद्दीपन के लिए प्राकृतिक वातावरण से भी आळ्वारों ने काम लिया है। इसका एक उदाहरण श्री शठकोप के 'तिरुविरुत्तम्' से यहाँ दिया जाता है—

'यह संध्या समय बिलकुल अभागा है। पश्चिम में चंद्र का निकलना ऐसा निराशाप्रद है मानो मांगल्य नष्ट सी वह दिशा दिनरूपी पति को खा कर अपने दुधमुँहे बच्चे चंद्रमा को गोद में लिये हुए रो रही है, इस तुच्छ वेला में देखिये, यह शीतल पवन चारों ओर कैसे झकझोर कर टटोलता है मानों त्रिविक्रम स्वामी पर लालायित प्रियजनों को जो संदेशा मिल रहा है, उसे भी वह अपहरण करके चला जायगा।

(३५)

वास्तव में एक सौ पद वाले 'तिरुवित्तम्' तमिल-साहित्य की पुरानी 'अहम्' (शृङ्गाररससंबंधी) परिपाटी का लक्षण-ग्रंथ ही मानना चाहिए। नायक-नायिका पद्धति के सब प्रसंगों के उदाहरण इसमें हैं और इन सब की कुंजी है उनका अंतर्वर्ती लोकातीत प्रेम।

आध्यात्मिक सन्देश की नितनूतनता

आळ्वारों की भाव-सौष्ठव-विशेषताओं के विशद् वर्णन के लिए एक पृथक पुस्तक ही उपयुक्त है। इन भावों को उत्तरकालीन आचार्य नेता किस प्रकार एक सुपरिष्कृत भक्ति-परिपाक बना देते थे यह भी विस्तृत अनुशीलन का विषय है। आध्यात्मिक विजेताओं में आळ्वार अग्रगण्य हैं और भगवत् साक्षात्कार से परम पावन हुई इनकी वाणी, भक्त कवियों के लिए अलौकिक स्फूर्ति देती आ रही है। यह ऐतिहासिक तथ्य हो गया है कि इनकी वाग्विभूतियाँ भारतभूमि के चारों ओर व्याप्त होकर नये-नये सम्प्रदाय तथा नयी-नयी कविता का आधार बनी। सूर, तुलसी आदि पुराने कवि ही नहीं, प्रत्युत रवीन्द्र जैसे आधुनिक कवि पर भी इनकी छाप स्पष्टतः विद्यमान है। आळ्वारों का सन्देश जितना पुराना है, उतना ही आधुनिक भी ठहरता है।

यहाँ संक्षेप में हम दो-चार अंशों का उल्लेख करेंगे जिनमें इन संतों का संदेश रवीन्द्र-रचित गीतांजलि में मानो प्रतिध्वनित होता हुआ लगता है। इस विषय का पहला संकेत मेरे गुरुवर तथा तमिल के लब्धप्रतिष्ठ लेखक श्री रा० श्री० देशिकन ने अपने एक

व्याख्यान में किया ।'' प्राय सब आळ्वार संतो ने इस भाव को व्यक्त किया है कि अपनी
गीत-रूपी मालायें भगवान् नारायन के चरणारविंदो पर चढ़ाकर ये सुधन्य हो गये ।
इनके आराध्य-देव एक प्रेमी नायक है और इनके शीघ्रागमन की प्रतीक्षा ही जीवन को
धारण-योग्य बना देती है । मेघ, विद्युत, वर्षा आदि प्राकृतिक दृश्य, इनकी समझ में
प्रभु के ही आगमन-सूचक चिन्ह हो जाते हैं । उदाहरणस्वरूप नम्माळ्वार के गीतो में,
जब नायिका जोरो से बरसने वाली वर्षा को देखती है तब 'नारायण आ गए' कहकर नाचने
लगती है । नम्माळ्वार यह भी मान लेते हैं कि अपने गीत वस्तुतः अपने ही नही कहे जा
सकते । वे कहते हैं—'मेरे अंत करण और आत्मा, दोनो को अपना भोग्य पदार्थ बनाकर
उनमें विराजमान रहने वाले मायामोहक कवि, स्वयं अपना लीलागान मेरे तुच्छ माध्यम
द्वारा करते रहते हैं'', और आगे आळ्वार पूछते हैं—'मेरी ओर से बिना किसी
प्रयत्न किये, मेरे मन एव आत्मा को आकृष्ट करके उनसे अभिन्न रहने वाले प्रभु भविष्य
में क्या मुझे त्यागकर जा सकते हैं ?' इन शब्दों में वैष्णव-धर्म का एक प्रबल सिद्धात
अन्तर्निहित है कि भगवान स्वय भक्तजनो पर अहैतुकी कटाक्ष करते हैं । भगवान का
असीम तत्त्वरूप, सीमित सृष्टियो के बन्धन में घुस करके उनको भी अनन्त बना देने में
एक अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है । भगवान की अहैतुकी कारुण्य-वर्षा अविरल-धारा सी
बरसती रहती है और वे ही स्वय अपने कटाक्ष-योग्य पात्र चुन लेते हैं । आळ्वार विस्मित
होते हैं कि बहुत से श्रेष्ठ कवि होते हुए, मुझ जैसे साधारण गायक को माध्यम बनाकर
भगवान गाना सुनाया करते हैं । जिन जीवो पर भगवान की करुणा अंकित है, उनको
मृत्यु से क्या भय है ? असलमें मरण इनके साधना मार्ग में अधिक प्रगति दिखाने वाला
एक स्तम्भ हो जाता है । ऐसे अध्यात्म-विजेताओ के जीवनोत्तर पथ जिस प्रकार
कुतूहल-सम्पन्न है' इसे नम्माळ्वार अपने अन्तिम पद्यो में यो चित्रित करते हैं—

"मेरे प्रभु-शाश्वत यशस्वी भगवान नारायण के निजी अनुयायियो को देख,
परलोक में प्रसन्नता चारो ओर फैल गयी । आकाश के सुन्दर मेघ अपने गर्जन-
रूपी दुदभि वाद्य बजाने लगे । गहरा समुद्र अपने लहर-रूपी हाथ फैलाकर नाच उठा ।
सप्तलोकों मे रत्न और समृद्धि अधिक हो गयी ।

"नारायणनिष्ठो के दर्शन से तृपित होकर जलराशि से भरे हुए कई सघन मेघो
ने स्वागतार्थ आकाश-मार्ग में पूर्णकुम्भ रख दिए (अर्थात् स्वय पूरण-कुम्भ बने) । जल-
सम्पन्न वारिधि हर्षोन्माद से आदोलित होने लगे । निखिल जगत् के लोगो ने तोरण-मालाए
बाँध करके श्रद्धाजलि प्रकट की ।'' (तिरुवायूमोळि, १०, ६, १-२)

रवीद्रकृत 'गीताजलि' मे ऊपर उल्लिखित अशो का समावेश देखने के लिए अधिक
परिश्रम की आवश्यकता नही । गीतो द्वारा अजलि करने का अर्थ देने वाला शीर्षक,
आळवारो से बहुधा प्रयुक्त गीत-मालार्पण भाव का स्मरण कराता है । उनकी भाँति
अध्यात्म-जीवन की उपमाओ को ठाकुरजी भगवत विषयक अर्थ में प्रयोग करते हैं ।
इनके पदो में वधू द्वारा अपनी कुटी में वर की प्रतीक्षा करना जीव की भगवदोन्मुखी
आत्मा का प्रतीक, और मेघो की गरज आराध्य के आगमन सूचक नाद है । जिस प्रकार

१० इनका "Grains of Gold—Introduction" भी दृष्टव्य है ।

नम्माळ्वार कहते हैं कि भगवान के निर्हेतुक कटाक्ष ने सर्वथा अनुपयुक्त अपने को भी दिव्य संगीत के प्रकटीकरण का माध्यम बना दिया, उसी भांति रवींद्र ने अत्यन्त हृदय-ग्राहक ढंग में भावाभिव्यक्ति की है। गीतांजलि के इस विषय से सम्बन्धित पद्यों का आशय इस तरह का है—

'मेरे कवि ! (ईश्वर) आपकी सृष्टि को मेरी आंखों द्वारा देखना, और अपने ही शाश्वत संगीत को मेरे कानों द्वारा सुनना, क्या आपको प्रिय लगता है ? • प्रेमवश, आपने अपना व्यक्तित्व मुझमें मिला दिया है और मेरे द्वारा आप अपने सारे माधुर्य का अनुभव करते हैं।"

(६५)

"आपकी सभा में कवितिलक अनेक हैं और दिन-रात वहां उत्तमोत्तम गीत गाये जाते हैं। फिर भी न जाने कैसे इस नौसिखिये के सीधे-साधे गाने ने आपका प्रेम पा लिया।"

(४६)

मृत्यु के संबंध में सच्चे अध्यात्मिका की निर्भीकता रवींद्र की कृति में दृष्टव्य है। नम्माळ्वार के अनुरूप, इनकी दृष्टि में भी मरण, अपने स्वामी से मिलने का सुअवसर है, और ये एक चिर अभिलाषित परिणय के उचित उत्साह से इसकी तैयारियां करने को आह्वान करते हैं।

(गीतांजलि, ६४)।

रवींद्र के आधुनिक आकर्षण के मूल में आळ्वारों का प्रभाव विद्यमान है चाहे वह इनको सीधे अपने प्रयास रूप में प्राप्त हो, चाहे वह इनको वैष्णव परंपरा द्वारा उपलब्ध हो। वस्तुतः आळ्वारों की अध्यात्मिक परंपरा अक्षुण्ण चली आ रही है और समय तथा परिस्थिति के अनुकूल नूतन उपलब्धियां देने वाली है।

श्री व्रजवल्लभ शरण

उज्ज्वल रस-उपासना और निम्बार्क सम्प्रदाय

उपास्यदेव के सन्निकट पहुँचने एवं उसके अत्यन्त निकट स्थित होने के लिये जो क्रिया जिज्ञासा, विचार तथा ध्यान आदि किया जाता है वही उपासना कहलाती है। उसके अनेक भेदोपभेद हैं। वेदो में कर्म और ज्ञान के साथ-साथ उपासना का भी विस्तृत वर्णन है। इसी से उन के तीनो काण्ड पूर्ण होते हैं।

उपासना क्रियात्मक और ज्ञानात्मक भी है, अतएव जहाँ-जहाँ पर उपासना का स्पष्ट और स्वतन्त्र उल्लेख नहीं मिलता वहाँ वह क्रिया और ज्ञान ही उपासना रूप कहे जाते हैं। क्योंकि उपासना ज्ञान कर्म दोनों में अनुस्यूत रहती है।

ज्ञान और विद्या दोनो शब्द एकार्थक पर्य्याय प्रसिद्ध हैं। वेदों और उपनिषदो में उपासना के अर्थ में विद्या शब्द का प्रयोग मिलता है, जैसे कि मधु विद्या, शाडिल्य विद्या, प्राण-विद्या, भूम-विद्या इत्यादि। ये सब विद्यायें उपासना ही हैं। उपासना के प्रसंग को लेकर ही वेदो में श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन उपाय ब्रह्मसाक्षात्कार के बतलाये गये हैं[1] जो भक्ति और उसके साधक उपायों के ही अन्तर्गत हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने जो अष्टाग योग का वर्णन किया है उनमें ध्यान पर्य्यन्त सात अंग तो उपासना (अपराभक्ति) के अन्तर्गत हैं ही, सबीज समाधि भी इसी के अन्तर्गत है। निर्बीज (निर्विकल्पक) समाधि में ध्येय की सतत स्मृति में ध्याता और ध्यान की स्मृति विलीन हो जाती है, अत: उसे पराभक्ति के अन्तर्गत माना जा सकता है।

जिस प्रकार उपर्युक्त योग दर्शन उपासना के अन्तर्गत हो जाता है उसी प्रकार पूर्वोत्तर मीमांसा और उनके अन्तर्गत न्याय वैशेषिक एव सांख्य दर्शन को भी उपासना के ही अन्तर्गत समझना चाहिये।

यद्यपि दार्शनिक और उपासना ग्रन्थों का विस्तार देखकर कुछ व्यक्ति एक दूसरे को साध्य साधक बतलाते हुए दर्शन और उपासना को बहुत दूरी मान बैठते हैं और इन दोनों को अत्यन्त भिन्न समझने लगते हैं, तथापि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वस्तुत: दर्शन और उपासना अत्यन्त सन्निकट ही नहीं हैं, अपितु दोनों का लक्ष्य एक होने के कारण ये एक ही चीज हैं।

वेदान्त दर्शन के आचार्यों की जितनी भी धारणायें हैं वे सब द्वैत—अद्वैत इन दो मर्यादाओं से सम्बन्धित हैं। वेद, उपनिषद्, पुराण आदि शास्त्रों में जीव ईश्वर को किसी

१.आत्मा वा रे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:। बृह० उपनिषद् २।४।५

रूप से अभिन्न बतलाया है और किसी रूप से भिन्न भी कहा है। इन्हीं दोनों प्रभेदों आचार्यों की धारणायें भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं।

उपास्यदेव से अपने को अभिन्न मानकर जो उपासना की जाती है वह अद्वैत (अभिन्न) उपासना है उसी का समर्थन अद्वैत दर्शन है। उपास्य को भिन्न समझकर की जानेवाली उपासना 'भेदोपासना है, और वही द्वैत दर्शन है। स्वरूपत भेद होते हुए भी जीव की स्थिति-प्रवृत्ति ईश्वर से पृथक् नहीं, अत अभेद भी है। दोनों ही तात्विक हैं।

दार्शनिको ने लौकिक पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि के सम्बन्ध में विचार किया है, किन्तु उपासना (भक्ति) ग्रन्थों में उन पर विशेष विचार नहीं किया गया है, केवल अपने उपास्यदेव के गुण गण और लीला आदि के सम्बन्ध का ही विचार-प्रवाह मिलता है। इसीलिये उनका विशुद्ध भक्ति ग्रन्थ-कहते हैं। बस, दार्शनिक और भक्ति ग्र थो का यही पार्थक्य है। यह कहना असगत न होगा कि विक्रम से पूर्व-वर्ती सूत्रकार, वृत्तिकार तथा उनसे परवर्ती भाष्यकार आचार्य सभी उपासक थे विक्रम की नवी शताब्दी के क्रान्तिकारी अद्वैतमत प्रचारक आचार्य शकर के ग्रन्थो में भी उपासना का गहरा पुट मिलता है।

उन्ही आचार्यों में वेदान्त सूत्रो के वृत्तिकार भगवान् निम्बार्काचार्य हैं। साम्प्रदायिको की धारणा है कि वे द्वापर के अन्त और कलियुग के आरम्भ में प्रकट हुए थे। डाक्टर भाण्डारकर आदि कुछ लेखको ने उन्हें श्री शकर और श्री रामानुज के परवर्ती एव मध्वाचार्य से पूर्ववर्ती माना था, किन्तु आज के अन्वेषक विद्वानो ने उनकी उस धारणा को भ्रान्त सिद्ध कर दिया है।

डाक्टर भाण्डारकर आदि को वह भ्रम इस कारण हुआ होगा कि उन्होने श्री निम्बार्क आदि आचार्यों के भाष्य वृत्ति आदि ग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन नही किया।

श्री रामानुज से बहुत पूर्ववर्ती वेदा त भाष्यकार भट्ट भास्कर हो गये हैं जो शकराचार्य के प्राय समसामयिक एव कुछ ही परवर्ती माने जाते हैं। उन्होंने श्री निम्बार्काचार्य के स्वाभाविक द्वैताद्वैत का ही एक रूपा तर औपाधिक भेदाभेद को अपना कर शाकर मत की कडी आलोचना की है। कई स्थलो पर भास्कराचार्य ने श्री निम्बार्काचार्य के शिष्य श्रीनिवासाचार्य के कौस्तुभ भाष्य की भी पक्तियो का अक्षरश उद्धृत करके उनकी आलोचना की है।[१]

---

१ नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसगोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा।
ब्रह्मसूत्र २।३।३१ का श्री निवासाचार्यकृत कौस्तुभभाष्य —
"चेतनभूतात्मविभुत्ववादिमते- दोषकथनार्थं सूत्रमिदमृद।
भट्टभास्कर के अभिमत इस सूत्र की स० २।३।३२ है। उन्होंने अपने भाष्य में लिखा है—
यत्पुनरात्मविभुत्ववादिना दोषकथनार्थं सूत्रमिति व्याख्यात तदयुक्तम्।
ब्र० सू० २।३।३२।

इससे स्पष्ट होता है कि श्री निम्बार्काचार्य ने भट्ट भास्कर और शंकराचार्य से बहुत पूर्व वेदान्त सूत्रों पर पारिजात सौरभवृत्ति का प्रणयन किया था।

श्री निम्बार्काचार्य की जिस प्रकार दार्शनिक आचार्यों में प्रमुखता है उसी प्रकार भक्ति (उपासना)। प्रचारक आचार्यों में भी उनको महत्वपूर्ण विशिष्ट स्थान मिला हुआ है।

यद्यपि श्री निम्बार्काचार्य के "भक्ति चिन्तामणि", "प्रपत्ति-चिन्तामणि" "सदाचार प्रकाश" तथा उपनिषद् भाष्य और गीता भाष्य आदि वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं जिनका कि ग्यारहवीं शताब्दी तक के विद्वान लेखकों ने उल्लेख किया है, तथापि "वेदान्त पारिजात सौरभ" (ब्रह्म सूत्रों की वृत्ति) वेदान्तकामधेनु (दशश्लोकी), रहस्य षोडशी, प्रपन्न-कल्पवल्ली आदि कई एक महत्वपूर्ण उनके ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनसे उनकी विचार धारायें स्पष्ट अवगत हो सकती हैं।

वेदान्तकामधेनु में उन्होंने संक्षेप रूप से भक्ति के दो भेद बतलाये हैं—परा (साध्य रूपा उत्तमा) और अपरा (साधनरूपा)।[3]

प्रकारान्तर से भक्ति (उपासना) को सगुण और निर्गुण रूप से भी विभक्त करते हैं। लोक में भी सगुण उपासना और निर्गुण उपासना का शब्द—व्यवहार प्रसिद्ध दिखाई देता है। किन्तु सगुण निर्गुण उपासना शब्दों के तात्पर्य समझने में लोगों का बड़ा मतभेद है। कुछ लोग तो ऐसी परिभाषा करते हैं:—ब्रह्म (परमात्मा) को निर्गुण मान कर की जाने वाली उपासना ही निर्गुण उपासना है और उन्हें सगुण मानकर जो उपासना की जाती है वह सगुण उपासना कही जाती है।

किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो सगुण-निर्गुण उपासना का तात्पर्य कुछ और ही है। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। यदि उपास्य (ब्रह्म) में ज्ञान, बल, क्रिया, शक्ति, रूप आदि कोई भी गुण न माना जाय तो फिर उसकी उपासना ही नहीं बन सकती। ऐसी वस्तु का क्या ध्यान किया जाय ? ऐसी शून्य-कल्प निर्गुण वस्तु का तो निर्देश करना भी अशक्य है। वस्तुतः ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं जिसमें नाम—रूपादि कुछ भी न हो। कुछ लोगों ने निर्गुण और निराकार शब्दों को हाऊ बना डाला है। उन्होंने इन शब्दों के ऐसे कल्पित अर्थ कर डाले हैं कि जिन्हें सुनकर साधारण बुद्धि वाले तो डर जाते हैं। इन शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में शास्त्रों का ही योग लेना चाहिये।

निर्+गुण, और निर्+आकार आदि समस्त पद हैं। व्याकरण शास्त्र के आचार्यों ने ऐसा नियम व्यक्त किया है कि–निर् आदि अव्ययों का पञ्चमी विभक्त्यन्त शब्दों के साथ क्रान्त (अतिक्रमण) आदि अर्थों में समास हो।[4]

---

३   कृपाऽस्य दैन्यादि युजि प्रजायते यया भवेत्प्रेम विशेषलक्षणा।
भक्ति र्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः साचोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा।
वेदान्त कामधेनु, श्लो० ९

४. निरादय क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या" (वार्तिक सूत्र) वै० सिद्धान्त कौमुदी तत्पुरुष समास प्रकरण।

इनकी विग्रह (विश्लेषण) इस प्रकार किया जाता है:—निर्गतो गुणेभ्योयः स निर्गुणः, निर्गत आकारेभ्यो यः स निराकार.। अर्थात् जो समस्त गुणों का अतिक्रमण कर जाय (प्रकृति के सत्व, रज, तम तीनों गुणों से लिप्त न हो) वही निर्गुण कहाता है। इसी प्रकार पृथ्वी आदि समस्त आकारों को जो अतिक्रमण कर जाय अर्थात् इन समस्त आकारों से जिसका आकार बड़ा हो वही "निराकार" कहलाता है। निर्विशेष, निर्विकल्प आदि अन्य शब्दों का भी इसी प्रकार विश्लेषण-पूर्वक अर्थ किया जाता है।

व्याकरण शास्त्र में इन शब्दों के उपर्युक्त अर्थ के पोषक उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे —'निस्त्रिंश —निर्गत: त्रिंशेभ्योऽगुलिभ्यो य: स निस्त्रिंश:" अर्थात् तीस अंगुल से बड़े खड्ग को निस्त्रिंश कहना चाहिये।

इसी प्रकार वेदशास्त्रों में परमात्मा का भी पृथ्वी आदि समस्त आकारों से बड़ा आकार बतलाया गया है। कहा है कि इन सब आकारों से वह दश अंगुल बड़ा है।[५] सायणाचार्य आदि सभी भाष्यकारों ने यहाँ के दशांगुल पद को अनन्त अंगुल का उपलक्षण बतलाया है, अर्थात् पृथ्वी, चंद्र, सूर्य आदि समस्त आकारों से परमात्मा अनन्त गुणा बड़ा है।

पुरुषसूक्त के आगे के मंत्रों में और भी स्पष्ट कह दिया गया है कि "इन आकारों वाला यह समस्त विश्व तो उस परमात्मा के एक अंश में ही समाविष्ट है।[६] इतना ही नहीं, ऐसे अनन्त ब्रह्माण्ड उनके रोम-रोम में लटक रहे हैं और अनन्त ब्रह्माण्डों का यह समस्त संसार उनके उदर में इस प्रकार निहित है जैसे कि गूलर के फल में कीटाणु स्थित रहते हैं।

शास्त्रीय प्रमाणों के अनुसार जब अर्थ का सामञ्जस्य हो जाता है फिर "निर्गता गुणा यस्मात्, स निर्गुण, एवं निर्गत आकारो यस्मा स निराकार", ऐसे विश्लेषणों द्वारा सर्वथा गुण-रहित एवं आकार-रहित उपास्य (ब्रह्म) कैसे माना जाय? वस्तुत: इस अर्थ का द्योतक विग्रह व्याकरण-शास्त्र के नियमों से भी विरुद्ध है।

अब निर्गुण-उपासना पर विचार करना चाहिये। श्री कपिलदेव ने अपनी माताजी को भक्ति-योग के चार रूप बतलाये हैं। उसी प्रसंग में उन्होंने अव्यक्त काल-गति की भी चर्चा की है—

प्रावोच भक्ति योगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम्।
कालस्य चाव्यक्तगते योऽन्तर्धावति जन्तुषु। भागवत ३।३२।३७

यद्यपि इस श्लोक के मूल पदों में निर्गुण सगुण शब्द का कोई उल्लेख नहीं है, तथापि टीकाकारों ने "चतुर्विध" पद से तामस, राजस, सात्विक और निर्गुण इस प्रकार भक्ति का चतुर्विध रूप बतलाया है। श्री वल्लभाचार्य जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि—इस समय विष्णुस्वामी के अनुसार जो भक्ति प्रचलित है वह तामसी है, तत्ववादी

---

५. स भूमिं सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशागुलम्" यजुर्वेदीय पुरुषसूक्त।१

६. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि। पुरुषसूक्त न० ३

(मध्वाचार्य) के अनुसार प्रचारित भक्ति राजसी और रामानुज के अनुसार प्रचारित भक्ति सात्विकी भक्ति के अन्तर्गत है और हमारे द्वारा प्रतिपादित भक्ति निर्गुण भक्ति है।*

वैष्णव-सम्प्रदायों के मूल आचार्य श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादिक, ये चार प्रधान आचार्य माने गये हैं। उन्हीं के अनुगत, श्री रामानुज एवं श्री रामानन्द, मध्व, विष्णु स्वामी और निम्बार्क ये चार सम्प्रदाय वर्तमान में प्रचलित हैं। श्री, ब्रह्म, रुद्र, ये क्रमश: सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के अधिष्ठातृ देव हैं। अत: उनका गुणों से सम्पर्क है। किन्तु सनकादिक सब प्रपंचों से मुक्त गुणातीत हैं। अतएव वे निर्गुण सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। तदनुसार ही श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के कई ग्रन्थकारों ने अपनी गणना निर्गुण भक्ति-सम्प्रदाय में की है।

इधर श्री वल्लभाचार्य जी को बहुत से सज्जन श्री विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के एक सिद्धान्त-प्रचारक आचार्य मान रहे हैं, किन्तु उनकी सुबोधिनी टीका के वचनों से वह धारणा पुष्ट नहीं हो रही है। वे अपने को निर्गुण सम्प्रदाय के प्रतिपादक घोषित कर रहे हैं।

यह निर्विवाद है कि श्री निम्बार्काचार्य श्री वल्लभाचार्यजी से बहुत पूर्ववर्ती हैं। इसमें किसी को भी आपत्ति नहीं, फिर भी निर्गुण या सगुण किसी भी भक्ति-कोटि में उन्होंने श्री निम्बार्क का नामोल्लेख नहीं किया, इसका अवश्य कोई गूढ़ आशय होना चाहिये।

श्रीमद्भागवत के कपिल-देवहूति सम्वाद में कई स्थलों पर निर्गुण-भक्ति की चर्चा है, अत: निर्गुण-भक्ति का सोलहवीं शताब्दी के ही किसी आचार्य में प्रतिपादन किया हो, यह तो माना नहीं जा सकता; क्योंकि उनसे पूर्व भी हजारों वर्ष के लम्बे-चौड़े समय में निर्गुण-भक्ति के और भी कई विशिष्ट आचार्य हो गये हैं।

श्रीमद्भागवत में एक भक्ति (उपासना) ही नहीं, ज्ञान—कर्म, ज्ञान, आवास, कर्ता श्रद्धा, सुख, प्राप्य-स्थान आदि को भी सगुण निर्गुण विभागों में विभक्त किया है। उनके कुछ उद्धरण यहां दिये जाते हैं,—

कर्म—जो अपना कर्तव्य समझकर किया जाता है वह सात्विक कर्म कहलाता है। फल की इच्छा से किया हुआ राजस और हिंसात्मक कार्य तामसिक कर्म कहलाता है, जो कर्म प्रभु के निमित्त एवं उनके अर्पण कर दिया जाय उसे निर्गुण कर्म कहना चाहिये।

ज्ञान—निश्चित ज्ञान को सात्विक, सकल्प-विकल्पात्मक को राजस और प्राकृतिक सांसारिक ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं। भगवत्सम्बन्धी ज्ञान को निर्गुण ज्ञान कहते हैं।

आवास—वन काननों के निवास को सात्विक-ग्राम के वास को राजसी और जहाँ जुआ आदि खेल होते हों वहाँ के निवास को तामस आवास कहते हैं। भगवान् के मठ-मन्दिरों में रहना निर्गुण आवास-स्थान कहलाता है।

---

७ सगुण निर्गुण भेद प्रतिपादनार्थं चातुर्विध्यमाह:—"प्रावोचमिति" भेद: पारमार्थिक: इति शास्त्र पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्त:, ते च साम्प्रत विष्णुस्वाम्यनुसारिण: तत्ववादिन: रामानुजादश्चेति तमोरज:सत्वैर्भिन्ना:, अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्य:। एवं चतुर्विधोऽपि भगवता प्रतिपादित: (भा० ३।३२।३, की सुबोधिनी टीका)

८ द्रष्टव्य, श्रीमद्भागवत ११ स्कन्ध २५ अ० २३-२९ श्लोक।

कर्ता—जो आसक्ति न रखकर कार्य करे वह सात्विक, राग-पूर्वक कार्य करने वाला राजसी और स्मृतिविहीन करने वाला तामस कर्ता कहलाता है। भगवान् का अवलम्ब लेकर जो कार्य करता है, वह निर्गुण कर्ता (कारक) कहलाता है।

श्रद्धा—अध्यात्म-विषयिणी श्रद्धा सात्विकी कहलाती है। धार्मिक कर्ममयी राजसी और अधर्ममयी श्रद्धा तामसी कही जाती है। भगवत्सेवा-सम्बन्धी श्रद्धा को निर्गुण श्रद्धा कहते हैं।

सुख—अपनी अन्तरात्मा में उद्भूत होने वाले सुख को सात्विक सुख कहते हैं, सांसारिक विषयों से मिलने वाले क्षणिक सुखों को राजसी सुख कहते हैं और मोह, दैन्य आदि से प्रतीत होने वाला सुख तामसी सुख कहलाता है। जो भगवान् की लीला, गुण स्वरूप आदि के चिन्तन से सुख मिलता है वह निर्गुण सुख कहलाता है। इसी प्रकार प्राणान्त होने पर प्राप्तव्य स्थलों का भी स्पष्टीकरण किया गया है—

सत्वे प्रलीना स्वर्यान्ति, नरलोकं रजोलयाः।
तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः।

भागवत ११।२५।२२

अर्थात् सत्वगुण की प्रधानता में प्राणान्त होने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है, रजोगुण की प्रधानता में मृत्युलोक और तमोगुण की प्रधानता में जिनका प्राणान्त होता है वे नरकों में जाते हैं। भगवान् का स्मरण करते हुए शरीर छोड़ने वाले निर्गुण (परमात्मतत्व) को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार निर्गुण-सगुण की विवेचना के पश्चात् भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—हे सौम्य! चित्त में उद्भूत होने वाले तीनों गुणों को जीत कर मुझ में अटूट श्रद्धा रखने वाला प्राणी निर्गुण भक्ति योग के द्वारा मुझे प्राप्त होता है। इसी लिये ज्ञान-विज्ञान-प्रादुर्भूत होने योग्य मानव तन को प्राप्त करके तीनों गुण और उनसे प्रकट होने वाले कार्यों (विषयों) से आसक्ति हटा कर विचक्षण भक्त मेरा निरन्तर भजन करते हैं।[१]

भागवतकार के शब्दों में निर्गुण भक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये। मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्। अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।

(भा० ३।२६।११-१२)

श्री कपिल देवजी ने कहा है—हे मातः! मेरे (भगवान् के) गुणों को सुनते ही मुझ सर्वान्तर्यामी में मन की गति अविच्छिन्न (अटूट) हो जाय, यही निर्गुण भक्ति-योग का लक्षण है। वह अव्यवहृत (निरन्तर) हो और अहैतुकी (निष्काम) हो।

इन सब ऊहापोहों के आधार पर यह निश्चित होता है कि गुणहीन उपास्य की उपासना निर्गुण उपासना नहीं कहला सकती, प्रत्युत सगुण-साकार परमात्मा की निष्काम और निरन्तर स्मृति वाली भक्ति को ही निर्गुण भक्ति मानना उचित है।

१-श्री मद्भागवत ११।२५।३२-३३

श्री निम्बार्काचार्य के भक्ति चिन्तामणि और सदाचार प्रकाश आदि जिन ग्रन्थो का नामोल्लेख ही प्राप्त होता है, सम्भवत: उसी सदाचार प्रकाश का परवर्ती आचार्यों ने सार-मात्र संग्रहण करके एक ग्रन्थ लिखा होगा। वही आज "सदाचार सारसंग्रह" नाम से उपलब्ध होता है जो अमुद्रित है। उसमें श्रीमद्भागवत और नारदीय पुराण आदि आर्ष ग्रन्थो के आधार पर भक्ति का विशद विवेचन किया गया है। वहाँ नारदीय पुराणोक्त दश विधा भक्ति को सगुण निर्गुण इन दोनो प्रभेदों में अन्तर्भाव कर निर्गुण भक्ति को ही उत्तमोत्तमा संज्ञा दी गई है—

महिमानं हरेर्यस्तु किञ्चिच्छ्रुत्वाऽपि यो नरः।
तन्मयत्वेन सन्तुष्टः सा भक्तिश्चोत्तमोत्तमा।
अहमेव परो धिष्णिर्मयि सर्वमिदं जगत्।
इति यः सततं पश्येत्तं विद्यादुत्तमोत्तमम्।।[१०]

भगवान् की साधारण महिमा भी सुन कर जो साधक तन्मय एवं सन्तुष्ट हो जाय, और उस तन्मयता में अपनी विस्मृति खोकर भगद्भाव का अनुसन्धान होने लगे, भगवान् ही सर्वाधार हैं, उन्ही में यह समस्त जगत स्थित है, इस प्रकार की निरन्तर अनुभूति होती रहे, उसी भक्ति को उत्तमोत्तमा निर्गुण एवं परा फलरूपा भक्ति कहते हैं। इसी भक्ति का नाम अहैतुकी भी है—

अपनी अंतरात्मा मे ही आनन्दित रहने वाले संदेह-रहित मुनिजन भगवान् की अहैतुकी भक्ति करते हैं"।[११]

श्री निम्बार्काचार्य के अनुवर्ती शिष्य-प्रशिष्यो में श्रीनिवासा-चार्य, औदुम्बराचार्य पुरुषोत्तमाचार्य, श्री देवाचार्य, श्री सुन्दर भट्ट, श्री केशव काश्मीरी आदि बहुत से आचार्यों ने भक्ति आदि विषयो पर अपने अपने ग्रन्थो में प्रकाश डाला है। उनके पश्चात् श्री हरि-व्यास देवाचार्य ने स्वरचित सिद्धान्त रत्नाञ्जलि (दशश्लोकी-टीका) में भक्ति का विशद विवेचन किया है। रति के अनन्तर उद्भूत होने वाली भक्ति के सम्बन्ध में दो प्रभेद चित्र (चार्टर) निर्धारित होते हैं। उनमे एक के अनुसार ८२ और दूसरे के अनुसार १४२ भक्ति के प्रभेद सिद्ध होते हैं।

भक्ति के रसो (भावों) पर विचार—

इस विषय के विवेचक साहित्यकारो ने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र. वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, शान्त और वात्सल्य—इस प्रकार से दश रस माने हैं।

यद्यपि भक्ति की प्रक्रिया में भी इन सब का समावेश हो सकता है, तथापि भक्ति-रस के वेत्ताओ ने—शान्त, दास्य, वात्सल्य सख्य, उज्ज्वल, भक्ति के ये पाँच रस माने हैं। इन्ही

१०. अमुद्रित सदाचार-सार-संग्रह—पृ० ८३।

११. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।
श्रीमद्भागवत १।।

में उन दसों का भी समावेश किया जा सकता है। शान्त, वात्सल्य और शृंगार नाम से उज्ज्वल इन तीन का तो स्पष्ट नाम निर्देश है ही।

जिस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने वात्सल्य रस को भरतादिमुनियों का सम्मत मान कर उल्लेख किया है,[१२] उसी प्रकार श्री हरिव्यास देवाचार्य ने पाँच रसों का उल्लेख रस-वेदियों के मतानुसार किया है।[१३]

श्री निम्बार्क-सम्प्रदाय में परम्परागत प्रधानता किस रस की है? इस सम्बन्ध में कुछ लोग अनेक तर्क उपस्थित करते हैं। उनका आक्षेप है कि इस सम्प्रदाय में उज्ज्वल रस की उपासना श्री हरिव्यासदेव के भी बहुत पश्चात् अपनाई गई है, क्योंकि सोलहवीं शताब्दी से पूर्व उज्ज्वल (शृंगार) रस की उपासना का उल्लेख श्री निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य तथा अन्य ग्रन्थकारों ने नहीं किया। इसी हेतु को माध्यम बनाकर कुछ लोग श्री हित हरि वंश जी, श्री स्वामी हरिदास जी आदि सोलहवीं शताब्दी के महानुभावों को ही शृंगार-रस-उपासना के प्रवर्तक सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि भक्ति के उन पाँच रसों की चर्चा श्री रूप गोस्वामी के पूर्व किसी ने की ही नहीं।

किन्तु ये तर्क और शंकायें भ्रान्ति-मूलक हैं या प्रतिस्पर्धा के कारण ऐसे प्रयत्न किये जा रहे हैं। श्री निम्बार्काचार्य ने प्रकारान्तर से इन रसों का संकेत किया है। शान्त-रस तो सामान्य रूप से सभी में अनुगत रहता ही है, अत. दास्य, वात्सल्य, सख्य और उज्ज्वल क्रमश इन चारों का उन्होंने उल्लेख किया है। उनके उदाहरण=भृत्य, पुत्र, प्रिया और मित्र ये चारों दिये हैं।[१४]

टीकाकार श्री सुन्दर भट्टाचार्य ने रहस्य षोडशी की व्याख्या में निर्मायिकता के तारतम्य को दिखलाते हुए उन रसों के उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया है।

साधारण व्यक्ति की अपेक्षा वेतन भोगी भृत्य का अपने स्वामी में आत्मीय भाव अधिक रहता है। पुत्र का अपने पिता में एवं पिता-माता का अपने पुत्र में उस (भृत्य) से भी अधिक आत्मीय भाव रहता है, अत दास्य भाव की अपेक्षा वात्सल्य की कोटि ऊँची है। अर्धांगिनी एवं पति की पारस्परिक आत्मीयता और भी अधिक रहती है, अत सख्य भाव की कोटि वात्सल्य से भी ऊँची है। सच्चे मित्रों के भावों में पूर्वोक्त तीनों उदाहरणों से निर्मायिकता अधिक रहती है, अतः यह उज्ज्वल रस कहा गया है।

सख्य और उज्ज्वल रसों की विशेष सन्निकटता है, अत उपनिषदों में कहीं-कहीं इन दोनों के उदाहरण एकत्र भी मिलते हैं।[१५] दो मित्र पक्षी एक वृक्ष पर

१२ साहित्य दर्पण पृ० २११ हरिदास सिद्धान्त वागीशद्वारा सन् १८६७ का चतुर्थ संस्करण।

१३. शान्त दास्य च वात्सल्य, सख्यमुज्ज्वलमेव च।
अमी पंच रसा मुख्या प्रोक्ता वै रसवेदिभि:। (सिद्धान्त-रत्नांजलि, ४ परिच्छेद)।

१४. श्री मन्त्र रहस्य षोडशी १६ श्लो०

१५. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति। (कठोपनिषत्)

बैठे हुए है। उन में से एक मित्र स्वयं तो उस वृक्ष के फलो का उपभोग नही करता, किन्तु दिखा-दिखा कर अपने दूसरे मित्र को स्वादिष्ट फलो को चखाता रहता है।

श्री हरिव्यासदेव जी की महावाणी में भी इसी सख्य और मित्र भाव का वर्णन है। तत्सुख-सुखी भाव वाली सखियाँ अपने परम प्रिय उपास्य देव श्री श्यामा-श्याम की अहर्निश इसी भाव से सेवा करती है। उन्ही यूथेश्वरी सखियो के अवतार-स्वरूप श्री निम्बार्क और उनसे परवर्ती आचार्यों की एक लम्बी परम्परा का भी उन्होने अपनी महावाणी में कई स्थलो पर उल्लेख कर दिया है।

साहित्य-ग्रन्थो में उल्लिखित दश रसो में शृगाररस प्रधान माना गया है। इधर भक्ति के रसो में उज्ज्वल रस की प्रधानता है। यद्यपि दोनो की परिभाषाओ में कही-कही बहुत कुछ अन्तर दिखाई देता है तथापि अधिकाशत एकता के लक्षण मिलते हैं, इसीलिये विवेचक विद्वानो ने इस रस को उज्ज्वल, मधुर, शृगार रस कहा है।

जिस प्रकार साहित्यको ने वत्सल रस को मुनि (भरत मुनि) सम्मत माना है उसी प्रकार श्री हरिव्यासदेव जी ने भी "रस-वेदिभि:" शब्द द्वारा भरत मुनि आदि रस-वेत्ताओ का सकेत किया है।

पुराणो के कुछ अशो को चाहे आलोचक विद्वान् कितना ही अर्वाचीन माने किन्तु पुराणो का पूरा कलेवर सर्वथा आधुनिक नही कहा जा सकता। इनके मूल अश अवश्य पुराने ही है। इन सब पुराणो में श्रीमद्भागवत को विशेष सम्मान प्राप्त है। इन पाँचो रसो का सकेत-रूप से उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी कई स्थलो पर मिलता है।

श्री कपिलदेव अपनी माता से कहते हैं.—वे भक्त काल के ग्रास नही बन सकते, जो प्रभु को ही अपना प्रिय (पति) आत्मा, पुत्र, सखा, गुरु, सुहृद्, इष्ट देव मान कर भजते है।[१९]

श्री वल्लभाचार्य जी ने भागवत के उस श्लोक की सुबोधिनी टीका में, "विषय देह, पुत्र-पित्रादि गुरु, सम्बन्धी, इष्ट, देवता और काम ये आठ स्थान माने है। श्री जीव-गोस्वामी ने दैव इष्ट को एक मान कर सात भावो के निम्नाकित उदाहरण दिये है — प्रिय भाव से भजने वालो मे श्री लक्ष्मी आदि, आत्मभाव से सनकादि, पुत्रभाव से देव हूति आदि, सखाभाव से श्री दामा आदि, गुरुभाव से प्रद्युम्न, सुहृद्-भाव से पाडव आदि, और दैव इष्ट भाव से भजने वालो में उद्धव आदि का उदाहरण दिया है। किन्तु सबसे पुराने और प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी ने पाँच ही उदाहरण रखे है। उन्ही के अनुसार राधारमण दास गोस्वामी, श्री वीरराघवाचार्य, श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती इन तीनो टीकाकारो ने कपिल देव के वचन में पाँच रसो का ही प्रतिपादन किया है।

---

१९ न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् । (भागवत ३।२५।३८)

श्री चक्रवर्ती ने प्रिय शब्द से प्रेयसी-गण का भाव और आत्मा शब्द से शान्तरस, सुत से वात्सल्य, सखा से सख्य तथा गुरु, सुहृद्, दैव, इष्ट इन चारों से दास्य भाव की पुष्टि की है। उन्होंने निम्नांकित नारायण व्यूह स्तव के एक उदाहरण द्वारा पाँचों रसों की प्राचीनता भी प्रकट की है।

"पतिपुत्रसुहृद्भ्रातृपितृवन्मित्रवद्धरिम्"

श्री निम्बार्क कृत दशश्लोकी के सर्व प्रथम टीकाकार श्री पुरुषोत्तमाचार्य हैं। उन्होंने प्रभु को माता पिता बन्धु सखा विद्या द्रव्य और सब कुछ मानकर उपासना करने का संकेत किया है।[१७] उस वर्णन में भी पाँचों रस समाविष्ट दिखाई देते हैं।

सुधर्माध्वबोध नामक साम्प्रदायिक ग्रन्थ में भी इन पाँचों रसों का विशेष उल्लेख और विवेचना है। कर्म उन वैष्णवों को बन्धन में नहीं डाल सकते जो, शान्त, दास्य सख्य वात्सल्य और प्रिय (उज्ज्वल) भाव से प्रभु को भजते हैं। प्रणय के तारतम्यानुसार इन पाँचों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है।[१८]

अब देखना यह है कि श्री निम्बार्क सम्प्रदाय में किस रस की प्रधानता है? यद्यपि अधिकारानुसार सभी सम्प्रदायों में सभी रस अपनाये जा सकते हैं, तथापि सम्प्रदाय प्रवर्तक मुख्य आचार्य के दृष्टिकोण से उनके लक्ष्य का पूरा पता चल सकता है।

भगवान् के सभी रूप आराध्य हैं, किन्तु-ऐश्वर्य, माधुर्य और अलौकिकता का सर्वोच्च विकास श्री राधाकृष्ण स्वरूप में ही हुआ है, अतः श्री नृसिंह आदि रूपों की मधुर (शृंगार) उपासना नहीं की जाती। यद्यपि श्री राघवेन्द्र भगवान् में रूप माधुरी का विकास है, तथापि मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण उनकी शृंगार रस-उपासना नहीं बनती, यह स्वयं उन्हीं का अभिमत है। जब उनके सौंदर्य पर आकर्षित हो दण्डकारण्य के ऋषि-महर्षियों ने श्री जानकी जी की भाँति निरन्तर परिचर्या करने की अभिलाषा प्रकट की, तो उन्होंने एतदर्थ श्रीकृष्ण रूप का ही निर्देश किया। यही कारण है कि मधुर (उज्ज्वल) भाव से उपासना करने वालों ने श्री राधाकृष्ण को ही प्रधानतया अपने उपास्य के रूप में अपनाया है। श्री निम्बार्काचार्य ने अपना ध्येय गेय (उपास्य) किसे माना है, यह उनकी दशश्लोकी के निम्नांकित दोनों श्लोकों से स्पष्ट होता है:—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष, मशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं, ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।

---

१७ त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव-देव।
(वेदान्त रत्न मंजूषा, तृतीय कोष्ठक)

१८ न कर्म बन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते।
शान्ता दासाः सखायाश्च वत्सलाः प्रेयसीगणाः।
....
प्रणय तारतम्येन श्रेयांसश्चोत्तरोत्तराः।

अंगे तु वामे वृषभानुजा मुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखी-सहस्रैः परिसेविता सदा, स्मरेम देवी सकलेष्टकामदाम् ।

दशश्लोकी ४-५

अखिल सौंदर्य माधुर्य मार्दव आर्जव आदि गुणों के समुद्र प्राकृतिक हेय गुणों से निर्लिप्त कमलेक्षण श्रीकृष्ण और उन्हीं के अनुरूप से सुभगा वृषभानु नन्दिनी का ही हम ध्यान और स्मरण करते है ।

श्रीयुगलकिशोर के सखा पार्षद सेवक अनन्त है, किन्तु आचार्यों ने सहस्रों सखियों से सेवित कह कर अपनी निकुज-उपासना का परिचय दिया है । श्री हरिव्यासदेवाचार्य जी ने अपनी महावाणी के श्लोक और पदों में तो इसे और भी स्पष्ट कर दिया है ।

आगे के श्लोक से उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यही श्रीनिकुंज-विहारी युगल तत्व हमारे उपास्य हैं। यह उपासना हमारी पूर्व-परम्परागत है । मेरे गुरुदेव श्रीनारदजी को परम गुरुदेव श्रीसनकादिकों ने इसी उपासना का आदेश दिया था ।[19] अतएव सखी-सहचरी भाव से ही युगल की सेवा करना (मधुर उज्जवल रस उपासना) इस सम्प्रदाय की मुख्य पद्धति है ।

श्री निम्बार्काचार्य के प्रमुख शिष्यों मे श्री निवास, औदुम्बर और गौरमुखाचार्य ये तीन विशेष उल्लेखनीय हैं । इनकी रचनायें उपलब्ध होती हैं ।

औदुम्बराचार्य अयोनिज थे । किसी समय गूलर का एक फल वृक्ष से टूट कर गिरा और वह निम्बार्काचार्य के चरण स्पर्श होते ही मानवाकृति में परिणत हो गया । वही औदुम्बराचार्य कहलाये । इस घटना का उल्लेख स्वयं औदुम्बराचार्य ने किया है। उन्होंने श्री राधाकृष्ण की सखी (श्रीरंगदेवी) के रूप में भी अपने गुरुदेव का दर्शन किया था —

तत्रैव दामोदर-राधिकाभ्या, पार्श्वे सखीमडल उत्तरस्थाम् ।[20]
श्रीरंग-देव्याहि वपुर्धर त्वा, दृष्ट्वातदुद्विग्नमना पलाये ।

श्री निम्बार्काचार्य के दूसरे शिष्य गौरमुखाचार्य ने श्री निम्बार्काचार्य के प्रति कहा है कि आप श्री राधाकृष्ण की रुचि के ज्ञाता अतएव उनके प्रिय हैं, आप को सदा श्री राधाकृष्ण के चरणकमलों की ही लालसा लगी रहती है । श्री राधाकृष्ण भी सदा आप के हृदय में समाविष्ट रहते हैं ।[21]

---

१९ उपासनीय नितरा जनै सदा, प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तं ।
सनन्दाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्त श्री नारदायाखिलतत्वसाक्षिणे ।
वेदान्त कामधेनु दशश्लोकी ६

२०. निम्बार्क विक्रान्ति श्लोक । निम्बार्क विक्राति १९३-१९४ ।

२१ श्री निम्बार्क सहस्र नाम श्लोक १६७ ।

गौरमुखाचार्य के वचनों से यह भी निश्चित होता है कि श्री निम्बार्काचार्य ने वृन्दावन में विशाल मन्दिर बनाकर उस में श्री राधाकृष्ण की प्रतिमा विराजमान की थी[२२]। रंगदेवी के बोधक दूसरे नाम भी थे।

वृन्दानुकम्पितावृन्दा, वृन्दा-यूथचरी शुभा। राधाकृष्णानुवर्तिना राधाकृष्णानुरजिनी।
(नि॰ सहस्रनाम्)

औदुम्बराचार्य के ग्रंथों से ज्ञात होता है कि —

श्री निम्बार्काचार्य से पूर्व श्री राधामाधव युगल उपासना अत्यन्त गुप्त थी, इस उपासना के प्रवर्तकों में निम्बार्क ही अग्रणी थे। उन से शिक्षा प्राप्त कर औदुम्बराचार्य ने भी मधुर उपासना का प्रचार किया। व्रजवासियों से उन्होंने कहा है कि—जिस प्रकार पवन के झकोरों से जल में चचल तरगें दिखाई देती हैं, वे जल से भिन्न दीखती हुई भी वस्तुत जल रूप ही हैं, उसी प्रकार श्री राधाकृष्ण युग्म तत्व है। इन का वियोग कभी भी नहीं होता। इनके रहस्य को विरले जन ही जान सकते हैं। हम सभी व्रज-वासियों का श्री राधाकृष्ण युगल की ही उपासना करनी चाहिए।"

श्री कृष्ण के साथ श्री राधा की प्रतिमा को प्रतिष्ठित करने वाली प्रथा का भी श्री निम्बार्क द्वारा विशेष बल मिला। श्री औदुम्बराचार्य ने सनत्कुमारों का निम्नांकित वचन उद्धृत करके उसका समर्थन किया है—

निर्माय सहकृष्णेन श्री राधार्चा हरिप्रियाम्,
साहित्येनैव सम्पूज्य नित्यमेति परागतिम्।
(औदुम्बर सहिता)

उन्होंने यह भी कहा है कि इन दोनों में न्यूनाधिकता की कल्पना नहीं करनी चाहिये —

ससेवितु तत्र नभेदमाचरेत्, श्री राधिकाकृष्णयुगार्चनव्रती।
दोषाकरत्वाद्धि भिदानुवर्तिना, सत्वमंणामेवमभेद्यभेदिताम्॥
(औदुम्बर सहिता)

इसी प्रकार श्री निवासाचार्य आदि श्री निम्बार्क सम्प्रदाय के सभी आचार्यों ने अपना परम उपास्यस्वरूप श्री राधाकृष्ण युगल तत्व को ही माना है।

श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य (१४वीं शताब्दी) तक सभी आचार्यों ने संस्कृत भाषा में ग्रंथों की रचनायें की और उन में अपने अपने मन्तव्यों को व्यक्त किया। उनके पश्चात् व्रजभाषा साहित्य सृजन की रुचि बढ़ी। श्री भट्टदेवाचार्य से इस सम्प्रदाय में व्रजभाषा साहित्य की रचना आरम्भ होती है। परम्परागत जनश्रुति है कि उन्होंने हजारों पदों की रचना की थी, किन्तु उनके गुरुदेव श्री केशव काश्मीरी भट्टाचार्य ने सोचा कि मधुररस की उपासना के अधिकारी बहुत थोड़े होंगे अत अनधिकारियों द्वारा इस का

२२. वही श्लोक १७०।
२३. औदुम्बर सहिता श्लोक ३।

दुरुपयोग न हो, इसलिये वे श्री जमुना जी को अर्पित कर दिये गये। जमुना जी से जितने पद मिले वे ही आज युगल शतक के नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि उन पदों में दास्य वात्सल्य सख्य उज्ज्वल सभी रसों की झलक मिलती है, तथापि माधुर्य रस मुख्य है। उनके कई पदों से यह स्पष्ट होता है कि दास्य वात्सल्य आदि से संयुक्त माधुर्य रसोपासना ही आदिवाणीकार श्री भट्टदेवाचार्य जी को अभीष्ट था। उनके पदों के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

वे अपने को अपने युगलकिशोर ठाकुर के जन्म-जन्म के घर जाया चाकर मानते हैं।

जुगलकिशोर हमारे ठाकुर।
सदा सर्वदा हम जिनके हैं जनम-जनम घर जाये चाकर।
चूक परे परिहरहिं न कबहूँ सबही भाँति दया के आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन में प्रणतनि पोषण परम सुधाकर।

श्री श्यामाश्याम की सेवा के अतिरिक्त वे अन्य किसी वस्तु की लालसा भी नहीं करना चाहते थे।

निशिदिन लगी रहो यही लालस।
श्यामा–श्यामचरण की सेवा बिना आनसो उपजो आलस।

उनकी दृढ़ धारणा थी कि चाहे कोई कुछ भी कहता रहे, किन्तु हमें तो अपने स्वामी पर ही अवलम्बित रहना चाहिये।

"श्री भट अटकि रहे स्वामीपन-आन कहै माने सब छोई।"

उपर्युक्त पदों में दास्य रस की झलक स्पष्ट है। इसी प्रकार निम्नांकित पदों में वात्सल्य दिखाई देगा:—

हँसत जात जल लेत मुख, रसवत वितरत ख्याल।
गहि झारी कर आचमन करत लाडिली लाल।
, अँचवन करत लाडिली लाल।
कचन झारी गहत परस्पर श्रीराधागोपाल।
जल मुख लेतहिं हँसत हँसावत देखत सखिन के जाल।
राधामाधव केलि करत भये श्रीभट्ट परत विचाल।

यहाँ लाडिलीलाल शब्द ही वात्सल्य का द्योतक है, दोनों हँसते हँसाते खेल में रत हो रहे हैं। क्रीडारत बालकों को जैसे खेल में सोने एवं खाने-पीने का भी ध्यान नहीं रहता तब माता-पिता उनके खेल में बीचबिचाव करते हैं, उसी प्रकार श्रीभट्ट जी लाडलीलाल के खेल में बीचबचाव कर रहे हैं।

श्रीभट्ट जी के आँगन में यह जुगल जोड़ी नित्य-विहार करती रहती है —

श्रीयुत जुगलकिशोर की जोरी मेरे ही आँगन करत विहार।

इस पद में भी वात्सल्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है। किन्तु मधुर रस में पोषक पद अधिक हैं। उनके निम्नांकित पदों में उस निकुंज विहार का चित्रण सुंदर और स्पष्ट है.—

सन्तो सेव्य हमारे प्रिय प्यारे वृन्दाविपिन विलासी।
नन्दनन्दन वृषभानु नन्दिनी चरण अनन्य उपासी।
मत्त प्रणयवश सदा एक रस विविध निकुंज उपासी।
जै श्रीभट्ट जुगल वंशीवट सेवत मूरति सब सुख रासी।

'पिय प्यारे' शब्द से कान्ता भाव की झलक प्रतीत होती है, किन्तु आगे के पदों में तत्सुख सुखित्व रूप भाव का भी स्पष्ट उल्लेख मिल रहा है।

बैठे दोऊ कुंजन में बलिहारी।
नन्दकुमर अलबेलो नागर, श्री वृषभानु दुलारी।
सूघत सौरभ लिये कमल कर रतिरस प्रियतम प्यारी।
जै श्रीभट्ट गौर सावर मुख, लखि सखियां सब वारी।

लाडलैंती की क्रीडाओं को देखकर उन्हें कैसा हर्ष होता है, इस बात का वे स्वयं स्पष्टीकरण करते हैं —

बन्यौं नीको राधाकृष्ण मिलौनो।
दम्पति कुंजमहल में राजें मनु करि आन्यौ गौनो।
भये मनोरथ वांछित आछे कर आई हो सौनो।
श्रीभट्ट निरखि हर्षभयो हियमें विहरत लाल लडैती दोनो।

नित्य विहार का भी अपना अनुभव वे स्पष्ट कर देते हैं:—

लखे आली नित विहरत नन्दलाल।
रंग रंगीले अंग-अंग कोमल संग बराती ग्वाल।

इस पद में ब्याह और नित्य विहार दोनों का वर्णन हुआ है। अतः नित्य विहार एवं निकुंज उपासना उनकी प्रमुख थी। हास्य वात्सल्य आदि भाव उसी के अंग अतएव गौण थे। यह आशय उनके उपर्युक्त पदों से स्पष्ट होता है।

श्रीमहावाणीकार की उज्ज्वलरस सम्बन्धी भावनाओं का अनुभव उनके द्वारा विरचित महावाणी के पदों से हो सकता है, अतः यहाँ उसका भी थोड़ा दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है।

महावाणी ग्रन्थ में विशुद्ध नित्यविहार का वर्णन है, क्योंकि मान और विरह को इस में स्थान नहीं मिला। उनका कहना है कि यह नित्यविहार का सुख मुख से नहीं कहा जा सकता। इसे तो नयनों के द्वार से ही हृदय में बसा सकते हैं—

यह सुख मुख कहत न बनि आवै।
नैननही के द्वारन लैलै हीयनि माहि बसावै॥

से० सु० ४७।

कुछ आलोचक एव अन्वेषक मधुररस उपासको की रचनाओ पर यह शका कर बैठते हैं कि ऐसे त्यागी विरागी महानुभावो ने शृगार रस पूर्ण साहित्य की रचना कैसे की ? उनके चित्त में ऐसे विषयो की स्फूर्ति होना ही सम्भव नही, और यदि स्फूर्ति होती रही होगी तो फिर शृगारी कवि और भक्त कवियो में अन्तर ही क्या रहा ?

शास्त्रो में ऐसे प्रश्नो का कई स्थलो पर समाधान मिलता है—जिस प्रकार भोजन करने वालो को तुष्टि-पुष्टि और क्षुधा की निवृत्ति ये तीनो एक साथ होती हैं उसी प्रकार निरन्तर प्रभु को भजने वालो के चित्त में भी भगवदभक्ति, सासारिक विषयो से वैराग्य, और भगवत्स्वरूप का ज्ञान ये तीनो एक साथ होते रहते हैं । तत्पश्चात् वे परम शान्ति के सागर में निमग्न हो जाते हैं ।

भक्ति परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एक काल ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टि पुष्टि क्षुदपायोऽनुघासम् ।
इत्यच्युताघ्रि भजतोऽनुवृत्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोध ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजँस्तत परा शान्ति मुपैति साक्षात् ।।
(भागवत ११।२।४२-४३)

भगवान् स्वय कहते हैं कि, पूर्वोक्त भक्ति योग के द्वारा निरन्तर मुझको भजने वालो के हृदय में मैं स्थित रहता हूँ, जिससे उनके हृदय में फिर कामादिक विकारो का आविर्भाव नहीं हो सकता—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मा सकृन्मुने ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ।।
(भागवत ११।२०।२९)

जिस प्रकार विषयी पुरुषो का चित्त, विषयो की अनुस्मृति द्वारा सासारिक विषयो में निरत रहता है, उसी प्रकार भगवान् के गुणानुवादो को निरन्तर स्मरण करने वालो का चित्त प्रभु में ही लगा रहता है ।

विषयान् ध्यायतश्चित्त विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्त मय्येव प्रविलीयते ।।
(भा० ११।१४।२७)

यह निश्चित है कि अग्नि में तपाने पर सुवर्ण निर्मल हो जाता है, ठीक उसी प्रकार भगवद्भक्ति द्वारा जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरो के दोष दग्ध हो जाते हैं ।

भगवान् की पुनीत कथाओ के सुनने से जैसे जैसे अन्त करण शुद्ध होता जाता है उसी प्रकार सूक्ष्म-वस्तुतत्व का अनुभव होने लगता है, जैसे कि अजन लगाने पर नेत्रो की दर्शन शक्ति विकसित होती है ।

यथाग्निना हेममल जहाति ध्मात पुन स्वभजते स्वरूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशय विधय मद्भक्तियोगेन भजत्यथोमाम् ।

भगवान् की बहुत सी ऐसी भी लीलाओं का वर्णन मिलता है, जिनमें प्रिया प्रियतम विनष्ट होकर बहुत दिनों तक नहीं मिल पाते। किन्तु महावाणीकार का मत है कि इनका कभी वियोग होता ही नहीं। जिनके तन मन इन्द्रियाँ आदि भिन्न हों उन्हीं का पार्थक्य हो सकता है किन्तु श्री राधा और कृष्ण के तो देखने मात्र के दो कलेवर हैं। वस्तुत: दो होते हुए भी वे अभिन्न हैं—

एक ही तनमन एक ही साँचे ढरी सुढंग।
जोरी अद्‌भुत दुहुन की रगी सहज सुख रंग॥
सहज सुख रग की रुचिर जोरी।
अतिहि अद्‌भुत कहुँ नाहि देखी सुनी, सकल गुन कला कौशल किशोरी॥
एकही द्वेजु द्वै एकही दिपहिं दिन, किंहि साचे निपुनई करि सुढोरी।
श्री हरिप्रिया दर्शहित दोय तन दर्शवत एकतन एकमन एक दोरी॥

(सु० सु० १)

यद्यपि श्री हरिव्यास देवाचार्य ने 'सिद्धान्त रत्नाञ्जलि' (टीका) में काल, प्रकृति आदि सभी तत्वों की शास्त्रीय विवेचना की है, तथापि महावाणी में उन्होंने नित्य विहार का ही वर्णन किया है। उन्होंने लाडिली लाल की परिचर्या में परम सन्तोष माना है, और इसी को परममुक्ति माना है।

दिनहिं लडैवो दुहुन को धरि उर और न ओप।
परिचर्य्या ही करि अहो हमें बड़ो है पोप॥
हमें वलि वडौ यही है पोष।
दम्पति की परिचर्य्या ही करि पावें परम सन्तोष॥
दिनहिं लाडिली लाल लडैवौ धरिउर और न ओप।
श्री हरिप्रिया मुक्तीकृत आगे तुच्छीकृत सब मोष॥

उनकी दृष्टि में जीवन का सच्चा फल यही है कि निरन्तर युगलकिशोर का यशोगान करना, उनकी सुखदायिनी लीलाओं का निरन्तर अनुभव करना और उनके वदनारविन्द पर वारि-वारि कर जल पीते रहना।

निरखि निरखि सम्पति सुखे सहजहिं नैन सिराय।
जीजतु है वलि जाऊँ या जगमाही जस गाय॥
जुगल जस गाय गाय जीजिये।
या जग मे वलि जाऊँ अहो अब जीवन फल लीजिये।
निरखि निरखि नैननि सुख सपति सहज सुकृति कीजिये।
श्री हरिप्रिया वदन पर पानी वारि वारि पीजिये॥

(से० सु० १७)

कुछ आलोचक एवं अन्वेषक मधुररस उपासकों की रचनाओं पर यह शंका कर बैठते हैं कि ऐसे त्यागी-विरागी महानुभावों ने शृंगार रस पूर्ण साहित्य की रचना कैसे की ? उनके चित्त में ऐसे विषयों की स्फूर्ति होना ही सम्भव नहीं, और यदि स्फूर्ति होती रही होगी तो फिर शृंगारी कवि और भक्त कवियों में अन्तर ही क्या रहा ?

शास्त्रों में ऐसे प्रश्नों का कई स्थलों पर समाधान मिलता है—जिस प्रकार भोजन करने वालों को तुष्टि-पुष्टि और क्षुधा की निवृत्ति ये तीनों एक साथ होती हैं उसी प्रकार निरन्तर प्रभु को भजने वालों के चित्त में भी भगवद्भक्ति, सांसारिक विषयों से वैराग्य, और भगवत्स्वरूप का ज्ञान ये तीनों एक साथ होते रहते हैं। तत्पश्चात् वे परम शान्ति के सागर में निमग्न हो जाते हैं।

भक्ति परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एक कालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टि पुष्टि क्षुदपायोऽनुघासम् ।
इत्यच्युताङ्घ्रि भजतोऽनुवृत्या भक्तिविरक्तिर्भगवत्प्रबोध ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजँस्तत परा शान्ति मुपैति साक्षात् ।।
(भागवत् ११।२।४२-४३)

भगवान् स्वयं कहते हैं कि, पूर्वोक्त भक्ति योग के द्वारा निरन्तर मुझको भजने वालों के हृदय में मैं स्थित रहता हूँ, जिससे उनके हृदय में फिर कामादिक विकारों का आविर्भाव नहीं हो सकता—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मा सकृन्मुने ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ।।
(भागवत ११।२०।२९)

जिस प्रकार विषयी पुरुषों का चित्त, विषयों की अनुस्मृति द्वारा सांसारिक विषयों में निरत रहता हो, उसी प्रकार भगवान् के गुणानुवादों को निरन्तर स्मरण करने वालों का चित्त प्रभु में ही लगा रहता है।

विषयान् ध्यायतश्चित्त विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्त मय्येव प्रविलीयते ।।
(भा० ११।१४।२७)

यह निश्चित है कि अग्नि में तपाने पर सुवर्ण निर्मल हो जाता है, ठीक उसी प्रकार भगवद्भक्ति द्वारा जीवात्मा के जन्म-जन्मान्तरों के दोष दग्ध हो जाते हैं।

भगवान् की पुनीत कथाओं के सुनने से जैसे जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जाता है उसी प्रकार सूक्ष्म-वस्तुतत्त्व का अनुभव होने लगता है, जैसे कि अंजन लगाने पर नेत्रों की दर्शन शक्ति विकसित होती है।

यथाग्निना हेममल जहाति ध्मात पुन स्वभजते स्वरूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशय विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ।

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथा-श्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम् ॥
(भागवत ११।१४।२५, २४)

अतएव दम्पति रूप युगलात्मक ब्रह्म की रहस्य केलि का जिस प्रकार उन्हें अनुभव हुआ उसी प्रकार वर्णन किया। रहस्य केलि में सखी सहचरियों का अधिकार है, अन्य दास सखा आदि आत्मीयों का वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता, यह लोक प्रसिद्ध है। मधुर (उज्ज्वल) रस के उपासकों की श्रेष्ठता का भी यही हेतु है कि वे अन्तरंग एवं रहस्य को अनुभव कर सकते हैं।

"यतपिण्डे तत्ब्रह्माडे" मानव आदि प्राणियों की रति क्रीडा आदि केलि क्षणिक हैं, सावधिक हैं और परात्पर परमेश्वर की केलि दिव्य अतएव नित्य हैं, अविकृत हैं। सांसारिक सौंदर्याकृष्ट व्यक्ति भी हरि गुरु कृपा होने पर इस रस में शीघ्र सराबोर हो सकता है। श्री हरि व्यास देवाचार्य ने सिद्धान्त रत्नाञ्जलि में पांचों रसों के विषयालम्बनादि का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

शान्त रस

विषयालम्बन—अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक अनन्त-अनवद्य सर्वज्ञ। सत्यसंकल्पादि कल्याणगुणगणाकर अनवधिकातिशय आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा नारायण नराकृति श्रीकृष्ण।

आश्रयालम्बन—शंकर इन्द्रादय।
उद्दीपन विभाव—उपनिषद विचार आदि।
अनुभाव— नासाग्रदृष्टि आदि।
सात्विक— अश्रुप्रवाह, पुलकित रोमांच आदि।
संचारी भाव— निर्वेद, स्मृति आदि।
स्थायी रति— शान्ति।

शान्त रस योगियों के अनुकूल है और इस रस की उपासना में प्रभु का चतुर्भुज-रूप ग्राह्य है। (शान्ताकार भुजगशयन, महाभारत)

इस रस के उपासकों में श्रीसनकादिकों को अग्रणी माना जाता है। तेज सम्पन्न, श्याम अंग वायु का ही वस्त्र रखने वाले, पांच वर्ष की अवस्था वाले बालक के समान रहते हुए वे परमात्मा परब्रह्म की भावना करते रहते हैं और सबको मुक्ति का पथ दिखलाते हैं। श्रीकृष्ण इसके आस्वादन से सदा उनका हृदय उछलता रहता है—

ते पञ्चषाब्दबालाभाश्चत्वारस्तेजसोज्वला।
श्यामांगा वातवसनाः सर्वेषामपवर्गदा।
ब्रह्मेति परमात्मेति भावयन्तश्चतुस्सना।
कृष्ण इति रसास्वादाद्बभूवु कम्पितस्तना। (तन्त्र)

शान्त रस के—(१) साध्य, (२) अध्यात्म, (३) सिद्ध। इस क्रम से तीन प्रभेद माने हैं—जो भक्त शब्दादि विषयों एवं रागद्वेष आदि दोषों को छोड़कर अल्प आहार

एव शरीर मन वाणी को वश में रखते हुए ससार के प्रति वैराग्य भावना रखकर एकान्त में बैठे हुए प्रभु का ध्यान करते हैं और अहकार, बल, काम, क्रोध, परिग्रह, ममत्व को छोड देते हैं, वे साध्य शान्त रस के उपासक भक्त कहे जाते हैं।

आधार आधेय एव भोग्य भोक्ता रूप भेद के अनुभव से जो आत्मानुभव करते हैं वे आध्यात्म—शान्त रस उपासक भक्त माने जाते हैं।[२४]

जो उपासक ब्राह्मण और चाण्डाल चोर, सूर्य विस्फुलिंग अक्रूर आदि सब में समदृष्टि भाव से ब्रह्म का अनुभव करते हैं उन्हें सिद्ध अर्थात् अभेद शान्त रस सम्पन्न भक्त कहते हैं।[२५]

वह अभेद-तात्त्विक, दैविक, प्रापञ्चिक भेद से तीन प्रकार का माना गया है। उनके समर्थक क्रमश —

"वदन्ति तत्तत्त्वविद, ब्रह्मेति परमात्मेति० (भा० स्क०२)
अहमात्मा गुडाकेश ?" (गी० १०) क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि० (गी० १३)
सर्व खाल्विद ब्रह्म० (छा० उ०) दृष्ट श्रुत भूत भवद्भविष्यत् (भागवत)

इत्यादि वचन उपलब्ध होते हैं।

शान्त रस सम्पन्न भक्तो के लक्षण श्रीमद्भागवत में कई स्थलो पर बतलाए हैं—वे अकिंचतजितेन्द्रिय समचित्त और यथालाभ सतुष्ट रहते हैं। अतएव उनके लिए दशो दिशायें सुखमय बनी रहती हैं। और कामनाओं की तो बात ही क्या मुक्ति की भी वे लालसा नही रखते, अतएव स्वय भगवान् उनके पीछे पीछे फिरा करते हैं।[२६]

दास्य रस

विषयालम्बन—सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् परम कारुणिक शरणागत पालक भक्त वत्सल श्रीकृष्ण।

आश्रयालम्बन—अर्जुन उद्धव परीक्षित आदि।

उद्दीपन विभाव—भक्त, तुलसी, पदचिन्ह गुण, गोपीचन्दन, प्रसादी मालाचन्दन आदि।

अनुभाव—करुणा आदि।

सात्विक भाव—(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) वेपथु, (५) स्वरभग, (६) वैवर्ण्य, (७) अश्रु, (८) प्रलय।

सचारी—हर्ष, गर्व आदि।

स्थायी भाव—स्नेह आदि।

---

२४ इस सम्बन्ध में भागवत चतुर्थ स्कन्ध पृ० सनकादिक सम्वाद एव 'हरेर्मुहस्तत्पर कर्णपूर गुणाभिधानेन" "यदा रतिर्ब्रह्माणि नैष्ठिकीपुमान" इत्यादि स्थल दृष्टव्य हैं।

२५. "ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने०" ख० वायुमग्नि सलिलमहीन्च, ज्योतीषि सत्वानि० भागवत ११। दृष्टव्य।

२६ निरपेक्षमुनि शान्त०। अकिञ्चना मय्यनुरक्तचेतस० (भागवत् ११)

वियोग में मरणान्त-दश दशायें—ताप, कृशता, जगरपालम्ब, अधृति, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्छा, मरण ।

विशेष—दास्य भाव दो प्रकार का होता है—(१) स्वाभाविक खानपानादि एवं जप ध्यानादि अपने समस्त कार्य प्रभु के अर्पित कर देना[27]। (२) सदासर्वदा प्रभु का कैंकर्य करते रहना।

यदि जन्म-जन्मान्तरों के पश्चात् भी प्रभु के प्रति दासभाव हो जाय तो वह व्यक्ति समस्त लोकों का उद्धार कर सकता है—

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्याद् बुद्धिरीदृशी ।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वलोकान् समुद्धरेत् ।।
(नारदीय पुराण)

दास भाव का आलम्बन भी गुरु-शिष्य, नारदीय पुराण पिता-पुत्र, छोटे बड़े भाई, स्वामी-सेवक, और राजा प्रजा भाव, इन पाच भावों से किया जा सकता है। जैसे कि गुरुदेव[28] में ही श्रीकृष्ण का भाव रखना इत्यादि।

वात्सल्य रस

विषयालम्बन—कोमलांग, कलभाषी सर्वलक्षण संयुक्त कौमार श्रीकृष्ण ।
आश्रयालम्बन—नन्द, उपनन्द रोहिणी यशोदा आदि ।
उद्दीपन विभाव—स्मित, जल्पित, चेष्टित आदि ।
अनुभाव—अंगाभिमार्जन, आशीर्वादनिर्देश, लालन, पालन, आदि ।
सात्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद आदि, सर्वसामान्य ।
व्यभिचारी—हर्ष शोक आदि ।
स्थायी—वात्सल्य ।
वियोग में दस दशा—ताप आदि ।

दास्य और वात्सल्य दोनों में पार्थक्य—दास्य भाव वाला भक्त प्रभु से कृपा चाहता है किन्तु वात्सल्य भाव वाला भक्त स्वयं प्रभु पर कृपा किये रहता है, और वह माता-पिता, बड़े भाई, गुरु एवं राजा की भांति प्रभु का लालन-पालन करता रहता है।

वात्सल्य रस के द्रावक—देखने, छूने, सुनने और आदर करने से वत्सल रस द्रवित होता है।

---

२७. कर्मार्पण के दो प्रकार हैं—(१) ममत्वसहित अर्थात् अपने किये हुए ये समस्त कर्म प्रभु के अर्पित करता हूं। (२) निस्सत्वरूप से कर्मार्पण, जैसे "प्रभु ही सब कुछ करवाते हैं अतः उनकी प्रेरणा से किये हुए ये सभी कर्म उन्हीं को अर्पित हैं।

२८ गुरु—दो प्रकार के माने गये हैं, (१) पारम्पर्य, और (२) निजादेष्टा। निजादेष्टा गुरुओं के तीन प्रभेद हैं—(१) आद्यगुरु, (२) युगाधिकारी (३) अन्वित। इस सम्बन्ध का विशेष विवरण सिद्धान्त रत्नाञ्जलि उत्तरार्द्ध की टिप्पणि एवं भाषाटीका पृ० २६१ से ३०० तक का सन्दर्भ द्रष्टव्य है।

सख्य रस

विषयालम्बन—चतुर शिरोमणि, सत्य सकल्प, मेधावी, सुदर सुवेश द्विभुज श्री कृष्ण ।

आश्रयालम्बन—मधु-मंगल, सुबल आदि सखा समूह ।

उद्दीपन विभाव—शृंग वेत्र आदि ।

अनुभाव—रहन-सहन सोना बैठना एवं भोजनादि एक साथ करना कराना । विविध-विचित्र परिहास, विहार, वाह्य वाहक भाव आदि क्रीड़ायें ।

सात्विक—स्तम्भादि ।
सचारी—हर्षगर्वादि ।
स्थायी रति—सख्य ।
वियोग में—मरणान्त दश दशा ।

सख्य भाव के ३ भेद हैं—साध्य,—अध्यात्म, सिद्ध, प्रकारान्तर से । उपेत अपेत, व्यवसित आदि अनेकों प्रभेद हे । उपेत का अर्थ समीप रहने वाला, अपेत दूर रहने वाला, व्यवसित-निश्चित । उपेत समीप ही रहने वाला । उस उपेत के भी दो प्रभेद हैं । १. नाम का मानने वाला । २. नामी से भी नाम को अधिक मानने वाला । अपेत (सखा) दूर रहने वाले तीन प्रकार के होते हैं—१. असख्य विद्, २. विषमी, ३. विज्ञाभिमान दायधी । इस प्रकार बहुत से प्रभेद बतलाये गये हैं ।[२९]

उज्ज्वल रस—

विषयालम्बन—कमनीय किशोर मूर्ति श्रीकृष्ण ।
आश्रयालम्बन—श्रीकृष्ण की प्रियायें एवं सखियाँ ।
उद्दीपन विभाव—गुण, वंशीरव, वसन्त ऋतु, कोकिल, आदि ।
अनुभाव—कटाक्ष-स्मित आदि ।
सात्विक—स्तम्भ आदि ।
व्यभिचारी—आलस्य उग्रता आदि को छोड़ कर निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं ।
स्थायी—प्रियता रतिः ।

---

२९ विशेष जिज्ञासा वाले सज्जन सुधर्माध्वबोध ग्रन्थ देखें ।
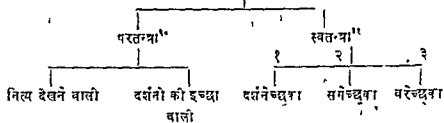
सिद्धान्त रत्नाञ्जलिकार ने—भक्ति के भेदोपभेदों को दो विकल्पों में निम्नाङ्कित प्रकार से बतलाया है—
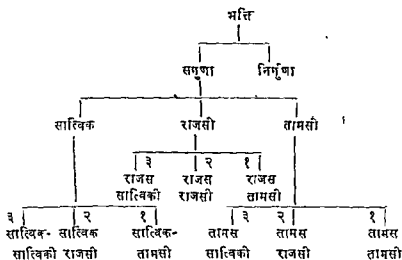
उपर्युक्त नवधा सगुणभक्ति के श्रवण कीर्तन आदि नव नव भेद किये जाने पर ८१ प्रभेद होते है । ऐसे निर्गुण भक्ति सहित भक्ति के ८२ प्रभेद सिद्ध होते हैं।

---

३० १६१०८ रानियाँ, जो मुकुन्द की चेष्टा से आशा प्राप्त करती थी।

३१. अपनी चेष्टा से मनोरथ प्राप्त करने वाली जैसे, १. यज्ञ पत्नियाँ। २ ब्रजांगनायें और ३ गोप कुमारिकायें।

रति के अनुसार प्रादुर्भूत होने वाली भक्ति के १४२ प्रभेद—
सिद्धान्त रत्नाञ्जलि (वेदान्त कामधेनु की टीका) के अनुसार
भक्ति
विहिता
अविहिता
फलरूपा
साधनरूपा
कामजा
द्वेषजा
भयजा
स्नेहजा
(आत्यन्तिकी प्रेमलक्षणा दुर्लभा है)
ज्ञानांगभूता
स्वतन्त्रमुक्ति दायिनी
सगुण
निर्गुण
ज्ञानमिश्रा
वैराग्यमिश्रा
कर्ममिश्रा
उत्तमा
मध्यमा ९
कनिष्ठा ९
उत्तमा ९
मध्यमा ९
कनिष्ठा ९
सात्विकी
राजसी
तामसी
श्रवणादि रूप से नवधा ९
सात्विक उत्तमा ९
सात्विक मध्यमा ९
सात्विक कनिष्ठा ९
राजस अधमा ९
राजस मध्यमा ९
राजस उत्तमा ९
तामस कनीयसी ९
तामस मध्यमा ९
तामस उत्तमा ९
१३५
७
१४२

श्री रामपूजन तिवारी

पद्मावत में चाँद और सूरज का प्रतीक

जायसी ने पद्मावत में चांद और सूरज के प्रतीक का उपयोग पूर्ण रूप से किया है लेकिन यहां इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जहां कहीं भी जायसी ने चांद-सूरज का उल्लेख किया है वहां प्रतीक रूप में ही किया है ऐसी बात नहीं। अनेक स्थलो पर जायसी ने ज्योतिस्वरूप परमात्मा की बाह्य जगत् में अभिव्यक्ति का उल्लेख करते हुए भी चांद-सूरज का वर्णन किया है।

"जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई।।
रवि ससि नखत दीन्हि ओहि जोति। रतन पदारथ मानिक मोती।।
जहँ-जहँ विहँसि सुभावहि हँसी। तहँ-तहँ छिटकि जोति परगसी।।"*

इसी प्रकार पदमावती के रूप के 'नख शिख' वर्णन में भी उसके कुण्डलो को चांद और सूरज के समान कहा गया है —

चांद और सूरज जैसे उस परम-ज्योति पद्मावती के कानो के गहने हैं —

"मनि कुंडल चमकहि अति लोने। जनु कौधा लौकहि दुहुँ कोने।।
दुहुँ दिसि चांद सुरुज चमकाही। नखतन्ह भरे निरखि नहिं जाही।।"[1]
करहिं नखत सब सेवा स्रवन दिपहि अस दोउ।
चांद सुरज अस गहने और जगत का कोउ।।

अथवा

"चूरा चांद सुरुज उजिआरा। पायल बीच करहिं झनकारा।।"[2]

कृष्णाचार्यपाद ने भी रवि शशि का आभूषण के रूप में वर्णन किया है।—

"आलि कालि घंटा नेउर चरणे, रवि शशि कुण्डल किउ आभरणे।।"[3]

---

* पद्मावत, सख्या, १०७।

१. पद्मावत, सख्या ११०।

२. वही, संख्या ११०।

३. वही, सख्या ११८।

(अ) बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २१।

जिन स्थलों पर जायसी ने चाँद और सूरज का प्रयोग प्रतीक के रूप में किया है वहाँ रत्नसेन को सूरज कहा है और पद्मावती को चाँद और फिर दोनों के मिलन, प्रेम और विवाह की बात कही है। -

"सूरज पुरुष चाँद तुम्ह रानी। अस वर देव मिलावा आनी॥"[३]

तथा

"चाँद सुरज सिऊँ होइ बिआहू। बारि बिधांसब बेधब राहू॥"[४]

इसी प्रकार से पद्मावती अपने स्वप्न का वर्णन करती हुई कहती है:—

जनु ससि उदौ पुरुब दिसि कीन्हा। औ रवि उदौ पछिवँ दिसि लीन्हा॥
पुनि सुरुज चाँद पहँ आवा। चाँद सुरुज दुहुँ भएउ मेरावा॥"[५]

राजा रत्नसेन कहता है —

"जनु होइ सुरुज आइ मन बसी। सब घट पूरी हिएँ परगसी॥
अब हौं सुरुज चाँद वह छाया। जल बिनु मीनि रकत बिनु काया॥
किरनि करा भा प्रेम अँकूरू। जौं ससि सरग मिलौं होइ सूरू॥"[६]

इस प्रकार से और कई स्थलों पर पद्मावती और रत्नसेन के लिये चाँद और सूरज के प्रतीक का उपयोग जायसी ने किया है। चाँद और सूरज के इस प्रतीक को समझने के लिये योगियों और नाथपंथियों की साधना विषयक कुछ बातों का जान लेना आवश्यक है।

'सिद्धसिद्धान्त पद्धति में हठयोग की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि 'ह' का अर्थ सूर्य है और ठ' का चन्द्र। इन दोनों के योग को ही हठयोग कहा गया है।

"हकार कथित सूर्यष्ठकारश्चद्रउच्यते।
सूर्याचद्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥"

ऊपर के श्लोक में आए हुए सूर्य और चंद्र की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। गोरक्षशतक (श्लोक ३२) में इडा पिंगला और सुषुम्ना को क्रमश चंद्र, सूर्य, और अग्नि कहा गया है। हठयोग-प्रदीपिका (३:५१) में इन्हीं को क्रमश गंगा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। इडा वाम भाग में स्थित है और पिंगला दाहिने भाग में स्थित है और सुषुम्ना बीच में। इडा स्त्रीतत्व है और पिंगला पुरुषतत्व। ये दोनों काल (मृत्यु) का निर्देश करती हैं। और सुषुम्ना काल का भक्षण करती है। इडा मातृ-स्वरूपा है। सूर्य से प्राणवायु तथा चंद्र से अपान वायु भी समझा जाता है। गोरक्षशतक (श्लोक ३९) में कहा गया है कि जीव, प्राण और अपान के वशीभूत है और वाम (इडा) तथा दक्षिण (पिंगला) मार्ग से यह ऊपर-नीचे आता जाता है। गोरक्षशतक

३. पद्मावत, संख्या ९६।
४. पद्मावत, संख्या ११८।
५. वही, संख्या १९८।
६. वही, संख्या १९७।

(श्लोक ४१) में कहा गया है कि अपान, प्राण को और प्राण अपान को खींचते रहते हैं और योगी ऊर्ध्व और अध की इन दोनों वायुओं का योग कराते हैं। गोरक्ष पद्धति की टीका में इस प्राणायाम को हठयोग या सूर्य-चंद्र का योग कहा गया है। कृष्णाचार्यपाद के दोहाकोष में भी बाईं नासिका और दक्षिण नासिका से प्राण वायु को वहन करने वाली नाड़ियों को क्रमशः चंद्र और सूर्य कहा गया है। बाईं ओर वाली नाड़ी को ललना कहा गया है, यही प्रज्ञा-चंद्र है और दाहिनी ओर वाली नाड़ी को रसना कहा गया है जो उपाय-सूर्य है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि चंद्र, सूर्य के प्रतीक का उल्लेख पहले से ही मिलता है जिसका उपयोग जायसी ने किया है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि सूर्य और चंद्र के योग को हठयोग कहा गया है। गोरक्ष-शतक (श्लोक ७४) में बिंदु को शिव, रजस को शक्ति कहा गया है और फिर उन्हें चन्द्र-सूर्य कहा गया है। तथा उन दोनों के योग से परम-पद की प्राप्ति की बात कही गई है —

> बिन्दु शिव रज शक्ति जिन्दुम् इन्दूरजो रवि
> उभयो सङ्गमादेव प्राप्यते परम पद।

गोरक्षशतक (श्लोक ७६) में उसे ही योगी कहा गया है जो इन दोनों का योग करावे। ठीक इसी प्रकार से प्रज्ञा और उपाय के एक होने को प्रज्ञोपाय कहा गया है। सृष्टि का मूल तथा विकास इसे ही कहा गया है। इस प्रज्ञोपाय को महासुख भी कहा गया है। रत्नसेन को जायसी ने सूर्य और पदमावती को चंद्र कहा है और इन दोनों के मिलन की बात कही है। उस मिलन को परम पद, महासुख कहा जा सकता है। इस महासुख को बौद्धों ने निर्वाण, शून्य और विज्ञान कहा है। कहा गया है कि निर्वाण में बोधिचित्त की अवस्था वैसी ही रहती है जैसी एक स्त्री के आलिंगन करने से होती है। तांत्रिक, शक्ति के साथ मिलन को योग कहते हैं। बौद्धमत वाले परम सत्य से पाए जाने वाले आनंद को प्रज्ञा कहते हैं और उनका कहना है कि सभी स्त्रियों में इस प्रज्ञा का निवास है। अतएव उनके मतानुसार योग तन्त्र की साधना बिना शक्ति के संभव नहीं है। गोरक्षशतक (श्लोक ५७) में कहा गया है कि महामुद्रा आदि का जानने वाला मोक्ष की ओर अग्रसर होता है और महामुद्रा अन्य बातों के अलावा सूर्य-चन्द्र को एक दूसरे की ओर चालित करना कहा गया है। सूर्य (रत्नसेन) और चंद्र (पद्मावती) के एक दूसरे की ओर आकर्षित होने और एक दूसरे के पास जाने की उत्कट अभिलाषा का जायसी ने सुंदर वर्णन किया है।

पदमावती जब मढ़ी में रत्नसेन को देखने जाती है तब रत्नसेन उसके रूप को देख कर बेसुध हो जाता है और पदमावती लौटने के पहले उसके हृदय पर चंदन से लिखती है[1]—

> "बार आइ तब गा तै सोई। कैसें भुगुति परापति होई॥
> अब जौ सूर अहै ससि राता। आइहि चढ़ि सो गगन पुनि साता॥"

---

१ पद्मावत, सख्या १९५।

यहाँ 'मुगुति' का अर्थ महासुख से है और षट्चक्रों के ऊपर सहस्रार चक्र ही सातवाँ गगन है। यही अन्तिम, सातवाँ चक्र है जहाँ शिव और शक्ति का मिलन होता है। यह सहस्र दलों का पद्म है इसलिये इसे सहस्रार कहते हैं। बालरवि के रंग से यह रंजित है। इसी पद्म में अमृत से सिक्त पूर्णचंद्र है। इस पद्म में एक त्रिभुज है जिसमें शून्य प्रकाशित हो रहा है। यही पर बिंदु है, यही ईश्वर है। इसके मध्य ब्रह्म का आवास है। बिंदु के ऊपर सखिनी है। यह वह देवी है जो जन्म देती है, पालन करती है तथा विनाश करती है। इस पद्म में ही पूर्ण मिलन उन्मनी का अनुभव होता है। यहाँ संसार के सभी बंधनों से मुक्ति प्राप्त होती है और उस मुक्ति के आनंद का उपभोग होता है। माया पाश से मुक्त शिव, निर्वाण शक्ति के साथ यहीं अवस्थान करते हैं। सहस्रार के त्रिभुज में तीन बिंदु हैं। ह पुरुष बिंदु है तथा स प्रकृति बिंदु है जिसमें अन्य दो युक्त हैं। जब ह और स दोनों बिंदु मिलते हैं तब तीसरा बिंदु विसर्ग (:) होता है और उन सब का योग हसः होता है। सहस्रार में पूर्णानंद या सहजानंद का लाभ होता है। सहजानंद स्वरूप महासुख का योगी (वज्रधर) जहाँ अनुभव करता है उसे कृष्णाचार्यपाद ने महासुख का आवास कहा है जो मेरुगिरि के शिखर पर स्थित है।

वरगिरि शिहर उत्तुङ्ग मुनि शवरे जहिं किअवास।
नउसो लघिअ पञ्चाननेहि करिवर दुरिअ आस॥
एहु सो गिरिवर कहिअ मनि एहु महासुह थाव।
एत्थु रे निस्सग्ग सहज खडन हइ महासुह जाव॥"[1]

जायसी ने 'पदमावती रत्नसेन भेंट खंड' की निम्नलिखित पंक्ति में इसी का वर्णन किया है।

"सात खंड ऊपर कबिलासू। तह सोवनारि सेज सुखवासू॥"[2]

सात खंड के ऊपर कैलाश की स्थिति तथा विभिन्न चक्रों के रंग का वर्णन योग ग्रंथों में मिलता है। षटचक्रों के भेदन के बाद शून्यचक्र मिलता है जो सहस्रार कहलाता है क्योंकि वह सहस्रदलों के कमल के आकार का है। उस सहस्रार को इस पिण्ड का कैलाश कहा गया है जहाँ शिव का निवास है।

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रार सरोरुहम्
ब्रह्माण्ड व्यस्तदेहस्य बाह्ये तिष्ठति सर्वदा
कैलासोनाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति

रत्नसेन पद्मावती विवाह खंड में वर-वधू के रहने के लिये जो धवलगृह मिला था उसे जायसी ने कैलाश कहा है और उसके सातों खंडों को सातों रंगों के रत्नों से जड़ा हुआ कहा है। ये सात खंड योग के सात चक्र हैं। षट्चक्रों के ऊपर सहस्रार चक्र कहा गया है इन सभी चक्रों के रंग भी बताए गए हैं।

---

१ बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० १३०-१३१।
२. पद्मावत, संख्या २९१।

सात खड धौराहर सातहुँ रँग नग लागु ।
देखत गा कविलासहि दिस्टि पाप सब भागु ।।"[1]

यह वह स्थान है जिसके सबध में कहा गया है —

जहि मन पवन न सञ्चरइ रवि शशि नाह पवेश ।
तहि वट चित्त विसाम करुसरहे कहिअ उवेश ।[2]

इसका सकेत जायसी ने कई स्थलो पर किया है । बोहित खड में समुद्र तक पहुँचने की बात कही गई है जहाँ न चाँद का प्रकाश है और न सूर्य का प्रकाश और उसके आगे का भेद जानने वाला ही वहाँ पहुँचता है ।

तहाँ न चाँद न सुरुज असूझा ।
चढै सो जो अस अगुमन बूझा ।।[1]

वहाँ धर्म-कर्म, सत्य और नियम से दस में कोई एक पहुँच पाता है ।

दस महँ एक जाइ कोइ करम धरम सत नेम ।[2]

'सिहल द्वीप खड' में भी गढ का वर्णन करते हुए जायसी ने उसी स्थल का सकेत किया है जहाँ कठिन साधना के बाद भी पहुँचना सब के लिये सभव नही हो पाता। वह गढ आकाश से ऊंचा है । आँखें उसे देख पाती हैं लेकिन हाथ वहाँ नही पहुँच पाते । जहाँ बिजली का चक्र फिरता है । जिसके डर से आकाश में चाँद, सूर्य और तारागण घूमते रहते हैं । जहाँ पवन, अग्नि और जल नही पहुँच पाते ।

सो गढ देखु गँगन तें ऊँचा । नैन देख कर नाहि पहूँचा ।।
बिजुरी चक्र फिरै चहुँ फेरी । औ जमकात फिरै जम केरी ।।
× × × × ×
चद सुरुज औ नखत तराई । तेहि डर अँतरिख फिरै सवाई ।।
पवन जाइ तहँ पहुँचै चहा । मारा तैस टूटि भुइँ वहा ।।
अगिनि उठी जरि बुझी निआना । धुआँ उठा उठि बीच बिलाना ।।
पानि उठा उठि जाई न छुआ । बहुरा रोइ आइ भुई चुवा ।।[3]

लेकिन वहाँ वही पहुँच पाता है जिसने श्वास को वश में कर मन पर अधिकार कर लिया है । क्योकि "इद्रियाणा मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुत: (हठयोग-प्रदीपिका श्लोक ४·२९) अर्थात् मन इन्द्रियों का स्वामी है और श्वास मन का और जब श्वास-प्रश्वास पर अधिकार कर इद्रिय जन्य वासना को विनष्ट कर दिया जाता है और मन

१. पद्मावत, सख्या २८८ ।
२. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० ९३ ।
१. पद्मावत, सख्या १४८ ।
२. वही, सख्या १४८ ।
३. वही, सख्या १९१ ।

की सारा क्रियाएँ विलुप्त हो जाती हैं तब योगी लययोग को प्राप्त होता है। जायसी ने कहा है:—

जाइ सो जाइ साँस मन बँदी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥
तूँ मन नाँथु मारि कै स्वाँसा। जौपै मरहि आपुहि करु नाँसा॥[1]

इसके बाद वाली पंक्ति में जायसी ने कहा है :

परगट लोकचार कहु बाता। गुपुत लाऊ जासौं मन राता॥

जायसी की यह पंक्ति हठयोग प्रदीपिका (४·३६) में वर्णित शांभवी मुद्रा का स्मरण करा देती है।

अंतर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते,
दृष्ट्वा निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेय खलु शांभवी भवति सा लब्वा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्य विलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शांभवम्॥

।चत्त और प्राण को जब योगी अन्तर में ब्रह्म में लीन कर देता है और दृष्टि निश्चल किए हुए बाहर, नीचे, ऊपर, देखता हुआ भी नहीं देखता तो यह शांभवी मुद्रा कहलाती है। यह गुरु के प्रसाद से प्राप्त होती है। शून्य, अशून्य जो कुछ विलक्षण दीखता है वह पर शम्भु (शिव) ही की अभिव्यक्ति है।

जायसी के सामने योग की प्रक्रियाएँ थीं और वे उनके पूर्ण जानकार थे। पद्मावत में अन्यत्र भी जायसी ने उनका वर्णन किया है। प्रस्तुत अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जायसी ने जहाँ भी चाँद और सूरज के प्रतीक का सहारा लिया है वहाँ योग में प्रचलित ये पारिभाषिक शब्द बराबर उनके सामने बने रहे हैं।

१. पद्मावत, संख्या २१६।

डा० कैलाशचन्द्र भाटिया

हिन्दी-प्रदेश में अँग्रेजी शिक्षा का विकास तथा प्रसार

अँग्रेजी भाषा अँग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ आई। अँग्रेजी भाषा के साथ अँग्रेजी शिक्षा, अँग्रेजी साहित्य, अँग्रेजी विचार एवं अँग्रेजी सभ्यता भी आई। हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में अँग्रेजी शिक्षा का कैसे प्रसार हुआ इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना ही इस निबन्ध का उद्देश्य है।

अँग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ

हिन्दी प्रदेश में शिक्षा का प्रसार सरकार के द्वारा ही नहीं हुआ प्रत्युत कुछ विशेष व्यक्तियों एवं क्रिश्चियन मिशनरियों के प्रयत्न से भी हुआ। भारत में अँग्रेजों से पूर्व विदेशी-जातियों—पुर्तगाली, डच, फ्रेंच आदि के द्वारा भी शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की गई पर इन सब जातियों द्वारा शिक्षा का प्रसार भारत के समुद्रतटीय प्रदेशों तक ही सीमित रहा[1] हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्र इससे बहुत दूर था और इसलिए वह इनसे प्रभावित न हो सका। इन भाषाओं के शब्द भी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम से ही हिन्दी-प्रदेश में प्रवेश पा सके।

अँग्रेजों के प्रयत्न से ही हिन्दी प्रदेश में सर्व प्रथम स्थापित संस्था (सन् १७९१) बनारस का संस्कृत कालेज है जिसकी स्थापना लार्ड कार्नवालिस द्वारा बनारस के रेजीडेन्ट जोन्थन डंकन की प्रेरणा से बनारस जैसे पवित्र स्थल पर की गई।[2] इस संस्था का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव अँग्रेजी के प्रसार पर न पड़ा लेकिन इसका दो उद्देश्यों में से एक उद्देश्य था जजों को हिन्दू-लॉ की जानकारी के लिए सहायक प्रदान करना। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से यूरोपियन प्रभाव पड़ता रहा।

अठारहवीं शताब्दी में और विशेषकर उसके अन्तिम दशकों में कुछ अँग्रेजों ने यह सोचना प्रारम्भ कर दिया था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारतीयों को शिक्षित

१. भगवत दयाल—द डेवलपमेंट ऑव माडर्न इंडियन एजूकेशन, सन् १९५५, पृष्ठ २९-३३।

२. वही, पृष्ठ ४४-४५। इससे दस वर्ष पूर्व कलकत्ते में सन् १७८१ में 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना हो चुकी थी।

करने का दायित्व सम्हालना चाहिए।' इसी आधार पर सन् १७९३ के चार्टर एक्ट में शिक्षा सम्बन्धी धारा रक्खी गई। इस धारा का उद्घाटन जे० सी० मार्शमैन ने सन् १८५३ में हाउस ऑव् लार्ड्ज की सेलेक्ट कमेटी के सम्मुख किया था। पर वह धारा किसी प्रकार बाद में हटा दी गई।[4] इसी बीच में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई।

शिक्षा सम्बन्धी वाद-विवाद सन् १८१३ ई० तक चलता रहा। इसके फलस्वरूप सन् १८१३ के चार्टर ऐक्ट में कम्पनी को भारतीय शिक्षा के लिए १ लाख रुपया रखना पड़ा। परन्तु वस्तुतः सन् १८२३ तक कम्पनी के कर्णधारों ने इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया।[5] इसी समय सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए एक कमेटी बनाई गई जिसके सचिव विलसन महोदय थे। इधर बंगाल में राजा राममोहन राय ने अनेक धर्मों का अध्ययन करने के पश्चात् सन् १८१४ में 'आत्मीय सभा' की स्थापना की। उनकी धारणा थी कि अन्ध विश्वास और रूढ़िवादिता का अन्त शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए उन्होंने सन् १८२८ में ब्रह्म समाज' की भी स्थापना की पर उससे पूर्व सन् १८२३ में ही उन्होंने बड़े जोरदार शब्दों में माँग की कि जनता की शिक्षा के लिए एक लाख रुपया व्यय किया जाना चाहिए। संस्कृत शिक्षा और उसकी विधि की भी कटु आलोचना की। उस समय के मनीषियों में राजा राममोहन राय ही थे जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा पर विशेष बल डाला और उसकी उपादेयता की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। आपको भारत में अंग्रेजी शिक्षा का अग्रदूत माना जाता है। उनका दृष्टिकोण था कि जहाँ एक ओर भारतवासियों को उदार और उन्नति-

---

३ 'क्या इस महान् देश की जनता को शिक्षित करने का यथायोग्य प्रयत्न करना है? अथवा इन्हें अपने वर्तमान अज्ञान की अवस्था में रहने के लिए छोड़ देना है? अर्थात् जहाँ तक अपने गोरे मालिकों की सहायता देने का सम्बन्ध है अवश्य ही उनका (ब्रिटिश शासकों का) पहला कर्त्तव्य था कि ऐसा प्रबन्ध करते कि न्यायालयों की भाषा और लिपि वही हो जो देश की भाषा और लिपि है। उनका दूसरा कर्त्तव्य स्कूलों की स्थापना करना अथवा कम से कम जो स्कूल पहले से ही वर्तमान हैं उन्हें प्रोत्साहन देना जिससे जनता की शिक्षा उसकी अपनी भाषा और लिपि में ही हो सके उनका तीसरा कर्त्तव्य ज्ञान की पुस्तकों के (देशी भाषा में) अनुवादकों को प्रोत्साहित करना और उनका चौथा कर्त्तव्य था—जिनका अवकाश है अथवा जिनमें अभिरुचि है उन सबको अत्यधिक ज्ञान अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने का वे साधन प्रदान करते।' गर जासदार सन् १७६३-६८।
डॉ, शारदा वेदालंकार—भारते दु पूर्व हिन्दी, लंदन विश्वविद्यालय, अनुवाद पृष्ठ १५१, थीसिस अप्रकाशित।

४. बी० डी० बसु—एजुकेशन इन ईस्ट इंडिया कम्पनी, पृष्ठ ६, भगवत दयाल की वही पुस्तक, पृष्ठ ४६।

५ इन्द्र विद्यावाचस्पति—भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अन्त, भाग १, सन १९५६, पृष्ठ २०६।

शील बनाने के लिए अँग्रेजी शिक्षा आवश्यक है। वहाँ अँग्रेजी राज्य के ऊँचे पदों पर पहुँचने के लिए भी अँग्रेजी ज्ञान की आवश्यकता है।

विदेशियो में सर्वप्रथम अँग्रेजी के महत्व को समझने वालो में से उल्लेखनीय नाम है—डेविड हेयर जो केवल घडीसाज थे और कलकत्ता में १८०० ई० में आ बसे थे। आपने कई स्कूल खोले और आपके प्रयत्न से ही कलकत्ता हिन्दू कालेज की स्थापना हुई। ये कलकत्ते में स्थापित 'कलकत्ता बुक सोसायटी' (सन् १८१७) के सदस्य भी थे। आपने भी अँग्रेजी शिक्षा के विकास में काफी योगदान दिया।[६]

इस प्रकार स्पष्टत देश में भारतीयो और अँग्रेजो का एक ऐसा वर्ग बनता जारहा था जो अँग्रेजी शिक्षा को नितान्त आवश्यक समझता था। कम्पनी के डाइरेक्टरो का भी यह स्पष्ट मत था कि उच्च शिक्षा के लिए अँग्रेजी के ज्ञान की आवश्यकता है और योरोपीय ज्ञान के प्रसार के लिए भारतीय भाषाओ के साथ अँग्रेजी का भी साधन बनाना चाहिए।[७] सन १८२८ में लार्ड विलियम बैंटिक गवर्नर जनरल होकर भारत आये। उन्होंने प्रधान शिक्षा समिति को लिखा, 'मेरा विचार अँग्रेजी का धीरे-धीरे इस देश की राजभाषा बनाना है।[८]

भाषा के इन दोनो पक्षो—आंग्लवादी[९] और प्राच्यवादी—के विचारको में काफी मतभेद रहा। ऐसे समय में विलियम बैंटिक ने देश की बागडार सम्हाली और सन् १८३५ में लार्ड मैकाले की नियुक्ति कानून-सदस्य (लॉ मेम्बर) के रूप में हुई। ये दानो ही व्यक्ति अँग्रेजी शिक्षा के पक्ष में थे। लार्ड मैकाले ने अपनी वाक्पटुता और योग्यता के बल से अँग्रेजी का पलड़ा भारी कर दिया। इसी समय आदम[१०] ने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा कि अँग्रेजी शिक्षा की ओर जनता का इतना अधिक झुकाव है कि जिस स्कूल में यह नहीं पढ़ाई जाती उसका न चलना निश्चित है।

लार्ड मैकाले को शिक्षा के जनरल कमेटी का अध्यक्ष बनाया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जब अन्तिम निर्णय का समय आया तब दोनो ओर बराबर मत आये जिस

---

६ भगवत दयाल, वही पुस्तक, पृष्ठ १६२।

७ वही पृष्ठ ६२—

"But they regarded the knowledge of English essential for a higher order of education while the vernacular language must be employed to teach the far larger classes who are ignorant of or imperfectly acquainted with English' "We look therefore, to the English language and Vernacular of India together as the media for the diffusion of European knowledge"

८. श्रीधर नाथ मुकर्जी—भारत में अँग्रेजी शिक्षा का इतिहास, वोरा एण्ड कम्पनी, सन् १९४६, पृष्ठ २४।

९ इनमें बर्ड, साउन्डर्स, ट्रिवेलियन, कोलविन के नाम उल्लेखनीय हैं।

१०. आप स्काटलैंड निवासी थ। आप भारत में १९ मार्च सन् १८१८ में आये। आपने सर्वप्रथम हिन्दी व्याकरण लिखा। आपके द्वारा सन् १८२९ में दिया गया स्मरण-पत्र उल्लेखनीय है।

पर कमेटी के अध्यक्ष लार्ड मैकाले के अतिरिक्त मत से आंग्ल भाषा देश की राज-भाषा और शिक्षा का माध्यम घोषित हुई। लार्ड मैकाले पर विवेचन करते हुए श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखते हैं—

'भारत में अंग्रेजी के दौर-दौरे के साथ मैकाले का नाम अटूट सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है। उस समय की जनरल कमेटी के अध्यक्ष ने अपने अतिरिक्त मत से जो निर्णय दिया, वह अगले सौ वर्षों के लिए भारत के माथे पर मानों 'भाग्य की रेखा' बन गया।'[11] अंग्रेजी शिक्षा से तात्पर्य विशेषकर आधुनिक विज्ञान से माना जाता था।[12]

सन् १८३५ के शिक्षा सम्बन्धी विशेष आदेश[13] से पूर्व हिन्दी प्रदेश में निम्नलिखित स्थलों पर स्कूल स्थापित हो चुके थे —

१ आगरा[14] सन् १८२३ .
२ बनारस[15] सन् १८१७
३ देहली[16]

उक्त तीनों की स्थानों पर अंग्रेजी की कक्षाएं सम्मिलित थीं या उसकी पृथक से व्यवस्था थी। सन् १८३३ में तीनों ही स्थानों पर अनिवार्य रूप से अंग्रेजी की कक्षाएँ जोड़ दी गईं।

---

११ इन्द्र विद्यावाचस्पति-वही पुस्तक, पृष्ठ २१०-११।

१२ "To be desirous of receiving what in India is frequently called an English Education—that is, Instructions in the Sciences of Modern Europe—is very different from a desire to learn English. Selections from Educational Records, Page 7

१३ ७ मार्च सन् १८३५ को निश्चय हुआ 'हिज लार्डशिप के मतानुसार भारतीय जनता में यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की वृद्धि करना ब्रिटिश सरकार का महान् उद्देश्य होना चाहिए। शिक्षा के लिए जितना भी धन स्वीकृत हो वह केवल अंग्रेजी शिक्षा में ही खर्च होना अच्छा है। हाउस अॉव लार्ड्स की सिलक्ट कमेटी के सम्मुख गवाही देते हुए विलसन महोदय का बयान ऐसा ही था—It is the opinion of Governor General that all funds which are available for the purpose of Education should be applied to the cultivation of English alone"
बी० डी० बसु द्वारा उद्धृत पृष्ठ ६४ ६५—भगवत दयाल, वही पुस्तक, पृष्ठ २१०।

१४ द इम्पीरियल गजेटियर अॉव् इंडिया, भाग ६, सन् १८८६, पृष्ठ ४७३।

१५ जय नारायण घोषाल ने बनारस में इस स्कूल की स्थापना सन् १८१७ में की बनारस गजेटियर १९२२, आपने इस कार्य में मिशनरियों का भी सहयोग लिया। सिकंदरा—मेकब्रिज, सन् १९४०, पृष्ठ १०७ तथा गजेटियर वही।

१६ वास्तव में इस स्कूल की स्थापना कब हुई इसका ठीक उल्लेख नहीं मिलता— सन् १८२८ सन् १८२९ तथा सन् १८३० तीन पृथक् वर्षों का उल्लेख प्राप्त होता है।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार :

सन् १८३५ के आदेश में निम्नलिखित चार बातें थीं :—[17]

१. यूरोपियन साहित्य और विज्ञान की शिक्षा भारतीयों को दी जाय।

२ प्राच्य शिक्षा के लिए कोई छात्रवृत्ति न दी जाय।

३. प्राच्य भाषाकार्य के लिए कोई धन न दिया जाय।

४ सारा स्वीकृत धन अंग्रेजों के निमित्त रहे।

प्रेस की स्वतन्त्रता, अंग्रेजी के जानकार भारतीयों की उच्च पदों पर नियुक्ति, फारसी के बदले अंग्रेजी का राजभाषा होना अंग्रेजी के विकास के प्रमुख कारण हैं।

सन् १८२५ से १८३७ तक विभिन्न स्थलों पर आठ स्कूलों की स्थापना हुई।[18] सन् १८३७ में स्थापित 'आगरा बुक सोसायटी' द्वारा जो प्रकाशन प्रारम्भ हुए वे हिन्दी प्रदेश के पहिले के प्रकाशन थे। सोसायटी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों से अंग्रेजी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।[19] इस सोसायटी द्वारा अंग्रेजी साहित्य भी प्रकाशित किया गया। तत्कालीन इन सोसायटियों में 'कलकत्ता और बनारस की बुक सोसायटी' उल्लेखनीय है। 'कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी' यूरोपीय मिशनरियों, हिन्दुओं और मुसलमानों का मानों संगम थी। बनारस (१८३३ ई०) से आदम साहब द्वारा प्रकाशित गणित प्रकाश तीन भाग इस प्रकार की पहली पुस्तक थी। तत्कालीन अंग्रेजी विभाग द्वारा प्रकाशित पुस्तकों पर डा० शारदा वेदालकार[20] ने निम्नलिखित टिप्पणी दी है :—

अंग्रेजी-विभाग के प्रकाशनों के विषय में दो-चार शब्द कहा जाय तो असंगत नहीं होगा। अंग्रेजी में बहुत सी रचनाएँ छापी गई। ऐसा जान पड़ता है कि बाद में शिक्षा का माध्यम बनने वाली अंग्रेजी की नींव बस इसी समय डाली गई थी। यूरोपियन, क्रिश्चियन और एंग्लो इंडियन बच्चों के लिए प्रान्त में इने-गिने स्कूल चल रहे थे जिनमें अंग्रेजी माध्यम का व्यवहार था। हिन्दू कालेज के लिए सभी आवश्यक पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन सोसायटी के अंग्रेजी विभाग द्वारा होता था और उनमें से कुछ यूरोप से मँगवा कर भी दी जाती थी क्योंकि स्कूल के लिए उपयुक्त पुस्तकें बहुत कम मिलती थीं।

सन् १८४३ से शिक्षा की बागडोर केन्द्रीय सरकार से प्रान्तीय सरकार के हाथ में आ गई।[21] इस समय इलाहाबाद, मेरठ, बरेली में हाईस्कूलों की स्थापना की जा चुकी थी। पहला इंजिनियरिंग कालेज भी रुड़की में स्थापित हो चुका था।

---

१७ डॉ० मिश्र, विश्वनाथ, इन्फ्लूएंस ग्रॅव् इंगलिश ग्रान हिन्दी लैंग्वेज एण्ड लिट्रेचर, थीसिस, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, १६५०, अप्रकाशित पृष्ठ ६०–६१।

१८ इम्पीरियल गजेटीयर, भाग १, सन् १६०८, पृष्ठ १३०।

१६ उदाहरणार्थ हिन्दी प्राइमर, हिन्दी स्पेलिंग बुक जमींदारी एकाउण्ट्स।

२०. डॉ० शारदा वेदालकार, थीसिस, वही, पृष्ठ १६२।

२१ यह उस समय उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कहलाता था, आगरा इस प्रांत की राजधानी था। श्री थामसन महोदय जो भारत में सन् १८२२ में आये थे, सन् १८३७ में सरकार द्वारा इस क्षेत्र के सचिव नियुक्त किये गये। आप ही इस प्रान्त के प्रथम लेफ्टीनेन्ट गवर्नर नियुक्त हुए थे। यह आदेश सुप्रीम कोर्ट द्वारा २६ अप्रैल सन् १८४० को जारी किया गया।

ऐसा ही उल्लेख इम्पीरियल गजेटियर भाग १, सन् १६०८ पृष्ठ १३० में किया गया है।

इस समय कुछ पदाधिकारियों को छोड़कर यूरोपियनों की संख्या नगण्य थी।[22] सन् १८६१ से १८६५ तक कुछ तहसीली स्कूल भी खुले जिनमें अंग्रेजी शिक्षा दी जाती थी।

इस समय तक दूसरी ओर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हिन्दुओं को अन्य हिन्दुओं से भिन्न समझा जाने लगा था।[23] इस नवीन प्रान्त में शिक्षा संस्थाओं की संख्या[24] इस प्रकार थी—कॉलेज—३, स्कूल – ६

इससे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अन्य प्रदेशों एवं प्रान्तों को देखते हुए इस क्षेत्र में अंग्रेजी के प्रति उत्साह कम था। ऐसा भी उल्लेख है कि अपरिचित भाषा अंग्रेजी का ठीक-ठीक ज्ञान होने से पूर्व ही निर्धनता के कारण विद्यार्थियों को जीविकोपार्जन के लिए विद्यालयों से उठा लिया जाता था।[25]

प्रान्तों के अनेक जिलों में स्कूलों की स्थापना की जा चुकी थी अपने प्रान्त में आठ जिलों में तहसीली स्कूल स्थापित किये गये—बरेली, शाहजहाँपुर, आगरा, मथुरा मैनपुरी अलीगढ़, फरुखाबाद, इटावा इस प्रकार सन् १८५४ तक कुछ हल्काबन्दी स्कूलों की संख्या अधिक न होते हुए भी उनमें १७००० विद्यार्थी पढ़ते थे।[26] इन विद्यार्थियों में से अंग्रेजी पढ़ने वालों की संख्या नगण्य थी।

सन १८५४ के चार्ल्स वुड डिस्पैच[27] का अंग्रेजी शिक्षा पर विशेष प्रभाव पड़ा। इसने भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न करदी थी। इसने यूरोपीय

---

२२ उस समय तक 'अंग्रेजी' की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए थामसन महोदय का कथन पठनीय है—यह कथन रिव्यू ऑव पब्लिक इन्स्ट्रक्शन, सन् १८३६-५१ पृष्ठ १८।
"There are here very few Europeau residents, except the functionarie of Govt There is no wealthy body of European merchants transacting their business in the English Language and according to the English method There is no Supreme Court where justice is administered in English no English Bar or Attorneys, no European Sea-borne Commerce, with its shipping and English Sailors and constant influx of foreign articles and commodities even in the Public Service, the posts are very few in which knowledge of English Language is necessary for a discharge of their functions" Selections from Educational Records Part I, Chap VI Page 228

२३ The Hindus who had received English education considered themselves to have escaped from the degrading superstitions of Hinduism. Due to inception of English Education many of the tortuous practices displayed in the name of religion were being gradually adhered

G W Johnson
The Stranger of India, Vol I, London, 1843, page 190
डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय-आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, सन् १९५२ पृ० १३३

२४ सेलेक्शन्ज फ्रॉम एजूकेशनल रेकर्ड्ज, भाग १, अध्याय ६, पृष्ठ २२८।

२५ वही, पृष्ठ २२८।

२६ वही, पृष्ठ २३०–३१।

२७ कोर्ट ऑव् डाइरेक्टर ऑव् ईस्ट इंडिया कम्पनी स० ४९ दि० १९–७–१८५४।
वही पृष्ठ ३६४, धाराएँ ७, ११, १३, १४ अंग्रेजी से सम्बन्धित तथा उल्लेखनीय है।

कला, विज्ञान, दर्शन, तथा साहित्य का अंग्रेजी माध्यम से भारत में प्रसार किया। आगे चल-कर सन् १८५७ में भारत में सर्वप्रथम तीन विश्वविद्यालय स्थापित किये गये कलकत्ता, मद्रास, बम्बई और इनमें से कलकत्ता विश्वविद्यालय का सबंध ही हिन्दी-प्रदेश के बनारस आगरा-बरेली के कालेजो से था। देहली कालेज तो सन् १८५७ में ही बन्द कर दिया गया था।

बाद में लखनऊ, इलाहाबाद तथा अलीगढ में स्कूलो की स्थापना हुई जो कालान्तर में चलकर विश्वविद्यालय के रूप में बदल दिये गए—

सन् १८६४ में केनिंग कालेज, लखनऊ।

सन् १८७२ म्योर सेन्ट्रल कालेज, इलाहाबाद।

सन् १८७५ मोहम्मडन एंग्लो ओरियण्टल कालेज, अलीगढ।

सन् १८७७ में आगरा और अवध दोनो प्रान्तो को जोड दिया गया। सन् १८८२—८३ में एक कमीशन की स्थापना हुई जिसने अब तक की प्रगति का सिंहावलोकन किया डॉ० मिश्र ने[२८] हंटर रिपोर्ट के आधार पर विभिन्न भाषाओ को पढने वाले विद्यार्थियो की सख्या निम्नलिखित दी है—

अंग्रेजी	१४२३
उर्दू	१०१५
हिन्दी	७३६

सन् १८८१—८२ में स्कूलो की सख्या अधिक हो चुकी थी। इस समय के कुछ और आंकडे दर्शनीय है—[२९]

	सन् १८७८	सन् १८८२—८३
पुस्तकों की कुल सख्या	४९१३	६१९८
अंग्रेजी या योरोपीय भाषाओ की पुस्तकें	५७६	६५५
अन्य भारतीय भाषाओ में	३१४८	४२०८

सन् १८८१ में अंग्रेजो की सख्या[३०] निम्नलिखित थी—

पजाब	१७५९०
उत्तर पश्चिमी प्रात-अवध	२०१८४
मध्यप्रात	२७७४

गजेटियर भाग १[३१] में कुछ और उल्लेखनीय आंकडे दर्शनीय हैं—

परीक्षा	१८८०—८१	१८९०—९१	१९००—१	१९०३—४
मैट्रिक्युलेशन	२९७	६०६	८१०	९४२
इटरमीडियेट	४८	२०४	१९७	३६४
आर्डीनरी बैचलर डिग्री	२४	१०५	१६७	२२३
हायर-स्पेशल डिग्री	७	११	२९	२४

२८. डॉ० विश्वनाथ मिश्र-थीसिस वही, अप्रकाशित, पृ० ६२।

२९ इम्पीरियल गजेटियर भाग ६, सन् १८८६, पृ० ४८१।

३०. वही, भाग वही, पृ० ६९५।

३१. इम्पीरियल गजेटियर, भाग १, सन् १९०८, पृष्ठ १३३।
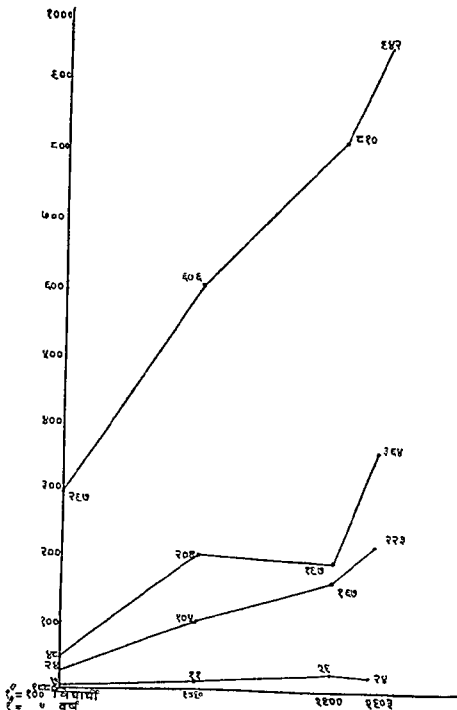
हिन्दी-प्रदेश में प्रथम-प्रथम विश्वविद्यालय का श्रीगणेश इलाहाबाद में सन् १८८७ में हुआ और प्रदेश के सभी कालेज इससे सम्बद्ध कर दिए गए। सन् १९०१

की जनगणना के आधार पर अंग्रेजी बोलने वालो की सख्या केवल आगरा में ३,१९१ थी।[३२] इस प्रदेश में २८ कालेज थे।[३३] जिनको निम्नलिखित प्रकार से तीन भागो में बांटा जाता है—

१. सरकारी— इलाहाबाद, बनारस।

२ सरकारी सहायता प्राप्त— आगरा, अलीगढ, बरेली, गोरखपुर, कानपुर, मेरठ।

३. बिना सरकारी सहायता प्राप्त—आगरा-सेन्टजान्स, लखनऊ-क्रिश्चियन कालेज, बनारस-हिन्दूकालेज।

सन् १९०२ में इडियन यूनीवर्सिटी कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में अंग्रेजी के गिरते हुए स्टैण्डर्ड[३४] की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिसके फलस्वरूप सन् १९०४ में राजकीय आदेश में यह स्पष्ट किया गया कि अंग्रेजी का प्रारम्भिक (प्राइमरी) शिक्षा में कोई स्थान नही है और न होना चाहिए।[३५]

इसके बाद तो अंग्रेजी शिक्षा का क्रमश: विकास होता ही गया। आगे चलकर इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, अलीगढ, आगरा, पटना, विहार, सागर, जबलपुर, विक्रम, देहली, राजस्थान, गोरखपुर, रुडकी, चण्डीगढ, कुरुक्षेत्र आदि स्थानो पर विश्वविद्यालय स्थापित होगये। हिन्दी-प्रदेश में स्थापित विश्वविद्यालयो के अतिरिक्त विहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, देहली, अजमेर आदि स्थानों पर माध्यमिक शिक्षा के लिए बोर्ड भी बने हुए हैं जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी के जानकारो की सख्या[३६] में वृद्धि हुई।

---

३२. आगरा गजेटियर, भाग ८, सन् १९२१, पृष्ठ ८३।

३३ इम्पीरियल गजेटियर, भाग १, पृष्ठ १३२।

३४ "Students after matriculation are found to be unable to understand lectures in English when they join a college the study of English should not be promoted to begin till a boy can be expected to understand what is being taught in that language."
भगवत दयाल, वही पुस्तक।

३५. वही, पृष्ठ २५२।
"English has no place and should have no place in the scheme of primary Education"

३६ ससार में अंग्रेजी भाषा-भाषी लगभग २५ करोड हैं और उसके समझने वाले ५० करोड।
Stuart Chase—Power of Words, Phoenix House Ltd, 1955, Page 5

सन् १६५१ की जनगणना के आधार पर हिन्दी प्रदेश में अंग्रेजी साक्षरों की संख्या[३७] निम्नलिखित प्रकार है'—

	प्रदेश	जनसंख्या	अंग्रेजी साक्षर
१	उत्तर प्रदेश	६,३२१५,७४२	५,१८,३२६
२	बिहार	४,०२२५,६४७	२,६३,६२५
३	मध्य प्रदेश	२,१२४७,५३३	१,४१,१८५
४	पंजाब	१,२६४१,२०५	३,२४,८५५
५	राजस्थान	१,५२६०,७६७	६८,३११
६	दिल्ली	१७४४,०७२	१,६२,६७८
७	हिमाचल प्रदेश	११०६,४६६	६ ७७६
	योग	१५ ५४७४,७६२	१४,८५,७५६ प्रतिशत—१ से भी कम

ईसाइयों द्वारा शिक्षा का प्रसार

सर्वप्रथम सन् १६२० में आगरे में एक जेस्यूट कालेज का स्थापना हुई।[३८] उत्तर प्रदेश क इस स्थान के अतिरिक्त कलकत्ता और श्रीरामपुर क बाद बनारस भी प्रमुख केन्द्र बना। हिन्दीप्रदेश में ईसाइयों द्वारा एक और स्कूल सन् १८१८ में आगरे में स्थापित किया गया।[३९] इसी के साथ ३४-३५ मील दूर स्थित मथुरा में सन १८५५ में एक स्कूल स्थापित किया गया। साथ में ही मिशनरियों ने बड़े उत्साह स सन् १८४२ तक गांवों में १० स्कूलों की स्थापना की। इनमें से बहुत से आगे चलकर उपयुक्त शिक्षकों के अभाव में बंद हो गये।[४०] तथापि आगरा, मथुरा के साथ मेरठ में भी स्कूलों की स्थापना की गई। उस समय आगरा उत्तरभारत का एक विशाल केन्द्र[४१] था और सभी स्कूल इसी से संबद्ध थे। सिकंदरा में स्थापित इस प्रथम स्कूल में सन् १८५३ तक २० अनाथ बालक और ३० अन्य विद्यार्थी थे तथा बालिकाओं के विद्यालय में ११ अनाथ बालिकाएँ और २० अन्य बालिकाएँ थी।[४२]

---

३७ Report of rhe official Language Commission, 1956, Page 468 69

३८. Summary of Important Dates—Indian Antiquary, Vol XXXII Page 23

३९ मेवब्रिज-सिकन्दरा १८४०-१६४० सन १६४०, पृष्ठ ५। आगे चलकर पृष्ठ ६ पर यह संदेह प्रकट किया गया है कि इस संबंध में वस्तुत मतभेद है कि स्कूल की स्थापना सन् १८१८ में हुई अथवा सन् १८२६ में।

४० वही, पृष्ठ ३६।

४१ वही पृष्ठ ५४, सी० एम० एस० पृष्ठ १६८, भाग २।

४२ वही, पृष्ठ ५६।

हिन्दी-प्रदेश का अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति एवं शिक्षा का विशाल केन्द्र ईसाइयो द्वारा स्थापित सेन्टजान्स कालेज आगरा है जिसकी स्थापना सन् १८५० में चर्च मिशनरी सोसायटी द्वारा हुई। इस समय तक केवल आगरा में २०० ईसाइयो द्वारा प्रचार कार्य में सहायता की जाती थी। सेन्टजान्स कालेज की स्थापना में यह उद्देश्य निहित था कि भविष्य में यह एक विशाल शिक्षा केन्द्र में परिवर्तित हो जावेगा जिसके द्वारा ईसाई सभ्यता का प्रचार सम्भव हो सकेगा।[४६] मेट्रीक्यूलेशन की प्रथम परीक्षा सन् १८६१ में हुई। सन् १८६६ तक इसमें पढने वाले विद्यार्थियो की सख्या इस प्रकार थी[४७] —

सन्	क्रिश्चियन	मुसलमान	हिन्दू	योग
१८५५	२०	२०	२१०	२५०
१८६०	३९	५५	२३१	३२५
१८६३	३९	४२	११३	१९४
१८६६	४७	९२	२४३	३८२

सन् १८५४ में बनारस में एक कान्फ्रेंस हुई जिससे ईसाई-आन्दोलन को विशेष प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। बनारस में नार्मल स्कूल की भी स्थापना हुई। इस समय तक शिक्षा का विशेष भार मिशनरियो पर ही था। दो स्कूल और एक कालेज को छोडकर सारी शिक्षा मिशनरियो द्वारा ही दी जाती थी।[४८]

इन दो केन्द्रो के बाद मथुरा, मेरठ में स्कूल चलाये गये जिनका उल्लेख हो चुका है तत्पश्चात गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ, जौनपुर, लखनऊ आदि स्थानो पर भी मिशनरियो द्वारा स्कूल खोले गये।

अमेरिकन मिशनरी द्वारा इलाहाबाद में क्रिश्चियन कालेज और कानपुर में क्राइस्ट चर्च कालेज की स्थापना की गई।

मिशनरियो ने देश की भाषाओ और अंग्रेजी को समान रूप से प्रश्रय दिया। देश की भाषाओ के द्वारा बाइबिल की शिक्षा का सन्देश जनता तक पहुँचाते थे और अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिमी ज्ञान का भडार।[४९]

---

४३ हिस्ट्री अॅव् सेन्टजान्स कालेज, १८५०-१९३०, सन् १९३२, पृष्ठ ६-७।

४४ वही, पृष्ठ १८३।

४५ इम्पीरियल गजेटियर भाग १, सन् १९०८, पृष्ठ १३१।

४६ "It was earnestly expected that in the time of this new college would become the centre of a strong educational and influence which would do much to purify public morals and raised the general moral tone of the educated classes It was earnestly expected *that in liberal education through the medium of Christian culture* and the English Language with the usual curricular of western Universities, and given in a distinctly Christian atmosphere would produce a new and higher moral type of character It was part of the intention of original founder of the college that it should be a centre of higher education"

हिस्ट्री अॅव सेंटजान्स कालेज, पृष्ठ २७।

इम्पीरियल गजेटियर भाग ६, सन् १८८६, पृष्ठ ४७३।

अन्य व्यक्तियों एवं सामाजिक संस्थाओं द्वारा अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन :—

कुछ व्यक्तियों ने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष रुचि ली और उन्होंने विभिन्न स्थलों पर स्कूल खोले जिनमें से बनारस के राजा जयनारायण घोषाल और आगरे के पं० गंगाधर का नाम उल्लेखनीय है। देहली, लखनऊ, इलाहाबाद तथा अलीगढ़ में भी स्कूल तथा कालेज व्यक्तिगत प्रयत्नों के फलस्वरूप ही स्थापित हुए।

सन् १८७५ में स्थापित आर्य समाज ने स्कूलों की स्थापना, सामाजिक प्रगति एवं जागृति में विशेष योगदान दिया। कानपुर, अलीगढ़, देहरादून, आगरा आदि लगभग सभी जिलों में आर्य समाज ने स्कूलों की स्थापना की। इन सबमें कानपुर का डी० ए० वी० कालेज विशेष उल्लेखनीय है। डी० ए० वी० कालेज कानपुर के साथ अनायास ही प्रो० दीवानचन्द तथा कर्नल कालका प्रसाद भटनागर का नाम जुड़ जाता है जो दोनों ही सज्जन आगरा विश्वविद्यालय के बाद में चलकर उप-कुलपति भी नियुक्त हुए। विश्वविद्यालय के इतिहास में आप दोनों की देन उल्लेखनीय है।

इसके साथ ही सनातन धर्मसभा ने कई स्थलों पर स्कूलों की स्थापना की। कायस्थ सभा की ओर से भी अलीगढ़, इलाहाबाद आदि स्थानों पर कायस्थ पाठशालाएँ स्थापित की गई। अग्रवाल जाति, जाट जाति, बारहसैनी जाति ने भी कई स्थानों पर शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की।

फिर तो सारे हिन्दी प्रदेश में स्कूलों का ताँता-सा लग गया। इस प्रकार हिंदी प्रदेश में शिक्षा का प्रारम्भिक विकास का सिंहावलोकन किया गया जिसके द्वारा हिन्दी-प्रदेश की जनता अंग्रेजी-शिक्षा के माध्यम से अंग्रेजी भाषा, सभ्यता, संस्कृति एवं विचारधारा के सम्पर्क में आई और उसके माध्यम से हिन्दी-भाषा और साहित्य को नवीन प्रेरणाएँ और दिशाएँ प्राप्त हुई।

卐

देवीशंकर द्विवेदी

माप और परिमाण-विषयक बैसवाड़ी शब्दावली

(सूचनाः— _ ह्रस्वता-द्योतक चिह्न है।)

माप

माप की प्रवृत्तियों का विश्लेषण निम्नलिखित वर्गों में किया जा रहा है—समय की माप, स्थान की माप, तरल पदार्थों की माप, आकार तथा वय की माप।

१. समय की माप

समय की माप के लिए अंग्रेजी इकाइयों का पर्याप्त प्रचलन इस क्षेत्र में है। घंटा, मिनट और सेकंड का ज्ञान केवल शिक्षित व्यक्तियों को ही नहीं है, अशिक्षित भी इनसे परिचित हैं। घड़ी का उपयोग सभी लोग जानते हैं, चाहे घड़ी देखना किसी-किसी को ही आता हो। 'दुपहरि मैं आय' की अपेक्षा 'बारा बजा होई' का प्रयोग कम नहीं है।

किन्तु माप की यह परिपाटी विशेष रूप से तब अपनाई जाती है जब किसी निश्चित समय की ठीक-ठीक सूचना देनी हो; जैसे—स्टेशन पर रेलगाड़ी के आने का ठीक समय बताते हुए या कभी-कभी जन्म का मुहूर्त विचारते समय। अन्यत्र प्राय: भारतीय समय-विभाग ही व्यवहृत होता है। इस समय-विभाग के अनुसार ठीक समय जान सकने का घड़ी-जैसा कोई यंत्र न होने के कारण समय का अनुमान ही इन शब्दों से होता है।

१.१ समय की माप की इकाइयाँ

(क) घरी—इस शब्द का प्रयोग रात के लिए अपेक्षाकृत अधिक होता है; जैसे—'घरी भरि राति गै होई।' दिन के लिए भी इसका व्यवहार संभव है।

(ख) पहरु—इस शब्द का प्रयोग प्राय: दिन के सम्बन्ध में होता है। 'दुपहर' अथवा 'दुपहरी' शब्द भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। दिन के तीसरे पहर को 'तिसरे पहर' के अतिरिक्त 'लउटी दुपहरी' भी कहा जाता है। रात के सम्बन्ध में भी इस शब्द का प्रयोग संभव है; जैसे—पहरु राति गै होई।

दिन के चारों पहरों में से एक का बोध संज्ञा शब्द 'दुपहर' से होता है, जिसकी रचना 'पहर' संज्ञा में संख्यावाचक शब्द के योग से हुई है। एक अन्य पहर की

सूचना 'पहर' शब्द के पूर्व क्रमसूचक विशेषण के प्रयोग से ('तिसरे पहर') होती है, कोई स्वतन्त्र संज्ञा शब्द नहीं बनता। 'चउथे पहर' की स्थिति भी यही है, यद्यपि इसका प्रयोग बहुत कम मिलता है और इस भाव की सूचना 'साँझ' या 'सँझलवखे' शब्दों से दी जाती है। पहले पहर का बोध इनमें से किसी पद्धति से नहीं होता और उसका स्थान 'सबेरे' शब्द लेता है।

'दुन्हो पहरे' से तात्पर्य सुबह-शाम से होता है। 'दुन्हो जून', 'दुन्हो बेरिया' और 'दुवख्ता' भी यही अर्थ देते हैं। उदा० हमरे सियाँ आजु-कालिह दुवख्ता रोटी बनति है।

सुबह या शाम को यदि 'उइ बेरिया' का प्रयोग किया जाय तो क्रमशः शाम या सुबह से तात्पर्य होता है। शाम के लिए 'सँझिनी बेरिया'—'जून'—'पहर' या 'सँझिले पहर' का भी प्रयोग होता है।

(ग) छिनु—क्षण। समय की अत्यन्त लघु इकाई के रूप में प्रयोज्य है, किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यह इकाई केवल एकवचन में प्रयुक्त होती है और अधिक समय की माप का साधन न बनकर अपने आप में सीमित रहती है। इस प्रकार 'छिनु भरि बइठो!' –जैसे वाक्य तो सुनने को बहुत मिलेंगे, किन्तु 'दुइ छिन मे होइहै'-जैसा प्रयोग नहीं मिलता।

१ २ दिन के समय विभागों का नामकरण

(क) सबेरु, भोर और भिनसार—क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त होने पर ये शब्द 'सबेरे—भोरहैं या भोरही—भेनही या भोनही या भिनसारे' का रूप धारण करते हैं।

(ख) दुपहर, दुपहरी—जो कार्य दिन में न होते हों, उनका दिन में होना आश्चर्य की बात है। ऐसे प्रसंग में 'दिन' पर जोर देने के लिए 'दिन दुपहरी' या 'दिन-दहाड़े' का प्रयोग होता है। धूप तेज होने पर यदि 'दोपहर' पर जोर देना हो तो 'भरी दुपहरी' का प्रयोग किया जाता है।

(ग) साँझ, साम।

(घ) राति—पर्याप्त रात बीत जाने या पर्याप्त रात शेष रह जाने पर 'रतिगरु' संज्ञा प्रयुक्त होती है।

टिप्पणी—

(क) मोटे तौर पर इन विभागों को दो वर्गों में रक्खा जा सकता है—दिनु और राति। दिन के मध्य भाग को 'दुपहर' कहते हैं, जब कि रात के मध्य भाग को 'अधराति' कहते हैं। उसे भी 'दुपहर' कहने से दिन और रात में किससे आशय है—यह भ्रम हो सकता था, किन्तु उसे 'दुपहर' के वजन पर 'दुपरी'-जैसा शब्द भी नहीं मिला। दोपहर को भी 'अधराति' के वजन पर 'अधदिन' नहीं कहा गया।

(ख) इस भिन्नता को स्थिर रखते हुए दिन के प्रारम्भ और रात के प्रारम्भ के लिए भी भिन्न शब्द प्राप्य है—'भोर' और 'साँझ'।

(ग) 'सबेरे भोरहैं-भोरही भेनही भोनही-भिनसारे' समय के अपेक्षाकृत विस्तृत खंड का अर्थ देते हैं। इन शब्दों का अर्थ सूर्योदय के पूर्व से लेकर सूर्योदय के बाद तक के लिए

व्याप्त है। 'तड़के' अथवा 'तड़क्के' से सूर्योदय के पहले का समय प्रकट होता है। 'गजरदम्म' शब्द इस भाव को और बलपूर्वक प्रकट करता है। इसका प्रयोग 'सबेरे' के साथ भी होता है; जैसे—सबेरे गजरदम्म चलि द्याव।

(घ) 'छुछरउखु', 'झुटपुट' और 'मुँधेर' ये तीनों शब्द सूर्योदय के तुरन्त पूर्व अथवा सूर्यास्त के तुरन्त बाद के उस समय का अर्थ देते हैं जब कुछ-कुछ अँधेरा होता है और बड़ी वस्तुओं की आकृति-मात्र दिखती है, उनका स्पष्ट रूप नहीं दिखता।

(ङ) उपर्युक्त समय-विभागों में से कुछ के साथ 'लगभग' का अर्थ प्रकट करने के लिए निम्नलिखित प्रकार की रचना होती है—

अ. भोरउखे, भोरहरे—सूर्योदय के पूर्व का समय, जब सूर्योदय होने ही वाला हो, 'भोरउखु, या 'भोरहर' कहलाता है।

ब. दुपहरियें, दुपहर्यामें—दोपहर के आस-पास। इसका प्रयोग अधिकतर दोपहर के पूर्व भाग के लिए होता है।

स. सँझइयाँ, सँझलउखे—सूर्यास्त के समय थोड़ी देर पहले से थोड़ी देर बाद तक के लिए प्रयोज्य; जब अँधेरा गाढ़ा न हो।

द. रतिगरे—१ पर्याप्त रात बीत जाने पर या २. पर्याप्त रात शेष होने पर।

(च) 'दिनु' के दो अर्थ द्रष्टव्य हैं—

अ. प्रात से सायं तक का समय।

ब २४ घण्टे का समय जिसमें रात और उपर्युक्त अर्थ का दिन दोनों सम्मिलित हैं।

(छ) पूर्णता के अर्थ के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द 'भरि' है, जैसे—'राति भरि', 'दिन भरि' आदि। इसी अर्थ में 'दिन' के साथ आने वाला अन्य तत्त्व 'मानु' है जो उसे 'दिनामानु' का रूप देता है। यह आबद्ध तत्त्व केवल 'दिन' के साथ ही प्रयुक्त होता है (ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थभेद—दिनमान > दिनामानु)।

'भरि' के प्रयोग में भी निम्नलिखित दो भेद हैं—

अ पूर्णता पर बल हो, जैसे—दिन भरि बइठ रहेन मुला तुम न आएव।

ब. 'केवल' का अर्थ दे; जैसे—दिन भरि कहाँ रहेव, सबेरे भरि रहे रहो।

(ज) सम्बन्धित शब्द

अ. रतँउधी—रात में न दिखाई पड़ना।

ब रतिजगा—रात्रि का जागरण।

स रतिहई—रात से सम्बन्धित प्रक्रिया, 'चोरी' के अर्थ में रूढ़।

१·३ 'तिथि', 'तारीख' और 'दिनु' भी समय की माप की इकाइयाँ हैं। 'तारीख' ईस्वी सन् में मानी जाती है और 'तिथि' विक्रमी संवत् में।

१·४ 'सप्ताह' शब्द प्रचलित नहीं है, किन्तु 'हफ्ता' का प्रचार है। 'अठवारा'[1] ८ दिन का होता है। समय की माप की इकाई के रूप में प्रयुक्त होनेवाला एक शब्द 'पन्द्रही' है। यह शब्द किन्हीं भी १५ दिनों को सामूहिक रूप में व्यक्त करता है। दिनों की संख्या एक या दो कम भी हो सकती है। उस स्थिति में इस शब्द से

१. यह शब्द पूर्वी अवधी (रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', अवधी कोश, पृ० २३०) में भी प्राप्त है।

लगभग 'पन्द्रह दिन' का अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार ४ तारीख को घटी हुई घटना की चर्चा १९ या २० तारीख को करते समय यह कह सकते हैं कि—आजु पन्दरही में आय। 'पखवारा' इसका समानार्थी है, जिसका प्रयोग शिक्षितों की वाक्शैली में होता है।

१५ 'पाख' शब्द भी १५ दिन का अर्थ देता है; किन्तु ये दिन निश्चित रहते हैं। 'कृष्ण पक्ष' और 'शुक्ल पक्ष' के लिए 'अँधेरिया पाख' तथा 'उजेरिया पाख' का व्यवहार होता है।

'महिना' तथा 'बरस' या 'साल' समय-माप की अन्य इकाइयाँ हैं। 'महीने' के अर्थ में 'मास' शब्द का प्रयोग नहीं होता; किन्तु अतिरिक्त महीने को 'मलमास' कहा जाता है। तीन महीने और छह महीने सम्मिलित रूप से 'तिमाही' और 'छमाही' कहलाते हैं। ये संज्ञाएँ विशेषणों की भाँति भी व्यवहृत होती हैं। अगले और पिछले वर्ष के लिए एक ही शब्द है—'पारसाल'। 'बरस' शब्द के साथ ऐसे शब्द नहीं बनते और न एक वर्ष के लिए ही इस शब्द का अधिक प्रयोग मिलता है। 'याक बरस' अथवा 'बरस भरि' के बजाय 'सालु भरि' का प्रयोग ही अधिक मिलता है। अधिक संख्या होने पर दोनों शब्द व्यवहृत होते हैं। 'पारसाल' के पहले (भूत) और (भविष्य के) बाद के वर्ष को 'तेउरस' तथा उससे भी आगे-पीछे के वर्ष को 'पतेउरस' कहते हैं। इन शब्दों का अंत्यांश 'बरस' का परिवर्तित रूप है। 'साल' के योग से इन शब्दों के समानान्तर और समानार्थी शब्द नहीं मिलते।

चालू वर्ष के लिए 'आसौं' या 'ई साल' का प्रयोग होता है।

१·६ 'खन', जून' और 'साइति' मोटे तौर पर 'समय' के समानार्थी शब्द हैं, जिनमें पहला पुल्लिंग और शेष दोनों स्त्रीलिंग हैं। किन्तु 'समय' से इनका एक भेद द्रष्टव्य है। 'समय' का प्रयोग निश्चित काल-विस्तार के लिए हो सकता है, जब कि 'खन', 'जून' और 'साइति' तीनों समय के किसी अनिश्चित अंश के बीत चुकने के बाद किसी समय-बिन्दु पर प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए 'दस साल का समय' कहा जा सकता है, लेकिन 'दस साल का खन'[1] 'दस साल की जून' या 'दस साल की

१ ऐतिहासिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी 'खन' का ऐसा व्यवहार संगत है, क्योंकि वह 'क्षण' का अपभ्रंश रूप है। आज क्षण के दोनों तद्भव रूपों ('छिन' और 'खन') का प्रयोग 'पंक्ति' के दो तद्भव रूपों ('पाँति' और 'पगति') की भाँति ही दो स्वतंत्र अर्थों में स्वतंत्र शब्दों की भाँति होता है। एक प्रयोग ऐसा है जिसमें 'क्षण' का स्थान 'खन' ले सकता है, 'छिन' नहीं, उदा० देखतै खन रुवावै लाग। इसी प्रकार 'क्षण' के स्थान पर जहाँ 'छिन' आ सकता है, वहाँ 'खन' नहीं आता।

यह उल्लेखनीय है कि पुरानी अवधी में छिन' के अर्थ में खिन' के प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। दे० रोइ-राइ खिन खिन होइ बिनासी (मुल्लादाऊद, चंदायन, पृ० १०)। यह 'खिन' रूप आज के 'खन' के लिए भी आता था और 'खन' का प्रचलन तो था ही। देखिए—१ पास कुँवर पीयत खिन आवा (मुल्लादाऊद, लोरकहा, पृ० ४४)।

२. तेहि खन बाजर मूड उचावा (मुल्ला दाऊद, चंदायन, पृ० १२)।

इस प्रकार अर्थ भेद की जो स्पष्टता आज छिन' और 'खन' में है, उस समय तक 'खिन' और 'खन' में न थी।

साइति' नही हो सकता। 'समय बुरा है' सही है; किन्तु 'खन बुरा है,' 'जून बुरी है' अथवा 'साइति बुरी है'[1] गलत है। प्रथम दो शब्दों का प्रयोग 'केत्ता-एत्ता-जेत्ता' आदि के साथ और 'साइति' का प्रयोग 'की–कउनी-ई-उइ-जी-ती' आदि के साथ मिलता है। उदाहरणार्थ—

अ. ओत्तेहे खन कहतिउ ! एत्ता खनु भा आय !

ब. सँझिली जून आएव !

स. बाजी साइति तुमहूँ चुपा जात हौ ! ई साइति ब्वालौ ना !

'बेरिया' भी एक समय-बिन्दु के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द है। इसके दो प्रकार के प्रयोग द्रष्टव्य हैं —

(१) रेल कै बेरिया भै आय (या खीझ में) अबै उनका घरै आवै क बेरियै नही भै।

(२) कउनी बेरिया (सुबह कि साम) चलिहौ ?

'उसी समय' अथवा 'इसी समय' के अर्थ में क्रमशः 'वई लागै' या 'यई लागै' अनुकर्मों का अथवा 'तवही' या 'अबही' क्रियाविशेषणों का भी प्रयोग होता है।

'समै', 'वखत' और 'मौका' का प्रयोग अपने तत्सम रूपों की भाँति होता है। 'टैम' या 'टैम' का प्रयोग तब होता है जब (१) किसी कार्य के होने में विलम्ब हो (२) किसी कार्य का समय आ गया हो अथवा (३) समय पूछना हो।

'अवकाश' के अर्थ में 'छुट्टी' और 'फुरसति' के साथ-साथ 'वार' का प्रयोग होता है; जैसे —'वार नही लागति' या 'तुमका वार होय तौ……'।

१·७ 'अबयार' और 'अरमा' शब्द 'विलम्ब' के समानार्थी हैं। 'देर' का प्रयोग भी खूब मिलता है। विलम्ब हो जाने पर उपयुक्त विशेषण सहित 'वार' (= समय) का प्रयोग भी होता है। उदा० बड़ी वार भै, अबै उइ आए नही।

अधिक समय के लिए 'ज्वार' का प्रयोग मिलता है। उदा० ज्वार भरि न लगाएव, जल्दी लउटेव ?

१·८ 'अंका और नागा' किसी नियमित कार्यक्रम में पड़े हुए व्यवधान को कहते हैं। एक एक दिन का अन्तर पड़ने पर 'अतरे दिन' या 'तिसरे दिन' का प्रयोग होता है।

नियमित रूप से कार्य चलने पर 'रोजीना' या 'रोज' और 'सालीना' का प्रयोग होता है। 'रोजाना' और 'सालाना' निश्चिनों की यावर्तों के रूप हैं।

---

१. जब 'साइति' का अर्थ 'मुहूर्त' होगा, तब यह वाक्य सही माना जायगा।

२. स्थान की माप

स्थान की माप के लिए 'बिगहा-बिसुवा'-बिस्वांसी' शब्दों का प्रयोग होता है। इनमें से प्रथम दो शब्दों का प्रचलन ही अधिक है। 'एकड़' शब्द का प्रयोग कुछ ही पढ़े-लिखे लोग करते हैं। क्षेत्रफल की माप की प्रमुख इकाइयाँ यही हैं।

२ १ स्थान की लम्बाई की माप 'कराम' करने हैं। ठीक नाप-जोख न करके प्रायः इन्हें अनुमानतः स्थिर किया जाता है। 'कोसु' दो मील का होता है। पढ़े-लिखे लोगों के मुँह से 'मील' भी सुना जा सकता है। अशिक्षित और अर्धशिक्षित लोग सड़कों पर गड़े हुए मील के पत्थरों को ही 'मील' कहते हैं।

२ २ 'गज-फिट-इंच' का प्रयोग प्रायः गणित पढ़ने-पढ़ाने वाले ही करते हैं। 'गज' और 'गिरा' वस्त्रों की नाप-जोख की इकाइयाँ हैं और इस प्रसंग में सभी लोग इनका प्रयोग करते हैं। 'थान' भी वस्त्रों की माप की इकाई है। किन्तु अधिक व्यवहृत होने वाले शब्द तो 'हाँथ', 'ब्यावाँ', बीता' (~ बित्ता) हैं। 'हाँथ' की माप में हाथ के बीच के जोड़ पर से अँगुली तक की लंबाई इकाई मानी जाती है। दोनों हाथों को छाती के बराबर फैलाने से बनी हुई लंबाई 'ब्यावाँ भरि' कहलाती है। 'बीता' और 'बित्ता' एक ही शब्द के वैकल्पिक रूप हैं। इस इकाई में अँगूठा और कनिष्ठिका के बाहर की ओर फैलाने से बना दूरी आती है। 'आँगुर' भी व्यवहृत होनेवाला शब्द है। यह अँगुली की चौड़ाई का इकाई है। भूमि की लंबाई की नाप में भी ये शब्द प्रयुक्त होते हैं और 'कदम' तथा 'पैंगु' (समानार्थी) का व्यवहार भी होता है।

लंबाई की नाप में 'पोर' भी व्यवहृत होता है। प्रत्येक अँगुली में तीन भाग होते हैं, जो पोर' कहलाते हैं। 'जौ भरि' और 'चउर भरि' का प्रयोग लंबाई की माप में अल्पता लिए होता है।

२'३ 'ऊँचाई' शब्द शिक्षितों की वाक्शैली का है, किन्तु 'ऊँच'[२] शब्द सामान्य वाक्शैली का सदस्य है। सामान्य वाक्शैली में ऊँचाई को 'उँचान' कहते हैं।

---

१. 'बिसुवा' शब्द केवल भूमि की ही माप नहीं करता, वह 'कनवजिया' अथवा 'कन-उजिया' ब्राह्मणों की 'मरजाद' की भी माप करता है। यहाँ 'बिसुवा' का आशय किसी भी ऐसी वस्तु की माप से नहीं होता जिसे वस्तुतः देखा, समझा अथवा नापा जा सके। इस माप का अंतिम छोर 'बीस बिसुवा' है, जिसे 'बिगहा' नहीं कहते।

२. स्थान की ऊँचाई के अतिरिक्त यह शब्द 'कुल' की ऊँचाई भी बताता है अर्थात् यहाँ कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की अदृश्य 'मरजाद' धरती की भाँति फैलती नहीं, आकाश की ओर खड़ी होती है, यद्यपि माप तब भी उसकी 'बिसुवा' से होती है। कुलीन लोगों का अर्थ देनेवाला शब्द 'बड़कुलवा' 'बड़ा' के योग से बना है और उसका पर्याय 'उँचकुलवा' 'ऊँच' के योग से। ये कुलीन ब्राह्मण 'बड़े-बड़कवे-बड़कए' भी कहलाते हैं। इनकी तुलना में कम 'बिसुवा' वाले ब्राह्मण 'छुवाट-छोटकवे छोटकए-धाकर-नीच' कहे जाते हैं। वस्तुतः नीच व्यक्तियों के लिए 'नीच' शब्द का प्रयोग यहाँ केवल सुशिक्षित लोग ही करते हैं।

किसी वस्तु की ऊँचाई तो 'ऊँच' से प्रकट की जा सकती है; किन्तु नीचाई 'नीच' से नही प्रकट की जाती। इसके लिए 'नाम्हें' या 'छुवाट' शब्द आ सकते हैं। 'ऊँचे' का विरोधी भाव प्रकट करने के लिए यहाँ 'नीचे' का प्रयोग केवल शिक्षितो की वाक्शैली में होता है, 'खाले-तरे तरखले' का व्यवहार अधिक है। ऊँचे भूमिखड को 'उँचवा' कहेंगे, किन्तु नीचे अर्थात् गहरे भूमिखड का 'खलवा' या 'गडवा' (←गढवा←गड्ढा) कहेंगे। इस प्रकार 'ऊँच' शब्द का सामर्थ्य जहाँ बहुत व्यापक और विस्तृत है, 'नीच' शब्द का प्रयोग बहुत ही सीमित और स्वल्प है। 'ऊँच' के विपरीत और समानान्तर भाव प्रकट करने के लिए अनेक शब्दो की सहायता लेनी पडती है।

२ ४ पानी की गहराई की नाप 'हाँथ' से होती है, किन्तु अधिक गहराई होने पर 'पुरछा' से। उदा०—इउ कुआँ तौ पुरछन गहिर है।

३ तरल पदार्थों की माप

तरल पदार्थों की माप की दो विधियाँ हैं। कभी-कभी तो उनके परिमाण से तात्पर्य होता है और उस स्थिति में परिमाण के लिए प्रयुक्त होने वाले बटखरो के माध्यम से ही तरल पदार्थों की माप की जाती है, उदा० 'तीनि स्यार दूधु'। किन्तु कभी-कभी उनके परिमाण की आवश्यकता नही रहती और तब तरल पदार्थों की माप उन पात्रो के माध्यम से व्यक्त की जाती है, जिनमें वे रक्खे जाते है। उदाहरणार्थ —

३ १ गगरी भरि—जो तरल पदार्थ 'गगरी' में रक्खे जाते हैं, उन्हें इस इकाई से नापते हैं, जैसे —गगरी भरि पानी।

३ २ बोतल भरि —'बोतल' किसी भी बडी शीशी को कहा जा सकता है, किन्तु अपने दूसरे अर्थ में यह शब्द एक विशेष माप की शीशी के लिए आता है। बोतल भरि' विशुद्ध माप की इकाई है।

३ ३ कुल्ला भरि—मुँह में पानी भरकर बाहर फेंकने की क्रिया को कुल्ला करना कहते हैं। इसलिए थोडा-सा द्रव, अनुमानत: इतना कि एक बार में मुँह में आ सके, इस इकाई से प्रकट किया जा सकता है।

३ ४ घूँट भरि— एक घूँट के समान स्वल्प द्रव के लिए प्रयोज्य।

३·५ छांदि भरि—एक बार खींचने पर थन से जो दूध निकलता है, उसे 'छांदि' कहते हैं। यही मात्रा माप की इकाई बन गई है। स्पष्ट है कि इसका प्रयोग केवल दूध के लिए होता है।

टिप्पणी—इसी प्रकार के अन्य प्रयोग मिलते हैं। जितने पात्रो में तरल पदार्थों का रखना सभव है उनके माध्यम से इनकी माप प्रकट की जाती है। यहाँ केवल यह ध्यान रखना चाहिए कि परपरानुसार जिस वस्तु को जिस पात्र में रखते है, उसी के माध्यम से उसकी माप बनाई जाती है। आटा और आम लोटे में रक्खे जा सकते हैं किन्तु प्राय रक्खे जाते नही हैं क्योंकि वह इनका पात्र नही माना जाता। इसलिए 'लोटिया भरि आंव' और 'नादिया भरि पिसानु'—जैसी अभिव्यक्तियाँ नही सुनी जाती।

'गगरी' में पानी और आटा दोनों रक्खे जाते हैं, इसलिए इस शब्द के साथ इन दोनों का प्रयोग संभव है।

एक मुहावरे में घी और तेल निकालने के काम में आनेवाले बर्तन 'परी' का प्रयोग रक्त के लिए हुआ है। उदा० उनका देखिकै हमार परी भरि खून सूखि जात है।

४ आकार तथा वय की माप

आकार की माप के लिए प्रयुक्त होनेवाले कुछ शब्द केवल मनुष्य के लिए व्यवहृत हो सकते हैं और कुछ अन्य ऐसे हैं जो अन्य जीवों बल्कि अन्य पदार्थों के आकार की माप के लिए भी आ सकते हैं। प्रथम कोटि के शब्दों में 'गँइठा' और दूसरी कोटि के शब्दों में लंबा' का उदाहरण लिया जा सकता है। प्रयोग-सामर्थ्य का यह भेद वय के संबंध में भी सत्य है और वहाँ इस प्रकार की दोनों कोटियों के उदाहरण के रूप में 'ज्याठ और बड़ा' शब्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

४ १ आकार की माप

(क) लंबा—यह शब्द किसी भी पदार्थ के आकार का द्योतन कर सकता है। उदा० लंबा मनई, लंबी रसरी लंबे दिन।

(ख) चँउड़ा, चाकल—इसका प्रयोग निर्जीव पदार्थों के लिए होता है। संबंधित वस्तु का वर्गाकार, आयताकार या घनाकार होना आवश्यक है। अंगों के लिए इस शब्द का प्रयोग हो सकता है। उदा० ऊ तिनकु चँउड़े (चकले) मुँह क्यार है। किसी प्रकार के मार्ग के संदर्भ में 'साँकर' इसका विलोम है।

टिप्पणी—वास्तव में लंबाई और चौड़ाई के भाव सापेक्ष तथा अस्थिर हैं। मनुष्य की अथवा जीवित पदार्थों की लम्बाई किस ओर है यह तो निश्चित हो चुका है, किन्तु निर्जीव पदार्थों में जिस ओर की माप अधिक होगी, उसी ओर लंबाई मान ली जायगी।

(ग) म्वाट—घनाकार तथा गोलाकार वस्तुओं के संबंध में प्रयोज्य है। पशुओं तथा मनुष्यों में चौड़ाई नहीं, मोटाई ही होती है।[१] 'जबर' भी मोटे का अर्थ देता है।[२]

(घ) पातर—जीवों के संदर्भ में 'दूबर' का प्रयोग मिलता है, 'पातर' सभी प्रसंगों में आता है।

---

१ हिन्दी में व्यवहृत होनेवाले अनुक्रम 'छोटी माटी' का अर्थ छोटी-बड़ी' है जिसका प्रयोग भी विकल्प से मिलता है। किन्तु उसमें 'मोटी' का प्रयोग संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'माटी' 'छोटी' का विलोम नहीं है और बात 'बड़ी' हो सकती है, 'मोटी' नहीं। इस प्रश्न का उत्तर मिलता है इसके गुजराती पर्याय 'नानी मोटी' से, जिसमें 'मोटी' का अर्थ है 'बड़ी'।

२. इस शब्द का प्रयोग पूर्वी अवधी (रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', अवधी कोश, पृ० ६५) में भी मिलता है।

(ङ) बड़ा—यह शब्द आकार की लंबाई भी प्रकट करता है और वय की अधिकता का द्योतन भी कर सकता है। प्रसंगानुसार यह संपन्नता तथा पद-जैसी स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस शब्द का व्यवहार सभी वस्तुओं के संबंध में हो सकता है।

आकार की लंबाई में 'बड़ा-सा' के अर्थ में 'बड़वार' या 'बड़ा कयार' का प्रयोग होता है।

(च) छ्वाट—यह शब्द आकार की लघुता भी प्रकट करता है और वय की अल्पता का द्योतन भी कर सकता है। प्रसंगानुसार यह संपन्नता तथा पद जैसी स्थितियों की हीनता या अभाव का आशय भी व्यक्त कर सकता है। इस शब्द का व्यवहार सभी वस्तुओं के संबंध में हो सकता है।

'नान्हें' का प्रयोग भी छोटे के अर्थ में होता है। अत्यंत छोटे का अर्थ 'नन-खुदिया' देता है।

'नान्हें' और 'छ्वाट' के बाद प्रयुक्त होनेवाले सहायक शब्द हैं—'बूजा बाजा-बूदा-बाद्दा'। ये अवधारणा का काम देते हैं। 'कयार' इनका स्थान ले सकता है।

टिप्पणी—लंबाई के साथ दूसरा पक्ष चौड़ाई का होता है और (जीवित प्राणियों या कुछ अन्य वस्तुओं में) मोटाई का। दूसरी ओर, 'लंबा' का विरोधी भाव 'गँइठा' भी (मनुष्यों में) होता है और 'छ्वाट' या 'नान्हें' (सर्वत्र) भी। इसे यों दिखा सकते हैं—

लंबा——{ चँउड़ा / म्वाट }——लंबा——{ गँइठा या ठामक / छ्वाट या नान्हें

(छ) इन अत्यंत विस्तृत प्रयोग और व्यापक अर्थवाले शब्दों के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द भी बैसवाड़ी में प्रचलित हैं.—

अ हाहाहूती—बहुत बड़ा, भीमकाय। उदा० हाहाहूती परु, देखेहे डेरु लागत है।

ब. हलब्बी—बहुत लम्बा। उदा० या हलब्बी लाठी। 'बेलड़' भी लंबे का अर्थ देता है।

स झामी—विशालकाय। इसका प्रयोग मनुष्यों के लिए 'जवान' शब्द के साथ होता है। उदा० इउ झामी जवानु कहाँ जात है?

शरीर की विशालता प्रकट करने के लिए 'गडाम डील' का प्रयोग मिलता है।

'झामी' और गडाम डील' जिस भाव को व्यंग्य विनोद में प्रकट करते हैं, उसे करुणा में प्रकट करने वाले शब्द हैं—'धमधूसर' और 'मुचंड'। 'धमधूसर' में स्थूलता और शिथिलता का भाव है, जब कि 'मुचंड' में वयस्कता और स्वस्थ, लंबे-चौड़े शरीर का।

सामान्य भाव में दुबले शरीर को 'एकहरी थाँह देही' कहते हैं और अपेक्षाकृत मोटे शरीर को 'दोहरी थाँह देही'। 'तगड़ा' का प्रयोग खड़ी बोली की भाँति होता है; 'दूबर' उसका विलोम है।

द. मेंह—मौसत दर्जे का। न बहुत छोटा, न बहुत बड़ा। उदा० हमार बैल मेह हैं।

ध. बौंड़ा—जो वस्तु अनभीप्सित रूप से छोटा हो जाय। उदा० या कमीज तौ बौंड़ी है।

फ. बड़ा -नाटा। अधिक नाटे नवयुवक को 'टेनी' कहते हैं।

(ज) आकार की माप के लिए अनेक वस्तुओं को मानदंड बनाया जा सकता है। रोष, व्यंग्य अथवा शिकायत के समय छोटे बच्चों का 'ध्यांव-ध्यांव भरे कै लरिका' 'लेंड-लेंड भरे कै', 'बेलु-बेलु भरे कै', 'बेलु भस' अथवा 'अढ़ई भस' कहा जाता है। इन अभिव्यक्तियों में आकार तथा वय दोनों को अल्पता का भाव है। उपर्युक्त प्रसंगों पर तथा विशेषतः करुणा, स्नेह आदि के प्रकाशन के समय उन्हें 'दाना-दाना भरे कै', रत्ती-रत्ती भरे कै' या 'चित्ता भरेन' कहा जाता है।

(झ) किसी अत्यधिक लंबे पत्र या अन्य लेख के लिए 'खर्रा' शब्द प्रयुक्त होता है।

४·२ वय की माप

(क) वय का संबंध दिखाने के लिए 'बड़े', 'छवाट' शब्द प्रयुक्त होते हैं। 'ज्याठ' शब्द भी वय की अधिकता दिखाता है, जैसे:—'उइ तुमते ज्याठ हैं। उइ तुमते जेठे हैं।' ज्याठ' शब्द का एक संकुचित अर्थ (पति का बड़ा भाई) भी है, किन्तु वहाँ भी वय की अधिकता का भाव सुरक्षित है। वय में कम होने का भाव प्रकट करने के लिए 'छवाट' के अतिरिक्त एक अन्य शब्द 'लहुरा' है; किंतु इसका प्रयोग कुछ स्त्रियाँ ही करती हैं। लोकगीतों में भी यह शब्द मिलता है। कुछ गाँवों के नामों में भी यह शब्द सुरक्षित है। उदा० 'लहुरी = छोटी कोरारी'।

(ख) वय की तीन कोटियाँ होती हैं—लरिका, जवान, बूढ़। प्रौढ़ व्यक्ति को 'अधेड़' कहते हैं। 'लरिका' अल्पवयस्कता के अर्थ में उभयलिंग है। उदा० 'ऊ (पु०) = वा (स्त्री०) अबै लरिकै तौ है।' लड़की को 'बिटेवा' कहते हैं। जवान के लिए कुत्सार्थक शब्द 'जवटा' या 'जुवटा' है।

'लरिकँउध' शब्द उन युवकों के लिए प्रयुक्त होता है जो अभी लड़कपन की सीमा से पार नहीं कर पाए हैं। 'लरिकई' का अर्थ 'बचपन' है। 'लरिका-प्यादर' सामूहिक रूप से बच्चों के लिए प्रयुक्त होनेवाली संज्ञा है। 'लँउडे-लपाड़ी' भी समूह-संज्ञा है, जिसमें कुत्सा का भाव निहित है।

'जवानी' और 'बुढ़ापा' खड़ी बोली में भी प्रचलित हैं। अधिक बूढ़े 'बुड़-डोंगर' से कहे जाते हैं। 'बुढ़ापा' के अर्थ में प्रचलित 'बुढ़वती' शब्द ग्रामीण बाबली का है।

वय-प्राप्त व्यक्ति को 'सयान' कहते हैं। 'इससे अधिक वय का' के अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग होता है, चाहे वर्णित व्यक्ति बालक ही हो। इन दोनों अर्थों में 'दिन'

से व्युत्पन्न शब्द 'दिनार' भी प्रयुक्त होता है। 'पुरैठ' भी इसी आशय में पुराने का अर्थ देता है, किन्तु इसका प्रयोग वयस्कों के लिए ही होता है।

'लठलूँबर' और लुबाडा' कुत्सार्थक शब्द हैं जो वयस्क व्यक्तियों के लिए व्यवहृत होते हैं।

'बूढ' का प्रयोग सामान्य भाव से बूढों के लिए होता है; किन्तु कुत्सा में बालकों या युवकों के लिए भी हो सकता है, यदि वे कोई अशोभन कार्य करें या ऐसी चेष्टा करें जो उनसे कम आयु के व्यक्ति करते हों। इसी आशय में 'बूढ भएव मूलो' '—जैसे अनुगमों के अतिरिक्त व्यवहृत होनेवाले अन्य शब्द हैं—बुढविल्लरु, बुढवच्चरु, बुढ-भच्चरु, बुढवचरु, बुढ़भवरु, बुढनुच्चरु, बुढमुच्चरु, बुढचरु।

(ग) 'हमजोली'[1] का अर्थ है, 'समवयस्क' या 'समवयस्कता'।

(घ) भाइयों और बहनों की गणना वय के अनुसार करने के लिए पृथक् शब्दावली भी है।

परिमाण

परिमाण के अंतर्गत मैंने बटखरों से तौली जा सकनेवाली वस्तुओं की ही चर्चा की है। 'माप' और 'परिमाण' के बीच का यह विभाजन मेरा अपना है और ऐच्छिक है। 'माप' में मैंने वे वस्तुएँ ली हैं जो बटखरों से नहीं तौली जातीं। तरल पदार्थों को मैंने उसमें इसलिए सम्मिलित किया है कि बटखरों से तौलना उनके संबंध में गौण क्रिया है, पात्रों में रखना प्रधान, क्योंकि तौलने के लिए भी उनका पात्रों में रखना पडता है। वैसे, 'माप' के अंतर्गत 'परिमाण' को भी रखा जाता है। दाशमिक प्रणाली को 'माप' की प्रणाली कहकर विज्ञापित किया गया है।

५ परिमाण के लिए प्रयुक्त होनेवाली निश्चित मूल्य की इकाइयाँ निम्नलिखित हैं.—

(क) रत्ती—इसका प्रयोग अत्यधिक मूल्यवान वस्तुओं के परिमाण में होता है। सुनारों और वैद्यों के यहाँ इस इकाई का व्यवहार होता है।

(ख) मासा—इसका व्यवहार भी सुनारों और वैद्यों के यहाँ होता है।

(ग) तोला—सुनारों और वैद्यों के अतिरिक्त पसारियों के यहाँ भी मूल्यवान वस्तुओं के लिए इसका प्रयोग होता है।

(घ) छटाँक।

(ङ) पउवा, पाव।

(च) अधइया—आधा सेर के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है, यद्यपि रूप की दृष्टि से इस शब्द के संबंध का भ्रम 'सवा' से होता है।

(छ) सेर।

---

१. पूर्वी अवधी (रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', अवधी कोश, पृ० २७४) में भी यह शब्द कुछ भिन्न अर्थ में प्राप्य है।

(ज) अढइया[1]—ढाई सेर की इकाई है ।

(झ) पसेरी—इस शब्द का हाल भी रूप और अर्थ की भिन्नता में 'सवइया'—जैसा ही है । पसेरी यहाँ अधिकतर दो सेर और कहीं-कहीं ढाई सेर परिमाण की मानी जाती है । यदि किसी ऐसे स्थान की चर्चा आती है जहाँ इसका व्यवहार पाँच सेर के लिए होता है, तो वहाँ की पसेरी को 'पक्की पसेरी' कहा जाता है । वैसे, लोगों को इस बात की चेतना है कि 'पसेरी' का रूपगत संबंध 'पाँच' सेर से है ।

(ञ) धरा[2]—यह इकाई साढे चार सेर की तौल के लिए प्रयुक्त होती है ।

(ट) मनु[3]—यह शब्द भी 'पक्का' विशेषण के साथ चालीस सेर का अर्थ देता है। सामान्यत यह सोलह सेर का माना जाता है, जिसे 'पक्का' की तुलना में 'कच्चा' कहते हैं । अन्यत्र केवल 'मनु' का अर्थ प्राय सोलह सेर ही समझा जाता है ।

६ उपर्युक्त शब्दों के दो अर्थ हैं । एक तो वे परिमाण की इकाई के रूप में व्यवहृत होते हैं, दूसरे इन परिमाणों के लिए व्यवहृत होने वाले बटखरों के नाम का सूचन भी इन शब्दों से होता है । अत्यधिक प्रचलित बटखरों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

पाव छटाँक, आधी छटाँक, छटाँक, अधपई,[4] पउवा, सवइया-अधसेरा[5]-असेरवा-सेरवा, सेरु, पसेरी । दस्यारा (दस सेर का बटखरा) प्रायः आटे की चक्कियों पर ही होता है । 'मनु' के आधे परिमाण को 'अधवनु' (८ सेर या २० सेर) कहते हैं । इस परिमाण का बटखरा आठ सेर के लिए पृथक् नहीं होता, किन्तु बीस सेर के लिए होता है ।

७ उक्त नामों में से 'पउवा' पुंल्लिंग शब्द है, किन्तु उसकी आधी तौल का बटखरा स्त्रीलिंग हो गया है । यह परिवर्तन दूसरे शब्दों में नहीं मिलता । 'सेरवा' शब्द आधा सेर का अर्थ देता है किन्तु 'सेर' का दीर्घ प्रातिपदिक-सा दिखता है, इस कारण इसमें भी विचित्रता लगती है, किन्तु वस्तुत यह 'असेरवा' के 'अ' के लोप से बना रूप है।

८ कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका मूल्य निश्चित रूप से स्थिर नहीं है, किन्तु परिमाण की न्यूनता दिखाने के लिए उनका प्रयोग किया जाता है—

(क) किनकी भरि—चावल के बहुत छोटे छोटे टुकडों को तथा मिट्टी या पत्थर के नन्हें-नन्हें टुकडों को भी 'किनकी' कहते हैं, किन्तु 'किनकी भरि' का अर्थ ठीक उतने ही परिमाण से नहीं होता ।

---

१. बिहार (विश्वनाथप्रसाद, कृषिकोश, पृ० १२) में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रचलित है ।
२ बिहार (ग्रियर्सन, पृ० ४३३) में यह इकाई दस सेर की है, किन्तु शाहाबाद में कभी-कभी पाँच सेर का भी बोध कराती है ।
३. 'मनु' शब्द का दूसरा अर्थ मन (इच्छा) होता है । इस श्लेष को लेकर ऐसे वाक्य मजाक में प्रायः सुने जाते हैं—हम तो मनु भरि खाब ।
४ बिहार (ग्रियर्सन, पृ० ४३३ तथा विश्वनाथ प्रसाद, कृषिकोश, पृ० १३) में इस परिमाण के लिए प्रयुक्त होनेवाले अन्य शब्द 'अधपाऊ' और 'अधपौआ' हैं ।
५ यह शब्द बिहार (विश्वनाथप्रसाद, कृषिकोश, पृ० १४) में भी मिलता है ।

(ख) रचु भरि—यह भी अत्यंत अल्पता का द्योतक है।

(ग) चुटकी भरि—हाथ के अँगूठे को उसके पासवाली अँगुली से मिलाने पर 'चुटकी' की स्थिति बनती है। इस प्रकार किसी के शरीर पर काटने को 'चुटकी काटबु' कहते हैं। अँगुलियों की इसी स्थिति के बीच आ सकने योग्य परिमाण को 'चुटकी भरि' कहते हैं। इसका कभी-कभी शाब्दिक अर्थ भी लिया जाता है; किन्तु अधिकतर अल्पता के सामान्य भाव से आशय होता है और तब व्यावहारिक रूप में प्रायः यह मुट्ठी भर मात्रा का द्योतन करता है।

९. अनुमानित परिमाण की सूचना देनेवाले कुछ ऐसे अन्य शब्द हैं जिनका मूल्य निश्चित रूप से स्थिर नहीं है। कभी-कभी इनसे अधिकता का भाव भी व्यक्त किया जाता है।

(क) बकोटु भरि—चिड़ियों के पंजों की भाँति अपने हाथ की ओर उनके नाखूनों की भाँति अपनी अँगुलियों की आकृति बनाने पर हमारे एक हाथ में कोई वस्तु जिस मात्रा में आ सकती है, उसे 'बकोटु भरि' कहेंगे।

(ख) मूठी भरि[1]—मुट्ठी भर। 'बकोटु' भरि में अँगुलियाँ अन्दर की ओर मुड़ती भर हैं, हथेली से मिलती नहीं हैं। मिल जाने पर जितनी वस्तु एक हाथ में आएगी, 'मूठी भरि' होगी।

(ग) मूठा भरि—साधारणतः 'मूठी भरि' और 'मूठा भरि' एक ही अभिव्यक्ति के दो रूप हैं। वैसे 'मूठी' और 'मूठा' में उस समय अन्तर रहता है, जब ये परिमाण प्रकट करने का काम नहीं करते। 'मूठी बाँधो' और 'तुम्हरी मूठी मँ का है'— जैसे वाक्यों में 'मूठी' के स्थान पर 'मूठा' नहीं हो सकता।

(घ) भ्वाया भरि—दोनों हाथों को निकट लाकर, जब उनके बीच थोड़ा-सा अन्तर रह जाय तब, उनके बीच दबाकर लाई हुई वस्तु 'भ्वाया' भरि होगी। जो वस्तु इस प्रकार न लाई जा सकती हो (जैसे—आटा) उसे अंजलि में बुरी तरह भर लेने से इस मात्रा की सूचना मिलेगी। इससे 'भोंधियाबु' क्रिया बनती है जिसमें अधिकता का भाव अनिवार्य रूप से रहता है।

(ङ) डाबी भरि—जब दोनों हाथों को इतना फैलाया जाय कि शरीर की चौड़ाई से कुछ अधिक अन्तर दोनों के बीच में रह जाय, तब, उनके बीच आनेवाली वस्तु 'डाबी भरि' होगी। इसका प्रयोग घास तथा अन्य वनस्पति के लिए होता है।

(च) घानु—चावल या दाल-जैसी वस्तुएँ कूटने के लिए जिस मात्रा में एक बार ओखली में आ सकती हैं, उसे 'घानु' कहते हैं। तेली एक बार जिस मात्रा में सरसों आदि

---

१. ऐसे प्रयोगों में 'भरि' शब्द सार्थक है। 'मूठी में पिसानु भरे हैं' और 'मूठी भरि पिसानु' में 'पिसानु' की मात्रा एक ही रहती है; किन्तु 'मूठी में पिसानु लीन्हें हैं' और 'मूठी भरि पिसानु' से 'पिसानु' की एक ही मात्रा का बोध आवश्यक नहीं है। इस प्रकार 'भरि' 'भरबु' क्रिया से व्युत्पन्न है और पूर्णता का अर्थ देता है। साथ ही, रूप और वाक्यविन्यास की दृष्टि से वह 'एक' का निषेधक है।

कोल्हू में डालता है; पिसाई या कुटाई की चक्की और मशीन में जिस मात्रा में अनाज या सरसों डाला जाता है, उसे भी 'घानु' कहते हैं।

(छ) घानी—अधिक आटा गुंधने पर इस शब्द का प्रायः प्रयोग किया जाता है। उदा० 'घानी भरि पिसानु माड़े वइटी है।' कोल्हू तथा पिसाई-कुटाई की चक्की और मशीन के संदर्भ में यह 'घानु' का वैकल्पिक रूप है।

(ज) ढेर भरि—औसत दर्जे के ढेर से अर्थ होता है; यद्यपि अधिकांश प्रयोगों में यह केवल अतिशयता ही दिखाता है।

(झ) गठरी भरि—किसी वस्त्रखंड में कोई वस्तु रखकर उसे बाँध दिया जाय तो 'गठरी' बन जाती है, इसके लिए आकार की लघुता और गुरुता का महत्त्व नहीं होता। किन्तु केवल संज्ञा के रूप में प्रयोग में न आकर यह शब्द जब परिमाण-सूचन के लिए भी व्यवहृत होता है, तब इससे मात्रा की अधिकता का द्योतन होता है।

(ञ) झवइया भरि—एक विशेष आकार की टोकरी से तात्पर्य होने पर उसमें आ सकने वाली मात्रा उसके नाम के आधार पर 'झवइया भरि' कही जायगी। 'झवई भरि', 'डेलइया भरि', 'टोकनियाँ भरि' यही अर्थ देते हैं। 'झल्लो', 'डेलवा' और 'झउवा' भिन्न प्रकार की टोकरियाँ हैं, जो अपनी मात्रा व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होती हैं।

(ट) बोझ भरि—घास-पात का बनाया हुआ एक सामान्यतः बड़ा गट्ठर इस मात्रा का परिचय देता है।

(ठ) खाँची भरि[1]—सामान्यतः 'बोझ भरि' से अधिक मात्रा।

(ड) किराँची भरि—रेलगाडी के डिब्बे को 'डेब्बा' के अतिरिक्त 'किराँची' भी कहते हैं। इसका प्रयोग विशेषतः मालगाडी के डिब्बे के लिए होता है। अतः सम्बन्धित वस्तु की मात्रा इसी के आस-पास समझनी चाहिए।

१०. कुछ शब्दों से किसी विशेष परिमाण का द्योतन नहीं किया जाता; अल्पता पर जोर देने के लिए भावों के संबंध में उनका प्रयोग होता है। कुछ दृश्य वस्तुओं या क्रियाओं की मात्रा के द्योतक शब्द भी हैं; जिनका कोई निश्चित परिमाण नहीं होता; केवल अल्पता या अधिकता का भाव उनसे व्यक्त होता है।

१०.१ अल्पता-द्योतक शब्द

(क) ध्याला[2] भरि—'ध्याला' पैसे में दो होते हैं। इस प्रकार यह बहुत छोटा सिक्का है। इसका प्रचलन भी दस-बारह वर्ष से बिल्कुल बंद है। उदा० हम तुमते ध्याला भरि नहीं दबित।

---

१. बिहार (ग्रियर्सन, पृ० १०) में 'खाँची' एक छोटी डलिया को कहते हैं। अलीगढ़ (सुमन, पृ० १०) में 'बाँस की खपचों से बेगरी बुनी हुई गहरे पेट की डलिया' को 'झल्लो' या 'खाँची' कहते हैं।

२. सिक्कों की इकाइयों से निश्चयात्मक परिमाण का काम भी लिया जाता है। सुनारों के यहाँ तथा अन्यत्र भी सोने और अन्य मूल्यवान वस्तुओं की तौल इनके माध्यम से की जाती है; जैसे—अठन्नी भरि, चवन्नी भरि, दुवन्नी भरि, एकन्नी भरि, अधन्ना भरि, पइसा भरि।

१० २ अतिशयता-द्योतक शब्द

(क) आंकर—अच्छी फसल के लिए प्राय इस विशेषण का प्रयोग होता है। उदा० बडी आंकरि फसल है।

(ख) आंबाड्वार[1]—मारने के प्रसग में 'ताबडतोड' के अर्थ में प्रायः इसका प्रयोग मिलता है। उदा० आंबाड्वार मरतै चला ग।

(ग) कलकला कै—भूख के सन्दर्भ में 'अत्यधिक' का अर्थ देता है। उदा० कलकला कै भूँख लागि आई।

(घ) गहवर—गहरा। उदा० 'गहवर अँधियारु हरै जग का।'[2] 'हिरदय का गहवर नेहु अपन।'[2]

(ङ) भद्दर—मौसम, धूप तथा ज्वर आदि के प्रसग में 'अत्यधिक' का अर्थ व्यजक शब्द। एक अन्य प्रयोग भी है—भद्दर आंव चुइ रहे हैं।

(च) महा—रोचक बात यह है कि इसका योग केवल बुरे विशेषणो के पूर्व होता है। उदा० ऊ महापाजी है।

'मुनि'–जैसी सज्ञा के पहले जब यह जुड जाता है तब उसे भी केवल व्यग्यार्थक बना डालता है। उदा० याकै उइ महामुन्नि अबै नही देखान।

११ कुछ सज्ञा शब्द ऐसे पदार्थो के द्योतक हैं जिनकी परिमेय वस्तु से पृथक् कोई सत्ता नही है, फिर भी वे एक निश्चित स्थिति में होकर उसके पैमाने से अपना परिमाण प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ —

(क) टोर्रा भरि—इसका प्रयोग नमक के लिए होता है। नमक के टुकडे बडे-बडे भी होते हैं, किन्तु औसत परिमाण के टुकडो से अर्थ लिया जाता है।

(ख) आंडी भरि—प्याज और लहसुन की प्रत्येक इकाई (गाँठ) को 'आंडी' कहते है। इस प्रयोग से उनकी पूणता (अखडता) व्यक्त होती है।

(ग) छोतु भरि—भैंस-गाय आदि का एक बार का गोबर 'छोतु' कहलाता है।

(घ) पूरा भरि—घास फूस का एक छोटा-सा गट्ठर जो एक हाथ में सरलता से पकडा जा सकता है। छप्पर बनाने का 'तिन' इस परिमाण से ही बिकता है। 'करबी' का एक ढर भी पूरा' सज्ञा पाता है, यद्यपि उसे दोनो हाथो से उठाया जाता है।

(ङ०) भौरी भरि—'झाँखर (अरहर के सूखे पेडो के डठल) का एक बोझ 'भौरी' कहलाता है। 'करबी' के बोझ के लिए वैकल्पिक रूप से इसका प्रयोग मिलता है।

(च) कुँदुरखा—किन्ही भी 'भौरियो' या 'पूरो' का सुनियोजित ढेर।

१२ माप और परिमाण के सामान्य शब्द

(क) माछी क मूडा भरि—अल्पता को सबसे अधिक प्रभावपूर्ण ढग से व्यक्त करता है। मक्खी का सिर (मूड) वैसे ही बहुत छोटा होता है, किन्तु उसे भी 'मूडा' (विशालता

---

१. यह शब्द पूर्वी अवधी (रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', अवधी कोश, पृ० २३०) में भी कुछ भिन्न रूप और अर्थ में प्राप्त होता है।

२ चन्द्रभूषण त्रिवेदी रमई काका', भिनसार, पृ० २।

प्रकट करनेवाले तत्व से संयुक्त रूप) बनाकर व्यंग्यार्थ में लघुता अथवा अल्पता पर और अधिक जोर दिया गया है। उदा० केत्ता दूध है ? माछी क मूडा भरि।

(ख) रत्ती भरि—इसका व्यवहार भावों के लिए भी होता है। उदा० ऊ० हमार कहा रत्ती भरि नहीं मानत।

(ग) दाना भरि—'रत्ती भरि' के सामान्यत इसी अर्थ में किन्तु अपेक्षत भिन्न व्यवहार-क्षेत्र में प्रयुक्त। उदाहरणार्थ, इसका व्यवहार तरल पदार्थों के लिए नहीं होता। जैसे—दाना भरे क लरिका।

(घ) अँजुरा भरि[१]—दोनों हाथों को मिलाकर कमल पुष्पवत् (अजलि) बनाने के बाद उसमें आ सकनेवाली मात्रा।

(ङ) अँजुरी भरि[१]—व्यावहारिक रूप में 'अँजुरा भरि' तथा 'अँजुरी भरि' में कोई भेद नहीं है।

(च) पसरु भरि—माप की दृष्टि से 'अँजुरा' का पर्याय है, किन्तु तरल पदार्थों में इसका प्रयोग प्राय खून के साथ मिलता है। उदा० पसरु भरि खूनु गिरिगा।

अनाज, चीनी-जैसी छोटे-छोटे टुकडो वाली वस्तुओ के परिमाण में भी इसका व्यवहार होता है।

१३ सम्पत्ति का मूल्यांकन सिक्को के माध्यम से किया जाता है जिसका आधार गणना है, अत इसकी चर्चा 'परिगणन' का विषय है। किन्तु समग्र रूप मे सम्पत्ति को एक इकाई के रूप में लते हुए उसकी चर्चा एकवचन में की जाती है। ऐसे स्थलों पर वह 'परिगणन' की नहीं', परिमाण' और माप' की वस्तु बन जाती है। जैसे—'उनके लगे पइसा (या 'रुपया' या 'रकम') बहुतु है।' 'माया' और 'लच्छिमी' का प्रयोग भी सपत्ति के अर्थ में इसी भाँति होता है। उदाहरणार्थ —

पइसा—बहुतु, तमाम, निखवख, महाहो, अनाप-सनाप आदि।

रकम—बहुतु, महाहो, लबो, तगडी, सइगरि, बडी आदि।

माया—बहुतु, बडी।

लच्छिमी—बहुतु तमाम, महाही, बडी आदि।

'रोकड' शब्द भी धनाधिक्य प्रकट करता है, किन्तु यह अधिकता शायद इतनी होती है कि इसके स्वामित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, तभी तो इस शब्द के साथ अस्त्यात्मक वाक्यरचना बैसवाडी में नहीं होती। 'हमरे लगे रोकडँ गाडो है'—जैसे व्यंग्यार्थक प्रयोग ही इस क्षेत्र में सुनाई देते हैं।

---

१ यह रूप बिहार (विश्वनाथ प्रसाद, कृषिकोश, पृ० ४) में भी उपलब्ध है।

श्री नन्दकिशोर सिंह

कुर्माली बोली

कुर्माली मागधी परिवार की पूर्वी बोली है। जार्ज ग्रियर्सन ने कुर्माली को पूर्वी मगही के नाम से अभिहित किया है। अपनी पूर्वी सीमा पर मगही बँगला से मिलती है। इन दोनों का समिश्रण नहीं हो पाया है, किन्तु इस क्षेत्र के लोग एक दूसरे की भाषा को सरलतापूर्वक समझ लेते हैं। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि बँगला तथा मगही दोनों पर एक दूसरे का प्रभाव पड़ा है और इस प्रकार की मगही को ही ग्रियर्सन ने पूर्वी मगही कहा है।[1]

पूर्वी मगही से ग्रियर्सन का उस एक भाषा से तात्पर्य है जिसकी कुर्माली और खोराटाली दो बोलियाँ हैं तथा जिसकी जननी गया पटना की मगही बोली है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से ग्रियर्सन का यह कथन सत्य है, किन्तु इन दोनों में पारस्परिक अन्तर भी है। कुर्माली 'आहे' 'आहो' 'आहेंक' 'आहिम' स्वतन्त्र क्रिया (Substantive Verb) का प्रयोग खोराटाली, मगही में नहीं पाया जाता है। इसके सिवा कुर्माली की संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, शब्दभंडार तथा उच्चारण की अपनी अलग विशेषताएँ हैं जो विशेषताएँ मगही और खोराटाली (माल्दह जिले की) बोलियों में नहीं मिलती हैं। इन अन्तरों के साथ-साथ यह भी कठिनाई है कि इन बोलियों का कोई साहित्यिक रूप उपलब्ध नहीं है। ऐसी दशा में ग्रियर्सन का नामकरण अस्पष्ट (Vague) है। कुर्माली के लिए कुर्माली नाम ही पर्याप्त है वह अपनी सजीवता और विकास के लिए अब मगही की अपेक्षा नहीं रखती। वह शताब्दियों से मगही से बिछुड़कर बँगला, उड़िया तथा मुण्डा भाषाओं से प्राण रस ग्रहण कर अपना पुष्ट आकार-प्रकार ग्रहण कर चुकी है। कुर्माली का लोकसाहित्य भी काफी समृद्ध है।

कतिपय विद्वानों[2] ने 'कुरमाली' के स्थान पर 'कुड़माली' शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु यह अशुद्ध है तथा इसमें अप्रतिष्ठा का भाव भी लक्षित होता है।

कुर्माली बोली का नामकरण छोटा नागपुर के कुर्मी जाति की बोली होने के

---

१. लि० स० ऑफ इंडिया, भाग ५, खंड २, पृ० १४५–१५०।

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य पृ० २१८

धारण हुआ है। कुड़माली शब्द कुर्म या कूर्म में आली प्रत्यय लगाकर बना है, जैसे; देशाली, गढ़वाली इत्यादि। कुर्म शब्द का संस्कृत तत्सम रूप 'कूर्म' है। कूर्म शब्द का प्रथम प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है[1] किन्तु यहाँ यह शब्द इन्द्र की संज्ञा में प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार कूर्म शब्द का अर्थ स्वर्ग, पृथ्वी, वीर्य, सूर्य, रस, प्राण आदि है।[2] कूर्म शब्द का वंश के अर्थ में प्रथम उल्लेख 'वंशभास्कर' में मिलता है।[3] डा० चटर्जी ने कुर्मी शब्द की उत्पत्ति संस्कृत 'कुटुम्बिन्' शब्द से की है।[4]

'कुर्मी' प्रथम आर्य जाति थी जो मगध से आकर छोटानागपुर में बसी।[5]

---

१. ऋग्वेद मण्डल ३, सूक्त ३०, मण्डल ६ सूक्त ३७, मण्डल ८ सूक्त ५५।

२. शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।५, ७।७।१५, ७।५।१।१०।

३. महाकवि मिश्रण सूर्यमल वंशभास्कर।

४. चटर्जी ओ० एण्ड डे० ऑफ बेंगाली लेंग्वेज—पृ० ३३३

५ (अ) डाल्टन एथनोलोजी ऑफ बंगाल, सी० एस० आई० कलकत्ता १८७२

(आ) शरत्चन्द्र राय मुण्डाज एण्ड देयर कंट्री, पृ० १४५

(इ) डा० विश्वनाथ प्रसाद लिं० स० ऑफ मानभूम एण्ड ढालभूम पृ० २-३

(ई) जार्ज ग्रियर्सन ने बिना युक्तियुक्त प्रमाण के छोटानागपुर के कुरमियों को द्राविड लिखा है और बिहार के कुर्मियों से भिन्न माना है इसलिए कुड़माली बोली के सम्बन्ध में गलत निर्णय दे दिया है कि यह विचित्र देश में विचित्र लोगों की बोली है। (—लिं० स० ऑफ इंडिया, भाग ५ खंड २ पृ० १४५)

(उ) हंटर, छोटानागपुर के कुर्मियों को मरहट्ठा कुर्मियों का वंशज मानते हैं तथा शिवाजी, सतारा, ग्वालियर के महाराजा को उसी जाति के अन्तर्भुक्त करते हैं।
—हन्टर स्टेटिस्टिकल एकाउन्ट ऑफ बंगाल भाग ११ पृ० ४६-४७

(ऊ) इतना तो निश्चित है कि छोटानागपुर के कुर्मी भारत के किसी भी क्षेत्र से क्यों न आए हों किन्तु छोटानागपुर में आने के पहले वे मगध में शताब्दियों तक रहे हैं और अपने साथ मागधी बोली लेते आए। बहुत सम्भव है कि छोटानागपुर में कुर्मी लोग ही प्रथम मागधी बोलने वाली जाति थी इसलिए यहाँ की दूसरी प्राचीन जातियों {सुराक (श्रावक), मुण्ड, सथाताल} ने अपनी बोली से पृथक् दिखाने के लिए इनकी बोली को मगहिया तथा कुर्मियों की बोली अर्थात् कुड़माली कहा।

(ए) सुप्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार ने कुर्मियों को खेतिहर और लड़ाकू जाति कहा है। मराठा और कुनबी जाति को लेकर शिवाजी की सेना तैयार की गई थी।

—यदुनाथ सरकार : शिवाजी, द्वि, सं० (हिन्दी) १९४६ पृ० ७-८

ग्रियर्सन के अनुसार कुरमाली को मगही, मगहिया, कुरमाली ठार[1], पाँच परगनिया[2] या तामाडिया, सदरी[3], कोरठा[4], खोट्टा[5] या खोट्टाली कहते हैं। डा० विश्वनाथ प्रसाद का कथन सत्य है कि उनके सर्वेक्षण से स्पष्ट हो गया कि ढालभूमि (सिंहभूम जिले का एक सबडिविजन) की करीब आध दर्जन बोलियाँ जो वहाँ के बिहारी अधिवासियों द्वारा बोली जाती हैं उन सभी बोलियों का आधार कुरमाली है।[6] प्रो० केसरी कुमार कुरमाली को नागपुरी के अन्तर्भुक्त करते हैं।[7]

केसरी जी मगही और मैथिली की तरह नागपुरी को भी मागधी अपभ्रंश से प्रसूत और इन्हीं की तरह एक निश्चित बोली मानते हैं। नागपुरी या नागपुरिया राँची जिले के पश्चिमी हिस्से में बोली जाती है। जार्ज ग्रियर्सन तथा डा० उदयनारायण तिवारी इसे भोजपुरी के अन्तर्गत परिगणित करते हैं और विकृत भोजपुरी के नाम से अभिहित करते हैं। सच तो यह है कि कुरमाली की तरह नागपुरी भी मागधी प्रसूत बोली है। इसके उत्तर, पूरब और दक्षिण में कुरमाली बोली जाती है तथा पश्चिम में छत्तीसगढी। उराँव जाति जब दक्षिण से छत्तीसगढ प्रदेश से होती हुई राँची जिले के पश्चिमी हिस्से में आकर बसी तो अपनी बोली (उराँव बोली या कुडुख भाषा) के साथ-साथ छत्तीसगढी बोली भी लेती आई। इस बोली ने राँची की पाँच परगनिया या—कुरमाली से मिलकर एक रूप गठित कर लिया। कई शताब्दियों के बाद भोजपुरी क्षेत्र से भी लोग यहाँ आकर बस गए जिससे भोजपुरी का भी मिश्रण इसमें हुआ है। उराँव

---

१. कुरमाली शैली, ठार का अर्थ ढग, रूप, शैली है।

२. राँची जिले के पाँचपरगना की बोली होने के कारण (सिल्ली, बुण्डु, तमाड़ राहे और बरन्दा)

३. सदर (फारसी-अरबी) शब्द से सदरी, सदर या सद लोगों की बोली। छोटानागपुर तथा आसपास के अंचलों में सद शब्द का अर्थ सभ्य लोगों से होता है। अँगरेजी में इसका प्रतिशब्द advance है। आदिवासी (उराँव, मुण्डा, संथाल) जातियाँ गैर आदिवासियों को सद, सदान, सदरी कहते हैं।

४. कोरठा, खोट्टा का अर्थ एक ही होता है—देखिए—खोट्टा।

५. खोट्टा के कई अर्थ होते हैं। (अ) हिंदी भाषा-भाषी सभी लोगों को विशेषकर मगध, मिथिला, भोजपुर के लोगों को बँगाली लोग खोट्टा कहते हैं और उनकी भाषा को खोट्टाली। खोट्टा शब्द में स्पष्ट रूप से घृणा का भाव है। (आ) कुरमाली के उस रूप को जिसमें बँगला का सर्वाधिक प्रभाव है। (इ) विकृत तथा मिश्रित बोली का रूप।

६. डा० विश्वनाथ प्रसाद : लि० सर्वे ऑफ मानभूम एण्ड ढालभूम पृ० १३।

७. "इसी का (नागपुरी) एक विशिष्ट रूप पाँचपरगनिया और किंचित परिवर्तित रूप कुरमाली है।" प्रो० केसरी कुमार सिंह : पचदश लोक-भाषा-निबंधावली (में प्रकाशित निबन्ध 'नागपुरी भाषा और साहित्य') बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना १९६०।

लोगों के विकृत उच्चारण करने के कारण ही इसका रूप कुछ विकृत सा जान पड़ता है। भोजपुरी और छत्तीसगढ़ी का रंग चढ़ने पर भी यह भोजपुरी नहीं है और न छत्तीसगढ़ी है; यह मिश्रित बोली नागपुरी है और इसका अध्ययन इसी रूप में होना चाहिए। प्रो० केसरी कुमार ने कुड़्माली भाषा क्षेत्र को नागपुरी के अन्तर्गत मान लिया है—और भाषा के अधिकांश उदाहरण भी कुड़्माली में प्रस्तुत कर दिए हैं, इससे भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन में भ्रम पैदा होता है।

कुड़्माली का क्षेत्र समस्त छोटानागपुर तो है ही उड़ीसा और प० बंगाल के कुछ हिस्से भी हैं। यह बोली सिर्फ कुड़्मियों तक ही सीमित नहीं है (यद्यपि आज भी इस बोली के बोलनेवालों में कुड़्मियों का प्रमुख स्थान है) अन्य जातियों ने भी इसे अपनाया है, जैसे, रजवार, कुल्हु, लाहार, भुईं या, कुम्हार, माची, मुसलमान, भूमिज, जुलहा, मैथिल ब्राह्मण, भूमिहार ब्राह्मण आदि।[1] राँची और हजारीबाग जिले में कुड़्मियों के सिवा घरमाली, घासी, डोम, तेली, बनिया, सोनार, चमार, तुरी, भूमिहार (कुछ) जुलहा आदि जातियाँ आदि बोलती हैं।

भौगोलिक दृष्टि से बिहार में इस बोली का विस्तार मानभूम, राँची, सिंहभूम और हजारीबाग है। बिहार के बाहर, उड़ीसा के मयूरभंज, क्योंझर, बानय और बामड़ा तथा बंगाल के पुरुलिया तथा मिदनापुर और बाँकुड़ा के उन हिस्सों में (झाड़ग्राम, आदि) जो बिहार से सटे हुए हैं, यह बोली बोली जाती है। मानभूम, सिंहभूम और मयूरभंज में यह कुड़्माली के नाम से प्रसिद्ध है। मानभूम में इसे बंगाली लोग कोरठा कहते हैं, उत्तर-पश्चिम में यह खोट्टा कही जाती है और पश्चिम में वे इसे खोट्टाली कहते हैं। सिंहभूम और मयूरभंज की कुड़्माली में थोड़ा भी अन्तर नहीं है। राँची जिले के पाँच-परगनों (सिल्ली, बुण्डु, तमाड़, राहे और बरदा—इसके वर्त्तमान थाने हैं—सिल्ली, बुण्डु, तमाड़ और सोनाहातू) में बोली जाने के कारण इसका नाम पाँचपरगनिया या पचपरगनिया कहलाती है। कुड़्माली और पाँचपरगनिया की तुलना करने पर हम देखेंगे कि कुड़्माली में पाँचपरगनिया की अपेक्षा बँगला का अधिक प्रभाव है। उड़ीसा के बामड़ा स्टेट में (अब स्टेट नहीं रहा) में कुड़्माली 'सदरी कोल' कहलाती है। यहाँ यह बोली कुछ आदिवासी जातियाँ बोलती हैं। इधर हो, मुण्डा जातियों को कोल कहते हैं। कोल लोग अपनी भाषा को छोड़कर सदर (सभ्य, साधु) भाषा बोलने के कारण इसका नाम 'सदरी कोल' है। 'सदरी कोल' छत्तीसगढ़ी से प्रभावित है।

कुड़्माली में बँगला के प्रचुर प्रभाव होने का कारण यह है कि अभी हाल तक मानभूम और ढालभूम में स्कूल कालेजों में पढ़ाई का माध्यम बँगला भाषा थी। हिंदी पढ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं थी। सभी कुड़्माली भाषा भाषी बँगला के माध्यम से ही शिक्षा पाते रहे। मानभूम के पुरुलिया सबडिविजन (अब पुरुलिया प० बँगला का एक जिला) के गाँव-गाँव में बँगालियों के चोटी की संस्कृति के मुखर्जी, चटर्जी, बनर्जी और दास परिवार के लोग वास करते रहे हैं और कुड़्माली भाषा-भाषियों के साथ बंगाल में ही बरतते आए हैं। तुलसीदास के रामायण के बदले मानभूम सिंहभूम और पाँचपरगना

१ डा० विश्वनाथ प्रसाद : लि० सर्वे ऑफ मानभूम एण्ड, ढालभूम पृ० २।

तक कृत्तिवास रामायण और काशीरामदास के महाभारत (बँगला) का प्रचार है। कुर्मियों के धार्मिक गुरु और पुरोहित अब तक ९० प्रतिशत बँगाली ब्राह्मण हैं। वैष्णव गीतों से आकृष्ट होकर झूमरों की रचना बँगला भाषा-शैली में होने लगी। आज भी कुर्माली प्रदेश में वैष्णव[1] लोग राधाकृष्ण की लीला का 'करताल' द्वारा गान करके भिक्षाटन करते हैं। बँगला के बाउल गान का भी प्रभाव कुर्माली में विद्यमान है।[2]

शताब्दियों से आदिवासियों के साथ रहने के कारण कुर्माली बोली और संस्कृति पर 'कोलारियन' प्रभाव भी पड़ा है। शब्द भंडार पर यह प्रभाव देखा जा सकता है। किन्तु यह सिर्फ लेन ही नहीं देन भी है। छोटानागपुर में आर्य जातियों के आगमन में कुर्मी प्रथम होने के कारण मुण्डा तथा उराँव जातियों ने भी कुर्माली से शब्द उधार लेकर अपने भंडार की वृद्धि की है। आदिवासियों के झूमर, सोहराई, करम गीत और नृत्य पर भी कुर्माली के प्रभाव ने विस्तार लाभ किया है। कोलारियनों में कुर्माली का सर्वाधिक प्रभाव संथाल जाति पर पड़ा है। आदिवासी और गैर आदिवासी (बँगालियों को छोड़कर) के बीच बातचीत का माध्यम (विशेषकर मानभूम जिले में) कुर्माली है।

कुर्माली के स्वर और व्यञ्जन वे ही हैं, जो हिन्दी के हैं। कुर्माली के उच्चारण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं —

मानभूमि कुर्माली में 'ओ' का उच्चारण 'अ' हो जाता है किन्तु सिंहभूम और हजारीबाग की कुर्माली में कुछ अपवादों[3] को छोड़कर 'ओ' का 'ओ' ही रहता है। उदाहरणस्वरूप बँगला के 'लाकेर' का मानभूमि कुर्माली में 'लकेर' और 'आकर' (बिहारी-मगही) का 'अकर' हो जाता है। 'मोर' (मेरा) तथा 'तोर' (तेरा) सर्वनाम का रूप 'मर' 'तर' एवं 'भोज' का 'भज' हो जाता है। किन्तु सिंहभूम, मयूरभंज की कुर्माली में 'लोकेर' 'ओकोर' 'ओकर' (हजारीबाग), 'मोर', 'तोर' और 'भोज' होता है।

'इ' तथा 'ए' के पूर्व का 'अ' मानभूमि कुर्माली में 'ए' में परिवर्तित हो जाता है —

कहिलेक; कहा > केहलाक, 'कहिके,, कहकर > 'केहिके, 'बसिके'; बैठकर < बेसिके, 'करिके', करके > केरिके।

—किन्तु सिंहभूम, मयूरभंज की कुर्माली तथा राँची के पाँच परगनिया में 'इ' ता 'ए' के पूर्व का 'अ', 'ओ' में परिवर्तित होना है —कहिलेक > कोहलाक, कहिके > कोहिके, बसिके > बोसिके, करिके > कोरिके[4]।

---

१. जो 'बोस्टोम' कहे जाते हैं।

२. बाउल गानों के अनुकरण पर भजनों की रचना हुई है। ग्राम-दुधकुंडी जिला सिंहभूम से, बुधु महतो लिखित पुस्तिका, लेखक को प्राप्त है।

३. सिंहभूम की कमार (कर्मकार, लोहार) जाति की कुर्माली।

४. पाँचपरगनिया में 'कोइरके' भी होता है।

कुरमाली में 'अ' का उच्चारण कई हालतों में दीर्घ अथवा दीर्घ-सा होता है। जैसे—पर> पार, गगरा> गागरा, कन्धा> काध, अदालत> आदालत, अन्धकार > आंधार, अनाज> आनाज, अफीम> आफीम, पत्थर> पाथर इत्यादि।

बँगला के प्रभाव के कारण कहीं-कहीं 'अ' का उच्चारण 'ओ' होता है जैसे—कलेजा> कोलजा, जमा> जोमा जरम> जोमीम, घडी> घोडी, चमक> चोमोक इत्यादि।

पश्चिमी हिन्दी का आकारान्त शब्द बिहारी में अकारान्त हो जाता है. बडा > बड, भला> भल, छोटा> छोट, लम्बा> लंब; किन्तु कुरमाली में बँगला के प्रभाव के कारण बोडो, भालो, छोटो, लोम्बा होता है।

कुरमाली में 'ण' का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नहीं होता है। जैसे—गुण> गुन, ऋण> रिन आदि।

'य' शब्द के आरम्भ में प्रयुक्त नहीं होता है। प्राय 'य' के बदले 'ज' होता है। जैसे—यमुना> जोमुना, यम> जोम, युग> जुग आदि।

कुरमाली में संयुक्त अक्षर प्राय असंयुक्त अक्षरों के साँचे में ढल जाते हैं। जसे—चिन्ह> चिन, कुटुम्ब> कुटुम, आदि।

संज्ञा—स्वार्थ प्रत्यय के रूप में 'टा' 'टाइ' तथा 'टाय' का अत्यधिक प्रयोग कुरमाली में होता है। कभी-कभी इसमें अँगरेजी के निश्चय सूचक शब्द (Definite article) का जोर रहता है। जैसे—छोआटा[1] (लडका), बेटा टाय (पुत्र)। इसका एक सम्बन्धकारक चिन्ह 'टेंक' भी है। जैसे—'घडी-टेंक बादें' जिसका अर्थ 'प्राय एक घडी के बाद' होता है। यहाँ 'टेंक' का अर्थ प्राय (about) है।

कुरमाली का 'एक' अक्षर (Syllable) अँगरेजी के अनिश्चय सूचक शब्द (indefinite article) की भाँति शब्दों के अन्त मे जोडकर प्रयुक्त होता है। जैसे—थोड-एक (थोडक) रिच—एक (रिचेक), जिसका अर्थ हिन्दी में थोडा या थोडा-सा होता है। एक—टा का प्रयोग भी उसी अर्थ मे होता है, जैसे, एकटा[2] मुनिस[3] के डाकिके[4] (एक नौकर को बुलाकर)।

गणात्मक संख्याओं के उच्चारण में बँगला का प्रभाव है।[5] ग्यारह से अठारह तक की संख्याओं में 'ह' का उच्चारण नही होता है। एक, दुइ (दुई), तीन, चार, पाँच, छ (छो), सात, आठ, न (नौ, नोई), दस (दोस), एगारो, बारो, तेरो, बीस-कुडी, एकोईस, बाईस, सोतोर (सत्तर-हि०), एक सो (सौ-सई-भी)।

---

१. बँगला में 'छेलेटा', 'छेलेटी' (किन्तु कुरमाली में टा, टी का प्रयोग लिंग सूचक के लिए भी होता है, जैसे; छोआटा—लडका,—छोआटी—लडकी)।

२. बँगला-एकटी, बिहारी—एकठो।

३. नौकर।

४. बुलाकर।

५. हजारी बाग के कुछ अचलों मे बिहारी उच्चारण।

पश्चिमी हिन्दी का 'ल' जैसे भोजपुरी, नागपुरी, में 'र' होता है वैसे कुरमाली में भी, जैसे; फर (फल), हार (हल), डार (डाल)।

कुरमाली में लिङ्ग दो है। महत्वपूर्ण प्राणियों के लिए व्यवहृत संज्ञाओं और कुछ विशेषणों में दो लिङ्ग होते हैं अन्यथा लिङ्ग का बखेड़ा कुरमाली में हिन्दी की तरह नहीं है। स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए प्रायः वे ही प्रत्यय व्यवहार में आते हैं जो हिन्दी और बिहारी में।

लोहार	...	लोहारिन
कामार	...	कामारिन
धोबी	...	धोबिन
बाघ	...	बाघिन
बाबू	...	बाबु आइन
देवर	..	देवरानी
जेठ	...	जेठानी
ननद	...	ननदोई
बोहनोई	...	बोहिन (हि० बहिन)
मामा	...	मामी, मामानी

कुछ प्राणीवाचक संज्ञाएँ जैसे कुकुर, सियार, मूसा (चूहा), बिलाय (बिल्ली), कोआ (कौआ) नर और मादा दोनों के लिए प्रयुक्त होते हैं किन्तु इन शब्दों के लिङ्ग निर्णय करते समय पुलिङ्ग में 'टा' और स्त्रीलिङ्ग में 'टी' जोड देते हैं, जैसे; कुकुरटा, कुकुरटी, सियारटा सियारटी, बिलायटी[1]।

यह स्मरण रखने की बात है कि हिन्दी और कई बिहारी बोलियों की तरह कुरमाली में भी कर्त्ता के अनुसार क्रिया होती है (यद्यपि इसमें हिंदी की भांति उतना सूक्ष्म भेद नहीं है—यह सिर्फ प्राणिवाचक संज्ञा, सर्वनाम के लिए लागू होता है)।

उदाहरण स्वरूप

हिन्दी	कुरमाली
राम गया	राम गेल या गेलाक।
सीता गयी	सीता गेली।
लडका आ रहा है	छोआटा आवेय साहे।
लडकी आ रही है	छोआटी आवेय साही।
लडका आवेगा	छोआटा आवताक।
लडकी आवेगी	छोआटी आवती।

---

१. बिलाय का स्त्रीलिङ्ग ही प्रयोग होता है।

कुड़्माली में वचन दो हैं, किन्तु दोनों के रूप एक हैं। एक वचन में सब,[1] लोग, गुला,[2] गिला जोड़कर बहुवचन बनाया जाता है। जैसे—घोड़ा सब, राजा लोग, मुनिस गुला, धार गिला इत्यादि।

कुरमाली के कारक चिह्न या परसर्ग ये हैं —

कर्त्ता	...	०
कर्म	...	के
करण	...	द्वारा, दारा
सम्प्रदान	...	के, लाय, खातिर
अपादान	...	से
सम्बन्ध	..	कर
अधिकरण	...	उपर
सम्बोधन	...	ए, अरे, एई

कुर्‌माली के सर्वनाम हैं—पुरुषवाचक—मोय, हाम, मोरा, हामरा, तोय, तोरा, तोहरा, ओरा, ओखरा। निजवाचक आपने, आपन। निश्चयवाचक—उ (वु)।

अनिश्चयवाचक—केउ, कोनो। सम्बन्ध वाचक—ज, सँ तें (जे, से, ते—भी)। प्रश्नवाचक—कौन, किना[3] (कौन प्राणिवाचक के लिए तथा किना अप्राणिवाचक के लिए)। मोय का बहुवचन मोरा, हामरा। तोय का बहुवचन तोरा। वु (उ) का बहुवचन ओरा, ओखरा होता है। शेष सभी सर्वनामों के बहुवचन रूप सब (सोब), गला, गिला, लोग जोड़कर किया जाता है।

---

१. सब सोब सउब।

२. बँगला में 'गुली'।

३. 'किना' सर्वनाम जिसका अर्थ क्या होता है मगही का बहुत प्राचीन रूप है जो अब तक कुर्‌माली में बना हुआ है। ग्रियर्सन लिखित बिहारी भाषाओं तथा उपभाषाओं के सप्तव्याकरण भाग १ (ग्रियर्सन—सेवन ग्रामर्स ऑफ द डाइलेक्ट्स एण्ड सब डाइलेक्ट्स ऑफ बिहारी लैंग्वेज, पार्ट वन) के मुख पृष्ठ पर एक पद उद्धृत है—

कस कस कसमर किना मगहिया।
का भोजपुरिया की तिरहुतिया॥

जिसका अर्थ होता है 'क्या' सर्वनाम के लिए 'कसमर' (सारन जिले का एक स्थान) में 'कस', मगही में 'किना', भोजपुरी में 'का' तथा तिरहुतिया में (मैथिली में) 'की' प्रयोग होता है।

सर्वनाम की कुछ रूपावली नीचे दी जा रही है:—

मैं—आप

		एकवचन		बहुवचन
१ मा	...	मोंय, हाम	...	मोरा, हामरः
२ या	...	मोके, हामके	...	मोरा के, हामरा के
३ या	...	मोर द्वार, हामरा द्वारा	...	मोराक द्वारा, हामाक द्वारा
		एकवचन		बहुवचन
४ थी	...	मोके, हामके	...	मोरा के, हामरा के
		मोर लाय, हामार लाय	...	मोराक लाय, हामराक लाय
५ वी	...	मोर ले, हामर ले	...	मोराक ले, हामराक ले
६ ठी	...	मोर, हामर	...	मोराक, हामराक
७ वी	...	मोर पर, हामर पर	..	मोराक उपर, हामराक उपर

तहूँ या तोहूँ शब्द

		एकवचन		बहुवचन
१ मा	...	तहूँ	...	तोरा, तोहरा
२ या	...	तोके	...	तोराके, तोहरा के
३ या	...	तोर द्वारा	...	तोर द्वारा, तोहराक द्वारा
४ थी	...	तोके, तोरलाय	...	तोरा के, तोहराके, तोहरलाय
५ वी	...	तोर ले	...	तोहर ले, तोहराक ले
६ वी	...	तोर	...	तोहर, तोहराकर
७ वी	...	तोर उपर	...	तोहर उपर, तोहराक उपर

उ, ओई

		एकवचन		बहुवचन
१ मा	...	उ, ओई	...	ओरा, ओखरा
२ या	...	ओके	...	ओरा के, ओखरा के
३ या	...	ओर द्वारा, ओकर द्वारा	...	ओखर द्वारा, ओखराक द्वारा
४ थी	...	ओके, ओकरालाय	...	ओखरा के, ओखराक लाय
५ वी	...	ओकर ले	...	ओखराक ले
६ वी	...	ओर, ओक	...	ओखराक, ओखराकर
७ वीं	...	ओकर उपर	...	ओखराक उपर

एहे

		एकवचन		बहुवचन
१ मा	...	एहे	...	एमरा
२ या	...	एके	...	एखराके

३ या	...	एकोर द्वारा	...	एकराक, द्वारा
४ थी	...	एके, एकोरलाय	...	एगराके, एगराक लाय
५ वीं	...	एकोर ले	...	एगरा ले
६ वीं	...	एकोर	...	एगराकर
७ वीं	...	एको उपर	...	एगराकर उपर

आपने

		एकवचन
१ मा	...	आपने
२ या	...	आपनेके
३ या	...	आपने द्वारा
४ थी	...	आपने लाय
५ वीं	...	आपन ले
६ ठी	...	आपन
७ वीं	...	आपन उपर

कोन, कौन

		एकवचन		बहुवचन
१ मा	...	कोन, कोने	...	कोन, कनो, काखरा
२ या	...	काके	...	काखराके
३ या	...	काकर द्वारा	...	काखराक द्वारा
४ थी	...	काकर लाय	...	काखराक लाय
५ वीं	...	काकर ले	...	काखराक ले
६ ठी	...	काकर	...	काखराकर
७ वीं	...	काकर उपर	...	काखराक उपर

जे (who) सम्बन्धवाचक सर्वनाम

		एकवचन		बहुवचन
१ मा	...	जे, जें	...	जाखरा।
२ या	...	जाके	...	जाखरा के
३ या	...	जाकोर द्वारा	...	जाखराक द्वारा
४ थी	...	जाकोर लाय	...	जाखराक लाय
५ वीं	...	जाकोर ले	...	जाखराक ले
६ ठी	...	जाकोर	...	जाखराकर
६ वीं	...	जाकोर उपर	...	जाखराक उपर

सें तें

	एकवचन		बहुवचन
१ मा	... सें, तें	...	ताखरा
२ या	... ताके	...	ताखरा के
३ या	.. ताकर द्वारा	...	ताखराक द्वारा
४ थी	... ताकोर लाय	...	ताखराक लाय
५ वीं	... ताकोर ले	...	ताखराक ले
६ ठी	. . ताकोर	...	ताखराकर
७ वीं	... ताकर उपर	..	ताखराक उपर

मागधी प्रभूत बोलियों की तरह कुर्माली में भी 'ल' जोड़कर सामान्य भूतकालिक क्रिया सम्पन्न होती है और यथास्थान सर्वनाम का लघुरूप उसमें जुड़ जाता है; खालो (मैंने खाया), देखलो (मैंने देखा), गेलों (मैं गया), पावलो (मैंने पाया), कहलो (मैंने कहा), खालियो (हमलोग खाए), खाले (तू खाया), खालाक (उसने खाया), देखलाक (उसने देखा), कहलाक (उसने कहा), सिराउलाक (उसने खतम किया), रहलाक (वह रहा "ठहरा था")।

कुर्माली का आसन्न भूतकाल बिहारी की तरह ही होता है—

करले आहो (मैंने किया है), खाले या खाइले आहो (मैंने खाया है) देले आहिस (तूने दिया है), खाले आहिस (तूने खाया है), गेले आहे (वह गया है), करले आहे (उसने किया है) इत्यादि।

पूर्ण भूतकाल इस तरह बनाया जाता है—गें[1] रहो (मैं गया था), गे रहिओ (हम लोग गए थे), आदि। 'ब' लगाकर भविष्यकाल की क्रियाएँ बनायी जाती हैं किन्तु प्रथम पुरुष में 'म' लगाकर—जाम (मैं जाऊँगा), खाम (मैं खाऊँगा), पीयम (मैं पीऊँगा), पीधम (पहनूँगा), जाब (हम लोग जायेंगे), खाब (हम लोग खायेंगे), खाबे (तू खाएगा), खाबे हे (तुम या आप खायेंगे), खातार[2] (वह खायेगा), खाता (वे खायेंगे, वे लोग खावेंगे)।

कुर्माली में होना क्रिया के कई रूप हैं—हेक, हेवेक, हेतेक, रहेक, आहेक और इनका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है। उक्त क्रियाओं के निषेधात्मक रूप उनसे भिन्न हैं। हेवेक का निषेधात्मक न-हेक, हेतेक का नि-हेतेक, हेक का न हेक, नहे, रहेक का नि-रहेक, जैसे, किना हेवेक (क्या है), किछु नहेक (कुछ नहीं है), इ कामटा हेतेक (यह कार्य होगा) इ कामटा निहेतेक (यह कार्य नहीं होगा), घारे किना रहेक (घर में क्या करता है), घारे किना नि रहेक (घर में क्या नहीं रहता है), लोक हेवे (आदमी

१. अकर्मक क्रिया का कृदन्तीय 'ल' सहायक क्रिया के आगे 'र' में परिणत हो जाता है, जैसे, गें (गेल) रहो।

२. अन्य पुरुष के एकवचन और बहुवचन नियम के अपवाद हैं।

है), लार नहे (आदमी नहीं है), तोय भालो लोग हेकिस (तुम अच्छे आदमी हो), आहारी भाला लाक नहे—आहारी भाला लाक निस्कास (वह अच्छा आदमी नहीं है, नहीं लगता है), राम घारें आहे ? राम घारें नेईंगे या नेंगे, घारें केउ नेईंसोत (घर में कोई नहीं है), ओसरा घारें नेईंगात या नेगोत (वे घर में नहीं हैं), ओकोर पास जिनिस नेखेक (उसके पास चीज नहीं है), मोय निजाम, मोय नेंहि जाम (मैं नहीं जाऊँगा), एमन ना (नि) करिस—(ऐसा मत करना)। कुड्माली के निषेधात्मक क्रिया रूप हैं—न, ना, नि, नेंहि, निहि।

स्थान और परिवेश के कारण तथा कुड्माली की स्वकीय विशेषताओं के कारण सर्वनाम से बने क्रिया विशेषणों का भंडार काफी समृद्ध हो गया है। जैसे

कालवाचक—जब, कब, जोहिया, ताहिया, एखन, अखन, जेखन, सेखन, तेखन, कखन, कोनाखन, एतिखन ओतिखन, जोनखन, जातिखन, जेतखन, सेतिखन, तनिखन, तेतिखन, तातिखन, कातिखन, कतिखन कतियाखन, एहेखोन, आहखन, जेहखन, सेहेखन, तेहेखन।

स्थानवाचक—इहाँ, उहा, जाहाँ, ताहा काहाँ, कहाँ, कउहाँ, हिया, हुआ, एजग, ओहेजग, कोनजग, कोनाजग, इठिन, उठिन, इठन, उठन, जेंठिन, सेठिन, जेठन, सेठन, कोनोठिन, एहेठिन, एहठिन, जेहेठिन सेहेठिन, तहेठिन।

परिमाणवाचक—एतना, ओतना केतना, जेतना, तेतना, एतेक, उतेक, जेतेक जतना।

दिशावाचक—हिन्दे, हुन्दे, जान्दे, सोन्दे, तोन्दे, कान्दे, हिने, हुने।

रीतिवाचक—एमोन, उमोन, केसोन, कईसन, जईसन, इमन।

कुड्माली का शब्द भंडार—

कुड्माली शब्द भंडार के निम्नलिखित छः स्रोत हैं —

(१) वे तद्भव शब्द जो संस्कृत से प्राकृतों के द्वारा कुड्माली में आए हैं।

(२) वे शब्द जो कई आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में तो मिलते हैं, किन्तु उनका मूल संस्कृत में नहीं मिलता है।

(३) वे शब्द जो किसी समय अन्य आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं से उधार लिए गए हैं।

(४) संस्कृत के तत्सम शब्द या उनके यत्किंचित परिवर्तित रूप।

(५) अनार्य भाषाओं के शब्द।

(६) विदेशी शब्द—फारसी, अरबी, तुर्की, अंग्रेजी तथा अन्य योरोपीय भाषाओं के शब्द।

ऊपर के विभागों में से (१) (२) तथा (४) भारतीय वैयाकरणों के अनुसार, 'तद्भव', 'देशी' तथा 'तत्सम' के अन्तर्गत आयेंगे तथा संस्कृत के वे शब्द जिनमें किंचित ध्वनिपरिवर्तन हुआ है, भाषावैज्ञानिकों के अनुसार अर्द्धतत्सम कहलाएंगे। इन सभी वर्गों

के अन्तर्गत शब्दों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुर्माली में तद्भव शब्दों की प्रचुरता है। इसका प्रधान कारण यह है कि कुर्माली दैनिक जीवन की भाषा है, इसमें मैथिली, बँगला, उडिया की भाँति साहित्य सर्जन नहीं हो रहा है।

कुर्माली शब्द-भंडार की विशेषता कुछ शब्दों के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी—आम, जाम (जामुन), तेंतेर (इमली), लुगा (कपडा), नून, मिठा (दोनों का प्रतिशब्द नमक है), सुकडी, सुखडी (मुर्गी), चिया (चेंगना), कोटोर (मुर्गी-जिसके अभी बच्चे नहीं हुए हैं), साराढा (मुर्गा), भुलुक (छेद) चेंका (खट्टा), गोड (पैर), सगड (गाडी), कुलुक (ताला), गिदर (सथाली—गिदरा=लडका), छौआ (लडका), बेशाती (तरकारी), पाँचन (रंग विरंग का काम किया हुआ तोता का कपडा), दादा, (बडा भाई), देवर देवरानी, सास, ससुर, दुई (दो), सिराना (समाप्त होना), सुधाना (पूछना), घोटी (लोटा), थारी (थाली), डूभा (एक प्रकार का वर्त्तन), सुसनी (छोलनी), चाँड (जल्दी), कुडी (बीस), खारिज, अमीर, इस्कूल, इसटेशन (टेशन भी) बसटम (वैष्णव), चूल (केश), बाडी (घर के पीछे की जमीन जिसमें साग-सब्जी उपजाया जाता है, आदालत, कचहरी, ढेलका (ढेला), चडई (चिडिया), डाकना (बुलाना), बोनदूक (बन्दूक), पाउरोटी, जोहडा (जुडवा), टाना-टानी (खिचा-खिची), ठाई (स्थान), जाइगा (जगह), गार, गारी (गाली), सरग (स्वर्ग), कामार (चर्मकार), उजबक, मुचिलका, कुली, कामिन, मूड (सिर), फीता, कारतूस, इगरेज इत्यादि।

श्री रमानाथ सहाय

पालि में उपसर्ग-विधान

उपसर्ग वे एकाक्षरी अथवा द्व्याक्षरी पदरूपांश हैं जो वैदिक संस्कृत तक व्यवधान सहित किन्तु वैदिकोत्तर संस्कृत में बिना व्यवधान के धातुओं के पूर्व आते हैं और धातुओं के मूल अर्थ में किञ्चिद् अर्थभेद एवं वैशिष्ट्य उत्पन्न करते हैं। पालि को एक भारतीय मध्यकालीन आर्य भाषा के नाते अपने सभी निम्नलिखित उपसर्ग वैदिक संस्कृत से मिले:—

अति–, अधि–, अनु–, अप–, अपि–, अभि–, अव–, आ–, उद्–,
उप–, नि–, निस्–, प–, पति–, परा–, परि–, वि–, स– ।

§१ उपसर्गों की वर्णात्मक संरचना

पालि के उपसर्गों की वर्णात्मक संरचना निम्न प्रकार है:—

वर्णात्मक संरचना			उपसर्ग			आवृत्ति संख्या
एकाक्षरी	अ	(V)	आ	.	.	१
	अ ह	(VC)	उद्	...	...	१
	ह अ	(CV)	नि, प, वि	..	...	३
	ह अ ह	(CVC)	निस्, सम्	..	..	२
द्व्याक्षरी	अ ह अ	(VCV)	अति, अधि, अनु, अभि, अप, अपि, अव, उप			८
	ह अ ह अ	(CVCV)	परा, परि, पति		...	३

द्व्याक्षरी संरचना का बाहुल्य है। अट्ठारह उपसर्गों में से ग्यारह की ऐसी संरचना है, केवल सात एकाक्षरी हैं। गठन में अ ह अ रूप सर्वाधिक प्रिय प्रतीत होता है, उसके पश्चात् ह अ ह अ अथवा ह अ आता है।

§२ उपसर्गों के उपरूप

ये उपरिलिखित उपसर्ग संयोजन में अनेक उपरूपों में मिलते हैं। कौन उपरूप कहाँ प्रयुक्त होगा इसका निर्णय या तो समीपवर्ती ध्वनियों से होता है, या समीपवर्ती

पदों से होता है अथवा ये उपरूप मुक्तरूपेण आते हैं। ये उपरूप एतदनुसार क्रमशः स्वनानुवर्ती उपरूप, पदानुवर्ती उपरूप अथवा मुक्त उपरूप कहलाते हैं। पालि में तीनों प्रकार के उपरूप मिलते हैं।

§२ १ स्वनानुवर्ती उपरूप

पालि के उपसर्गों के स्वनानुवर्ती उपरूप निम्न हैं.—

{अति-~अच्-}	अति-	व्यंजनादि धातु के पूर्व
	अच्-	स्वरादि धातु के पूर्व
{अधि-~अज्झ्-}	अधि-	व्यंजनादि धातु के पूर्व
	अज्झ्-	स्वरादि धातु के पूर्व
{अनु-~अन्व्-}	अनु-	व्यंजनादि धातु के पूर्व
	अन्व्-	स्वरादि धातु के पूर्व
{अभि-~अब्भ्-}	अभि-	व्यंजनादि धातु के पूर्व
	अब्भ्-	स्वरादि धातु के पूर्व
{आ-~अ-}	अ-	संयुक्त व्यंजना के पूर्व
	आ-	अन्यत्र
{उद्~ऊ~उह्}	उद्-	द ध र अथवा स्वर के पूर्व
	ऊ-	ह से प्रारम्भ धातु के पूर्व
	उ+हं-	अन्यत्र, जहाँ ह धातु का प्रारंभिक व्यंजन अथवा तदल्पप्राण व्यंजन है।
{निर्~नी~निह}	निर्-	स्वरादि धातु के पूर्व
	नी-	ह से प्रारम्भ धातु के पूर्व
	नि+ह्	अन्यत्र, जहाँ ह धातु का प्रारंभिक व्यंजन अथवा तदल्पप्राण व्यंजन है।
{(पति-/पटि-)~पच्च्-}	पति-/पटि-	व्यंजनादि धातु के पूर्व
	पच्च्-	स्वरादि धातु के पूर्व
{परा-~पर-}	पर-	संयुक्त व्यंजनादि धातु के पूर्व
	परा-	अन्यत्र
{(व्य्/विय्/व्/व)~(वि∞वी)}	व्य/विय्/व्/व	स्वरादि धातु के पूर्व
	वि-∞वी-	व्यंजनादि धातु के पूर्व
{सम्~सा~(सय्/सञ्ञ्)~सअनु}	सम्-	स्वरादि धातु के पूर्व
	सा-	र से प्रारम्भ धातु के पूर्व
	सय्-/सञ्ञ्-	य से प्रारम्भ धातु के पूर्व
	स+अनु	अनु अपने पश्चवर्ती स्पर्श का सजातीय पंचमाक्षर है।

उपरिलिखित उपरूपों में दृष्ट ध्वनिविषयक परिवर्तन (सन्धिजनित समीकरण एवं स्वरह्रस्वीकरण) पालि ध्वनि-क्षेत्र की प्रमुख प्रक्रियाओं के सर्वथा अनुकूल हैं।[1]

§२ २ पदानुवर्ती उपरूप

पालि के उपसर्गों के पदानुवर्ती उपरूप निम्न हैं :—

{अपि–∞ अपि–/पि–} अपि– उपसर्ग केवल तीन धातुओं के पूर्व आता है। इनमें दो के पूर्व दोनों रूप अपि– पि– लगते हैं। अपि– का उपरूप पि– संस्कृत में भी विकल्प से प्रयुक्त होता था।

{अव–∞ ओ–∞ अव–/ओ–} अव– और ओ– में ऐतिहासिक दृष्टि से पुरानी पालि में ओ– पाया जाता है। {अव–} के सयोजन में आने वाली धातुओं के ६५%[2] में ओ–, २४% में अव–, और ११% में अव–/ओ– आते हैं। √सर और √हर के पूर्व दोनों उपरूप अव– और आ– लगते हैं और परस्पर अर्थभेद भी उत्पन्न करते हैं, अन्यत्र अव– के स्थान पर ओ– (अथवा इसके विपरीत) लगने मे अर्थ नहीं बदलता है।

{परि–∞ पलि–∞ पयिर्–∞ परिय्–} परि– और पलि– में परि– सामान्य-तया प्रयुक्त रूप है। पलि–केवल इनीगिनी प्राय: आठ धातुओं के साथ लगता है। परि– पलि– का अनुपात ९३ ७ का है। पयिर्– दो उपसर्ग उद्– उप– के पूर्व आता है और परिय्– अन्य स्वरादि धातु एव उपसर्गों के पूर्व लगता है।

{वि–∞ वी–} वि– और वी– दोनों व्यजनादि धातु के पूर्व लगते हैं, किन्तु वी– केवल √मंस के पूर्व लगता है। वि– के अन्य उपरूप मुक्त उपरूप हैं।

§२ ३ मुक्त उपरूप

पालि के उपसर्गों के निम्नलिखित मुक्त-उपरूप हैं।

{पति–/पटि–} पति– और पटि– मुक्त रूपेण आते हैं। पाडुलिपियों में कहीं पति– और कहीं पटि– मिलता है, कौन सा उपरूप लिया जाए इसका निर्णय सम्पादक की स्वेच्छा करती है। 'पालि शब्दकोष'[3] में पटि– उपरूप को मुख्यता देकर {पटि–} माना गया है, यहाँ पच्चु– इस उपरूप मे समीकरण को देखते हुए और ऐतिहासिक विकास पर दृष्टि रखते हुए {पति–} मुख्य उपरूप माना गया है।

{वि} के उपरूप व्य्–, वियु–, वु– और व– सभी स्वरादि उपसर्गों एवं धातुओं के पूर्व आते हैं। इनमें कौन कहाँ लगेगा, इसका कोई नियम नहीं है।

---

१. प– और पति के प्रारम्भिक प्– का द्वित्व प्प् हो जाता है यदि वे पदमध्यवर्ती होते हैं, जैसे, पजहाति किन्तु विप्पजहाति।

२. प्रतिशत और गणना का आधार रीज डेविड्स के पालि शब्दकोष में उल्लिखित लिङ्गरूप हैं।

३. Rhys Davids, T W, and William Stede. *The Pali Text Society's Pali-English Dictionary*, London Pali Text Society, 1952.

{सं-} ये दो उपरूप संप्- और सम्त्र्- व से प्रारम्भ होने वाली धातुओं के पूर्व आते हैं। कहाँ कौन लगेगा, इसका कोई नियम नहीं है।

§३. उपसर्ग संयोजन-वर्ग एवं क्रम

पालि में धातु के पूर्व एक से अधिक उपसर्ग भी लगते हैं। बाद में लगने वाला उपसर्ग पहले से लगे उपसर्ग अथवा उपसर्गों के अर्थ को अपने अर्थ से रंजित करता है। प्राय. अविरोधी उपसर्गों का संयोग होता है।

एकाकी-उपसर्गों का सयोजन प्रायः सामान्य है। धातुओं के साथ ऐसे उपसर्गों के सयोजनों की सख्या १३३४ है। द्विक-उपसर्गों के सयोजनों की सख्या प्रायः ८० है और त्रिक-उपसर्गों के केवल १० सयोजन मिलते हैं। तीन से अधिक उपसर्ग पालि में नहीं लगते हैं।

उपसर्ग-सयोजन में धातु से समीपतम (अव्यवहितपूर्व) उपसर्ग प्रथमस्थानीय उपसर्ग, इस उपसर्ग से पूर्व आने वाला उपसर्ग द्वितीयस्थानीय उपसर्ग और इन दोनों से पूर्व आनेवाला उपसर्ग तृतीयस्थानीय उपसर्ग कहा जाता है। इस प्रकार विभाजन के आधार पर दूरतम गृहीत स्थान के अनुसार उपसर्ग प्रथमवर्गीय, द्वितीयवर्गीय एव तृतीयवर्गीय उपसर्ग कहलाते हैं। अर्थात् वे उपसर्ग जो केवल प्रथम स्थान पर ही मिलते हैं, प्रथम वर्गीय उपसर्ग, जो प्रथम स्थान पर तथा दूसरे स्थान पर भी मिलते हैं, द्वितीयवर्गीय उपसर्ग; और जो तीनों स्थानों पर मिलते हैं, तृतीयवर्गीय उपसर्ग कहलाते हैं।

सामने की सारिणी में उपसर्गों का वर्ग निश्चित किया गया है—

(जिन स्थानों पर उपसर्ग मिलते है, उन स्थानों पर × चिह्न दिया गया है)

इस सारिणी से उपसर्गों का इस प्रकार वर्गीकरण होता है—

प्रथमवर्गीय उपसर्ग—अपि, (ओ), आ, नि, नि, परा (प्राय: प्रथमवर्गीय)—अति, अप, अव	८
द्वितीयवर्गीय उपसर्ग—अधि, अनु, उद्, उप, प, वि	६
तृतीयवर्गीय उपसर्ग—अभि, पति, परि, स	४

अधिकाश उपसर्ग प्रथम स्थान में ही रह जाते हैं। सस्कृत में भी आ- सदैव प्रथम स्थान में रहा है, ऐसा उल्लेख 'ह्विटनी' महोदय[१] ने अपनी व्याकरण में § १०८० में किया है। तृतीय वर्गीय उपसर्गों में स सस्कृत में अत्यन्त लोकप्रिय था।

§४. एकाकी-उपसर्गों का संयोजन

प्रथम स्थान पर एकाकी रूप से सभी अट्ठारह उपसर्ग धातु के पूर्व लगते हैं। किन्तु ये सब बराबर ढग से धातुओं के पूर्व नहीं आते हैं—कुछ उपसर्ग तो बहुत प्रचलित

---

१. Whitney, W. D, *Sanskrit Grammar*. Cambridge, Massachusetts: Harvard University Press, 1935

उपसर्ग	तृतीय स्थान	द्वितीय स्थान	प्रथम स्थान धातु	उपसर्ग	तृतीय स्थान	द्वितीय स्थान	प्रथम स्थान धातु
अति–		×	×	उप–		×	×
अधि–		×	×	नि–			×
अनु–		×	×	निः–			×
अप–		×	×	प–		×	×
अपि–			×	पति–	×	×	×
अभि–	×	×	×	परा–			×
अव– (ओ–)		×	× ×	परि–	×	×	×
आ–			×	वि–		×	×
उद्–		×	×	स–	×	×	×

हैं, और कुछ बहुत कम। जैसे, वि–प–सं– आदि १०० से भी अधिक भिन्न धातुओं के पूर्व आते हैं और अपि–परा– केवल क्रमशः तीन और पांच धातुओं के पूर्व आते हैं।

§४·१ अगले पृष्ठ पर दी सारिणी से निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं:—

(१) अट्ठारह में से ११ उपसर्ग (क्रम से—वि, प, सं, आ, उद्, परि, अव, अनु, अभि, पति, उप) अपेक्षित औसत प्रतिशत (१०० ÷ १८ = ५·६) से अधिक हैं; शेष सात अपेक्षित से कम।

निम्नलिखित सारिणी में उपसर्गों की आवृत्ति, प्रतिशत आदि दिया जा रहा है :—

उपसर्ग	आवृत्ति सख्या (धातुओं की संख्या जिन में ये एकाकी रूप में लगे है)	प्रतिशत %	क्रम
अति	३४	२·५	XIV
अधि	१७	१·२	XVI
अनु	८७	६·५	VIII
अप	३०	२·३	XV
अपि	३	०·२	XVIII
अभि	८४	६·३	IX
आ	११६	८·८	IV
उद	१११	८·४	V
उप	७५	५·७	XI
ओ-अव	८६	६·७	VII
नि	५१	३·८	XIII
निः	५२	३·८	XII
प	१२७	६·५	II
पति	७८	५·८	X
परा	५	०·४	XVII
परि	१०६	८·२	VI
वि	१४४	१०·७	I
सं०	१२२	६·२	III
= १८	= १३३४	= १००	

(२) प्रचलनप्राहुल्य की दृष्टि से निम्न चार उपसर्ग अत्यन्त प्रिय रहे हैं। इन का प्रयोग प्राचीन सस्कृत के प्रयोग से तुलनीय है (प्राचीन सस्कृत के उपसर्गों का क्रम 'ह्विटनी' के सस्कृत व्याकरण §१०७७ (a) से लिया गया है):—

प्राचीन सस्कृत के उपसर्गों का क्रम—(केवल प्रथम चार) प्र, आ, वि, स।
पालि के उपसर्गों का क्रम— „ „ , वि, प, स, आ।

इस तुलना से प्रकट होता है कि यद्यपि प्राचीन सस्कृत के प्रथम चार उपसर्ग अब भी वैसे ही लोकप्रिय हैं और प्रथम चार स्थानो पर बने हुए हैं, किन्तु जहाँ सस्कृत में प्र सर्वप्रथम था, वहाँ पालि में वि सर्वप्रथम है। वि और स—इन दो उपसर्गों ने सस्कृत की अपेक्षा पालि में अधिक लोकप्रियता पाई है और उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त की है, किन्तु प्र और आ अपने प्रमुख स्थानो से च्युत होकर क्रमश. एक और दो क्रम से पिछड गए हैं।

§५ द्विक-उपसर्गों का संयोजन

पालि में प्रयुक्त द्विक–उपसर्गों की सख्या ८१ है और ये द्विक–उपसर्ग विभिन्न धातुओं से जुडकर ४०० विभिन्न धातुरूपो की सृष्टि करते हैं। अगले पृष्ठ पर कोष्ठक-सारिणी में ऐसे सयोजन दिए गए है

§५ १ इस सारिणी से निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं —

(१) प्रथम स्थानीय उपसर्गों में सबसे अधिक आवृत्ति प, आ, और नि की है। प्राय आधे उदाहरणो में यही तीनो है, शेष आधे मे बाकी उपसर्ग। अधिक आवृत्ति यह सूचित करती है कि इन के पूर्व दूसरा उपसर्ग सरलतया आ सकता है और इन के अर्थ को अपने अर्थ से रजित कर सकता है। इन तीनो में आ और नि प्रथमवर्गीय उपसर्ग हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि उपसर्गों में आ और नि केवल प्रथमस्थान में आते हैं और बहुलता से आते हैं।

(२) द्वितीय स्थानीय उपसर्गों में सब से अधिक आवृत्ति स, पति, और अभि की है। आधे से अधिक उदाहरणो में यही तीनो हैं। अधिक आवृत्ति यह सूचित करती है कि ये प्रथमस्थानीय उपसर्गों के पूर्व सरलतया आ सकते हैं। ये तीनो तृतीयवर्गीय उपसर्ग हैं। द्विक-उपसर्गों में भी ये प्रथम स्थान में बहुत कम आकर अधिकतर द्वितीय स्थान में आते हैं (अर्थात् प्रत्येक अवस्था में धातु स ये दूरतम स्थान में आते हैं)। अतएव यह कहा जा सकता है कि द्विक-उपसर्गों में स, पति, और अभि प्राय· द्वितीय स्थान में मिलते हैं और बहुलता से मिलते हैं।

(३) क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से प्रथमस्थानीय उपसर्गों में आ सर्वप्रथम है। इसके साथ द्वितीय स्थान में सभी द्वितीयवर्गीय और तृतीयवर्गीय उपसर्ग लगते हैं।

(४) क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से द्वितीयस्थानीय उपसर्गों में स सर्वप्रथम है। यह १४ उपसर्गों के पूर्व (नि परा, वि छोडकर सभी के पूर्व) लग सकता है। स के पश्चात् पति उपसर्ग का स्थान है, जो प्राय ११ उपसर्गों के पूर्व लगता है, बहुलता पच्चा

प्रथम स्थानीय→ / द्वितीय स्थानीय↓	अति	अधि	अनु	अप	अभि	अव	ओ	आ	उद्	उप	नि	नि	परि	पटि	प	वि	स	जोड
अति								१	१		१							३
अधि							८	५		४					१			१८
अनु							१	६					७		१६	६		३६
अप								२			१					१		४
अभि			१				१	३	१०		२२	१०			८	५	१०	७०
अव								२							१			३
उद्								१							२			३
उप	२							४			७	३	१			१	५	२३
परि							४	२		१	२					२	३	१४
पटि			३			१	४	१३	७	३	३		१		६	१०	१२	६३
प								२								६	१	९
वि				४		६	६	४	२	१	१०	३	२	२	१२	१		५३
स	४	२	११	१	२	१	६	१४	१६	३	८		८	२	२३			१०१
जोड	६	२	१५	५	२	८	३०	४९	३६	१२	५४	१६	१९	४	६९	३२	३१	४००

(संख्या धातुओं की संख्या बताती है जो इन के साथ संयुक्त होती हैं।)

और पटिस की है। इसके पश्चात् अभि की गणना आती है, जिसमें अभिनि के प्रयोग का बाहुल्य है।

§६. त्रिक-उपसर्गों का संयोजन

त्रिक-उपसर्गों की संख्या अधिक नहीं है। ये केवल दस हैं जो नीचे दिए जा रहे हैं—

अब्भुदा, अभिसनि, अभिसमा, पयिरुदा, (परियुदा), पच्चुदा, पटिव्या, समन्ना, सवो, समुदा, समुपा।

इन उदाहरणों के विश्लेषण से निम्नलिखित गठन विषयक तथ्य प्रकट होते हैं।

(१) त्रिक उपसर्गों में प्रथमस्थानीय उपसर्ग आ, नि और ओ हैं। ये तीनों प्रथमवर्गीय हैं। अर्थात् त्रिक-उपसर्गों के क्रम में प्रथमस्थान पर केवल प्रथमवर्गीय उपसर्ग ही आता है। आवृत्ति में आ की गणना सर्वाधिक है—१० में से ८ उदाहरणों में आ है। §४ १ और §५·१ के इस निष्कर्ष को यह पुष्टि देता है कि प्रथमवर्गीय उपसर्गों में आ सर्वाधिक प्रचलित है।

(२) त्रिक-उपसर्गों में द्वितीयस्थानीय उपसर्ग के रूप में उद्, स, वि, उप और अनु आते हैं। स को छोड़कर चारों द्वितीयवर्गीय उपसर्ग हैं। आवृत्ति में उद् अग्रणी है।

(३) त्रिक-उपसर्गों में तृतीय स्थान में स अभि पति और परि मिलते हैं। इन तृतीय वर्गीय उपसर्गों में स की सर्वाधिक आवृत्ति है। यह §५ १ के इस निष्कर्ष को पुष्टि देता है कि धातु से दूरतम स्थिति में स सब की अपेक्षा सरलतया आ जाता है।

ये त्रिक-उपसर्ग गणना में अत्यल्प हैं और इन से लगने वाली धातुएँ भी इनी-गिनी पाँच (टर, गच्छ, ने, वत्त उह,) हैं, फिर भी भाषा में इनका प्रयोग अपेक्षाकृत पर्याप्त है। समुपागच्छति, समुदाचरति, अभिसमागच्छति आदि प्रयोगों से पालिभाषाविद् सुष्ठु परिचित हैं।

श्री हरिमोहनलाल श्रीवास्तव

बुंदेलखंड की विलक्षण विभूति वीरसिंहदेव, और उनका निर्माण-प्रेम

भारतवर्ष के इतिहास में निश्चय ही बुदेलखड का स्थान वीरता में देश के किसी प्रान्त से कम नही। वीरता के सभी आदर्शों का समुचित निर्वाह करने वाले भारत के इस प्रागण की, जो एशिया के अफगान बार्डरलैंड, योरप के स्विटजरलैंड और ब्रिटेन के स्काटलैंड की समता करता है, अपनी प्रकृति-प्रदत्त विशेषताओ से उसे देश के लिये अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण की वस्तु बनाया है।

किन्तु दुःख है कि उसके वीरो के सम्बन्ध में बहुत थोडा लिखा गया है, और इस अभाव के कुछ गम्भीर कारण भी हैं। जहाँ तक मेरा ज्ञान है, बुदेलखड में दुराव की प्रवृत्ति विशेष है, जो अधिकाश महत्वपूर्ण कृतियो को अन्धकार में रख कर पीछे फिर उनके विनाश का कारण भी बनी है, और उस समय तक बनेंगी ही जब तक अनुदारता का यह भाव भगाया नही जाता।

राजाओ ने अपने-अपने शौको और राजाशाही के दबदबे के कारण भी यहाँ साहित्य के प्रचार और प्रसार के साधन कुछ कम ही रहे। साहित्यिकों को अभीष्ट प्रोत्साहन के निमित्त ओडछा राज्य के अतिरिक्त कहीं कुछ नियमित व्यवस्था नही रही। स्वतत्रता के अरुणोदय में भी यह भूभाग प्रेस के प्रचार में कुछ पीछे ही है। अस्तु,

विक्रम सवत् १६११ में ओडछा के राजा भारतीचन्द्र का देहान्त हो जाने पर उनसे छोटे भाई मधुकरशाह ने गद्दी पाई। राजा मधुकरशाह अकबर बादशाह के समकालीन थे, और इन्होंने ३६ वर्ष तक शासन किया। मधुकरशाह ने अपने पीछे तीन पुत्र (रामशाह, वीरसिंहदेव और हरसिंहदेव)। छोडे—रामशाह ओडछा की गद्दी पर आसीन हुए। महाराज मधुकरशाह ने अपने द्वितीय पुत्र वीरसिंहदेव को बडौनी की जागीर दी। (बडौनी आज कल के दतिया जिले का एक भाग है।) मधुकरशाह के तीसरे बेटे हरसिंहदेव ममनेह जागीर के अधिकारी हुए।

रामशाह अपने राज्य की स्थिति सँभाल सकने में असमर्थ सिद्ध हुए। उनका राज्य छोटी-बडी बाईस जागीरों में बट गया। भाइयो में द्वितीय भाई वीरसिंहदेव की महत्वाकाक्षा ने उन्हें चैन न लेने दिया। मुगल घराने में उत्तराधिकार के युद्ध

का पूर्वाभास इन बुंदेला भाइयों के संघर्ष में देखा जा सकता है। कुछ अभाग्य से वीरसिंहदेव ने रामशाह के बाद जन्म पाया, परन्तु यह निर्विवाद है कि वे योग्यता में पीछे न थे। उनकी महत्वाकांक्षा ने उन्हें अपनी योग्यता सिद्ध करने के अनेक अवसर प्रदान किये। एक इतिहासकार ने लिखा है—

"Of all the rulers of Orchha Bir Singh Deo (1605—27) is the most famous A man of strong personality and no scruples, he soon acquired large territories and immense wealth He was, moreover, not only great warrior but a mighty builder, and has left many monuments of his activity in this direction

"अर्थात् ओरछा के सब शासकों में वीरसिंहदेव (सन् १६०५–२७) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। सुदृढ़ व्यक्तित्व और स्वल्प सिद्धान्तों के इस व्यक्ति ने शीघ्र ही विशाल प्रदेश और अपार सम्पत्ति अर्जित की। यही नहीं, वे महान् योद्धा होने के साथ ही एक शक्तिशाली निर्माता भी थे, और उन्होंने इस दिशा में अपने कार्य के कितने ही स्मारक छोड़े हैं।"

हमें अपनी धारणा बदलनी पड़ रही है। बहुत बरस पहले 'धर्मवीर हरदौल' नाटक की भूमिका लिखते हुए हमने युवकोचित उत्साह के साथ लिखा था—"जहाँ तक अबुलफजल को मारने की बात है, महाराज वीरसिंह जू देव की वीरता माननी ही पड़ेगी, किन्तु जहाँगीर के सम्मान पर आस्था प्रकट करके उन्होंने अच्छा आदर्श नहीं रखा, क्योंकि उनके पिताश्री महाराज मधुकरशाह न अकबर द्वारा बुंदेलखंड विजय के लिये किये जाने वाले समस्त उद्योग को कई बार विफल किया था।"

अंग्रेजी के उक्त इतिहासकार ने महाराज वीरसिंहदेव की भरपूर सराहना करते हुए भी उन्हें "स्वल्प सिद्धान्तों का स्वामी" बताने की कृपा की है और कुछ लोग चाहें तो उन्हें 'लुटेरा' भी कह सकते हैं, क्योंकि उन्होंने मुग़ल-सत्ता या ओड़छा दरबार का विरोध करते हुए अपने राज्य का विस्तार किया और शत्रुओं को मारते-काटते हुए उनकी सम्पत्ति भी लूटी। शाहजादा सलीम की कृपा पाने के लिये उन्होंने अबुलफजल का वध किया और अकबर से बैर बसाया। बढ़ने की आकांक्षा और अपना नाम बनाने की लालसा सभी को रहती है, और यदि वीरसिंहदेव ने अपने को शक्ति-सम्पन्न बनाया तो हम उन्हें ही 'सिद्धान्तहीन' क्यों कहें—उनका पराक्रम, उनका दान, उनका न्याय और उनका निर्माण-प्रेम इतिहास में अमरत्व पा चुका है—भले ही अपने अज्ञान के कारण बहुत से उससे आज भी अपरिचित हों। वीरसिंहदेव को सिद्धान्तहीन कहा जावे तो फिर इतिहास की अनगिनती विभूतियाँ भी इस लाञ्छन से मुक्ति न पा सकेंगी।

जिस अमित विक्रम से बड़ौनी की छोटी-सी जागीर से बढ़कर ओड़छा की प्रधान गद्दी पर अधिकार जमाया, और जो मुग़ल-साम्राज्य की शक्ति से निरन्तर संघर्ष करते हुए जहाँगीर का विशेष कृपा-पात्र और मुगल साम्राज्य का प्रमुख स्तम्भ बना, जिस उदार शौर्य ने इक्यासी मन सोने का तुलादान दिया, जिस विवेकपूर्ण न्याय ने अपने इकलौते बेटे के ऊपर कुत्ते छुड़वा दिये, और जिस विशाल वैभव ने न केवल बुंदेलखंड में मथुरा, वृंदावन, काशी और नर्मदा, के पावन क्षेत्र में बावन विशाल निर्माण कराये,

उसमें धार्मिकता की कमी की बात सोची ही नहीं जा सकती। इतिहास-लेखक का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह सभी पहलुओं से विचार करे। मर्यादा-भंग का दोष जितना थोडा भी महाराज वीरसिंहदेव पर लगाया जा सकता है, वह केवल जन्म में पिछड जाने की एक विवशताजन्य परिस्थिति के कारण। महाराज मधुकरशाह ने उन्हें ही ओड़छा की गद्दी का भार सौंपा होता तो कदाचित् इतिहास कुछ दूसरा होता। उस स्थिति में वीरसिंहदेव भी स्यात् मधुकरशाह, चम्पतराय और छत्रसाल के आदर्श पर चलते दिखाई देते। संभावनाओं की बातों से कोई ऊबता दिखाई दे तो उन्हें छोड ही दीजिये। महाराज वीरसिंहदेव के विलक्षण व्यक्तित्व में हमें दो बातें एक साथ दिखाई देती हैं—उन्होंने अकबर के शासन-काल में मुगलों को नाकों चने चबवाये और जहाँगीर के राज्य में मुगल शासन को सँभाल रखने का महत्वपूर्ण कार्य किया। फिर किसी की बुराई क्यों हो—उनके जीवन से व्यक्ति के दो रूप उजागर होते हैं कि वे कितने प्रगाढ मित्र थे और कितने प्रबल शत्रु। अधिक से अधिक उन पर यह दोष लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपने बडे भाई रामशाह का आदर कम किया। तो क्या यह छिपी हुई बात है कि रामशाह इतने बडे राज्य को सँभालने में समर्थ नहीं थे। अवश्य ही बुंदेलखंड के राज्य की रक्षा के लिये और ओड़छा की जनता से अपने हित के लिये वीरसिंहदेव को अपने अग्रज को हटाने के लिये आगे आना पडा होगा।

वह पुरानी राजनीति जिसमें धर्मनीति का कुछ अंश फिर भी बना रहता था, और जो आज की कूटनीति जैसी विपाक्त नहीं थी, महाराज वीरसिंहदेव को तनिक भी दोषी नहीं मान सकती—विशेषतः उस स्थिति में जब उन्होंने नव-अर्जित राज्य का सफल संचालन किया। उनके सम्पूर्ण इतिहास पर प्रकाश तो सुविधा पाकर ही डाल सकूँगा। यहाँ उनके प्रजा-प्रेम का प्रमाण देना ही इष्ट है। महाराज वीरसिंहदेव ने भवन-निर्माण के लिये अपूर्व ख्याति प्राप्त की है। बडे बडे सम्राट् भी जिस कार्य को सोच नहीं सकते थे, उसे बुंदेलखण्ड प्रदेश के इस महाराजा ने सफलतापूर्वक सम्पन्न किया। प्रसिद्ध है कि महाराज ने इष्टापूत यज्ञ किया, और संवत् १६७५ की माघ सुदी पंचमी को एक ही शुभ मुहूर्त में बावन निर्माण-कार्यों का श्रीगणेश किया, जिन्हें उन्होंने अपने जीवन काल में पूरा भी किया। भवन और जलाशय भी कैसे, जो अपने वृहत् आकार से जन-मन को रिझाये बिना नहीं रहते। झाँसी का विशाल दुर्ग जहाँ १८५७-५८ में वीरांगना लक्ष्मीबाई की तलवार चमकी थी, महाराज वीरसिंहदेव का ही बनवाया हुआ है। इसके अतिरिक्त एक किला उन्होंने धामौनी में भी बनवाया।

महाराज वीरसिंहदेव द्वारा डलवाई गई बावन नीवों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है —

(१) सबसे पहले हम दतिया के महल को लें। गोरेलाल तिवारी ने "बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास" में इसे दतिया के किले के रूप में याद किया है परन्तु इसे 'किला' न कह कर 'महल' कहना ही उपयुक्त है। दतिया का वीरसिंहदेव महल पाँच खंड का एक अत्यन्त विशाल भवन है, जो एक टीले पर स्थित है। यह सम्पूर्ण भवन स्वस्तिक के आकार को आधार मान कर निर्मित हुआ है। कुछ लोगों ने इस महल को नव

का बताने की कल्पना की है। परन्तु है यह सात खंड का—पाँच मठ ऊपर और दो धरती के नीचे बने हैं। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में—"वीरसिंहदेव का यह महल अकबर के फतेहपुर सीकरी वाले पचमहले महल की तरह हिन्दू-परम्परा पर आश्रित है।" हम भी बात बढ़ाकर कहने के पक्ष में नहीं हैं।

वीरसिंहदेव का महल (दतिया)

[फोटो—श्री उदयशङ्कर शास्त्री]
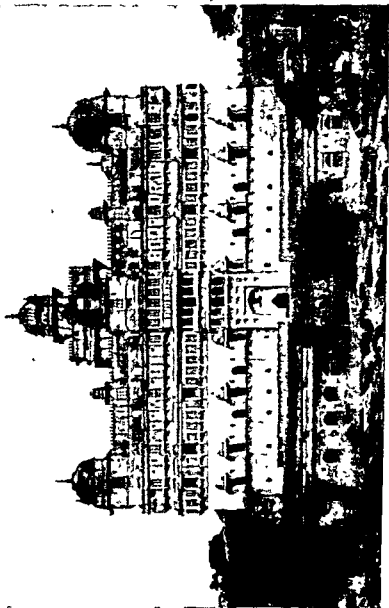
दतिया में इस प्रासाद को 'वीरसिंहदेव महल' न कह कर 'पुराना महल' के नाम से याद किया जाता है। डा० अग्रवाल ने लिखा है—"महल का प्रवेश-द्वार आज भी 'सिंह-पौर' कहलाता है। चौथे खड पर मडप की शोभा विशेष सुन्दर है। वही सुख-साज का सुहाग-मन्दिर था। यहाँ छत में चित्र लिखे हुए थे और खभो पर उकेरी बनी थी। सबसे ऊपर की गुम्मट में बहार बुर्ज या हवा महल था।"

'मआसिरुल उमरा' नामक सुप्रसिद्ध मुगलकालीन ग्रन्थ में वीरसिंह देव के परिचय में लिखा गया है कि दतिया का राजमहल इन्ही का बनवाया हुआ है जिसके चारो ओर ३४ फुट ऊँची दीवाल दी गई है। 'बुदेलखड का सक्षिप्त इतिहास' के अनुसार इसके बनवाने में ८ वर्ष १० मास २६ दिन लगे थे और बत्तीस लाख नब्बे हजार नौ सौ अस्सी रुपये खर्च हुए थे। ध्यान रहे, वह कितना सस्ता जमाना था उस समय के तेतीस लाख आज तेतीस करोड कूते जावें, तो क्या कुछ अचरज होगा।

अबुलफजल के बाद जब शाही फौज महाराज वीरसिंहदेव के पीछे पडी, तो ये बडोनी छोडकर दतिया चले आये थे, और फिर दतिया छोडकर एरच गये, एरच से दूनी, और फिर दतिया आये। यही पर शाहजादा सलीम से महाराज की भेंट हुई थी। ऐसा समझा जाता है कि 'पुराना महल' उसी स्थान पर निर्मित हुआ, जहाँ महाराज ने सलीम से भेंट की थी।

जिन दिनो डाक्टर अग्रवाल ने महल को देखा था, उन दिनो इसमें सिन्धी शरणार्थियो ने डेरा जमा रखा था। अत कुछ क्षुब्ध होकर उन्होने लिखा था—"अब इस महल की जो दुर्दशा है, उसे कहने के लिये हमारे पास शब्दो का टोटा है। बसाये हुए शरणार्थियो ने इसे घूरे का ढेर बना दिया है। यह बुदेलखड के राष्ट्रीय गर्व का स्मारक और प्रासाद-कला का तीर्थ है।"

सचमुच यह महल सत्रहवी शताब्दी की प्रासाद निर्माण-कला का अद्भुत उदाहरण है, जिसकी भरपूर सराहना प्रत्येक पुरातत्व-प्रेमी ने की है। एक अग्रेज लेखक ने लिखा है—

"Datia contains much of antiquarian interest, the most outstanding being that unique example of Hindu architecture, the wonderful and picturesque palace of the Maharaja Bir Singh Deo

अर्थात:—"दतिया में पुरातत्व का बहुत कुछ आकर्षण उपलब्ध है, जिसमें सबसे अधिक उल्लेखनीय हिन्दू स्थापत्य का अद्वितीय नमूना महाराज वीरसिंहदेव का आश्चर्य-जनक और सौन्दर्य सम्पन्न प्रासाद है।"

इतिहास के प्रकाड पडित और कला के पारखी हेवेल ने (जो कलकत्ता आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल थे) इस प्रासाद को मध्यकाल का सर्वोत्तम भवन बताया है। यह राजमहल केवल पत्थर और ईंटो से बना हुआ है, जिसमें लकडी और लोहे का लेशमात्र

नहीं। इसके प्रत्येक खंड में चार चौक हैं और बीच में मण्डप, जो क्रमशः उठते चले गये हैं। पूर्व की ओर मुख्य द्वार के सामने एक विशाल प्रांगण है, और चढ़ने की थकावट बचाने के लिये प्रति सात सीढ़ियों के बाद विश्राम है। मध्य में एक वर्गाकार मीनार है, और उसके चारों ओर विशाल कमरे, सुन्दर गुम्बज और आकर्षक कंगूरे बने हुए हैं। ऊपर की ओर भवन के चार खंडों के आँगन में खड़े होकर मध्यवर्ती मीनार के लहराते हुए आवर्षण के साथ सम्पूर्ण भवन को स्वस्तिक के मांगलिक चिन्ह के रूप में देखा जा सकता है। इस सतखंडे महल में भारत के वास्तु-शिल्प में कुछ असाधारण ढंग पर पूर्वीय द्वार से ही दो निम्न खंडों में जाने का मार्ग है। प्रतिसाम्य की सुन्दरता में लोग प्रायः भटक जाते हैं, और दीवालों तथा चँदोवों में रंगीन चित्र भी देर तक भरमाये रखते हैं।

दतिया नगर बाद में बसाया गया है, परन्तु कुछ ऐसा बना है कि यहीं से भी देखने पर महल के कम से कम दो पार्श्व और उनके कोण अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। जिससे यह महल कुछ विशेष नेत्ररंजक हो गया है। सत्रहवीं शताब्दी की राजपूत-कला का यह प्रासाद एक अनुपम कलाकृति है, जो भारत के गार्हस्थ्य स्थापत्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में से एक है। चारों ओर अष्टभुजी गुम्बजों से घिरा हुआ यह वर्गाकार भवन भीतर सुरम्य उद्यानों और आगे गणेश-मूर्ति से युक्त है। पत्थर की टूड़ियों पर टिके हुए गोल गुम्बजदार हौदे और ऊँची छतरियों के साथ जाली का काम भी सर्वथा मोहक है। टूडियाँ कहीं तो सर्पाकार है, और कहीं कुछ दूसरे प्रकार की, परन्तु मुस्लिम स्थापत्य के प्रभाव से मुक्त हैं।

(२) दतिया के पुराने महल और ओड़छा के जहाँगीर महल में आश्चर्य जनक समानता है। ओड़छा के इस ऐतिहासिक महल के प्रत्येक आँगन में तुलसी का पौधा लगाने के लिये तुलसीगृह बने हैं। निर्माता महाराज वीरसिंह देव की धर्मपरायणता के साथ ही हिन्दू स्थापत्य की साक्षी भरने के लिये इन तुलसीगृहों का अपना महत्व है। दतिया के महल के लिये प्रसिद्ध है कि यह उस स्थान पर निर्मित हुआ है, जहाँ वीरसिंह देव ने जहाँगीर से भेंट की, उसी प्रकार ओड़छा के महल का नाम 'जहाँगीर महल' पड़ने का कारण यह बताया जाता है कि इस महल में ही जहाँगीर ने वीरसिंह देव का आतिथ्य ग्रहण किया था।

महाराज वीरसिंहदेव द्वारा निर्मित दो विशाल महलों की चर्चा के बाद हम उनके बनवाये हुए दो भारी किलों को लें। हमारे ऊपर पक्षपात का दोष कृपया न लगायें कि हम पुराने महल की चर्चा को विशेष महत्व दे बैठे—वह है भी वीरसिंहदेव की अद्वितीय कला-कृति, और हमें स्वभावतः उसकी जानकारी कुछ विशेष होनी ही चाहिये। इस एक प्रासाद की चर्चा कुछ विस्तार से करते हुए हमने उसके समकक्ष जहाँगीर महल की चर्चा तो की ही है, साथ ही उनके अन्य निर्माणों की विशालता और मोहकता पर भी परोक्ष में प्रकाश डाला है। अब हम दो महत्वपूर्ण किलों की ओर इंगित भर कर दें।

(३) झाँसी का किला मार-तोड के लिये इतिहास में अमर हो चुका है। सन् १८५७-५८ के प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य-समर में "खूब लडी मर्दानी, वह तो झाँसी वाली रानी थी"—की तोपें और तलवारें इसी किले पर चमकी थी। यह किला भी एक पहाडी पर स्थित है, और आस-पास की भूमि पर अच्छा नियन्त्रण रखने में समर्थ होने के अतिरिक्त भारत के मध्य में ऐसे भूभाग में बना हुआ है, जहाँ से आगरा, कानपुर, ग्वालियर, सागर, लखनऊ, जबलपुर और इलाहाबाद जैसे महत्वपूर्ण नगरो की गतिविधि का भली प्रकार पता चल सकता है। ऐसे ही किसी लालच के कारण अंग्रेजो ने इसे बलपूर्वक हथियाना चाहा था। यहाँ पर शिवरात्रि और नागपचमी का मेला बडी धूम से भरता है।

(४) धामोनी का किला भी महत्व में कम नहीं, परन्तु यह उतनी प्रसिद्धि न पा सका— अपना-अपना भाग्य है।

बावडियाँ, तालाब, और कुण्ड बनवाने में तो जनसाधारण का हित स्पष्ट देखा जाता है। जलाशयो का निर्माण केवल वैभव दिखाने की भावना से प्रेरित होकर नही होता प्रत्युत वह तो मानव के अतिरिक्त पशु-पक्षी, पेड-पौधे और कीट-पतग सभी के कल्याण की कामना से किया जाता है। महाराज वीरसिंहदेव ने कम से कम दो बावडियाँ, तीन बडे तालाब और कितने ही कुड बनवाये।

(५) चंदेवा की बावडी, दतिया से प्राय: पाँच मील दूर एक निर्जन वन में स्थित है। दतिया से दरयावपुर होते हुए भांडेर के मार्ग में इस विशाल बावडी को देखकर चकित रह जाना पडता है। सभवत: उन दिनो यहाँ पर अच्छी आबादी रही होगी। आबादी का ध्यान न भी रहा हो, तो कम से कम यह भीतरी भाग में ऐसे स्थान पर अवश्य है, जहाँ से सैनिक और नागरिक प्राय निकलते रहे होगे। इस विशाल बावडी के चारो ओर भूमि के नीचे विस्तृत दालानें बनी हुई हैं। जिनमें उन दिनो सैनिक ठहरते होंगे। पर इस बिगडे जमाने में तो ये साधुओ और डाकुओ में साम्य का सम्बन्ध स्थापित करने वाली विश्रान्तें कही जावें तो किसी को रुष्ट न होना चाहिये।

(६) सिरौल की बावडी भी दतिया जिले में स्थित है।

(७) सिरौल का शिवालय भी उनका अपना है। जिन दिनो वीरसिंह देव ने अबुलफजल पर आक्रमण किया था राजधानी सिरौल में थी, और दतिया में उन दिनो निरा जगल था। बनते और बिगडते देर नही लगती।

(८) मडिया में वीरसागर (९) कुडार में सिंहसागर, और (१०) दिनारे में देवसागर-नामक तीन विशाल तालाब भी अपने निर्माता का गुणगान कर रहे हैं।

इसके पूर्व कि हम बुदेलखड के बाहर के निर्माण की चर्चा करें, इस भूमि में डलवाई गई उनकी कुछ अन्य नीवो की चर्चा आवश्यक है।

(११) ओडछा में चतुर्भुज जी का मन्दिर भी महाराज वीरसिंहदेव द्वारा निर्मित बताया जाता है और इसमें सन्देह नही कि उसमें कुछ ऐसी छाप है जो वीरसिंह देव के निर्माण-कार्यों की अपनी विशेषता है। ओडछा मे श्री विग्रह की प्रतिष्ठा तो बहुत पहले हो चुकी थी, परन्तु यह मानने के लिये पर्याप्त आधार है कि मन्दिर का निर्माण बाद में हुआ।

(१२) ओड़छा का सुप्रसिद्ध फूलबाग भी जिसे महाराज वीरसिंह देव के एक बेटे धर्मवीर हरदौल ने अपनाया, महाराज के उद्यान-प्रेम का एक नमूना है।

(१३) रामगढ़ की माता, मंदिर के निकट प्राय दो मील की दूरी पर है। वानी की यह विशाल प्रतिमा भी वीरसिंहदेव ने पधराई। यहाँ एक शिलालेख भी है।

(१४) धूम शिवालय भी एक उत्कृष्ट कलाकृति है—सिरौल के शिवालय से कुछ बढ़ कर।

महाराज वीरसिंहदेव ने व्रजभूमि में कितने ही मन्दिर, कुण्ड और घाट बनवाये। कितने ही अभी तक ज्यों के त्यों बने हैं।

(१५) मथुरा में केशवदेव जी का मन्दिर विशेष उल्लेखनीय है। यह वीरसिंहदेव की धार्मिक भावना का साकार रूप था। कहा जाता है कि इस मन्दिर पर तैंतीस लाख रुपये व्यय हुए थे। सवत १७२६ में औरंगजेब की धर्मान्धता ने मन्दिर का विध्वंस कराके उसकी चौकी पर ही एक मस्जिद निर्मित कराई। चौकी तो स्यात् पहचानी जा सकती है। व्रजभूमि के अन्य शिलान्यासों की सूची निम्न प्रकार है —

देवालय

(१६) वृंदावन में वनखंडेश्वर महादेव (१७) अक्रूरघाट पर देवालय (१८) विमलादेवी का मन्दिर (१९) यमलार्जुन का मन्दिर (२०) अनौर में गोविन्द जी का मन्दिर (२१) बरसाने में श्री लाडिली जी का मन्दिर (२२) बच्छवन में श्री बिहारीजी का मन्दिर (२३) महावन में मदनमोहन जी का मन्दिर (२४) हसगज में दाऊजी का मन्दिर (२५) काशी म शेषशायी भगवान का मन्दिर।

कुण्ड

(२६) वैन कूप (२७) ब्रह्मकुण्ड (२८) कोकिला वन में कुण्ड (२९) बरसाने का कुण्ड (३०) गोकुल में गोपकूप (३१) कुसुम सरोवर के पास नारद-कुण्ड (३२) गोवर्द्धन में कल्लोल कुण्ड (३३) जतीपुरा मे गोपाल कुण्ड (३४) गाठौली में गुलाल कुण्ड (३५) अनौर में गोविन्द कुण्ड।

घाट

(३६) मथुरा में विश्रान्त घाट (३७) वृन्दावन में कालीदह घाट (३८) वृन्दावन में इमला घाट।

बगीचे

(३९) वृन्दावन में बुंदेला या फुटल्ला बाग (४०) व्यासदास की बगीची (४१) चतुरदास की बगीची।

अन्य शिलान्यास

(४२) वृन्दावन में हरिराम व्यास की समाधि (४३) कामवन में चौरासी खंभा (४४) महाप्रभु की बैठक (४५) ऊँची हवेली (४६) बट सकेत (४७) वृन्दावन में वीरसिंह गली (४८) टकसार गली में 'बड़ी बाखर', (४९) सेठ दिवाला।

महाराज वीरसिंहदेव ने अपनी उदारता का परिचय सभी सुप्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों में दिया है। (५०) काशी में मणिकर्णिका घाट (५१) काशी का विश्वेश्वर मन्दिर, तथा (५२) नर्मदा के किनारे श्री नर्मदेश्वर का मन्दिर भी वीरसिंहदेव के विमल यश की कहानी कह रहे हैं।

हमने विभिन्न उपलब्ध सूत्रों से महाराज वीरसिंहदेव की बावन नींवों की सूची जुटाई है, और स्वयं भी तथ्यों को भली प्रकार तौल लिया है। फिर भी इतिहास के विद्यार्थी के रूप में हम सदैव नये आलोक को सहर्ष अंगीकार करने के लिये प्रस्तुत रहेंगे। यों जन-श्रुति में कुछ न कुछ सचाई रहती ही है—'पाँख का ही परेवा बनता है।' हो सकता है कि वीरसिंहदेव ने बावन नींवें एक मुहूर्त्त में न बनवाई हों, और एक में ही उनका शिलान्यास कराया गया हो, तो यह भी असंभव नहीं है। यह निर्विवाद है कि उन्होंने अपने जीवन-काल में बावन भव्य भवनों, जलाशयों, उद्यानों आदि का निर्माण किया।

निर्माण के अतिरिक्त कुछ की मरम्मत ही कराई होगी। कुछ सूत्रों से हमें पिछोर की गढ़ी, कुडार का किला, कुडार का ताल आदि के नाम भी मिले। बहुत संभव है, इन स्थानों ने या कुछ अज्ञात भवनों ने केवल मरम्मत का लाभ ही इस महान् निर्माता से पाया हो। प्रामाणिक इतिहास एक स्थान पर सुलभ न होने के कारण अथवा स्थान-विशेष की महत्ता बढ़ाने के कारण भी लोग किसी सूची में कुछ नाम यों ही जोड़ दिया करते हैं—इस बात पर भी पारखियों की दृष्टि रहनी चाहिये।

दतिया के महलों की नींव एक पुराने उल्लेख के अनुसार संवत् १६६३ में डाली गई है। हरग्रीव्ज का मत भिन्न है। इसके विषय में एक दोहा हमें निम्न रूप में प्राप्त हुआ है—

> बत्तीस लाख चौसठ सहस, ऊपर असी प्रमान।
> लेखो सुन अमरेस नृप, दतिया महल सुदाम॥

कहा जाता है कि महल का काम करने वाले कारीगरों ने प्रतिदिन एक-एक ईंट रख कर ही पुराने महल के पास एक मुड़िया महल बना दिया।

अस्तु, महाराज वीरसिंहदेव ने बावन या अधिक—जितनी भी इमारतों का निर्माण कराया, वे सभी उनकी महानता का उद्‌घोष करती हैं। वास्तुकला की दृष्टि से इन्होंने अनेक यात्रियों को आकृष्ट किया है, तथापि ये सभी अधिकतर निर्जन पड़ी हुई हैं—न जाने क्यों? दतिया के वीरसिंहदेव महल में कहीं भी किवाड़ न होने से स्पष्ट है कि इसमें कोई भी राजवंश नहीं रहा। एक अंग्रेज यात्री हरग्रीव्ज के अनुसार महाराज वीरसिंहदेव ने सन् १६१४ में मथुरा की यात्रा की थी, और वहाँ स्वर्ण से उनके तुलादान के पश्चात सन् १६१४ में ही दतिया के भव्य महल का निर्माण प्रारंभ हुआ। सन्-सम्वत् के झमेले में अधिक पड़ने की आवश्यकता भी नहीं है—बोलता हुआ प्रमाण सबके सामने है। महाराज का यह निर्माण-प्रेम ही उनके प्रजा-प्रेम का द्योतक है। निर्विवाद है कि वीरसिंहदेव में वीरता के सभी आदर्श बहुत निखरकर प्रकट हुए

थे। युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर और कर्मवीर, बुंदेला नरेश वीरसिंहदेव की महानता प्रकट करने के लिये ही कुछ लोगों ने उन्हें 'नृसिंहदेव' के रूप में स्मरण किया है। स्थानाभाव के कारण हम उनके जीवन के एक अंग पर ही कुछ थोड़ा-सा प्रकाश डाल सके हैं—यथा समय बुंदेलखण्ड की स्थापत्य कला पर विस्तृत विचार किया जायगा। आगे इतने बड़े कम से कम दो लेखों में ही उनके विषय में जानने योग्य सब कुछ बताया जा सकता है, और इस बड़े सौभाग्य का समुचित अवसर पाने के लिये हम उत्सुक रहेंगे।

श्रीमती हर्षनन्दिनी भाटिया

नव-सत में मेहँदी

भारतीय सस्कृति के अनुसार सौभाग्यवती नारी के जीवन में मेहँदी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रचलन मध्य-एशिया से लेकर सुदूर पूर्व तथा पश्चिमी भारत तक है। मुस्लिम सस्कृति प्रधान देशों में इसका पर्याप्त प्रचार होने के कारण यह धारणा फैल गई कि इसका प्रारम्भ मुसलमान सभ्यता के प्रभाव से हुआ, पर यह विश्वास नितान्त असत्य है। अरब देशों में इसके लिए 'हिना' शब्द प्रयुक्त होता है जो अरबी भाषा का शब्द है इसका प्रयोग भारत में भी 'इत्र' विशेष के साथ होता है पर मेहँदी के पर्याय के रूप में नहीं। किसी भी विदेशी पदार्थ के साथ उस पदार्थ विशेष का नाम भी चला आता है। इत्र के साथ 'हिना' का प्रचार है, हो सकता है कि इत्र विशेष मुसलमान काल से प्रयोग में आना प्रारम्भ हुआ हो, इससे पूर्व भारतीय इससे (मेहँदी) इत्र बनाना नहीं जानते हो। पर इतना निश्चित है कि मेहँदी शब्द इससे प्राचीन तथा शुद्ध भारतीय है। श्रीमती तारादेवी शर्मा[1] के (यह वस्तु (मेहँदी) मुसलमान काल से बाहर से आयी हुई मालूम होती है क्योंकि संस्कृत साहित्य में इसका कहीं भी वर्णन नहीं मिलता।) कथन का खंडन करते हुए अगरचन्द नाहटा[2] ने १३वीं शताब्दी से भी पूर्व नित्यनाथ सिद्ध के रस रत्नाकर नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख बताया है—

> महिन्दीपत्रनिर्यासैरेव वाराणि षोडश।
> रसगन्धशिला भागक्रमवृद्धया विमर्दयेत् ॥

दिनेशचन्द्र भारद्वाज[3] गुप्तकाल से इसका विशेष प्रचार मानते हैं, इसके पूर्व हरिद्रा, लाल रंग और महावर का प्रयोग होता था।

---

१. तारादेवी शर्मा—हिन्दी काव्य में मेहँदी—सरस्वती, वर्ष ६०, खण्ड २, संख्या ३ पृष्ठ १९१ तथा साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १ सितम्बर १९५७, पृष्ठ २६।

२. अगरचन्द नाहटा—राजस्थानी और गुजराती में मेहँदी संबंधी लोक गीत, सरस्वती, वर्ष ६०, खंड २ संख्या ४ पृष्ठ, २७२।

३. दिनेशचन्द्र भारद्वाज—भारतीय सुहागिन का सौन्दर्य प्रसाधन, साप्ताहिक हिन्दुस्तान २४ अगस्त ५८, पृष्ठ २६।

परशुराम कृष्ण गोडे के अनुसार सुप्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ सुश्रुत संहिता में मदयन्तिका के नाम से तीन बार महँदी का उल्लेख हुआ है—

१. मदयन्तिका 'मेंदी' इति लोके यस्याः पिष्टैः पत्रैः नखाना राग स्त्रिय उत्पादयन्ति।

२. मदयन्ती, मेन्दिका, नखरजनी।

३ मदयन्तिका, नखादिरागरजनी मेहँदी (महीन्द्री) इति प्रसिद्धा।

वस्तुतः 'मदयन्तिका' शब्द का प्रचार था पर कुछ भिन्न अर्थ में, मेहँदी के लिए 'मन्दिका' शब्द संस्कृत में मिलता है जिसके साथ अन्य रूप 'मेन्धिका' तथा 'मेंधी' रूप भी प्रचलित थे जिसका अर्थ मोनियर विलियम के संस्कृत-अंग्रेजी कोश में 'रगने के लिए पौधा' A Plant Used for Dyeing' है, यही शब्द कालान्तर में———मेन्धी मेंधी-मेंद्ही में 'द्' और 'ह्' के विपर्यय से 'मेंहद' बन गया जिसके हिन्दी में अब 'मेहदी', मेहँदी', 'मेंदी', 'मेंहँदी' 'महँदी', मिहँदी' आदि अनेक रूप लोक में प्रचलित है।

मेहँदी—सज्ञा स्त्री० [स० मेन्धी] पत्ती झाडनेवाली एक झाडी जो बलोचिस्तान के जगलो में आप से आप होती है और सारे हिन्दुस्तान में लगाई जाती है। इसमें मजरी के रूप में सफेद फूल लगते हैं जिनमें भीनी-भीनी सुगध होती है। फल गोल मिर्च की तरह होते हैं और गुच्छों में लगते हैं। इसकी पत्ता को पीसकर चावने से लालरग आता है इसीसे स्त्रियाँ इसे हाथ पैर में लगाती हैं। बगीचे आदि के किनारे पर भी लोग शोभा के लिए एक पक्ति में इसकी टट्टी लगाते हैं।[६]

मेंहदी का वनस्पतिशास्त्रीय नाम 'Lawsonia Alba' है जो एक लैटिन शब्द है। अंग्रेजी में इसके लिए 'Henna' शब्द ही प्रयुक्त होता है जो अरबी के 'हिना' शब्द का ही रूपान्तर मात्र है। उत्तर प्रदेश के दुआव, बुन्देलखण्ड, बनारस, रुहेलखण्ड तथा अवध सभी क्षेत्रों में मेंहदी शब्द ही समान रूप से चलता है।[४]

मेंहदी सामान्यत तरावट देनेवाला पदार्थ है जिसका प्रयोग फटे तलुओं, सिर दर्द, आँखों की जलन, दिमागी चिड़चिड़ापन आदि में लाभप्रद होता है। मेंहदी लगाने के लिए पत्तियों को बारीक पीस लिया जाता है अथवा पिसी मेंहदी को पानी में घोल लिया जाता है। हरी पत्तियों को पीसकर लगाना सर्वोत्तम है जिसमें इमली या नीबू का रस मिला लेने से अधिक रग तथा निखार आ जाता है।

मेंहदी लगाने की यह विधि सर्वसुलभ व इतनी सामान्य है इसको स्त्री के सोलह शृगार-नव-सत'-में प्रमुख स्थान दिया है [चित्र न० १]। मेहदी रचाना सौभाग्य का लक्षण है। इसको सोलह शृगारों में नवाँ स्थान दिया गया।

४　List of the Synonyms of the field and Market Garden Crops vide Govt of India Circular letter no 44/160 dated 7. 12 1892, page 20 (Twenty)

५.　जहँ तहँ जूथ मिलि भामिनि।
सजि नवसप्त सकल दुति दामिनी॥
तुलसीकृत रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा ३२६।

६.　हिंदी शब्द सागर पृष्ठ २८१५।

प्रथम अंग-सुचि एक विधि, मज्जन दुतिय बखान।
अमल वसन पहिरो तृतिय, जावक चारि सुजान॥
पंचम केश संवारियो पष्ठहिं माँग सिंदूर।
भाल खौरि सप्तम कहत, अष्ट-चिबुक तिलपूर॥
महँदी कर-पद-रचन नव, दसम अरगजा, अंग।
ग्यारह भूखन नग-जटित, बारह पुष्प प्रसंग॥
बासराग मुख तेरही, चौदह रंगियो दाँत।
अधर राग गनि पंचदस, कज्जल षोडस भाँत॥

शृंगार प्रसाधनों में मेंहदी रचाने का कार्य विशेष शुभ तथा मांगलिक माना जाता है—विशेषकर पंजाब, राजस्थान, गुजरात तथा उत्तर-प्रदेश आदि क्षेत्रों में। कुछ स्थानों में तो विवाह की पहली रात्रि को 'मेंहदी की रात' कहा जाता है।

नोट—बसौली शैली पर आधारित प्रो० मधुकर चतुर्वेदी के सौजन्य से।

मेंहदी की लालिमा प्रेम का प्रतीक है। जिस प्रकार हरी-हरी पत्तियों में लालिमा व्याप्त रहती है पर अदृश्य रूप में, वह घिसने के उपरान्त प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार सच्चा प्रेम कसौटी पर कसे जाने पर ही स्पष्टतः निखार पर आता है—लोक में प्रचलित इन पंक्तियों में यही भाव है—

सुर्खरू होता है इन्सा ठोकरें खाने के बाद।
रंग लाती है हिना पत्थर पै पिस जाने के बाद॥

इसके आधार पर ही वियोगी हरि जी ने वीरों को प्रोत्साहन देते हुए तथा उनके वीरत्व को प्रकाशित किया है:—

होत सूर सरनाम के चूर चूर निज अंग।
पिसत-पिसत ज्यों सिला पै मेंहदी लावत रंग॥

मेंहदी में छिपी हुई अदृश्य लालिमा का कबीर ने कैसा सुन्दर वर्णन करते हुए आध्यात्म पक्ष में दृष्टान्त उपस्थित किया है:—

ज्यों मेंहदी के पात में लाली लखी न जाय।
त्यों कन-कन में ईस बसै, दुनिया देखे नाय॥

मेंहदी रचे पैरों वाली तथा अनेक प्रकार के आलेखन से युक्त हाथों वाली नारी को देखकर उसकी करतल-लालिमा पर कौन मोहित न होगा। नारी की पद-करतल-लालिमा नायक के प्रेम की प्रतीक मात्र है —

राधिका रूपनिधान के पानिनि आनि मनो छिति की छवि छाई।
दीह अदीहन सूक्षम थूल गही दृग गोरी की दौरि गुराई॥
महँदीमय विन्दु बने तिनमे मनमोहन के मन मोहनी लाई।
इंदुवधू अरबिंद के मन्दिर इंदिरा को मनो देखन आई॥
(महाकवि केशव का 'मेंहदीयुत पाणि-वर्णन')।

मेंहदी का रंग ऐसा होता है जो पीसनेवाले तथा लगानेवाले दोनों के हाथों में भी स्वतः ही लग जाता है इसी भाव को लेकर रहीम ने दृष्टान्त का प्रयोग किया:—

यों रहीम सुख होत है उपकारी के अंग।
बाँटनवारे के लगे ज्यों मेंहदी को रंग॥

इन पक्तियों में कवि ने कितने गम्भीर भाव को सहज रूप में मेंहदी के माध्यम से व्यक्त कर दिया है।

घनानंद ने तो मेंहदीयुक्त पैरों की लालिमा का विशेष स्वाभाविक व
किया है —

मिहदी रंग पायनि रंग लहै सुठि सौधों सुअंगनि संग बसै।
तरुनाई पै कोक पढै सुघराई सिखावति है रसिकाई रसै।।
घनआनद रूप अनूप-भरी हित फंदन मे गुन-ग्राम बसै।
सब भाँति सुजान न आन समान कहा कहौं आपतें आप लसै।।

× × × ×

साखा कुल टूटै ह्वै रंगीली अभिलाषा भरि,
परि द्वै पखान वीच घसनि घनी सहै।
सोय सखी इते मान आनि कै सलिल बूड़ै,
घुरि जाय चायनि ही हाय गति को कहै।।

तर दुखदाई देखौ छिदति मलायनि सौं,
प्रेम की परग देया कठिन महा अहै ।।
प्रिय-मनसा लो वारी मिहँदी अनदघन,
एगी जान प्यारी नेकु पायनि लग्यो चहै ।।

बिहारी ने मेहँदी का बडा ही हृदयग्राही वर्णन अनुरागमयी भाषा में प्रस्तुत किया है :—

गडे वडे छवि छाक छकि छिगुनी छोर छुटै न ।
रहे सुरँग रँग रँगि वही नह-दी महँदी नैन ।।
(बिहारी बोधिनी—दोहा १००)

(नायक वचन सखी प्रति—हे सखी ! नायिका ने जो नाखून में मेंहदी लगाई है उसी के छवि छाक मे छक कर मेरे नेत्र छिगुनी के छोर में गड रहे है वहाँ से छूटने नही पाते, मानों उसी नाखून में दी हुई मेंहदी के सुन्दर लाल रग स अनुरक्त हो रहे है।)

स्वेद सात्विक तथा विब्बोक हाव का वर्णन करते हुए बिहारी ने नायिका के द्वारा नायक से कहलवाया है—

नेकु उतै उठि बैठिये कहा रहे गहि गेहु ।
छुटी जाति नहँदी छिनकु महँदी सूखन देहु ।।
(बिहारी बोधिनी—दोहा ३५७)

(जरा वहाँ उठकर बैठो क्या घर में घुस रहे हो नाखून में लगाई हुई मेंहदी छूटी जाती है जरा एक क्षण मात्र इसे सूखने तो दो ।)

मेंहदी रचाने के बाद यह आवश्यक है कि कुछ देर तक उसको लगा हुआ ही छोड दिया जाय । अगर मेंहदी सूख नही पायेगा तो उसकी सुन्दर मनमोहक लालिमा कर पद में न आ सकेगी, इसी तथ्य की ओर निर्देश बिहारी ने अपने दोहे में किया है ।

"बयालीस लीला" ग्रन्थ में भी मेंहदी का वर्णन यत्र-तत्र बिखरा हुआ है ।

महदी रग अनुराग सुरगा ।
कर अरु चरन रचे तेहि रगा ।।

मेंहदी को रग फबि रह्यो नखमणि झलक अपार ।
मनो चद कमलनि मिले रही न ओर सभार ।।

सामान्यत मेंहदी हाथ में लगाने के बाद कार्य नही किया जाता क्योंकि उसे कुछ देर तक लगा रहना आवश्यक है, इसी भाव को प्रकट करने के लिए ही निम्नलिखित मुहावरे प्रयुक्त किये जाने लगे—

१ पैरो से उठकर चलने में असमर्थ—आलस्य का द्योतक—
"क्या पैर में मेहँदी लगी है ।"

२. हाथों से काम करने में असमर्थ—आलस्य का द्योतक—

"क्या हाथों में मेहँदी लगी है।"

इस 'मेहँदी लगे हाथ' की असमर्थता का भाव लेकर ही नायिका नायक से कहती है—
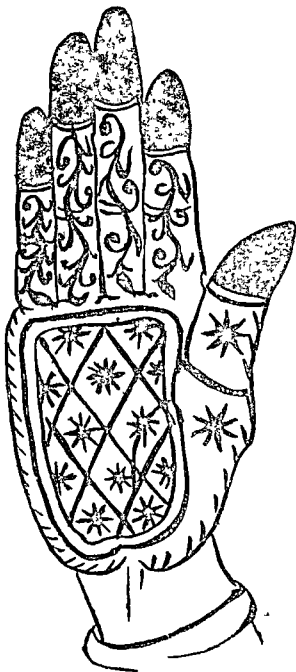
मेरे कर मेंहदी लगी है नन्दलाल प्यारे, लट उलझी है नैकु बेसरि सभार दे ॥

हाथों में मेंहदी रचाने की अनेक विधियाँ हैं। देखिए—सलग्न चित्र। किसी महीन दियासलाई की सीक आदि से बुंदकियों द्वारा मेंहदी रचाने की भी प्रथा है इन बुंदकियों की अप्रस्तुतयोजना ही महाकवि सेनापति की पंक्तियों में—

मेंहदी की बिंदकी विराजे तन बीच लाल,
सेनापति देखि पाइ उपमा विचारि है।
प्रात ही अनन्द सो अरन अरविन्द मध्य,
बैठी इन्द्र गोपनि की मानो पतवारि है॥

प्रात काल के विकसित कमल पर इन्द्रवधुआ की पंक्ति बैठी हुई मेंहदी की बुंदकियाँ प्रतीत हुई। यही भाव ता इन पंक्तियों में है—

छवि रग सुरग बनें लगें इन्द्रवधू लघु या तन में॥
चित जो चहें दी, चकि सी रहेंदी केहि दी मेहदी इस पायन मे॥

मध्यकाल तक नारी के शृगार के साथ ही मेंहदी का वर्णन विशेष रूप से किया गया और रहीम, कबीर आदि कवियो ने दृष्टान्त रूप में किया। आधुनिक काल में भी अनेक कवियों ने इसका यथातथ्य तथा प्रेम के प्रतीक रूप में वर्णन किया है—

विधवा 'मेहर' का जब जहाँगीर पुन विवाह के लिए विवश करता है तो 'मेहर' के द्वारा श्री गुरुभक्त सिंह अपने काव्य नूरजहाँ में इस प्रकार कहलवाते हैं—

चचल चख कर कहा मेहर ने "जब तक जान न लूँ मैं,
कैसे कभी भला मै 'हाँ' कह सकती हूँ मत करो बलात्।
तुम विवाह प्रस्ताव करोगे, उसके लिये नही तैयार,
इन हाथो में फिर मेंहदी लगवाने का है नही विचार॥

इन पंक्तियो में 'हाथो में मेंहदी लगवाना विवाह का प्रतीक मात्र है। उदीयमान कवि रामावतार त्यागी' को "प्यार मेंहदी की तरह धनवान् है"।[७] शीर्षक कविता इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है जिसमें प्रेम के उपमान रूप में मेंहदी को प्रस्तुत किया गया है।

अर्चना देकर समर्पित बुझ गई,
देवता तम में भटकता रह गया।
प्यार मेंहदी की तरह धनवान् है,
एक मन से हुआ, जिसको छुआ।
वह तुम्हारी या किसी की हो भले,
हर हथेली को उसे रगना हुआ॥

---

७ रामावतार 'त्यागी'—प्यार मेंहदी की तरह धनवान् है'—धर्मयुग, अगस्त १४, १९५५, १५।

डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने सुहागिन स्त्री के रूप-सौन्दर्य में—

नील नभ से स्निग्ध निर्मल केश गूँथे जा रहे होंगे सँवार सँवार
पिस रही मेंहदी, महावर रच रहा,
तारकावलि चन्द्रिका सी हो रही होगी सहेज सँवार।

(कितनी बार तुम्हें देखा पर तबियत नहीं भरी कविता से)

मेंहदी में भीनी-भीनी गंध भी होती है जो बहुत ही मनमोहक तथा चित्ताकर्षक रूप में गिरजाकुमार माथुर को प्रार्थित करती है—

गात रमीनी बूँदों वाली जैसे देह रूमाल ।
यहाँ महक उठती मेंहदी की वहाँ हाथ है लाल ।।

गीतकार अनन्त कुशवाहा ने अपने गीत[८] में—

"बिदा माँग ले छूने गोरी माँ बाबा के पाँव को ।
तुमको जाना ओढ़ चुनरिया दूर पिया के गाँव को ।

मेंहदी-रचे पाँवों का कितना हृदयग्राही वर्णन है। वर्णन वियोग की बेला में प्रस्तुत है—

देर हो रही चला-चली की बेला सबसे भेंट लो ।
फिर जाने कब प्यासे नयनों पर ममता की छाँह हो ।।
फिर जाने कब पनघट चूमें मेंहदी तेरे पाँव की ।
मीठे सपने मधुर लोरियाँ चन्दन जैसी बाँह की ।।

लोक साहित्य में मेंहदी

साहित्य के साथ ही लोक-साहित्य भी मेंहदी के वर्णनों से भरा पड़ा हुआ है, मेंहदी के गीत भी उतने ही रोचक तथा हृदयग्राही हैं जितने अन्य। व्रज, अवध, राजस्थान, गुजरात, नीमाड आदि प्रदेशों में इसका विशेष प्रचलन है—

व्रज-लोकगीतों में मेंहदी

चरनों पै तेल चढ़ाने के समय के गीत[९]

अलबेली तमोलिनि मेरी लाडो कूँ पान चबवाइ ।
जब मेरी लाडो ने हरदी सँजोई रोरी पै अजब बहार ।
जब मेरी लाडो ने मेंहदी सँजोई कंकन पै अजब बहार ।।

× × ×

मेरे बन्ने के मेंहदी लगादो सखी, कबसे सोने कटोरे में घोले खडी ।

× × ×

बरद-भरी मेंहदी फिरै ऐ कोई मेंहदी ऐ लेइ मेंहदी राँचनी ।
लिंगें हमारे रामचन्द से भोगिया, जिनकी सीता जी ए जोगु मेंहदी राँचनी
चरत-भरत से भोगिया, जिनकी माता ए जोगु मेंहदी राँचनी ।

गीत-चन्द्रावलि[१०]

पाँच पेड मेहदी बए केसरिया लाल,
ए उपजे ऐ नौदस पेड कि मेंहदी रंग चुए जी महाराज
वा लसुकरिया ते यो कही, माइ मेरें घर आउ कि मेंहदी रंग०

---

८. अनन्त कुशवाहा—गीत, मनोरमा, सितम्बर १९६०
९. डा० सत्येन्द्र—व्रज-लोक-गीत, पोद्दार अभिनन्दनग्रन्थ, पृष्ठ ९३४ ।
१०. वही, पृष्ठ ९४६ ।

राजस्थानी लोकगीत और मेंहदी

मेंहदी दाम्पत्य प्रेम का प्रतीक मात्र है। मेंहदी रचे हाथ को प्रेमपूर्वक देखकर ननदबाई का वीर कह रहा है—कि किस सुहागिन के द्वारा हाथ रचा गया है—

मेंहदी निरिंगा म्हारी नणद बाई रो वीर
प्रम रंग मेंहदी राचणी
कुण माड्या सुगणा थारा हाथ

प्रेम रंग मेंहदी राचणी
राच्या राच्या ए सुन्दर थारा हाथ
प्रेम रस मेंहदी राचणी
थारो हाथ म्हारे हिवड़े ऊपर राख
प्रेम रस मेंहदी राचणी
थारी मेंहदी परवारुं पन्ना ये जवार।

मेँहदी का एक प्रसिद्ध गीत इस प्रकार है—

मेँहदी तो बावण घण गई, छोटो सो देवर साथ ।
सौदागर मेहदी राचणी ।

मेँहदी तो बावण घण गई सोने रो हलियो जी हाथ ।सौदा०।
देवर वाया दोय ऊमरा, धारी धण वायो सारो डेर ।सौदा०।

मेंहदी तो सींचण घण गई, सोने रो झारो जी हाथ ।सौदा०।
देवर सींच्या दोय ऊमरा, थारी धण सींच्यो सारो डेर ।सौदा०।
मेंहदी रुखालन घण गई, सोने रो चिटियो हाथ ।सौदा०।
देवर रुखालया दोय ऊमरा, थारी धण रुखालयो सारो डेर ।सौदा।
मेंहदी तो चूटण घण गई सोने रो छबटो जी हाथ ।सौदा०।
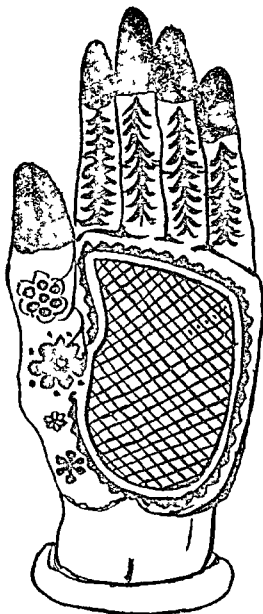
देवर चूट्या दोय उरमरा, थारी धण चूट्यो सारो डेर।सौदा०।
चाकी के घरट पिसाविया मेहदी, लो कपडे जी छाड।सौदा०।
रतन 'कटोरे मेंहदी घोलस्या राची छै रग मजीठ।सौदा०।
नणदल माडी चिटली आगली, धण राए राच्याँ दोनू हाथ।सौदा०।
नणदल की राची चिटली आगली, धण रा राच्या दोनू हाथ।सौदा०।

नाहटा[11] जी के अनुमार यह गीत ३०० वर्ष से भी अधिक पुराना माना जाता है।

निमाणी लोक गीत[12]

पिया दुइ दिन पीयर जावा न मुख सो बोलो।
पातलिया क्यो लियो जी, आज अबोलो।।
× × ×
मेंहदी मे रग्या दुई हाथ हिंडोला गावा।
म्हारा रग धर्‌या ई हाथ कुणव बतावा।।
तुम करो म्हारा सी प्यार प्रम रस मिलो।
पातलिया क्यो लियो जी आज अबोलो।।

गुजराती

मेंदी तो वावी मालवे इनो रग गीयो गुजरात।
मेंहदी रग लाग्यो रे
मारो देरी डो लाडको ने कई लास्या मेंदी नो छोड।
पाटी घूटी ने मार्‌या वाटका, माथी रगो तुमारा हाथ।।
हाथ रगीने हैरो श र कर इनो जोनारो परन्श।
लाल टका आन रोकडा काई जावे जो दरिया पार।।

मालवा के एक गर्बा गीत की पक्तियो का रसास्वादन भी लीजिए—

मदी बोई खेत मे उगी बेल् रत मे
मेंदी मे बोई हो राज
छोटो देवर लाडलो ऊ मेंदी के रगवाल रे।
छोटी नणद लाडली बा मेंदी चूटन जाय रे।।

मेंहदी भारतीय लोकजीवन मे पर्याप्त रम चुकी है, फैशनेबिल महिलाएं भी विशेष प्रकार से मेंहदी लगाकर अपने हाथों को मारपंक बनाने की चेष्टा करती है। सिनेमा के गीत भी इसके प्रभाव से मुक्त नहीं।

११ अगर चन्द नाहटा—राजस्थानी और गुजराती में मेंहदी सबधी लोकगीत, सरस्वती, वर्ष ६० खड २ सख्या ८, पृष्ठ २५२।

१२. श्रीमती सतोष सुहृद—शृगार का सर्वं साधन—मेंहदी, त्रिपथगा, मार्च १९६०, पृष्ठ ९३-९६।

इस प्रकार साहित्य, लोक साहित्य तथा सिने-साहित्य में मेंहदी का रोचक वर्णन मिलता है। भारतीय शृंगार प्रसाधन में यह सर्व साधारण के लिए सुलभ व सरलतम उपाय है जिसको प्रत्येक नारी बड़े मन से अपनाती है। मेंहदी रचाने की अनेक विधियाँ

हैं। कुछ स्त्रियाँ तो विशेष कलात्मक हाथ रचाती हैं जिसे लोक भाषा में 'मांडना' कह
हैं। यह एक उच्चकोटि की कला है जिसमें परम्परागत उत्कृष्ट आकृतियाँ, बेलबूटे, पत्तिय
चाँद-सूरज, हंस-मोर, स्वस्तिक, लहरिया, चक्र, चौपडादि हैं। राष्ट्रीयता का प्रभा
शृंगार प्रसाधन पर भी पर्याप्त पडा है। परम्परागत डिजायनो के स्थान पर भारत
भारतमाता, गाधी आदि के रेखाचित्रों का अंकन भी किया जाने लगा है।

मेंहदी केवल विवाह पर ही नहीं साधारणत प्रत्येक त्यौहार करवाचौथ
तीज, नाग-पचमी आदि पर कुमारियाँ तथा सुहागिनो द्वारा लगाई जाती है
सामान्यत. यह शृंगार सुहाग का प्रतीक माना जाता है जो अत्यन्त ललित और साथ ह
भावनामय है।

मेंहदी के गीत उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण प्रदेश तक प्रचलित हैं। राज
स्थान एव गुजरात में तो इसका व्यापक प्रचार है जो हमारे देश की राष्ट्रीय एकता क
प्रतीक है। मेंहदी प्रेम का प्रतीक ही नहीं, प्रेम का सन्देश वहन करती है।

डा० दशरथ ओझा

ब्रज की लोक नाट्य संस्कृति

वैदिक काल में वैदिक सस्कृति के साथ-साथ लोक सस्कृति का कोई न कोई रूप अवश्य रहा होगा। यह सम्भव ही नहीं कि वेदों के रहस्यों को समझने वाले सभी व्यक्ति उस काल में एक साथ ही पैदा हो गए हों। इससे यह प्रमाणित होता है कि जहाँ एक ओर वैदिक युग में उच्च वर्ग के विद्वानों ने यज्ञ किया, तप अनुष्ठानो की आयोजना बनाई वहीं सामान्य जनता ने अपनी शक्ति के अनुसार धार्मिक कृत्यों का एक नया विधान अवश्य बनाया होगा। ऋग्वेद में एक स्थान पर अज्ञान मे आवृत्त लोगों को सकेत करते हुए एक ऋचा मिलती है जिसका अभिप्राय है—हे मनुष्यो! तुम उसको नहीं जानते हो जिसने सब भूतों को उत्पन्न किया और जो तुम्हारी आत्मा में भी भीतर बैठा हुआ है। तुम लोग अज्ञान से आवृत हो और अज्ञान दशा में ही बोलते हो व्यवहार करते हो। केवल अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने मे लगे हो और यज्ञादि करके स्वर्ग के भाग भी भोगना चाहते हो किन्तु उसे जानने का प्रयत्न नहीं करते।

न त विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तर बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

(ऋग्वेद स० १०।८२।७)

इस उद्धरण से यह प्रमाणित होता है कि वैदिक काल में उच्चस्तर के व्यक्ति ब्रह्म की सत्ता की गवेषणा किया करते थे और ज्ञान के सचय में तल्लीन रहते थे तो मध्यम कोटि के व्यक्ति यज्ञ-याग द्वारा स्वर्ग भोग की कामना करते थे। एक तीसरा वर्ग भी था जो इन्द्रियजन्य सुख को ही सर्व श्रेष्ठ मानता था, ब्रह्म चिन्तन एव यज्ञ सृजन से पराङ्मुख रहता था। ऐसे लोगो की सख्या भी नगण्य न रही होगी। उनका भी एक समुदाय रहा होगा। उनकी अपनी बोली अपनी सस्कृति और जीवन की अपनी ही रहन सहन की शैली रही होगी।

उच्च स्तर के व्यक्ति यदि साहित्य, सगीत और कला में अपने रुचि वैशिष्ट्य के कारण सस्कार की ओर सचेष्ट रहे होंगे तो दूसरी ओर सामान्य जनता भी अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुरूप हास विलास के नये साधन निकालने में अवश्य ही तत्पर रही होगी। उसकी इसी प्रवृत्ति ने लोक सस्कृति को जन्म दे दिया होगा।

लोक संस्कृति में लोक साहित्य, लोक संगीत और लोक नाट्य का अपना विशेष महत्त्व रहता है। भरत के नाट्य शास्त्र में जहाँ एक ओर शास्त्रीय नाटकों का विधान मिलता है वहाँ दूसरी ओर लोक धर्मी नाटकों का भी संकेत उपलब्ध है। भरत मुनि के मतानुसार धर्मों का तात्पर्य उस अभिनय से है जो धर्म एवं लोकगत समयाचार का अनुकरण करके किया जाय। नाट्य शास्त्र के छठे अध्याय में भरत मुनि ने इसकी विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है:—

धर्मी या द्विविधा प्रोक्ता मया पूर्वं द्विजोत्तमा ।
लौकिकी नाट्यधर्मी च तयोर्वक्ष्यामि लक्षणम् ।।७०।।
स्वभाव भावोगत शुद्ध तु विकृत तथा ।
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम् ।।७१।।
स्वभावाभिनयापेत नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् ।
यदीदृश भवेन्नाटच लोकधर्मी तु सा स्मृता ।।७२।।
(नाट्यशास्त्र अ० ६)

अर्थात् लोकधर्मी अभिनय वे हैं जिनका आधार लोकवार्ता अर्थात् लोक में प्रसिद्ध क्रिया या वृत्तान्त होता है जिसमें स्थायी व्यभिचारी आदि भाव ठेठ मानवी स्वभाव से लिए जाते हैं (कविकृत अतिरंजनाओं से नहीं) और अनेक स्त्री-पुरुष मिलकर जिसमें बिलकुल स्वाभाविक रीति से अभिनय करते हैं, अर्थात् उठना गिरना, लड़ना, चिल्लाना, मारना आदि की क्रियाओं का अपना जीवन का अनुकृति के अनुसार करते हैं, अभिनय की बारीकियों के अनुसार नहीं।

लोकरंजन की पद्धतियों में सवप्रथम नृत्य का ही आविष्कार हुआ होगा। एक ओर तो नृत्य की शास्त्रीय परम्परा चली होगी दूसरी ओर लौकिक। भरत मुनि के समय में विविध प्रकार के नृत्य और संगीत प्रचलित थे जिनमें रास नृत्य की गणना नहीं की गई है। सम्भवतः कई प्रकार के नृत्य भरत मुनि के उपरान्त विकासोन्मुख हुए होंगे। जब कोई नृत्य विशेष इतना विकसित हो जाता है कि वह जनता को हृदयग्राही सिद्ध होने लगता है तो उसका प्रचार अवश्यभावी हो जाता है और उसको व्यावसायिक बना लेना सहज हो जाता है। ब्रज में प्रचलित रास नृत्य की भी यही दशा हुई होगी। अंगविज्जा नामक नाटक में एक स्थान पर विविध व्यवसायियों का भी उल्लेख मिलता है। उन व्यवसायों में लास (रास) करने वाली एक जाति का भी उल्लेख किया गया है।

"सिवेसु मायाकारक व गोरीपाठक वा लेखक-मुट्ठिक-लासक-वेलवक गडक-अधोभागेसु निष्फल सिप्प बूया।"

अर्थात् मायाकारक (जादूगर) गौरी पाठक (गौरीपाठक, गौरी पूजा के अवसर पर पाठ करने वाले), लखक (बाँस के ऊपर नाचने वाले), मुट्ठिक (पहलवान), लासक (रास गाने वाले), वेलवक (विदूषक), गडक (घंटा बजाकर उद्घोषणा करने वाले) और घोषक आदि शिल्पियों का उल्लेख धर्मयोनि नामक प्रकरण में मिलता है। उस काल में एक ओर तो कुशीलव और रंगमंच पर अभिनय करने वाले रंगावचर होते थे जो राजन्य

वर्ग से सम्बद्ध होते थे तो दूसरी ओर सामान्य जनता का मनोविनोद करने वाले रासकों का एक वर्ग हुआ करता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि रासकों की यही जाति कालान्तर में रासलीला करने वाली सिद्ध हुई। ब्रज की लोक-संस्कृति के निर्माण में रास-लीला का बड़ा महत्व माना गया है। मुसलमानों के आगमन काल में भी रासक गाने वालों की जाति ब्रज और पश्चिमी भारत में फैली हुई थी। जैन रास और वीर रासो काव्य और लौकिक प्रेम परक काव्यों का गायन नर्तन के साथ हुआ करता था। उपेदश रसायन रास, भरतेश्वर बाहु बली रास वीसलदेव रास आदि इसके प्रमाण हैं। जैन धर्म में तीर्थंकरों और तीर्थ स्थानों से संबद्ध कथानकों को रासक जाति अभिनय के द्वारा प्रकाशित करती थी। रासक गायन की यह परम्परा रास नृत्य के साथ समस्त सूरसेन देश में शताब्दियों से प्रचलित रही होगी। ब्रज में कृष्ण लीला के प्रचार के साथ-साथ रास लीला का प्रचार बढ़ा होगा। यह कहना कठिन है कि रास लीला का सर्वप्रथम आरम्भ कब हुआ किन्तु हरिवंश पुराण और श्रीमद भागवत में रासलीला का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। साहित्य में उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि चैतन्यदेव और स्वामी शंकर देव, हित हरिवंश और वल्लभाचार्य के समय रास लीला का सर्वत्र प्रचार हुआ। इन महात्माओं ने—संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी—लोक भाषाओं को अपनाया। जिस प्रकार जैन कवियों ने अर्द्ध शिक्षित एवं अशिक्षित जनता को जैनधर्म की शिक्षा देने के निमित्त नृत्य एवं गाथामय रासो का अवलम्बन लिया उसी प्रकार वैष्णव महात्मा और कवियों ने राम कृष्ण की लीला दिखाने के लिए नृत्य गीतमय रासलीला का प्रचार किया। इसी से ब्रज की लोक संस्कृति का मुख्य अंग ही रासलीला को स्वीकार किया गया।

लोक-नाट्य में नृत्य और गाथा (गीत) का योग

लोक-नाट्य में नृत्य और गाथा का योग पाया जाता है। हमारे देश की ग्रामीण जनता शताब्दियों से वर्णकर्म को महत्त्व देती आई है। वर्ण विभाग में ऊँचनीच की भावना को नहीं अपितु एक संस्कृति एक व्यवसाय और एक रुचि के लोगों की समान मनोवृत्ति को महत्ता प्रदान की गई थी। हमारा देश इस विषय में बड़ा ही उदार रहा है और आज भी सबको अपना जीवन अपने ढंग से उल्लासमय बनाने का पूरा अधिकार है। सबके अपने नृत्य प्रकार हैं और सबकी अपनी गान-पद्धति है। नाई-धोबी, मुसहर चमार, कहार कुम्हार, अहीर गड़रिया, गाड़ मल्लाह सब की अपनी अपनी नृत्य और गान शैली है। और उन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ है। प्रत्येक नृत्य के अनुरूप वाद्य योजना भी पृथक्-पृथक् है। कहीं वीणा और मृदंग है तो कहीं सूप और थाली बजा कर ही वाद्यध्वनि का काम लिया जाता है।

ग्रामीण जनता नृत्य के अनुरूप गीतों की और नृत्य एवं गीतों के अनुरूप वाद्य-यंत्रों की योजना शताब्दियों से बनाती चली आ रही है। इसमें भी समय समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। ब्रज की रासलीला में हारमोनियम इस तथ्य का प्रमाण है कि इसका प्रयोग हरमोनियम के आविष्कार के उपरान्त ही हुआ होगा।

लोक-नाट्य में गाथाओं का उपयोग चिरकाल से होता आ रहा है। लोक-नाट्य में नृत्य और गाथा (गीत) को समान महत्व दिया जाता है। सम्भव है कि प्रारम्भ में नृत्य और गाथा का आविर्भाव पृथक्-पृथक् रूप में हुआ हो और कालान्तर में किसी मेधावी कलाकार ने दोनों को संयुक्त कर लोकनाट्य परम्परा को विकासोन्मुख बनाया हो। विद्वानों का कथन है कि "प्राचीन साहित्य में जिन गाथाओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर पाया जाता है वे ही लोक-गीत की पूर्व प्रतिनिधि हैं।" गीत के अर्थ में गाथा शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी पाया जाता है 'इन्द्रमिद् गाथिनो बृहद्'[1] 'करावइन्द्रस्य गाथया'[2] इसका प्रमाण है। अर्थात् ऋग्वेद में जहाँ दैवी ऋचाओं का उल्लेख मिलता है वहाँ मानुषी गाथाओं का भी संकेत पाया जाता है। "गाथाओं की उत्पत्ति में मनुष्य का उद्योग ही प्रधान कारण होता था।"

ब्राह्मण ग्रन्थों से भी यही तथ्य प्रमाणित होता है कि गाथाएँ जिस उद्देश्य से व्यवहृत होती थीं वह मन्त्रों के उद्देश्य से भिन्न थे। किसी विशिष्ट राजा के किसी अवदान—सत्कृत्य—को लक्षित कर जो गीत लोक समाज में प्रचलित रूप से गाए जाते थे वे ही 'गाथा' नाम से साहित्य का एक पृथक् अंग बन गये। 'शतपथ ब्राह्मण' (१३।५।४) और ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसी गाथाओं का विवरण पाया जाता है। जनमेजय की प्रशंसा में एक गाथा इस प्रकार है—

आसीन्दीवति धान्याद रुक्मिण हरितस्रजम्।
अश्व बवन्ध सारङ्ग देवेभ्यो जनमेजय ।।

इसी प्रकार दुष्यन्त पुत्र भरत के विषय में एक गाथा इस प्रकार है—

हिरण्येन परीवृतान् शुल्कान् कृष्णदत्तो मृगान्।
मष्णारे भरतोऽददाच्छत बद्धानि सपृच ।।

गाथा की यह परम्परा महाभारत से होते हुए श्री मद्भागवत तक चली आई। विद्वानों का अनुमान है कि इन गाथाओं की एक परम्परा तो राजसूय जैसे धार्मिक कृत्यों के माध्यम से विकसित होती रही और दूसरी विवाह सीमन्तोन्नयन आदि लौकिक कृत्यों में पल्लवित होती गई। इस परम्परा का विकास संस्कृत की अपेक्षा पाली और प्राकृत भाषाओं में अधिक हुआ और विक्रम की तीसरी शताब्दी तक आते-आते 'हाल' की गाथा सप्तशती लोक-जीवन में विशिष्ट स्थान पाने लगी। इन गाथाओं से जनप्रिय लोक गीतों का एक स्वरूप झलकने लगता है। गीतों की यह शैली जयदेव तक पहुँचते पहुँचते एक नए रूप में विकसित हो उठी जिसमें धार्मिकता और लौकिकता का अद्भुत सम्मिश्रण हो गया और जो अपनी सरसता से योगियों का भी भक्तिरस निमग्न करने में समर्थ हुई। अपभ्रंश में इस शैली का पूर्ण विकास पाना स्वाभाविक था। जयदेव की रसधारा में सराबोर साधु महात्माओं की एक बड़ी मंडली व्रज की पावन भूमि में

१. ऋग्वेद १।७।१।
२. ऋग्वेद ८।२२।१०।

स्थान-स्थान पर बस गई और भक्ति भाव भरी नृत्य संगीत संयुक्त काव्यधारा में भवताप तापित लक्षलक्ष जनता को अवगाहन कराकर शान्ति प्रदान करती रही।

'भग विजया-काल' में व्यवस्थित रासक मंडली का व्यवसाय पुनरुज्जीवित हो हो उठा। भक्त जनता ने अभिनेताओं की चरण वन्दना की। सूत्रधार श्रद्धा का भाजन बना और उसकी रास मंडली की आवश्यकता पूर्ति का भार समाज ने अपने ऊपर धारण किया। ब्रजभूमि में कृष्ण का वेणु वादन पुनः सुनाई पड़ने लगा। उनकी झाँकी देखने के लिए उत्सुक यात्री सहस्रों कोसों का भयावह मार्ग पार करने में प्राणों की भी परवाह न करते। देश के आपत्तिकाल में ब्रज में प्रचलित रासलीलाओं से बड़ा सहारा मिला। विपत्ति के गोवर्धन को जनता जनार्दन ने साहस की उँगली पर उठा लिया। इस प्रकार जनता को आश्वासन देने वाले महात्माओं में सूरदास, नन्ददास, कृष्णदास प्रभृति अष्टछाप के कवियों एवं हित हरिवंश, ध्रुवदास, चाचा वृन्दावन दास जैसे रास रचयिता साधु कवियों का बड़ा हाथ रहा।

इन रासलीलाओं में नृत्य संगीत एवं काव्य का महत्त्व तो है ही पर इनमें इनसे भी महत्तर एक विशेषता और पाई जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद ने ठीक ही कहा है कि 'इनका समस्त महत्त्व इनके काव्य-सौंदर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है, एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन, जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई थी या गलत समझ ली गई थी।

यह एक निर्भ्रान्त सिद्धान्त है कि इस युग में किसी भी देश की राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण विकास तब तक सम्भव नहीं जब तक वहाँ के लोक-साहित्य लोक नृत्य एवं लोक-नाट्यों की महत्ता स्वीकार न की जाय और उनमें अन्तर्निहित प्राणवन्त एवं प्रेरणा प्रद तत्त्वों का उचित मूल्यांकन न कर लिया जाय, इसी कारण ब्रज की लोक नाट्य परम्परा के मूल्यांकन की बड़ी आवश्यकता है और जो शोधार्थी इस पवित्र कार्य में योग दे रहे हैं वे साधुवाद के अधिकारी हैं।

ब्रजमंडल की सीमा

विचारणीय यह है कि रासलीला जिस ब्रजमंडल में प्रथम प्रादुर्भूत हुई उसकी सीमा क्या थी!

ब्रजमंडल की सीमा के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है 'व्रजगतौ' के अनुसार ब्रज शब्द का अर्थ है 'जाना'। ऋग्वेद में यह शब्द ढोरों के समूह के अर्थ में प्रयुक्त होता था। अमरकोष में समूह वाचक शब्दों की सूची में इसका प्रयोग इस प्रकार हुआ—

'समूहो निवह-व्यूह सन्दोह-विसर-व्रजा।

ऋग्वेद संहिता में ढोरों के वासस्थान के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है—

अभि व्रजं न तत्निषे सूर उपाक चक्षस। यदिद्र मृडयासि नः।

पंचमस्याष्टमे त्रयोदशो वर्ग: २१ मंत्र।

अर्थात् हे इन्द्र! आप हमें सुख दो और हमारे व्रज (गोष्ठ) को गौओं से भर दो। हरिवंशादि पुराणों में इसका प्रयोग गोष्ठ विशेष मथुरा के निकट नद या व्रज—के अर्थ में हुआ है।

कालान्तर में इसका अर्थ और भी व्यापक हो गया और जितना भूभाग गौओं के चरने के लिए छोड़ दिया जाता था वह व्रज कहलाने लगा। आगे चल कर इसका अर्थ और भी व्यापक होगया और जितने भूभाग में गोचारण विशेष रूप से होता था वह व्रजमंडल नाम से पुकारा गया। इसी उद्देश्य से व्रज की व्याख्या इस प्रकार हुई—

'व्रजन्ति गावो यस्मिन्निति व्रज.'

अर्थात् गायें जिस प्रदेश में घूमती रहती हों वह व्रज कहलाता है। श्री मद्भागवत् में इस शब्द का प्रयोग व्रज देश के अर्थ में हुआ है—

कृष्ण जन्म के समय व्रज देश स्वच्छ किया गया था और सर्वत्र छिड़काव हुआ था विप्र, सूत, मागध, आदि वन्दी सुमंगल वाणी का उच्चार करने लगे।

"सौमङ्गल्य गिरो विप्रा सूत मागध वन्दिन. ।
गायकाश्च जगुर्नेदुर्भेर्यो दुन्दुभयो मुहु ॥५॥
व्रज सम्मृष्ट संसिक्त द्वाराजिर गृहान्तर. ।
चित्र ध्वज पताकास्रक् चैल पल्लव तोरणै ॥६॥

इससे सिद्ध होता है कि वैदिक काल का गोष्ठ अर्थ का सूचक व्रज भागवत् काल में देश के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। व्रज प्रदेश की सीमा का समय-समय पर विस्तार और सकोच भी होता रहा। मथुरा नगरी व्रज देश की राजधानी थी और ज्यों-ज्यों यह राज्य विस्तृत होता जाता था त्यों-त्यों व्रज देश की सीमा विस्तृत होती जाती थी। प्रमाण यह है कि कभी तो व्रजमडल केवल ८४ कोस का माना जाता था और कभी-कभी ८३३ मील से अधिक इसकी परिधि मानी जाती थी। 'एंशेंट ज्यागरफी आफ इंडिया' में कनिंघम ने ह्वेनसाग के आधार पर इसकी सीमा इस प्रकार नियत की—

'सातवी शताब्दी में' मथुरा का प्रसिद्ध नगर एक विशाल राज्य की राजधानी था, जो परिधि में ५००० ली अथवा ८३३ मील बताया गया है। यदि यह अनुमान ठीक है तो प्रान्त में न केवल बैराट और अतरौली के जिलों का ही समस्त प्रदेश सम्मिलित होगा, वरन् इससे भी विशाल क्षेत्र आगरा से परे नरवर तक और श्योपुरी तक दक्षिण में चम्बल-सिन्ध नदी तक पूर्व में, इन सीमाओं के भीतर प्रान्त की परिधि सीधी नाप से ६५० मील है, अथवा सडक की नाप से ७५० मील से ऊपर है। इसमें भरतपुर, किरावली तथा धौलपुर की छोटी रियासतें और ग्वालियर राज्य के उत्तरार्द्ध के साथ मथुरा का जिला सम्मिलित है। पूर्व में इसकी सीमा पर जिझौती राज्य होगा।"

इस प्रकार व्रज की नाट्यकला का अर्थ हुआ व्रज में खेले जाने वाले नाटकों की कला। व्रजभाषा और व्रजबुली में जो नाट्य साहित्य विरचित हुआ उसका उद्देश्य सम्पूर्ण उत्तर और आन्ध्र आदि प्रदेशों में वैष्णव धर्म का सन्देश देना था। उसने भाषा और प्रदेश की सीमाओं का उल्लघन किया। आसाम में शंकरदेव, माधवदेव, गोपाल अता आदि महात्माओं ने लोक नाट्य परम्परा में दर्जनों नाटक विरचित किए। उनके अभिनय में उन लोगों ने स्वत भाग लिया और भाषा का प्रश्न देश में कभी उठने नहीं

दिया। राष्ट्र भाषा का यदि कोई रूप इस प्रकार मध्यकाल में माना जा सकता है तो वह ब्रज भाषा और ब्रजबुली ही है।

इस लेख को केवल आधुनिक ब्रज प्रदेश में प्रचलित लोक नाट्य तक ही सीमित किया जायगा। ब्रज-प्रदेश में रासलीला का सबसे अधिक प्रचलन रहा है। शताब्दियों से भारत के कोने-कोने से तीर्थयात्री मथुरा वृन्दावन का दर्शन करने आते रहे। उनकी तीर्थयात्रा तब तक पूर्ण नही मानी जाती जब तक वे लोग मन्दिर में राधाकृष्ण की झाँकी के साथ-साथ रासलीला में साक्षात् राधाकृष्ण की झाँकी न देख लें। इस धार्मिक भावना ने रासधारियों के रास व्यवसाय को पल्लवित किया। समय-समय पर सिद्ध महात्माओं ने विविध रासों की रचना की। सूरदास विरचित रासलीला के पद अब तक बड़े उत्साह से गाए जाते हैं। हित हरिवंश संस्कृत के पंडित थे। पर उन्होंने भी संस्कृत के साथ-साथ ब्रजभाषा में रास के पदों की रचना की जिन्हें रासधारी आज भी गाते हैं। नन्ददास की रास पंचाध्यायी किसी समय विद्वत् समाज में सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती थी।

पिछले खेवे में जिन महात्माओं ने रासलीला-पदों का सृजन किया उनमें चाचा वृन्दावन दास, श्री दामोदर स्वामी, श्री वंशी अली जी आदि का प्रमुख स्थान है। चाचा वृन्दावन दास की रचनाओं में नाटकीयता के साथ-साथ उच्चकोटि की साहित्यिकता है। ब्रजभाषा पर उनका बड़ा अधिकार था। उनके पद रस से सराबोर हैं। उनकी ४२ लीलायें तो प्रकाशित हो चुकी हैं। उन लीलाओं की कथावस्तु में एक प्रकार का आरोह अवरोह पाया जाता है। और कहीं-कहीं पाठक और दर्शन में घटना विशेष का परिणाम जानने की उत्कंठा चरम सीमा तक पहुँच जाती है। गौनेवारी लीला, सुनारिन लीला, मालिन लीला बिसातिन लीला, पटविन लीला, रँगरेजन लीला, तमोलिन लीला, नाइनि लीला, वैदनि लीला, नटविन लीला, बीनावारी लीला, ढाढ़िन लीला, गन्धिन लीला, ब्रह्मचारी लीला, जोगिनि लीला आदि उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएँ हैं। इन रचनाओं के आधार पर शताब्दियों से शताधिक रास मंडलियाँ ब्रज में ही नहीं समस्त उत्तर भारत में रासलीला का अभिनय करती फिरती हैं।

स्वाँग और भगत गीति नाट्य

ब्रजभूमि में होली, रसिया, जिकड़ी के भजन, ढोला भी गाये जाते हैं। 'ख्याल' की परम्परा ब्रज की, एक बड़ी विशेषता है। ख्याल' में नागरिक रुचि का भी आभास मिलता है। इसकी विशेष शैली में आलंकारिकता का बड़ा महत्त्व है। डा० सत्येन्द्र ने ठीक ही लिखा है 'नफासत' और नाजुकबयानी का दामन थामे ये 'ख्याल' लिखे जाते हैं। 'ख्याल' का उपलब्ध सामग्री से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गाँवों में निवास करते हुए भी नागरिक जीवन के प्रशंसक और अपने को सुसंस्कृत मानने वाले व्यक्तियों को 'ख्याल' में अन्य ग्राम्यसाहित्य की अपेक्षा अधिक आनन्द आता है। अत. अपने को विद्वान् और सभ्य समझने वाले ग्राम निवासी सज्जन इस प्रकार के साहित्य में विशेष रुचि रखते हैं। जब इन 'ख्यालों' का प्रयोग अभिनय के साथ होता है तो वे लोक नाट्य की कोटि में आ जाते हैं।

स्वांग और भगत

ब्रज लोक नाट्य का वरिष्ठ और समृद्ध साहित्य, स्वांग और भगत के रूप में उपलब्ध है। विगत सौ वर्षों में लोक नाट्य सम्बन्धी जितना साहित्य इस लोक शैली में विरचित हुआ है कदाचित् उतना साहित्य यक्षगान के अतिरिक्त और किसी अन्य नाट्यशैली में नहीं निर्मित हुआ होगा। इसका मूल कारण यह है कि ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी बोली, और रोहतक की पंजाबी बोली के माध्यम से सैकड़ों रंगमंचों पर प्रतिदिन इन का अभिनय आज भी होता है और एक बड़ी संख्या में ग्रामीण जनता खुले मैदान में रङ्गमंच के चतुर्दिक रात रात भर बैठकर इन लोक नाट्यों का आनन्द लेती है। स्वांग का दूसरा नाम नौटंकी भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय नौटंकी नामक नायिका पर आधृत स्वांग इतना जनप्रिय हुआ कि जनता ने स्वांग का दूसरा नाम ही नौटंकी रख दिया।

जनता में समय समय पर नये तर्ज का स्वांग होता रहा है और मेधावी नाट्यकार प्राचीन परिपाटी में नवीनता लाते गए। इसी कारण यह परम्परा सदा नीर के समान निरन्तर नवीन विचारधारा लेकर चलती जा रही है और उसके प्रति जनरुचि कभी कम नहीं होती। स्वांगों में एक स्थल पर प्राय कहा जाता है।

चौरासी की साल।
नये तर्ज का स्वांग कथा विरचित ब्रह्मनारायन लाल"

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मनरायन लाल ने स्वांग की प्राचीन पद्धति में नवीनता का संचार किया। इस परम्परा को विकसित करने वालों में हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के कलाकारों ने योग दान दिया। हीगन खाँ उस्ताद अपने समय का प्रसिद्ध स्वांगकर्त्ता हो गया है। इसी परम्परा में, आधुनिक काल में नत्थामल नामक सांगी हुआ। नत्थामल के नाम पर स्वांग के दर्जनों काव्य मिलते है। इनके अतिरिक्त जगलिया, मदारी, गडपति, मोहरसिंह, सनेहीराम, नारायण, घासीराम, खिच्चो खुस्रो, गंगादास पसोली वासी आदि अनेक स्वांग रचयिता एवं गुरु (सूत्रधार) हो गए हैं। रोहतक की पद्धति में बाजेनाई, लख्मी चंद प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक धार्मिक सभी प्रकार के आख्यानो के आधार पर स्वांग खेले जाते हैं। ब्रजभूमि में जहाँ रामलीला और रासलीला मंडलियाँ पवित्र पर्वों के अवसर पर अभिनय दिखा कर धार्मिक भावना को जागृत करती है वहाँ स्वांग मंडलियाँ नामकरण विवाह आदि उल्लासमय अवसरो पर हास-परिहास एवं संगीत नृत्यमय नाटक दिखाकर जनसामान्य का मनोरंजन करती हैं। आजकल भी किसी गाँव में मंदिर या धर्मशाला, विद्यालय भवन या छात्रावास, कूप या सरोवर बनवाना हो तो गाँव वाले स्वांग मंडलियो के भोजनादि की व्यवस्था कर देते हैं और दूर दूर स्थित ग्रामीण जनता नाटक देखकर न्यौछावर प्रदान करते हुए दान पुण्य का अनुभव और साथ ही मनोरंजन का आनन्द भी उठाती है।

रामलीला

आज ब्रज की लोक संस्कृति के निर्माण में रामलीला का भी प्रमुख स्थान दिखाई पड़ता है पर रामलीला और स्वांग की अपेक्षा, लोक नाट्य परम्परा में रामलीला का प्रवेश सम्भवत: पीछे हुआ।

ब्रजभूमि में बूढ़ीलीला के नाम से रासलीला ही प्रसिद्ध है इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि रामलीला रामलीला के उपरान्त ही ब्रज में प्रचलित हुई होगी। अनुसन्धान कर्त्ताओं का मत है कि ब्रजभूमि में मुगल काल में रामलीला के अस्तित्व का कोई प्रमाण नही मिलता। "जनश्रुति के अनुसार अब से लगभग १५० वर्ष पहले मथुरा में रामलीला का प्रारम हुआ।" ब्रज में सर्वत्र यह उक्ति प्रसिद्ध है कि सन् १८०३ ई० में जब अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत ब्रजभूमि पूरी तरह आ गई तो मथुरा में एक 'पुरबिया पल्टन' नियुक्त हुई। पूरब में प्रचलित रामलीला का ब्रज में अभाव देखकर सिपाहियों को बड़ा दुख हुआ और उन्होंने विजय-दशमी के अवसर पर अपने गांव के आसपास की एक रामलीला मडली बुलाकर रामलीला मनाई। यह लीला इतनी जनप्रिय हुई कि बुढ़िया लीला के जोड़ पर उसका नाम नई लीला या छोटी लीला रखा गया। कालान्तर मे तमोलियो ने पुरानी कोतवाली के पास एक दूसरी रामलीला की व्यवस्था की। इस प्रकार दो स्थानो पर रामलीला होने लगी। तमोलियो की लीला प्रति वर्ष १८ दिन तक होती रही।

तमोली लीला को प्रसिद्धि देखकर मथुरा के छीपियो ने भी पृथक् रूप में रामलीला का आयोजन किया। छीपियो का समाज प्रति वर्ष धन सग्रह करके आश्विन शुक्ल त्रयोदशी को रामलीला प्रारम्भ करता है और कार्त्तिक कृष्णा द्वादशी को समाप्त करता है। इन लोगो ने मथुरा गौघाट को अपनी लीला के लिए उपयुक्त स्थान चुना है। है। विजय-दशमी के उपरान्त इस लीला का होना इस तथ्य का प्रमाण है कि तमोली और छीपी वर्ग में कभी स्पर्धा हुई होगी और दोनो ने अपने अपने समाज में धन सग्रह करके अपनी अपनी व्यवस्था पृथक् रूप से बनाई होगी।

१५० वर्षों में रामलीला ब्रजभूमि में इतनी जनप्रिय हो गई है कि कतिपय मडलियां ब्रज भूमि से बाहर जाकर भी व्यावसायिक रूप में रामलीलायें करने लगी है। रासलीला के समान ही रामलीला ने भी यद्यपि व्यवसाय का रूप धारण कर लिया है तथापि ब्रजभूमि में होने वाली रामलीलाओ में स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ बुद्धि ही अधिक प्रबल है जिस प्रकार रासलीला मडलियाँ विशेष परिवारो में कई पीढियो से कृष्ण जीवन का अभिनय करती आ रही हैं उसी प्रकार कई ब्राह्मण परिवार परम्परा से रामलीला का ही अभ्यास करते आ रहे हैं। कहा जाता है कि मथुरा में राधाकृष्ण नामक सनाढ्य ब्राह्मण ने रामलीला का प्रथम सचालन किया था और उनके उपरान्त लल्लोजी, बाबा बद्रीदास, गिरिराजदत्त आदि महानुभावों ने रामलीला का सूत्र सचालन किया।

ब्रज वासियो में रासलीला की अभिरुचि देखकर अयोध्या के कतिपय महात्माओं ने ब्रज मे निवास किया और जनता की सहायता से ब्रजभूमि में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानो

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी—ब्रज में राम कथा का अभिनय—पृ० ८४३।

पर रामलीला की व्यवस्था की। उन महात्माओं के प्रयास और पल्टन वालों की प्रेरणा से रामलीला करने वाली कई संस्थाओं का आविर्भाव हो गया। कहीं-कहीं तो धनीमानी व्यक्तियों ने स्वयं ही व्ययभार उठाने की कृपा की किन्तु अन्यत्र सार्वजनिक चन्दा एकत्रित करके समितियाँ बना ली गई जो लीला की व्यवस्था करती हैं। कहीं-कहीं तो मंदिरों में रामलीला के नाम पर प्रति दिन थोड़ा-थोड़ा धन एकत्रित किया जाता है जो वार्षिक रामलीला के प्रबन्ध के लिए पर्याप्त होता है। एुजां में यह पद्धति आज तक प्रचलित है।

ब्रज में रामलीला की मुख्यतः दो शैलियाँ पाई जाती हैं एक पर भगत शैली का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है, दूसरे पर रासलीला का। दोनों शैलियों में स्वरूपों के अतिरिक्त संगीत मंडली पाई जाती हैं किन्तु अन्तर इतना ही है कि जहाँ भगत पद्धति में 'स्वरूप' द्वारा दोहा चौपाई का सस्वर संवाद होता है जिसकी व्याख्या संगीत मंडली का पंडित वर्ग करता है वहाँ मथुरा पद्धति में संगीत मंडली के विद्वान् दोहा चौपाई का सस्वर पाठ करते हैं और व्याख्या तथा कथोपकथन स्वरूपों द्वारा होता है। पूरबी जिलों में रामलीला की दूसरी शैली ही अधिक प्रचलित है। वाराणसी और रामनगर में संगीत मंडली प्रथम गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण से संवाद का गान करती है तदुपरान्त 'स्वरूप' कथोपकथन कहीं पद्य में और कहीं गद्य में वर्णन करते जाते हैं।

ब्रज में कहीं १८ दिन तक लीला होती है और कहीं ४० दिन का कार्यक्रम होता है। वृन्दावन में उड़िया बाबा के आश्रम, परमहंस आश्रम, रंगजी के मंदिर और कलाधारी के स्थान पर ४० दिन तक रामलीला होती रहती है। वृन्दावन के अतिरिक्त गोवर्धन, राधाकुंड और कामवन में भी रामलीला होती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्रज संस्कृति के निर्माण में लोकनाट्यों का विशेष महत्त्व रहा है। इन लोक नाट्यों में रासलीला और स्वाँग का मुख्य और रामलीला का गौण स्थान है। कृष्ण की लीला भूमि में कृष्ण लीला का प्रमुख स्थान स्वाभाविक ही है। स्वाँग भगत या नौटंकी का अपना आकर्षण है जिससे परिश्रमी ग्रामीण जनता का मनोविनोद होता है। साथ ही साथ व्रज की संस्कृति के निर्माण में इनका बड़ा योग दान रहा है। शताब्दियों तक अनेक आँधी तूफानों के मध्य में भी विकासोन्मुख ये लोकनाट्य परम्परायें व्रज संस्कृति का अभिन्न अङ्ग बन गई हैं और इनमें जन जीवन को सुखी बनाने के ऐसे अंकुर विद्यमान हैं जिन को पल्लवित करने से राष्ट्रहित में बड़ी सहायता मिल सकती है। आल इंडिया रेडियो के प्रयास से इन लोक नाट्यों में उत्तरोत्तर सुधार और विकास हो रहा है। आशा है कि व्रज निवासी लोकनाट्य-शैलियों में देशकाल के अनुसार परिवर्त्तन परिवर्द्धन करते हुए इन्हें देशोपयोगी बनाने में समर्थ होंगे।

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी

ब्रज का प्राचीन स्थापत्य

भारतीय स्थापत्य के इतिहास में ब्रज का अपना स्थान है। प्राचीन ब्रज के केन्द्र मथुरा नगर में वास्तु-कला के विविध रूपों का पता चला है। मथुरा और उसके आस-पास से प्राचीन इमारतों के जो भग्नावशेष मिले हैं, उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि यहाँ भागवत, शैव, जैन और बौद्ध धर्मों से सम्बन्धित अनेक इमारतें समय-समय पर बनीं।

पुराण ग्रंथों, वाल्मीकि-रामायण आदि में मधु नामक असुर का उल्लेख मिलता है। इस असुर के द्वारा मधुपुरी नामक नगरी बसाई गई। वर्तमान मथुरा नगर से तीन मील दूर 'महोली' नामक स्थान उस नगरी की स्मृति आज भी संजोए हुए है। असुर लोग नगर-निर्माण की कला में बहुत प्रवीण थे। मय नामक असुर का नाम बहुत प्रसिद्ध है, जो विविध प्रकार के भवनों के निर्माण में अत्यन्त कुशल था। सम्भव है कि मधु और उसके पुत्र लवण के समय में मधुपुरी में अनेक भव्य इमारतें रही हों। शत्रुघ्न के द्वारा लवणासुर की पराजय के बाद नगरी को नये सिरे से बसाया गया।

आगरा जिले का वर्तमान बटेश्वर गाँव भी ब्रज के बहुत प्राचीन स्थानों में से है। यह यादववंशी शूरसेन का नगर माना जाता है। जैन-अनुश्रुतियों में भी इस स्थान की महत्ता मिलती है। यहाँ पर जो इमारतें इस समय बची हैं, वे प्राय पूर्व-मध्यकाल की हैं, परन्तु इसके बहुत पहले यहाँ अनेक बड़ी इमारतें रही होंगी।

जैन तथा बौद्ध धर्मों का जब उत्तर भारत में प्रसार प्रारम्भ हुआ, तब मथुरा को भी दोनों धर्मों का एक प्रमुख केन्द्र बनने का अवसर प्राप्त हुआ। मथुरा नगर के कंकाली टीला नामक स्थान से प्राप्त एक मूर्ति की चौकी पर द्वितीय शती का एक ब्राह्मी लेख खुदा है। उससे पता चला है कि इस समय के पूर्व यहाँ एक बड़े जैन-स्तूप का निर्माण हुआ था। लेख में इसका नाम 'वोद्व-स्तूप' दिया है। उसकी निर्माण-कला इतनी उत्कृष्ट थी कि लेख में उसे देवताओं द्वारा निर्मित कहा गया है। इस स्तूप के निर्माण के बाद मथुरा नगर और उसके आस-पास अनेक जैन और बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। मौर्य सम्राट अशोक तथा शक-कुषाण शासकों के राज्य-काल में यहाँ अनेक स्तूपों तथा विहारों का निर्माण हुआ। चीनी यात्री फाह्यान तथा हुएन-सांग ने अपने समय में अवशिष्ट इन इमारतों का वर्णन किया है। मथुरा से प्राप्त शिलालेखों से भी अनेक स्तूपों तथा विहारों के निर्माण का पता चला है।
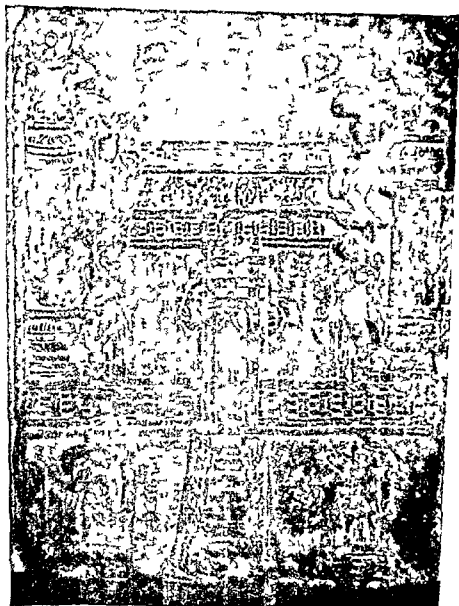
ई० प्रथम शती में निर्मित—जैन स्तूप की आकृति सोपान, वेदिका तथा तोरण द्वार के अतिरिक्त गोल भजिका प्रतिमाओं तथा गगनचारी देवों का अंकन दर्शनीय है।

(मथुरा संग्रहालय।)

ब्रज के प्राचीन बौद्ध एवं जैन स्तूप ईंट और पत्थर के बने हुए थे। इनमें सबसे नीचे एक चौकोर आधार बनाया जाता था। उसके ऊपर प्रायः गोलाकार रचना (अंड) होती थी। शीर्ष पर दंड (यष्टि) के सहारे छत्र रहता था। कभी-कभी छत्रों की संख्या कई होती थी। स्तूप का बाहरी भाग विविध भाँति के उत्कीर्ण शिला-पट्टों से सजाया जाता था, जिसे वेदिका कहते थे। इसमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर खड़े खम्भे आड़े पत्थरों (सूची) द्वारा जोड़े जाते थे। खम्भों के सिरों पर जो पत्थर रखे जाते थे वे उष्णीष या 'मूर्धन्य पाषाण' कहलाते थे। वेष्टनी या वेदिका के ये सभी पत्थर विविध भाँति की उकेरी हुई मूर्तियों और अलंकरणों से युक्त होते थे। भीतर जाने-आने के लिये वेदिका में प्रायः चारों दिशाओं में एक-एक तोरण (द्वार) बना रहता था।

बौद्धस्तूप के चारों ओर बनी वेदिका के दो स्तंभ जो बीच में तकिया से जुड़े हैं। स्तंभों पर बौनों के ऊपर आकर्षक मुद्रा में खड़ी यक्षियों की प्रतिमाएँ हैं। कुषाण काल।
(मथुरा संग्रहालय)

स्तूपों में तीर्थंकरों या भगवान् बुद्ध अथवा उनके प्रमुख शिष्यों के पवित्र अवशेष (हड्डी, राख, नख, बाल आदि) रखे जाते थे। जब बुद्ध का देहावसान (निर्वाण) हुआ

तब उनके अवशेषों को आठ भागों में विभक्त किया गया और प्रत्येक के ऊपर एक स्तूप की रचना की गई। इसके बाद स्तूप-निर्माण की परम्परा जारी रही। सम्राट् अशोक के लिये कहा जाता है कि उसने भारत के विभिन्न स्थानों पर ८४००० स्तूपों का निर्माण कराया। प्रसिद्ध है कि उसने मथुरा में कई बड़े स्तूप बनवाये। इनमें से तीन का उल्लेख चीनी यात्री हुएन-सांग ने किया है। इस यात्री ने बुद्ध भगवान् के साथियों के अवशेषों पर निर्मित स्तूपों की भी चर्चा की है। अशोक और उसके बाद निर्मित कुछ भग्नावशिष्ट स्तूप सांची, तक्षशिला, सारनाथ आदि स्थानों में विद्यमान हैं। इनमें कई तो बहुत विशाल हैं। मथुरा में समय-समय पर छोटे-बड़े जिन स्तूपों की रचना की गई, उनमें से कई के अवशेष उपलब्ध हुए हैं।

हिन्दू-मन्दिर

उपर्युक्त जैन तथा बौद्ध इमारतों के अतिरिक्त व्रज में हिंदू मन्दिरों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। इन मन्दिरों की निर्माण-शैली स्तूपों से भिन्न थी। स्तूपों की रचना पवित्र अवशेषों के ऊपर की जाती थी। वाल्मीकि-रामायण में सम्भवतः इसी कारण उनके लिये श्मशान-चैत्य नाम आया है। परन्तु मन्दिर को देवताओं के निवास-स्थान के रूप में माना जाता था। इसीलिये इन्हें 'देवालय' कहा जाता था।

मन्दिर के भीतर एक या अनेक देवों की मूर्तियों का होना तथा उनकी पूजा होना अनिवार्य माना जाता था। मन्दिर की रचना में शिखर का प्रदर्शन विशिष्टता का द्योतक माना जाने लगा। शिखर का यह भाव सुमेरु, त्रिकूट, कैलाश आदि पर्वतों से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। मन्दिर के बहिर्भाग को प्रायः विविध अलंकरणों तथा देव, यक्ष, किन्नर, अप्सरादि की प्रतिमाओं से सजाया जाता था। मथुरा में सम्भवतः जैनों तथा बौद्धों के स्तूपों का निर्माण मन्दिरों के बनने से पहले प्रारम्भ हुआ। यहाँ हिन्दुओं के सबसे प्राचीन जिस मन्दिर का उल्लेख मिला है वह राजा शोडास के राज्यकाल में निर्मित हुआ, ऐसा एक सिरदल पर उत्कीर्ण शिलालेख से ज्ञात हुआ है। इस लेख में लिखा है कि वासुदेव-कृष्ण का चतुःशाला मन्दिर, तोरण तथा वेदिका का निर्माण वसु नामक व्यक्ति के द्वारा महाक्षत्रप शोडास के शासन-काल में सम्पन्न हुआ। यह मन्दिर उस स्थान पर बनवाया गया जहाँ भगवान् कृष्ण का जन्म माना जाता है। हो सकता है कि इसके पहले श्रीकृष्ण का कोई मन्दिर मथुरा में रहा हो, पर उसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। अन्य हिंदू देवी-देवताओं की अनेक कुषाण-कालीन मूर्तियाँ व्रज में मिली हैं। सम्भव है कि उनमें से कुछ के मन्दिरों का निर्माण उस समय या उसके कुछ पहले प्रारम्भ हो गया था। मथुरा के मोरा नामक गाँव से प्राप्त एक लेख में वृष्णियों के पाँच महावीरों (कृष्ण, बलराम आदि) की पूजा का उल्लेख मिला है।

गुप्तकाल में मथुरा में हिन्दू मन्दिरों का निर्माण बड़ी संख्या में हुआ। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर 'परम भागवत' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासनकाल में एक भव्य मन्दिर की रचना की गई। चीनी यात्री हुएन-सांग ने अपने समय में मथुरा के अनेक हिन्दू-मन्दिरों के अस्तित्व का उल्लेख किया है, जिनमें बहुत से साधु पूजा करते थे।

दुर्भाग्य से मथुरा में प्राचीन स्थापत्य का कोई ऐसा समूचा उदाहरण आज नहीं बचा, जिससे हम धार्मिक इमारतों, प्रासादों या साधारण मकानों की निर्माण-शैली की

प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त कर सकते। इमारती पत्थरों एवं अन्य अवशेषों के रूप में थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध हुई है, जिसके आधार पर हम मथुरा की कुछ इमारतों की रूप-रेखा इस प्रकार दे सकते हैं ∠प्राचीन प्रासाद या बड़े मकान कई तलों के होते थे। मकानों में बैठक का कमरा, स्नानागार, भोजनगृह, शयनगृह, शृङ्गार कक्ष और अन्तःपुर प्रायः अलग-अलग होते थे। यथा-से ऊपर जाने के लिये जीने (सोपान मार्ग) होते थे, उनमें नीचे के स्थान खिड़कियाँ (गवाक्ष) भी होती थीं।
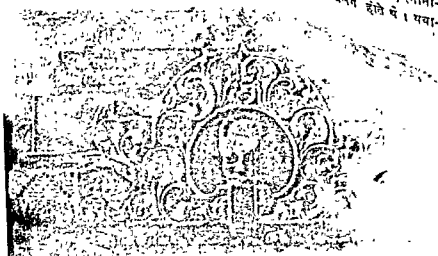
इमारती पत्थर जिस पर पत्रावली उत्खचित है। बीच में चैत्यगवाक्ष के मध्य अलंकृत केश विन्यास सहित स्त्री सिर है (गुप्तकाल) (मथुरा सं

मकानों में जो चौखट, दरवाजे, खम्भे आदि लगाये जाते थे, उन्हें लता-वृक्ष पक्षी, कमल, मंगलघट, कीर्तिमुख, स्वस्तिक आदि अलंकरणों तथा विविध देवी-यक्ष-किन्नरों, सुपर्ण-विद्याधरों आदि की प्रतिकृतियों से अलंकृत किया जाता था। ईं बनी इमारतों की बाहरी दीवालों पर अनेक प्रकार की बेल-बूटेदार ईंटें लगाई जाती जिन पर धार्मिक एवं लौकिक दृश्यों के कलात्मक चित्रण होते थे।

ग्यारहवीं शती के आरम्भ में मथुरा के विशाल मन्दिरों को बड़ी क्षति प महमूद गजनवी के मीर-मुन्शी-अल उत्बी के लेख से ज्ञात होता है कि उस समय में हिन्दू मन्दिरों की संख्या बहुत बड़ी थी। मथुरा को जीतने के बाद महमूद कितने ही मन्दिर धराशायी किए गए और उनकी मूर्तियाँ तोड़ी गईं। मन्दिर अपार सम्पत्ति लूटकर महमूद गजनी लौटा।

बारहवीं शताब्दी में मथुरा और उसके आस-पास अनेक बड़े मन्दिर थे, जिनका वि मुसलमान आक्रान्ताओं ने किया। इनमें राजा विजयपालदेव द्वारा ११५० ई० में श्रं जन्म स्थान पर बनवाया गया प्रसिद्ध केशव मन्दिर भी था। बारहवीं शती से लेकर मुगल सम्राट् अकबर के समय तक ब्रज में नए मन्दिरों का निर्माण नहीं के बराबर रहा। अकबर और जहाँगीर के समय में मथुरा-वृन्दावन में कुछ मन्दिर तथा अन्य इमारतें बनी, जिनमें से कई अब भी विद्यमान हैं। इनमें से मुख्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

मगल घट, कमल, मयूर, सिंह आदि अलकरणो से युक्त प्राचीन इमारती के खभे।
तीसरी चौथी शदी ई०

(मथुरा सग्रहालय)

१. मथुरा का सतीबुर्ज

यह ५५ फुट ऊँचा एक चौखड़ा बुर्ज है। जयपुर के राजा भारमल (बिहारीमल) की रानी इसी स्थान पर अपने मृत पति के साथ सती हुई थी। उनके लड़के राजा भगवानदास ने अपनी माता की स्मृति में सन् १५७४ ई० में इस स्मारक का निर्माण करवाया। इसका शिखर पहले अधिक ऊँचा था, पर औरंगजेब के समय ऊपरी भाग तुड़वा दिया गया।

२. गोविन्द देव मन्दिर

वृन्दावन के प्राचीन मन्दिरों में यह मन्दिर सर्वश्रेष्ठ है। कहा जाता है कि सम्राट् अकबर वृन्दावन आए तो वे इस पुण्य भूमि को देखकर बहुत प्रभावित हुए और उनकी अनुमति से यहाँ गोविंददेव आदि कई मन्दिरों का निर्माण कराया गया। कहते हैं इस कार्य में राजकीय कोष से भी कुछ सहायता दी गई। गोविन्ददेव मन्दिर का निर्माण कछवाहा नरेश मानसिंह ने अपने गुरु रूप और सनातन के आदेश से करवाया और औरंगजेब ने इस विशाल मन्दिर की ऊपरी बुर्जों तुड़वा दी। बाद में ऊपरी भाग की आंशिक मरम्मत कराई गई।

३ मदनमोहन मन्दिर

यह शिखराकार मन्दिर वृन्दावन में कालीदह घाट के पास है। इसकी भी निर्माण शैली बहुत सुंदर है। शिखर के ऊपर का आमलक अब तक सुरक्षित है।

४ गोपीनाथ मन्दिर

मदनमोहन के मन्दिर से इसकी बनावट बहुत मिलती-जुलती है।

५ राधावल्लभ मन्दिर

यह मन्दिर दिल्ली के सुन्दरदास कायस्थ द्वारा निर्मित हुआ। कुछ लोग सुन्दर-दास देव-वन निवासी मानते हैं।

६ जुगलकिशोर मन्दिर

यह केशीघाट के पास है। और अन्य प्राचीन मन्दिरों की [illegible] है। इसका भी शीर्ष (आमलक) सुरक्षित है। इस मन्दिर का [illegible] में हुआ।

७ हरदेव मन्दिर

यह मन्दिर कछवाहा राजा मानसिंह के द्वारा मथुरा से १४ मील पश्चिम [illegible]र्धन नगर में बनवाया गया था। सोलहवीं शताब्दी के स्थापत्य का यह अच्छा नमूना है।

सतीबुर्ज तथा उक्त मन्दिर लाल पत्थर के बने हुए हैं। इनकी रचना-शैली हिन्दू और मुगल स्थापत्य के सामंजस्य का सुन्दर उदाहरण है। महावन-कामवन आदि कति-पय अन्य स्थानों में भी गुप्त तथा मध्यकालीन मन्दिरों के कुछ खंडित अंश मिलते हैं। महावन में "चौरासी खंभा" वाला मन्दिर उल्लेखनीय है, जिसमें कलापूर्ण स्तंभ देखे जा सकते हैं।

ब्रज की उपर्युक्त इमारतों में गोविंददेव मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मथुरा में भगवान् कृष्ण के जन्म स्थान पर ओरछा के राजा वीरसिंहदेव द्वारा बनवाया हुआ केशवराय का मन्दिर इससे मिलता-जुलता रहा होगा। गोविंददेव मन्दिर की रचना-शैली का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—
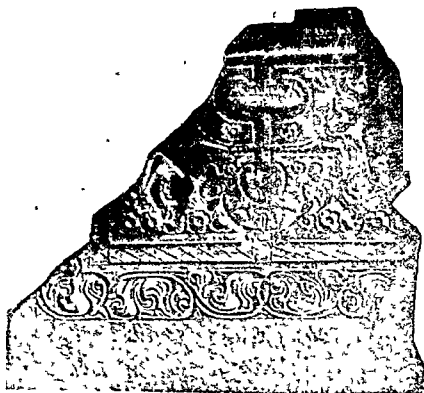
गुप्त कालीन तोरण का एक भाग, जिस पर अधिकारी
देवो, कीर्तिमुख तथा पत्रावली का आलेखन है। (मथुरा संग्रहालय)

यह मन्दिर १२ फुट ऊँची कुर्सी पर खड़ा है। इसकी वर्तमान लम्बाई २०० फुट और चौड़ाई १२० फुट है। मन्दिर लाल चित्तीदार पत्थर का बना है, जो ब्रज का मुख्य पत्थर है। इसका प्रवेशद्वार पूर्व की ओर है। बाहरी जगमोहन की लम्बाई ४० फुट है। जगमोहन के बाद रंग-मंडप है, जो ४० फुट लम्बा और १५ फुट चौड़ा है। इसके पीछे गर्भ-गृह है, जहाँ इस समय राधाकृष्ण की लघु प्रतिमाएँ विराजमान हैं। प्राचीन गर्भ-गृह इसके पीछे था। इस समय पूर्वी प्रवेशद्वार से लेकर गर्भगृह तक की लम्बाई ११७ फुट है। उत्तर से दक्षिण मंडप की कुल चौड़ाई १०५ फुट है। जब प्राचीन गर्भगृह रहा होगा तब पूर्व पश्चिम वाली भुजा लगभग १७५ फुट लम्बी रही होगी।

गोविंददेव मन्दिर का बाहरी रूप उत्तर भारत के मध्यकालीन कुछ मन्दिरों से मिलता-जुलता है। ग्वालियर किले में सास-बहू मन्दिर इसी ढंग का है। परन्तु खजु-

राहो के मन्दिर तथा उडीसा में भुवनेश्वर, कोणार्क आदि स्थानो के मन्दिर इससे भिन्न हैं। इन मन्दिरो में भीतर तथा बाहर विविध मूर्तियो का चित्रण बहुलता से मिलता है, परन्तु गोविंददेव तथा वृन्दावन के अन्य मुगलकालीन मन्दिरों मे ऐसा नही है। कमल, मगल-घट, कीर्तिमुख आदि अलकरण तो वृन्दावन के मन्दिरो में मिलते हैं। परन्तु उनमें देव या मानव प्रतिमाओ का प्राय: अभाव है। इसका प्रधान कारण विदेशी शासन का प्रभाव कहा जा सकता है। मुगलकाल तथा उसके पहले की इमारतो में स्थापत्य की जो विशेषताएँ थी, उनका प्रभाव तत्कालीन हिन्दू मन्दिरो पर पडना स्वाभाविक था। विशेषकर उन स्थानो के मन्दिरो पर जो विदेशी शासन के अतर्गत थे।
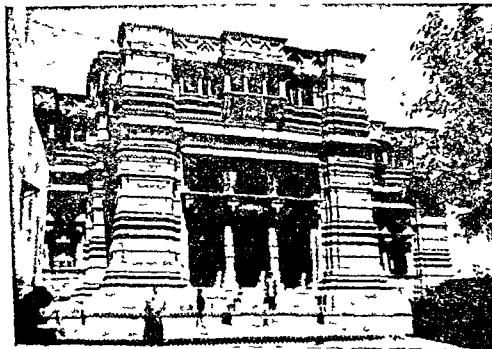
गोविंद देव का मंदिर, वृदावन

गोविन्ददेव के मन्दिर में गवाक्षो तथा मेहरावो का कटाव दर्शनीय है। पत्थर के प्रत्येक टुकडे पर बारीक कारीगरी देखने को मिलती है। मन्दिर की छत बहुत ऊँची है। वह कमानीदार पत्थरो से बनाई गई है। नुकीली डाटो से सुसज्जित उसका गुबज अत्यन्त कलापूर्ण है। गुबज की गोलाई और सुधरता देखते ही बनती है। इस प्रकार के गुबज मुगल कालीन हिदू इमारतो में बहुत कम मिलते हैं। मन्दिर के छोटे-बडे सभी अवयव सतुलित हैं कही भी भाडापन नही दिखाई देता। मन्दिर की दीवालें १० फुट मोटी हैं। जोडदार खम्भे यथास्थान खडे हैं। यह विशाल और दृढ मन्दिर मुगलकालीन भारतीय कारीगरों की दक्षता का एक जीता-जागता प्रमाण है।

इस मन्दिर में सौभाग्य से चार नागरी लेख सुरक्षित हैं। इनमें से तीन तो संस्कृत में हैं। पहले लेख से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकबर के चौंतीसवें राज्य वर्ष (१५९० ई०) में आमेर के महाराजा मानसिंह ने गोविंददेव के मन्दिर का निर्माण कराया। मन्दिर निर्माण के प्रमुख निरीक्षक का नाम कल्याणदास, सहायक का नाम मानिकचंद तथा मुख्य कारीगरों गोविंददास तथा गोरखदास के नाम दिये हैं। चौथा लेख हिंदी में लिखा है और मन्दिर के पश्चिमोत्तर कोने पर बनी हुई छतरी पर उत्कीर्ण है। इससे पता चलता है कि शाहजहाँ के शासन काल में संवत् १६९३ (१६३६ ई०) में मेवाड़ के राणा अमरसिंह की पुत्र-वधू रामावती ने गोविंददेव मन्दिर की बगल में चौखंडी छतरी का निर्माण कराया।

अकबर के समय में गोविंददेव मन्दिर के अतिरिक्त ब्रज में अन्य अनेक इमारतें बनीं। अकबर ने आगरा का प्रसिद्ध लाल किला बनवाया। उसने आगरा से २४ मील दूर फतेहपुर सीकरी में राजधानी का निर्माण कराया। वहाँ जो इमारतें सुरक्षित हैं उनमें भारत तथा ईरान की स्थापत्य शैलियों का अच्छा समन्वय देखने को मिलता है। यहाँ की जामा मस्जिद अपने ढंग की अनोखी इमारत है। इसका अलंकृत पूजागृह-विशाल प्रांगण तथा प्रवेशद्वार अकबर कालीन वास्तुकला के सुन्दर उदाहरण हैं। इस मस्जिद के बड़े प्रांगण में अकबर के धर्म गुरु शेख चिश्ती की दरगाह स्वच्छ संगमरमर की बनी है। इसमें अलंकरणों का प्रयोग अत्यन्त सुरुचिपूर्ण है। जोधाबाई का महल पश्चिमी भारत के मन्दिरों की याद दिलाता है। इसके निर्माता सम्भवतः गुजरात के हिन्दू कलाकार थे। फतेहपुर का बुलंद दरवाजा १४३ फुट ऊंचा है। दीवान-ए खास, तुर्की सुलताना का महल, बीरबल का भवन आदि अन्य उल्लेखनीय इमारतें सीकरी में हैं। इन्हें देखने से पता चलता है कि इमारतों में स्थायित्व सौंदर्य तथा संतुलन की ओर अकबर का कितना अधिक ध्यान था।

अकबर द्वारा बनवाई गई इमारतें प्रायः लाल पत्थर की बनी हैं, जो आगरा सीकरी और उसके आस पास अधिकता से मिलता है। सफेद संगमरमर का भी प्रयोग कहीं कहीं किया गया है। उनके समय की अधिकांश इमारतों के गुम्बद लोदी इमारतों की तरह खोखले मिलते हैं। खम्भों में कई पहलू हैं तथा उन पर के शीर्ष ब्रैकेट नुमा होते हैं। इमारतों के अलंकरणों में गहरी नक्काशी और पारदर्शी गवाक्ष उल्लेखनीय हैं। भीतरी दीवालें और छतें सुनहले तथा दूसरे रंगों से रंगी मिलती हैं।

जहाँगीर के समय (१६०५–२७ ई०) में भी कई इमारतें बनीं, जिनमें आगरा के पास अकबर का तिमंजिला मकबरा तथा एतमदुद्दौला का मकबरा विशेष उल्लेखनीय है। इस काल में संगमरमर का प्रयोग बढ़ा और भड़कीले रंगों तथा पच्चीकारी को भी महत्त्व दिया गया। अब स्थापत्य के भारतीय उपकरणों के स्थानपर ईरानी सजावट की चीजों का बाहुल्य मिलने लगता है। जहाँगीर ने स्थापत्य से अधिक चित्रकला की ओर ध्यान दिया। उसके समय में शबीह चित्रकारी की बड़ी उन्नति हुई।

शाहजहाँ का शासन काल (१६२७–५८ ई०) तक इमारतों के निर्माण के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसी समय संसार प्रसिद्ध ताजमहल का निर्माण आगरे में

हुआ। ताजमहल के अतिरिक्त शाहजहाँ ने अन्य कितनी ही इमारतें आगरा, दिल्ली, लाहौर, अजमेर, श्रीनगर आदि में बनवाईं, जो वास्तुकला की विख्यात कृतियाँ हैं। इन कृतियों में जैसा सौंदर्य और निखार मिलता है, वैसा पहले की इमारतों में दुर्लभ है। अकबरकालीन इमारतों की विशालता और दृढ़ता की जगह अब कोमलता और सुंदरता ने ग्रहण की। लाल पत्थर का स्थान अब रंग-बिरंगे संगमरमर ने ले लिया। पहले की सादी मेहराब के स्थान पर शाहजहाँ ने नौ कटाव वाली मेहराब को चालू किया। उसके समय की गुम्बज, जाली के कटाव तथा रंगों में ईरानी कला का प्रभाव अधिक मिलता है। खम्भों पर सपत्र घट मिलते हैं और कहीं-कहीं दो-दो खम्भे (स्तंभ-युग्म) का एक साथ प्रयोग मिलता है। संगमरमर पर अनेक रंगीन पत्थरों का जड़ाव तथा विभिन्न पत्रावलियों का उकेरना भी इस काल की विशेषता थी।

शाहजहाँ के बाद औरंगजेब (१६५८-१७०७ ई०) तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में स्थापत्य और अन्य ललित कलाओं का ह्रास हुआ। उनके शासन-काल में आगरा तथा उत्तर प्रदेश के अन्य स्थानों में पहले जैसी उल्लेखनीय इमारतों का निर्माण नहीं हुआ। औरंगजेब के समय में मथुरा, काशी आदि स्थानों में हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर उनकी जगह मस्जिदें बनाई गईं।

औरंगजेब के समय मथुरा में दो उल्लेखनीय मस्जिदों का निर्माण हुआ—एक श्रीकृष्ण जन्मस्थान पर केशवराय मन्दिर के भग्नावशेषों पर लाल मस्जिद और दूसरी चौक बाजार में अब्दुन्नबी की मस्जिद। पहली का निर्माण १६७०-७१ ई० में और दूसरी का १६६१-६२ ई० में।

जाटों के शासन-काल में ब्रज में अनेक इमारतें बनीं। जाटों ने प्रमुख स्थानों पर मजबूत किले बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया। यूण भरतपुर, कुम्हेर, बयाना, वल्लभगढ आदि स्थानों में दृढ किलों का निर्माण किया गया। इनमें से कई दुर्ग दुर्भेद्य और अजेय थे। शत्रु-सेना को परास्त करने में जाटों को इन दुर्गों से बड़ी सहायता मिली। डीग के महल तथा गोवर्द्धन की छतरियाँ जाट शिल्प कला की अमर कृतियाँ हैं। महलों में पत्थरों की बारीक नक्काशी और जाली का काम देखकर दंग रह जाना पड़ता है। मुगल तथा भारतीय, दोनों प्रकार की शैलियाँ जाट स्थापत्य में मिलती हैं। बरसाना, भरतपुर, वृन्दावन और कामवन की भी कई इमारतें इसी शैली की हैं। गोवर्द्धन में मानसी-गङ्गा के पास जाट-शासक रणधीरसिंह तथा बलदेवसिंह की अत्यंत कलापूर्ण छतरियाँ हैं। इनमें पत्थर की बारीक कटाई के साथ दीवालों पर सुन्दर चित्रकारी भी मिलती हैं, जो तत्कालीन राजस्थानी चित्रकला का सुन्दर उदाहरण है।

बयाना में 'ऊषा-मन्दिर' भी एक दर्शनीय इमारत है। यहाँ के प्राचीन मन्दिर को तोड़कर खिलजीवंश के कुतुबुद्दीन मुबारक (१३१६-२० ई०) ने एक मस्जिद बनवा दी थी। जाट शासन-काल में उसे फिर मन्दिर के रूप में परिणत किया गया।

डा० बाबूराम सक्सेना

तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

कई दिन के सफर के बाद लौटा था। थका था। रामसुन्दर ने बक्स और होल्डाल खोलकर सारा सामान यथास्थान जमा दिया। जीवन फिर उसी क्रम से चलने लगा।

शाम को बैठक में बैठा कुछ पढ रहा था, ठंडी हवा लगी, सोचा शाल डाल लूं। देखा तो वह स्टैंड पर नही था। बुरा लगा। कुछ झुंझलाया भी। "यह रामसुन्दर ऐसा ही लापरवाह है, होल्डाल से शाल क्यो नही निकाला। आजकल यहाँ बहू जी नहीं हैं तो और भी मटरगश्ती करता है, डाटेगा कौन यही सोचता होगा।" स्वय इतना नही कर सका कि होल्डाल से शाल निकाल लाऊँ। रात आई, सो गया। थके होने के कारण नीद अच्छी आई।

टहल कर आया, नाश्ता करके मेज पर बैठ गया। फिर ठंड लगी। अब भी रामसुन्दर नही था। गया, होल्डाल खखोला, शाल उसमें नही था। धक् से हुई। "क्या रेल में भूल आया? नही ऐसा नही हो सकता। कूप में था, कोई और साथ में नही था। सोचा था कि शाल बाहर निकाल लूं, फिर ठीक याद है कि शाल होल्डाल ही में बाँध दिया था और बक्स में से ओवरकोट निकाल कर पहन लिया था, उसी को पहने घर तक आया। पर शाल गया कहाँ। यह ऊनी चादर थी तो खुरखुरी पर आराम बहुत देती थी। कश्मीर से स्वय पसन्द करके लाया था, अपने लिए यह और श्रीमती जी के लिए इस से दूने दाम की, छने में मुलायम और चिक्नी। यह मेरी प्यारी चादर कहाँ गई? क्या रामसुन्दर न कहो टरका दी? सोचा होगा कि कह दूंगा कि होल्डाल में थी ही नही। इस पर मैं कितना विश्वास करता हूँ, हजारो की मोटर इस के हाथ में है। बैंक से सैकडो रुपए चेक भुना कर लाता है और वहाँ रुपए जमा भी कर आता है। कभी धोका नही हुआ। नही वह चादर गायब नहीं कर सकता। पर, पर—हेल्प्स ने अपने निबन्धो में लिखा है कि बड मामलो में तो सभी चरित्रवान् रहते हैं, मानव का चरित्र परखना हो तो छोटी-छोटी बातों में देखो। प्रो० क को हम लोगों ने देखा था कि निजी चिट्ठियो में भी सरकारी टिकट लगवाते थे और इसी एक बात पर उनको चरित्रहीन स्थिर किया था।

हो न हो रामसुन्दर ने ही यह ऊनी चादर टरका दी है। अभी उस दिन कमरे से घडी चोरी चली गई वह वहाँ रक्खी है यह बात रामसुन्दर को छोड कर और कोई

नहीं जानता था। मेरे लाख प्रतिवाद करने पर भी बहूजी को उसी पर शक है, कहती है कि इसी की शरारत है। तारा के कुत्ते को भी इसने अपने दोस्त को दे दिया था, और पूछने पर झूठ बोल गया कि मैं नहीं जानता। तो क्या रामसुन्दर चोर है? वह चोरी करता है? इसको बच्चे की तरह पाला है। इसी का ब्याह करने के लिए ५००) उधार दे देने का इरादा है। प्रभो, इतनी कृतघ्नता! कहाँ है वह सत्य जिसके सहारे सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं और नक्षत्र आकाश में स्थित हैं!

इतने में रामसुन्दर आ गया। क्यों रे चादर कहाँ है?

बाबू जी! चादर तो नहीं थी, न बक्स में न होल्डाल में।

वाह! मैंने अपने आप होल्डाल में रक्खी थी।

वह होल्डाल उठा लाया। खोल कर रख दिया।

मैंने कहा, इसे क्या दिखाता हो, इसको तो मैंने पहले ही टटोल लिया था। ले कौन जायगा, आँख में से काजल कौन निकाल सकता है?

वह बोला—बाबूजी, चादर तो आप शायद ले ही नहीं गए थे, पलंगपोश ही ले गए थे।

(सफर में सफेद चादर गन्दी हो जाती है, इसलिए इस बार मैं रंगीन चादर बिछाने के लिए ले गया था)।

मैं झुंझलाकर बोला—मैं ओढ़ने की चादर को पूछ रहा हूँ, वह तो मैं ले गया था न?

रामसुन्दर हड़बड़ाकर बोला कि बाबूजी वह, वह शाल वह तो है, चारपाई पर पायँते रक्खा है, और मेरे सामने ही उसने शाल निकाल कर दे दिया।

आज सवेरे की इस सारी कार्रवाई और बातचीत में मुश्किल से पाँच मिनट लगे होंगे। इतनी देर में मेरा मन कहाँ-कहाँ दौड़ गया। क्या-क्या शकाएँ और अनुमान उसने लगा डाले!

रात को जब मैं बिस्तर पर लेटा तो सवेरे की सारी बातें मन में आ गईं। सोचा—प्रात - सायं शिव सकल्प सूत्र का जप करता हूँ, तब भी क्यों रामसुन्दर के विषय में मेरे मन में कुत्सित शका आ गई! कुशल हुई कि मैंने उस पर यह शका प्रकट नहीं की थी। वह निर्दोष बालक क्या सोचता? चोरी गई घड़ी के बारे में उसे पड़ोस वालों पर शक है। एक दो बार दबी जबान से कह भी चुका है कि बड़े आदमियों की बात है, क्या कहा जाय? उसका इस बात की भी अन्दर-अन्दर जलन है कि जब चोरी होती है तब नौकर चाकरों पर ही सभी शक करते हैं और पुलिस भी उन्हीं को परेशान करती है। आज साम्यवाद के प्रचार के कारण उसका ऐसा सोचना कुछ अनुचित भी नहीं।

तो क्या शिवसकल्प सूत्र का जप करना छोड़ दिया जाय?

नहीं, नहीं। यह इसी जप का प्रभाव है कि यह पश्चात्ताप का भाव मेरे मन में उठा है।

डा० विश्वनाथ प्रसाद

कोहवर

कोहबर घर के उस कमरे के लिये व्यवहृत होता है, जिसमें विवाह के समय कुल-देवता का पूजन अथवा अन्य मंगल कृत्य किये जाते हैं। विवाह के बाद वर-कन्या का प्रथम मिलन भी यहीं संपन्न होता है। यहीं उनका गठ-बंधन भी खोला जाता है तथा दही-चीनी खिलाने का शकुन भी किया जाता है। वर और कन्या दोनों के ही घर पर कोहबर की व्यवस्था रहती है। कोहबर की प्रथा मगही, भोजपुरी, मैथिली, कनौजी, अवधी तथा व्रजभाषा--इन सभी क्षेत्रों में प्रचलित है। इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ी मजेदार अटकलें लगाई गई हैं। अवधी-कोष (रामाज्ञा द्विवेदी) में 'कोह (क्रोध)+वर' इस प्रकार इसकी व्युत्पत्ति की गई है और इसी के अनुसार अर्थ लगाया गया है, "जहाँ वर कभी-कभी क्रोध करे व रूठे; विवाह में कई बार दूल्हा रूठता और मनाया जाता है।" हिंदी शब्दसागर में इसकी व्युत्पत्ति का निर्देश 'कोष्ठवर' से किया गया है, परन्तु संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर के नये संस्करण में 'कोष्ठ-वर' को संदिग्ध माना गया है। कोष्ठ से कोठ हो सकता है, कोह नहीं। क्रोध से कोह तो व्युत्पन्न होता है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यह संगत नहीं प्रतीत होता। सम्भवत इस शब्द की व्युत्पत्ति कोशवाट शब्द से है। कोश उस स्थान को कहते हैं जहाँ रुपये पैसे आदि कीमती चीजें रखी जाती हैं और वाट का अर्थ घर है। इसी वाट या वाटी शब्द से बँगला का वाडी, और हिंदी का फुलवाडी या फुलवारी शब्द बना है। बँगला में प्रायः कोहबर के ही अर्थ में 'वसुधरा' शब्द का व्यवहार होता है, जो कोशवाट के अर्थ से मेल खाता है। कोहबर के घर की अच्छी से अच्छी सजावट की जाती है। उसके बाहर के द्वार पर भी चित्रकारी की जाती है और अन्दर पूरब की दीवार पर एक विशेष प्रकार का भित्ति-चित्र तैयार किया जाता है। उस चित्र को भी लक्षणा द्वारा कोहबर ही कहते हैं। कोहबर के चित्र की रचना में कुल की प्रथा के अनुसार थोड़ा-बहुत अंतर पाया जाता है, पर चाहे जिस रूप में हो, यह इन क्षेत्रों में सर्वत्र बनाया जाता है और प्रयत्न किया जाता है कि वह अधिक से अधिक सुन्दर बनाया जाय,

जिससे घर की शोभा बढ़े। इस सम्बन्ध में भोजपुरी का यह गीत यहाँ उद्धृत किया जा सकता है—

> कहँवा के कोहबर लाल गुलाल कहँवा के कोहबर रतन जड़ाई।
> बाहर के कोहबर लाल गुलाल भीतर के कोहबर रतन जड़ाई।

कोहबर का चित्र कुछ क्षेत्रों में गेरू से बनाया जाता है और यहीं-कहीं चावल और हल्दी से बने हुए एक प्रकार के अनुलेपन से जिसे चौरेठा कहते हैं। यह चित्र एक आवश्यक मांगलिक 'यंत्र' समझा जाता है, जो वर-कन्या की दाम्पत्य प्रीति के स्थायित्व तथा सन्तानोत्पत्ति का साधन माना जाता है और इसी उद्देश्य से बनाया जाता है। प्राचीन प्रथाओं के उठते जाने के कारण आजकल परिवार में ऐसी महिलाएँ कम मिल पाती हैं, जो कोहबर के चित्र बना सकें। इसीलिए प्राय. बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों का ही आश्रय लेना पड़ता है।* परंपरा के अनुसार फूफी (पिता की बहन) या अपनी बहनें मिल-जुलकर इसे लिखती हैं और नहीं तो माता। यह आवश्यक है कि कोहबर के चित्र को वही स्त्रियाँ बनायें जो सधवा हों और वही कोहबर के गीत भी गा सकती हैं। क्वारी लड़कियाँ केवल अलंकरण वाली चीजें बना सकती है, जैसे डाल, पात आदि, पर कमल-पत्र, सिधोरे, सिवामाई आदि के चित्र नहीं यहाँ मैं कोहबर का एक चित्र दे रहा हूँ, जो मेरी पूजनीया माता श्रीमती शारदादेवी (अवस्था ८१ वर्ष) का बनाया हुआ है। उनकी कोहबर की चित्रकारी हम लोगों के कुटुम्ब में बहुत अच्छी समझी जाती है।

पाश्चात्य समीक्षकों ने कला को दो भागों में विभक्त किया है, ललित कला तथा उपयोगी कला। परन्तु भारतीय दृष्टि में कला की उपयोगिता और ललित्य में कोई विषमता नहीं है। कला जीवन का अवश्यक अंग मानी गई है और इसी आधार पर चौंसठ कलाओं की कल्पना की गई है। इसके अनुसार पान का बीड़ा लगाना और सेज सवाँरना भी एक कला है। विवाह के अवसर पर चौक पूरना अथवा कोहबर के चित्र बनाना भी हमारी एक कलात्मक चेतना का ही प्रदर्शन है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक दृष्टि से कई भावनाएँ समाविष्ट हैं।

इस चित्र में बायीं ओर बाँस का पेड़ बना हुआ है, जो वंश-वृद्धि का द्योतक है। संस्कृत काव्यों में भी वंश शब्द को लेकर कवियों ने प्रायः श्लेष के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। दाहिनी ओर कमल-पत्र (पुरइन) है जो कभी जल में डूबता नहीं बराबर लहलहाता रहता है। वह अखंड सौभाग्य तथा आनन्द का सूचक है। उसका अर्थ यह है कि वंश कभी डूबे नहीं बराबर लहलहाता रहे और कमल के समान फूला रहे। बाँस की डालियों में फूल लगे हुए हैं और उन पर पक्षी बैठे हुए हैं। सबसे ऊपर मोर का चित्र है। दायीं ओर कमल-पत्र के पर भी एक मोर का ही चित्र है। मोर के इन

---

* अभी मैंने हाल में एक जगह देखा था कि इस रस्म की खानापूरी करने के लिए भित्ति-चित्र के बदले कागज पर ही कोहबर का चित्र बनाकर दीवार में चिपका दिया गया था।
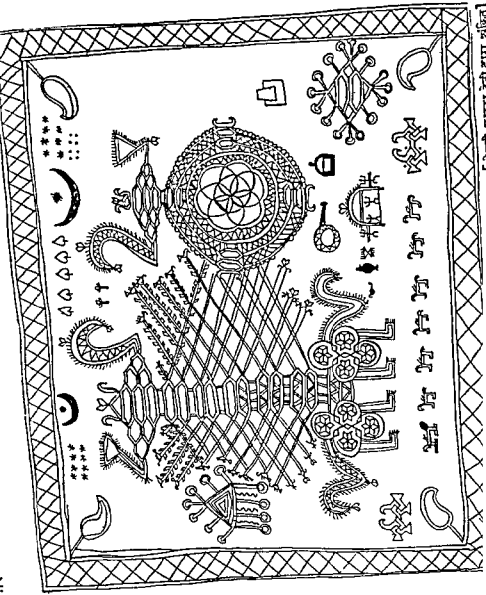
[श्रीमती शारदा देवी द्वारा अंकित]

दोनों चित्रों को 'मोर-मयूर' कहते हैं। संभवतः यह मिथुन-चित्र है। बाँस के पेड़ के नीचे हाथी का चित्र है, जिसका मुँह दाहिनी ओर है और पूँछ बाँयी ओर। बाँस के दाहिनी ओर सिरमौर या अलिमौर का चित्र है, जिसे विवाह के समय वर अपने सिर पर धारण करता है। इसी प्रकार कमल के पत्ते के दाहिनी ओर नीचे कोने में पटमौरी है, जिसे विवाह के समय कन्या अपने सिर पर धारण करती है। चित्र के नीचे दोनों ओर दो-दो पक्षियों के चित्र हैं, जिन्हें सहेलर कहते हैं। यह सहेलर शब्द सहेली शब्द का रूपान्तर जैसा मालूम होता है, परन्तु यह वस्तुतः एक विशेष प्रकार के पक्षी के लिए प्रयुक्त है, जिसे सगुनी [<शकुनी (सं०)=श्यामा पक्षी] भी कहते हैं। पश्चिमी अवधी में इसके लिए मुहेलिका शब्द प्रचलित है। इसे विवाह के अवसर पर कन्या को दिखाया जाता है। सलेहर-शब्द सुहेलिया का रूपान्तर हो सकता है। शकुनी स्कन्द की एक मातृका का भी द्योतक है। ये पक्षि-मिथुन वर-कन्या के संगी-साथियो के और साथ ही साथ उनके मंगलमय सम्बन्ध के संकेतक हैं। कमल-पत्र के नीचे पला, बड़ा सिंधोरी और उसकी बगल में जरा ऊपर सिंगारदान है। हाथी की सूँड के नीचे की जगह में कजरौटा, लबी सिंधोरी और कंघी है। ये सारी चीजें कन्या के शृंगार के उपकरण हैं। चित्र के ऊपर दोनों ओर कुछ सितारे बने हुए हैं। दाहिनी ओर कुछ छोटे-छोटे सितारे भी दिखाए गए हैं। बायीं ओर चद्रमा का चित्र है, दाहिनी ओर सूर्य का। बीच में पाँच पान चित्रित हैं। उनके नीचे सुपारी और लौंग है। सूर्य, चद्र और तारगण आकाश के द्योतक हैं, बाँस, कमल-पत्र तथा पक्षी मर्त्युलोक के और हाथी पाताल-लोक का। इस प्रकार इसमें तीनो लोक अंकित हैं। चित्र के चारो ओर हाशिया बना हुआ है, जिसके चारो कोनो पर मंगलसूचक आम्रपल्लव अंकित है।

इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है पालकी और उसके नीचे बनी हुई सात मूर्तियो के चित्र। पालकी के दोनों ओर दो कहार हैं और पालकी के भीतर राजा-रानी बैठे हुए हैं। उसकी कथा यों है—ये राजा-रानी किसी दूर यात्रा में निकले थे। रास्ते में इनका पुत्र मर गया, जिससे दुखी होकर दोनो आर्तनाद कर रहे थे। बहुत समय के बाद आकाश-मार्ग में विमान पर जाती हुई शिवा माई आदि सात देवियो ने इनका रुदन सुना और द्रवीभूत होकर नीचे उतरी तथा इनके दुःख का कारण पूछा। उन्होंने इनकी यह विह्वल दशा देखकर करुणा से निर्देश किया कि वे शिवा माई तथा उनकी छः सखियो की पूजा करें तो उनकी संतान फिर लौट आ सकेगी। तदनुसार राजा-रानी ने शिवा माई तथा इनकी सखियो की पूजा की और अपनी खोई हुई सन्तान पुन. प्राप्त की। देवियो ने पुन का वरदान देते समय यह शर्त लगा दी कि उन्हें अपने पुत्र के जन्म के छठे दिन या बारहवें दिन और ब्याह के अवसर पर भी छठी की पूजा करनी होगी।

इन सात मूर्त्तियो में से जो बाँयी ओर की पहली मूर्त्ति है, वह शिवा माई की जान पड़ती है और जो अन्य छः मूर्त्तियाँ हैं वे स्कद की छ माताओ के चित्र हैं। इस प्रकार यह सप्त मातृकाओ का चित्र सिद्ध होता है, जिनके नाम हैं—ब्राह्मी या ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐंद्री या इन्द्राणी और चामुण्डा या चंडिका। ये नाम वाराह तथा मार्कण्डेय पुराण में आए हैं। इन सत मातृकाओ की पूजा विवाह आदि

शुभ अवसरों पर सबसे पहले होती है। सात मातृकाओं के नामों के क्रम में दूसरा नाम माहेश्वरी का है जब कि इस चित्र में माहेश्वरी की पर्यायवाचिनी (शिवा) को प्रधान स्थान दिया गया है। इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि इस कथा का मूल स्रोत शाक्त अथवा शैव होगा।

इस सम्बन्ध में यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि इन सात मातृकाओं का चित्र नवजात शिशुओं की छठी के अवसर पर भी बनाया जाता है। छठी का चित्र कोहबर के चित्र से बिल्कुल भिन्न होता है। उसमें मंडप यानी घेरे का चित्र बना लेने के बाद सबसे पहले शिवा माई के प्रणाम वाला चित्र बीच में बनाया जाता है जब कि कोहबर में सब से पहले कलश के कुछ बिन्दु देकर फिर उन्हीं के अन्दाज से मंडप (घेरा), फिर बाँस कमल-पत्र आदि बनाए जाते हैं, उसके बाद और कुछ। सात मातृकाओं का चित्र सबके अन्त में बारात की द्वार-पूजा के समय और वर के यहाँ वधू-प्रवेश के समय नीचे के स्थान में बनाया जाता है। विवाह के बाद वर-कन्या सिर से चित्र को छू कर प्रणाम करते हैं, वर गाय का घी उँगली में लेकर इन सातों मूर्तियों को लगाता है और इन मूर्तियों का पूजन करता है और कन्या जिस सिंदूर के सिंधोरे से उसका ब्याह होता है उसी सिंधोरे के सिंदूर को लेकर माता मूर्तियों को टीका लगाती है। छठी में केवल बच्चे की माँ सिंदूर से टीका कर देती है, घी नहीं लगाया जाता। कोहबर और छठी के चित्र प्रायः शुभ मुहूर्त में ही प्रारम्भ किये जाते है।

छठी का चित्र कहीं-कहीं गोबर से बनाया जाता है और कहीं कहीं चौरेठे से। उसमें सप्तमातृकाओं के चित्र बीच में बनाए जाते हैं। उनके नीचे राजा-रानी की पालकी बनाई जाती है। उसमें भी चन्द्रमा, सूर्य, सिंघोरा, कजरौटा आदि बनाए जाते हैं, पर बाँस, कमल पत्र, सखी-सलेहर, पटसीरो और सिरमौर नहीं अंकित किए जाते। छठी की पूजा बच्चों के जन्म के छठे या बारहवें या बीसवें दिन की जाती है। यदि किसी कारणवश यह पूजा तब तक न हो सके तो फिर विवाह के समय करनी पड़ती है। संभवतः इसी कारण विवाह के अवसर पर कोहबर में छठी का भी चित्र बनाना आवश्यक है। देवी भागवत में निर्देश है कि बच्चा के जन्म के छठे या इक्कीसवें दिन पूजा की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्न प्राशन तथा बच्चों के अन्य शुभ-कार्यों में भी इस पूजा का करना विहित है।* कहीं-कहीं छठी के दिन दावात कलम भी रखे जाते हैं और बच्चे को उसी दिन काजल लगाया जाता है। उस अवसर पर सोहर तथा देवी के गीत गाए जाते हैं, पर बिहार में देवी के गीत नहीं गाए जाते।

---

* देवी भागवत, अ० ४६, श्लोक ४६–४७।

षष्ठी देवी के इस प्रकार के चित्रांकन के उल्लेख अश्वघोष की प्रसिद्ध कृति सौन्दरनन्द १–१५ और बाणभट्ट की कादम्बरी (पृ० २१६-२१७ चौखम्बा संस्करण—१९५३ ई०) में भी मिलते हैं।

देवी भागवत के छियालीसवें अध्याय में षष्ठी देवी का उपाख्यान आया है। वह कथा यों है —स्वायंभुव मनु का पुत्र प्रियव्रत राजा हुआ। उसने विवाह नहीं किया और बराबर तपस्या में लीन रहा। पीछे ब्रह्मा की आज्ञा से उसने विवाह किया। फिर भी उसे पुत्र नहीं हुआ। अतः कश्यप ने उसे पुत्रेष्टि-यज्ञ कराया। उसकी पत्नी मालिनी को मुनि ने यज्ञ-चरु दिया, जिसे खाकर उसने तुरंत गर्भ धारण किया। वह देव-गर्भ बारह वर्षों तक उसके उदर में रहा। फिर उसने स्वर्ण-वर्ण का पुत्र प्रसव किया, जो मरा हुआ था। उसे देखकर सभी रोने लगे। रानी स्वयं मूर्छित हो गई। राजा अपने मृत पुत्र को लेकर श्मशान गए और उसे कलेजे से लगाकर रोने लगे। वे उसे किसी प्रकार छोड़ने को तैयार नहीं थे। दारुण शोक से उनका ज्ञान-योग खो गया। उसी अवसर पर उन्होंने मणि रत्नादिकों से विभूषित शुद्ध स्फटिक के समान एक विमान देखा जिसमें एक सुन्दर चंपकवर्ण कृपामयी, योगसिद्ध, प्रखर सूर्य के समान तेजस्विनी देवी विराजमान थीं। बालक को भूमि में रखकर राजा ने उनकी पूजा की। परिचय पूछने पर देवी ने बताया कि दैत्य ग्रस्त देवताओं के लिए वह प्राचीनकाल में स्वयं सेना बन गई थी और उन्हें विजय प्रदान की थी। इसलिए उनका नाम 'देवसेना' पड़ा है। उन्होंने यह भी बताया कि मैं ब्रह्मा की मानसी कन्या हूँ और स्कंद से मेरा विवाह हुआ है। राजा का कर्म का महत्त्व बतलाकर और कर्त्तव्यपरायण होने का निर्देश करके उन्होंने बालक को ले लिया और उसे जिला कर अपने साथ ले चली। राजा ने आर्त होकर पुनः स्तोत्र आदि से देवी को सन्तुष्ट किया। देवी ने कहा कि सब जगह मेरी पूजा कराकर स्वयं भी करना। इसे स्वीकार करो तभी मैं तुम्हारे पुत्र को दूँगी। इसका नाम सुव्रत होगा और यह यशस्वी तथा प्रतापी होगा। राजा ने इसे स्वीकार किया। तब उसके पुत्र को उसे देकर देवी स्वर्ग चली गईं। राजा अपने मंत्री सहित घर आया और सभी वृत्तान्त बताया जिसे सुनकर पुरुष और स्त्रियाँ सभी प्रसन्न हुए। राजा प्रतिमास शुक्ल पक्ष की षष्ठी को देवी का पूजन और ब्राह्मणों को दान देने तथा यत्नपूर्वक महोत्सव करने लगा।

षष्ठी की व्याख्या में बताया गया है कि वह प्रकृति का छठा अंश है और बालकों की अधिष्ठात्री देवी है जो बालक और धात्री दोनों की रक्षा करनेवाली है। इस कथा के श्रवण के फल के विषय में* बताया गया है कि जो एक वर्ष इस कथा को सुने उसे यदि वह अपुत्र हो तो चिरजीवी पुत्र होगा। काक-वंध्या या मृतवत्सा को भी इससे

* षष्ठांशा प्रकृतेर्या च सा च षष्ठी प्रकीर्त्तिता।
बालकानामधिष्ठात्री विष्णुमाया च बालदा॥
मातृकासु च विख्याता देवसेनाभिधा च या।
प्राणाधिकप्रिया साध्वी स्कंदभार्या च सुव्रता॥
आयुःप्रदा च बालानां धात्रीरक्षणकारिणी।
सततं शिशुपार्श्वस्था योगेन सिद्धयोगिनी॥
देवी भागवत अ० ४६—श्लोक ४–६।

पुत्र की प्राप्ति होगी। जिनका पुत्र रोगयुक्त हो ऐसे माता-पिता यदि इस कथा को सुनें तो उनका बच्चा एक मास में रोग-मुक्त हो जायगा।

इस प्रकार इस चित्र में शिवा माई की जो मूर्त्तियाँ अंकित हैं, उनका असाधारण महत्व सिद्ध होता है। कथा के रूपों में जो अन्तर है, उसकी ओर ध्यान देने पर यह उलझन पैदा हो जाती है कि ये जो स्कंद की छ मातायें हैं, उनमें स्कंद-भार्या कहाँ से आ गई, क्योंकि इसे भी तो मातृकाओं के अन्तर्गत ही गिना गया है—पुराणों की कथाओं में ऐसी उलझनें एक नहीं अनेक हैं, जिनकी व्याख्या के लिए उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन आवश्यक है। इन कथाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि हमारे सांस्कृतिक जीवन में अब तक इन पौराणिक कथाओं का कितना अधिक प्रभाव है। हमारी अनेक लौकिक कथाएँ और सांस्कृतिक विधि-विधान पौराणिक कथाओं पर आश्रित हैं। पुराण अब भी हमारी लोक-संस्कृति के जागरूक प्रहरी हैं।

॥

डॉ० सत्येन्द्र

लोक गायक

१. लोक साहित्य के सग्रहकर्त्ता को लोकगीत से तो भेट बाद को होती है, पहले तो लोकगायक से होती है । लोकगीतो के लिए लोकगायक तो एक पुस्तक की भाँति है, पर पुस्तक से कहीं कठिन । पुस्तक को हम जब चाहें पढ सकते हैं, पर लोकगायक से लोकगीत पाना बहुत कठिन कार्य है । पर गीत की दृष्टि से ही नहीं लोकवार्त्ता, नृविज्ञान और मानव-शास्त्र तथा समाज-विज्ञान की दृष्टि से भी लोकगायक का अपना महत्व है ।

२. यो तो लोकगीतो के गायक कोई भी हो सकते हैं—किसी गाँव की बुढिया जिसने गाते गाते अपने बाल सफेद किये हैं, और गाँव की लोकवार्त्ता को पचाये बैठी है, 'लोकगायक' की परिभाषा में आ सकती है । ऐसी एक बुढिया माँ जिसे श्याम परमार ने 'माँजी' कहा है, स्त्रियो के लोकगीतों को सुनाने और लिखवाने में बहुत सहायक हो सकती है । ऐसी एक माँजी का चित्र श्यामपरमार ने 'मालवी लोकगीत' में दिया है ।[1] 'व्रज लोक साहित्य के अध्ययन' के लिए एक वृद्धा माँ से ही वास्तविक महत्व के गीत प्राप्त हुए थे ।

---

१. 'मालवी लोकगीत' में डॉ० श्याम परमार ने यह लिखा है—

माँजी की बगल में पोटली और हाथ में बडी सी लकडी थी । चेहरे पर प्रकृति ने बुढापे के आगमन स्वरूप नक्काशी काढ दी थी । आँखें गोल और चमकीली थी । ऐसा मालूम हुआ मानो एक लबी यात्रा के अनुभव का रस उनमें भरा हो । भँरूगढी छीप का लुगडा और मगजीवाला एक मैला घाघरा माजी ने पहन रखा था । वक्ष प्रदेश पर प्राचीन ढग की चोली थी, जो पीछे की ओर बँधी थी ।

× × × ×

माँजी का यौवन तो उतर गया था, किन्तु उनके अन्तस में गीतों के गाने वाली जो सुहागिन बैठी थी, वह ऐसे ही मौके पर तो खुलती है । माँजी के लटकते हुए चमडे पर मेरी निगाहो ने दूर अतीत की कोई सौंदर्यमयी-आभा नृत्य करते हुए देखी ।

गीत का बँधा हुआ समा देर तक कायम रहा । गीत की लबाई ने जी को पूरी तरह से भावो से भर दिया था ।

बुढिया माँजी कह रही थी कि गाँव चलो बेटा, कितने ही गीत वहाँ सुनाऊँगी ।

२·१. एक बुढ़िया मांजो न होकर स्त्रियों और बालाओं का टोल हो सकता है जो गा रहा हो, और गाकर आपको लुभा रहा हो। ऐसे टोल के गीत आप टेप-रिकार्डर से ही भली प्रकार ले सकते हैं। आपकी गायिका कोई बालिका भी हो सकती है। यह बालिका आपको यही झूले पर झूलती मिल सकती है, या च्यौरते पर गोरें चढ़ाती, या झांझी खेलती।

२·२. आप अपने घर मे ही ऐसी गायिका पा सकते है जो चक्की चलाते समय गाती जाती है, जो विवाह आदि के अवसरों पर गाती है, और व्रत आदि के अन्य अनेकों अवसरों पर ऐसे ही गाती है।

२·३ आपको कहीं-कहीं ऐसी गायिकाएं भी मिल सकती हैं जो घरों में संस्कार आदि के अवसरों पर गाने का भी व्यवसाय करती हैं। जब किसी घर में विवाहादि हो तो ऐसी स्त्रियों को बुला लिया जाता है।

३. आपको रास्ते चलते मौज मे गाने वाले व्यक्ति मिल जायगे। सांडिनी (ऊंट)-सवार के गीत प० रामनरेश त्रिपाठी जी ने ऊट का पीठ पर यात्रा करते हुए सुने और लिखे थे।

३·१. ग्वाले, गडरिये जैसे लोग आपको गायें-बकरियां चराते समय मौज में गाते मिलेगे।

३·२. विवाहादि के अवसरो पर आपको कुम्हार-धोबी के घरों में गायको की मडलियों की भीड़ मिलेगी।

३·३. होली आदि त्यौहारो पर होली, धमार, रसिया के गायकों को तलाश करने की आपको आवश्यकता नही होगी। वे जहा-तहा आपको स्वयं ही गाते हुए मिल जायेंगे।

४. अनेकों भीख मांगनेवाले गाना गा-गाकर भीख मांगते हैं, वे प्रतिदिन ही हमारी दृष्टि में आया करते हैं।

४·१ ऐसे ही विविध देवी-देवताओं की मनौती की पूजाओं पर समय-समय पर आपको रात-रातभर 'जागरण' गाने वाले गायक मिल सकते हैं, सांप के लिए ढांक रखी जाती है, उस अवसर पर भी आपको रात भर गाने वाले गायक मिलेंगे।

५. इस प्रकार जहां देखिये वहीं आपको गायक मिल सकते हैं। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि इनमें से कितने ही लोक-गायक आज लुप्त होते जा रहे हैं।

५·१. इन गायकों का कई दृष्टियों से बहुत महत्त्व रहा है। प्रधानतः इन्हें लोक-मनोरंजन के साधन माना जा सकता है। मनोरंजन लोक-जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है, इसमें सन्देह नहीं। पर ऊपर जो कुछ गायकों का उल्लेख हमने किया है, इससे विदित होता है कि गायकों का महत्व केवल लोक-मनोरंजन प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही नहीं है। लोक-मानस में मनोरंजन भी अनुष्ठान के अंग के रूप में जीवन के लिए तात्विक आवश्यकता का उपादान बनकर विकसित हुआ है। अतः लोकगायक अनुष्ठान के अंग के रूप में प्रतिष्ठित मिलता है। इस दृष्टि से इसका कार्य लोक-चिकित्सक की भांति या भी हो जाता

है। अनेको गीतो को विशेष तान्त्रिक–जैसे विधानो के साथ गाया जाता है, और वे विविध व्याधियो को दूर करने में उपयोगी माने जाते हैं। अनेको गीतो के गाने-सुनने का माहात्म्य माना गया है, उनके गायको का भी तदनुरूप सम्मान होता है। पर गायक ऐसे भी होते हैं जो अनेको ऐतिहासिक घटनाओ की रक्षा अपने गीत में परंपरा स्थापित करके करते हैं, और अनेको वीरो के गीत समाज का मनोरंजन ही नही करते उस वीर पुरुष की गाथा को भी जीवित रखते हैं। इन गीतो में विविध धार्मिक सन्देश तथा जीवनादर्श रहते हैं। ये गायक इनके द्वारा सामाजिक शिक्षा के अभिप्राय को पूर्ण करते हैं।

६ लोक-गायको की उपयोगी संस्था आज महत्व खो रही है और अनेको लोक-गायक आज गायकी का पेशा छोडकर अन्य काम करने में प्रवृत्त होते जा रहे हैं। अभी मथुरा में लोकवार्त्ता-विज्ञान के विद्यार्थियों द्वारा क्षेत्रीय अभ्यास में घासीराम नामक भोपा मिला था, जिसने बताया कि अब उसने भोपागिरी छोड़दी है, और अन्य काम करने लगा है।

६ १. फलत: आवश्यक है कि लोकगायको का पूर्ण विवरण एकत्रित किया जाय। यहाँ आज हम कुछ लोक गायको पर ही विचार करेंगे।

६ २ ये लोकगायक प्रथमत दो वर्गों मे बाँटे जा सकते हैं—

६ ३. सामान्य श्रेणी मे ऐसे गायक रखे जा सकते हैं जो गीतो को प्राय मनोरंजनार्थ गाया करते हैं। ये भी कई प्रकार के होते हैं।

६·३　आनुष्ठानिक तथा धर्मकांडिक गीतों के गायकों में भी अव्यवसायिक तथा व्यवसायिक गायक होते हैं।

आनुष्ठानिक

व्यवसायिक　　अव्यवसायिक

जागरण गायक　　व्रतानुष्ठान गायक

घर की स्त्रियाँ

संस्कारों में　　व्रतों में

देवी के रतजगे में　　नाथ जोगी (जाहरपीर)　　सँपेरे (ढाँक)

भगत (देवी जागरण)
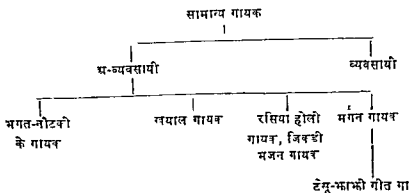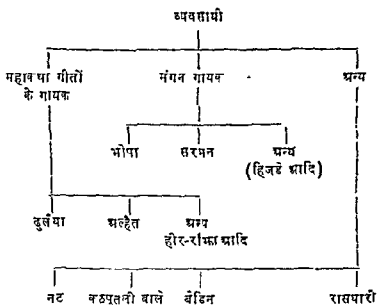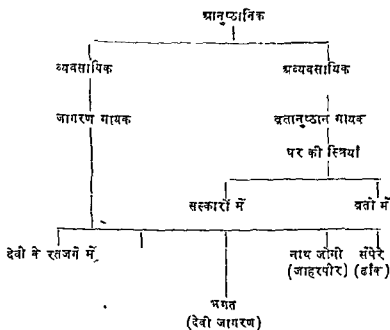
७. इन गायकों को पुरुष वर्ग, स्त्री वर्ग, किंपुरुष तथा मिश्र वर्ग में भी विभाजित कर सकते हैं। कुछ गीत केवल पुरुष वर्ग द्वारा गाये जाते हैं।
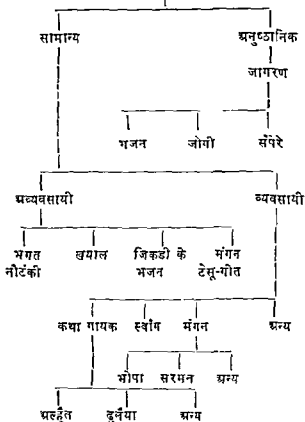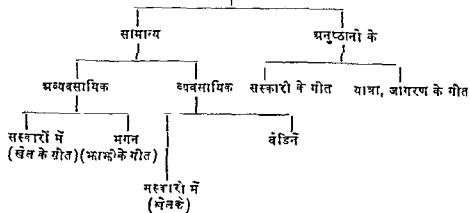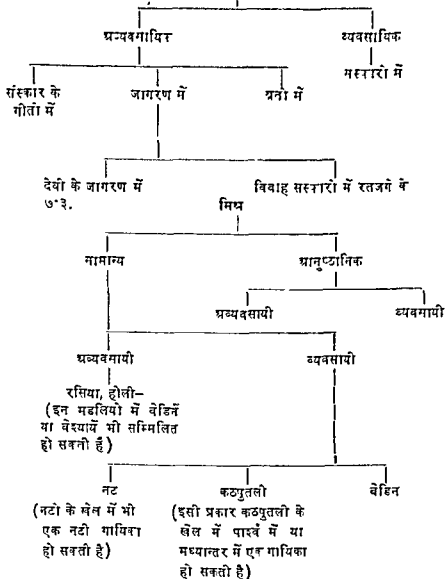
८. इन गायकों को हम एक और दृष्टि से भी वर्गीकृत कर सकते हैं। इनमें कुछ गायक तो अकेले गाते हैं, सामान्य सहायता, जैसे स्वर-साधने में एक दो अन्य व्यक्तियों द्वारा मिल सकती है, ऐसा सुर-भरने वाला सहायक सुरैया कहलाता है। कुछ गायक समूह बाँधकर दलों में बँट कर प्रतियोगिता के भाव से गाते हैं, कुछ गायक मंडली बनाकर गाते हैं। इनमें केवल विश्राम और वैचित्र्य के लिए दो दल होते हैं—एक ही गीत की कुछ कड़ियाँ एक दल गाता है, उन्हीं को दूसरा दल भी गाता है, इस प्रकार एक दूसरे का कण्ठ-विश्राम मिलता जाता है। कुछ गायक स्वयं बाजे बजाकर गाते हैं,

कुछ वादित्र सहायक वजाते हैं। कुछ गायकों के मंडल अभिनय और नाट्य भी सम्मिलित कर लेते हैं, कुछ के मंडल में नृत्य मात्र रहता है, और नृत्य करने वाला पुरुष भी हो सकता है, स्त्री भी हो सकती है, इन सबको हम यों वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

८·१.
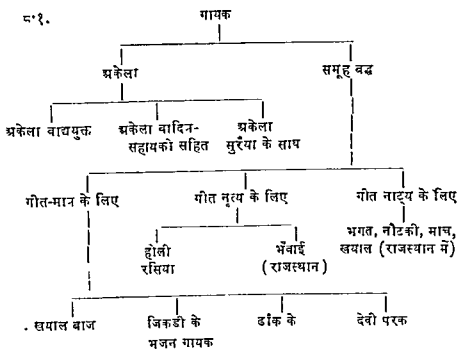
९. इनमें से कुछ गायकों का सम्बन्ध साम्प्रदायिक मूल लिए भी होता है। 'भगत' नामक ब्रज का लोक-नाट्य जिन अनुष्ठानों से आरम्भ होता है, उनसे उसका मूल देवी या शक्ति से विदित होता है। संभवतः कभी शाक्तों ने ही इसे आरम्भ किया होगा। 'भगत' शब्द का आज लोक-व्यवहृत अर्थ भी इस लोक नाट्य 'भगत' का सम्बन्ध देवी-पूजा से सिद्ध करता है। आज ब्रज में देवी की पूजा करने वाला ही 'भगत' कहलाता है। यह भगत बहुधा नीच जातियों में से होता है। पर आज 'भगत' का कोई ऐसा अखाड़ा नहीं मिलता जिसमें नीच जाति के लोग हों। आज इसमें हिन्दू और मुसलमान, अछूतों को छोड़कर, सभी जाति के लोग सम्मिलित होते हैं। 'भापा' का सम्बन्ध 'भैरव' सम्प्रदाय से है। रासधारियों का सम्बन्ध कृष्ण-सम्प्रदाय से स्पष्ट है। 'जाहरपीर' का सम्प्रदाय आज भी चल रहा है और इसके गायक प्रायः नाथ होते हैं। सँपेरों का सम्बन्ध भी नाथ-जोगियों से है।

९·१. राजस्थान में भगत की भाँति के 'माच' होते हैं। इन्हें देवीलाल सामर ने 'तुर्राकलगी' भी कहा है। सामर जी का कथन है कि—

'तुर्राकलगी भी ख्यालों की एक विशिष्ट शैली है, जिसे माच का खेल भी कहते

है। ''''''''''शिव के समर्थक तुर्रावाले और शक्ति के समर्थक कलगी वाले।'''''''''' किन्तु बाद में इन्हीं लावणी के अखाड़ों ने माच का रूप ले लिया। '''''''''''"

६·२ माच की जो विशेषताएँ सामर जी ने बतायी हैं, वे 'भगत' से बिल्कुल मिलती हैं:—

१. रंगमंच जमीन से लगभग ५ फीट ऊँचा होता है। इन्हें रंगीन कपड़ों से सुन्दर ढंग से सजाया जाता है।

२. एक अलग छोटा मंच बनाया जाता है, जिस पर साज बजानेवाले बैठते हैं।

३. यह खेल पेशेवर न होकर शौकिया है।

४. पात्र झरोखे से उतर कर रंगमंच पर आते हैं और एक दूसरे से संवाद करते हुए नृत्य मुद्राओं में अपनी जगह पलटते हैं।

५. संगीत के 'साज गानेवालों के साथ में न बजकर गीत समाप्त होने के बाद बजते हैं।

६. ये माच के ख्याल रात के ९ बजे से सुबह के ९ बजे तक होते हैं।

७. वाद्यों में शहनाई, सारंगी और हारमोनियम बजता है।

८ कभी-कभी इनकी रिहर्सल में ६–६ महीने तक लग जाते हैं।

९ खेल के खिलाड़ी प्रयत्न करके पहले से खर्च का प्रबन्ध बस्ती से करवा लेते थे।

९·३ व्रज क्षेत्र की भगतें 'शाक्त' क्षेत्र से संबंधित प्रतीत होती हैं, हो सकता है यदि तुर्रा-कलगी से ही इनका विकास हुआ है तो ये 'कलगी' दल की हों।[1]

९·४ इस विवेचन से स्पष्ट है कि भगत या माच के गायक शौकिया होते हैं, इन भगतों का संबंध देवी-भक्ति से हो सकता है, पर आज आरंभिक पूजन में ही उसके कुछ चिह्न मिलते हैं। खेल में जैन, मुसलमान, सभी हिन्दू सम्मिलित होते हैं। इन्हें बस एक अखाड़े के गुरु और खलीफा का अनुयायी होना होता है।

१०. भोपा का संबंध व्रज में तो भैरव या भैंरूजी से ही रह गया है, पर राजस्थान के संबंध में जो विवरण श्री देवीलाल सामर ने दिया है उसमें भोपों के कितने ही प्रकार विदित होते हैं। सामरजी ने बताया है कि—

१०·१ 'भोपों के कई भेद हैं। माताजी, गोगाजी भैरूजी, पाबूजी, देवजी, हड़भूजी, डूंगजी-झुवार जी, बलजी-भूरजी आदि के भोपे अलग-अलग हैं। 'पाबूजी के भोपे' रावण-हत्थे पर पाबूजी की विरुदावली गाकर सुनाते हैं। इनका वाद्य बड़ा सुरीला बजता है।

१. देखिये राजस्थानी लोक-नाट्य, प्रकाशक 'भारतीय लोककला मण्डल', उदयपुर, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३१-३४।

१. मुझे भगत' की रूप-रेखा देखकर इस बात में कुछ संदेह लगता है कि ये तुर्रा-कलगी के ख्याल का ही विकास है। ये प्राचीन सांगीत नाटकों के अवशिष्ट अनुकरण प्रतीत होते हैं, जो अपनी संगीत-विधि अपने समय में प्रचलित विधि से ग्रहण करते रहे हैं। और इन्हें विविध संप्रदाय अपने अनुकूल भी ढालते रहे हैं।

·· ···डूगजी-झुंवारजी एव बलजी-भूरजी धाडियो की विरुदावली कुछ भोपे रावण-हत्थे पर गाकर सुनाते हैं। वह रावणहत्था कुछ छोटा होता है और इतना सुरीला नहीं बजता। ··· ये भोपे अपने-अपने इष्ट देवो के गीत गाकर सुनाते हैं। ········गोगाजी के भोपे सॉप का जहर उतारते हैं, माताजी के भोपे दूल्हे का सा वेष धारण किये रहते हैं। ये अपने पास त्रिशूल, डैरू और थाली रखते हैं। विशेषतया ये जीण माता (सीकर) और करणी माता (बीकानेर) के मेलो में इकट्ठे होते हैं। रामदेव जी के भोपे (कामड) मारवाड की ओर हैं। ये तन्दूरा बजाते हैं। ··· भैरूजी के भोपे माथे में सिंदूर लगाते हैं, कपडो में तेल डालते हैं। ये त्रिशूल धारण करते हैं। कमर में बडे-बडे घुघरू बाँधे रहते हैं। ये मशक का बाजा बजाते हैं। ये अकेला ही गाता है, इसके कोई जजमान नहीं होता।[1]

१०.२ सामर जी ने एक 'अडभोपा' अलग बताया है। 'सामुद्रिक शास्त्र' इनका व्यवसाय होता है। ज्योतिष शास्त्र से सबधित इनके गीत बहुत अधिक आकर्षक होते हैं।[2]

१०.३ ब्रज में हमें केवल भैरूजी के ही भोपे मिले हैं। और ये ही कभी कभी सामुद्रिक शास्त्र में भी व्यवसाय करते मिलते हैं। इतना तो सामर जी के विवरण से भी

१ राजस्थान का लोक-संगीत—लेखक देवीलाल सामर, प्रकाशक—भारतीय लोक-कला मण्डल, उदयपुर, प्रथम संस्करण, १९५७ ई० । पृ० ३७-३८ ।

२. वही, पृष्ठ ८० ।

स्पष्ट है कि प्रत्येक गायक भोपा किसी न किसी देवता के सम्प्रदाय से संबंधित होता है, और उसी के गीत गाता है।

११. ब्रज में रासधारियों का संबंध राधा-कृष्ण के सम्प्रदायों से है। ये रासधारी 'राम' करते हैं। रास का संबंध भगवान् कृष्ण के रास से है। ब्रज के सभी रासों में पहले तो कृष्ण-लीला ही दिखायी जाती है। इसका क्रम प्रायः यह रहता है कि पहले कृष्ण-रास या नृत्य, बाद में कोई कृष्ण-लीला, तदनंतर कोई अन्य धार्मिक लीला दिखाते हैं। किन्तु कुछ रास मंडलियाँ ऐसी भी हैं जो कृष्ण की लीलाएँ ही दिखाती हैं। कोई अन्य लीला या स्वांग वे नहीं दिखातीं।

§ ११. राजस्थान में रासधारियों के संबंध में श्री सामरजी ने बताया है कि—

१ रासधारी—नृत्य-नाट्य की विशेष शैली है। इसमें अधिकतर धार्मिक लोक-नायकों या पौराणिक देवताओं का चित्रण होता है।

२ रासधारी में बहुधा राम और कृष्ण के चरित्र अंकित किये जाते हैं।

३ इस नाट्य के गीत लोक कवियों द्वारा सैकड़ों वर्ष पूर्व के रचे होते हैं जो परम्परा से मौखिक रूप में चले आते हैं।[1]

४ मारवाड़ी शैली के रासधारियों में मुख्य रूप से वैरागी साधु भाग लेते हैं। विषय धार्मिक ही रहते हैं। ये राम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज आदि से संबंधित रहते हैं। यह अधिकांश में नृत्य और गायन प्रधान है। ख्याल के मुकाबले में इसके नृत्य ज्यादा अच्छे होते हैं। इसके गीत मौखिक ही रहते हैं।[2]

५ यह राजस्थानी ख्याल का एक प्रकार है। इसमें बहुधा राम का संपूर्ण जीवन अंकित किया जाता है।

६ पहले जो रास अथवा अभिनय को धारण करे वही रासधारी कहलाता था। धीरे-धीरे सारे नाट्य का नाम ही रासधारी हो गया।

७. इनके लिए मंच आवश्यक नहीं।

८ रासधारियों की कुछ विशिष्ट जातियों द्वारा एक व्यवसाय के रूप में खेली जाती है। ये हैं भाट, मिरासी, और ढोली। यह इनका पुश्तैनी पेशा है।[3]

९ इनके काम करने वाले अपनी कला में बड़े प्रवीण होते हैं।

१० इनकी मंडलियाँ होती हैं और २०-२५ रुपये में लगभग सारी रात अपना तमाशा दिखलाती हैं।

११ इनके सिर पर साफानुमा जरीदार पगड़ियाँ और शरीर पर लम्बे घेरदार भग्गे होते हैं।[4]

---

१. राजस्थान के लोकानुरंजन, पृष्ठ ३६।

२. वही, पृष्ठ २५।

३. 'राजस्थानी लोकनाट्य' पुस्तक में इन जातियों के साथ 'बारहठ' और है।

४. राजस्थान का लोक संगीत, पृष्ठ ३३।

१२. 'नाट्य की कवित्व रचना भाट करते हैं, ढोली बहुधा सारंगी, शहनाई, नक्काड़े, ढोल तथा झांझ बजाने का कार्य करते हैं, किन्तु आजकल हारमोनियम और ढोलक ने भी स्थान पा लिया है। मीरासी और बारहठ नृत्य-गानका काम करते हैं।'[1]

११ २ राजस्थान के इन विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रासधारिया रासलीलाओ और रासमंडलियो से भिन्न हैं। रासमंडलियों का संबंध विशेषत व्रज से है। यह सामर जो के कथन से भी स्पष्ट हो जाता है।

"कृष्णलीला अथवा रासलीला का प्राधान्य मथुरा, वृन्दावन की ओर अधिक रहा है। पूर्वी राजस्थान, करौली, धौलपुर, भरतपुर आदि ब्रजभाषी क्षेत्रों में इनका प्रचलन अधिक दिखाई पडता है। रासलीलाओं में ब्रजलीला, चंद्रावली, माखन लीला, पनघट लीला, वल लीला आदि उपाख्यान प्रदर्शित किये जाते थे। जयपुर प्रदेश के फुलेरा क्षेत्र में भी रासलीला करने वाले मौजूद हैं किन्तु अब वहाँ उनका रूप विकृत हो गया है। अब ये कलाकार रासलीला शुरू करके थाली फिराते हैं और फिर नथाराम के ख्याल शुरू कर देते हैं।

रासलीला के प्रदर्शनो में मर्यादा और बंधन है। कृष्ण का मुकुट, स्वामी, ब्राह्मण या कुम्भावत ही पहन सकता है—।

इनमें नगाडा, हारमोनियम, ढोलक का प्रयोग होता है—।'[2]

११ ३ व्रज को रासमंडलियों में शास्त्रीय संगीत और शास्त्रीय नृत्य की प्रमुखता रहती है, यद्यपि वह नृत्य बहुत उच्चकोटि का नही होता। कृष्ण-लीलाओं में जो संवाद होते हैं उन्हें गद्य में तो अभिनेता ही कहते हैं पर संगीत का अंश रासमंडलियों के संगीत-समाज द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। तबला, ढोलक, हारमोनियम, सारंगी ही प्रधान वाद्य होते हैं।

११ ४ यहाँ तक के समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्रज के धार्मिक क्षेत्र में जन्म लेकर रासलीलाओं को मंडलियों का रूपान्तरण रासधारियों में हो गया।

१२ 'जाहरपीर' का गीत गानेवाले व्रज में नाथ जोगी ही मिलते हैं। ये मुसलमान भी हो सकते हैं। 'जहारपीर' के जागरण में ही जाहरपीर का गीत गाया जाता है। व्रज में जाहरपीर के जागरण के अवसर पर 'पट' लगाया जाता है। लोहे का कोडा भी रहता है, गायक पुश्तैनी ही होता है। कोई गायक डमरू या ड्यौरू बजाकर इस गीत को गाता है, कोई गायक सारंगी बजाकर गाता है। जाहरपीर के ये गायक बहुधा जागरण में ही गाते हैं। जागरण में गाने वाले देवी के भगत भी कुछ ऐसा ही साज रखते हैं। देवी की जात में तबला और बेली का उपयोग विशेष होता है। रात्रि-जागरण में देवी के भगत भी पट लगाते हैं और कोडा रखते हैं। एक विशेष प्रकार की भारी पोशाक भी एक भगत पहनता है। इस पोशाक पहनने वाले पर ही देवी की लहर आती है। जिन गायकों को जागरण करना होता है उनके देवता सिर आते हैं, और उनके

---

१. राजस्थानी लोक नाट्य, पृष्ठ २५-२८।

२ वही, पृष्ठ ३८।
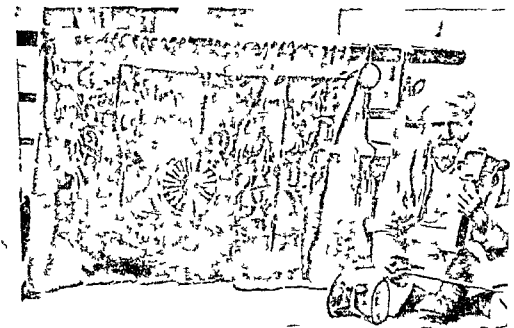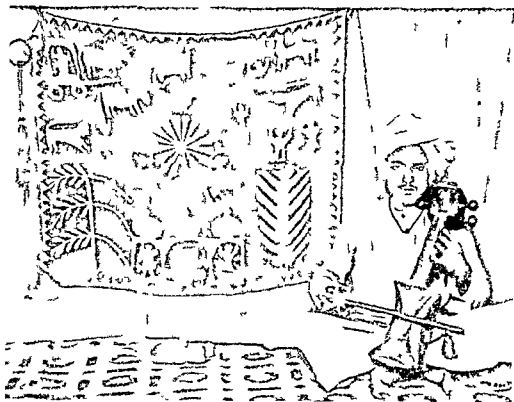
पास लोहे का कोडा अवश्य रहता है। चित्र में जाहरपीर का पट और कोडा स्पष्ट दिखायी पडता है। एक गायक डौरू वाला है। यह मथुरा का है। दूसरा गायक सारगी वाला है, यह आगरे का है। जाहरपीर के नाथ जोगी बहुधा व्यवसाय और जाति से पटवा होते हैं। देवी के भगत चमार, कोली, या कुम्हार होते हैं।

१२ १. राजस्थान में जाहरपीर या गोगाजी के गायक भी भोप होते हैं, उन्हें नाथ नही बताया गया।[1] देवी की भाँति ही जाहरपीर की मान्यता है, अत जाहरपीर के गीतो और गायको का रूप साप्रदायिक ही माना जायेगा।

नृत्य और नाट्य तथा गायक

१३. इन लोक गायको में हमें कुछ गायक तो ऐसे मिलते हैं जिनके गायन का नृत्य से सबध नही विदित होता, कुछ ऐसे हैं जिनका नृत्य-नाट्य स सबध हो सकता है।
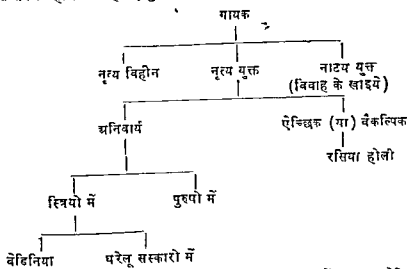
१३ १ केवल नृत्य से युक्त गीतो की गायक ब्रज में समवत बेडिनिया ही है। बेडिनियों की एक जाति ही होती है। गाना-नाचना इनका व्यवसाय है।

कुछ सस्कारो में गीतो के साथ घरों की स्त्रियो को नाचना भी पडता है।

सगीत-नाट्य' अथवा ऐसे गीत जिनमें नाट्य रहता है विवाह के अवसर पर खोइयो में विशेषत होते हैं।

१४. ऊपर लोक-गायको का जो उल्लेख किया गया है उससे स्पष्ट विदित होता है कि लोक-गायको के कितने ही वर्ग, क्षेत्र तथा जातियाँ हैं, किन्तु साथ ही यह भी विदित होता है कि लोक-गायको का ह्रास होता जा रहा है।

१५ लोक गायको के अपने-अपने वर्ग के विशेष गीतो के लिए जहाँ विशेष तर्जे होती हैं, वही विशेष वाद्य भी होते हैं, ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि इन गायको के साथ वाद्यो का उपयोग कुछ इस प्रकार है—

१. राजस्थान का लोक सगीत।

वाद्य

गायक	१ नगाड़ा	२ ढोलक	३ तबला	४ मंजीरे	५ सारंगी	६ डमरू	७ झांझ	८ घट थाली	९ डफ	१० चिकाड़ा
१. भगत के गायक	+	+	+	+	+	—	—	—	—	—
२. खयाल	—	—	—		—	—	—	—	+	—
३ रसिया होली गायक	+	+	+	+	+	—	—	—	—	—
४. जिकड़ी भजन के गायक	+	+	—	+	—	—	—	—	—	—
५. ढुलैया	—	+	—	+	—	—	—	—	—	—
६. अल्हैत	—	+	—	—	—	—	—	—	—	—
७. भोपा	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
८. सरमन	—	—	—	+	—	+	—	—	—	—
९. हिजड़े	—	+	—	+	—	—	—	—	—	—
१०. नट, कठपुतली	—	+	—	—	—	—	—	—	—	—
११. बेड़िन	—	+	—	+	—	—	—	—	—	—
१२. रासधारी	+	+	+	+	+	—	—	—	—	—
१३. नाथ जोगी	—	—	—	—	+	+	—	—	—	—
१४. भगत देवी	—	—	—	—	+	+	—	—	—	—
१५. सपेरा	—	—	—	—	—	+	—	—	—	—
घर में (स्त्रियों के)	—	+	—	+	—	—	—	—	—	—

	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
	मशकबीन	इकतारा	बेला या वेली	तुम्बी बीन	शहनाई	हारमोनियम	रावणहत्था	तदूरा या तबूरा	खड़ताल	खजरी
१	—	—	+	—	—	+	—	—	—	—
२.	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
३.	—	—	+	—	—	+	—	—	—	
४.	—	—	+	—	—	+	—	—	+	
५.	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
६.	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
७.	+	—	—	—	—	—	+	+	—	—
८.	—	—	+	—	—	—	—	—	—	—
९.	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
१०.	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
११.	—	—	—	—	—	+	—	—	—	—
१२.	—	—	+	—	—	+	—	—	—	—
१३.	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
१४.	—	—	+	—	—	—	—	—	—	—
१५.	—	—	—	+	—	—	—	—	—	—
१६.	—	—	—	—	—	+	—	—	—	—
१७. जोगी	—	+	—	—	—	—	—	—	—	—

[+ यह चिह्न उपयोग का द्योतक है। ± यह चिह्न यह बताता है कि यह कभी-कभी तथा कहीं-कहीं प्रयोग में आता है। -यह चिह्न यह बताता है कि यह प्रयोग में नही आता।]

१६ इन वाद्यों में से तार के वाद्य पाणिनी के समय में मिलते हैं। ये 'वीणा' कहे जाते थे। प्रतीत होता है कि ये समस्त तार वाद्य इसी वीणा के पुत्र-पौत्र हैं। झाँझ पाणिनी के समय में 'झर्झर' कहलाता था। घटयानो या ढोंक भी पाणिनी के समय के 'दार्दुरी' से निकली होगी। पाणिनी में 'दार्दुरिक' शब्द मिट्टी के घड़े के बाजे बजाने वाले के लिए आया है। जातक में भी 'कुम थूनिक' नाम के बाजे बजाने वाले का उल्लेख है, इसे टीकाकारों ने 'घटदद्दर-वादक' बताया है।

आधुनिक वाद्यों के मूल

१६ १. पाणिनी के उल्लेखों में इन्हीं वाद्यों का वर्णन हमें मिलता है। पट का उपयोग कर उसे दिखा और उसके विवरण बताकर (या गाकर) भिक्षा माँगने वाले जोगी का तथा सँपेरे का उल्लेख मुद्राराक्षस में भी हुआ है। सँपेरे या कालबेलिया उस समय कुछ गाते भी थे ऐसा कुछ संकेत मिलता है। पर इस नाटक में इनके गायक होने का स्पष्ट उल्लेख नहीं। आज के सपेरे जो सौर दिखाते फिरते हैं केवल तूंबी बीन बजाते हैं, गाते नहीं।[1]

१६ २ जायसी की पद्मावत में कितने ही वाद्य यंत्रों का उल्लेख तो है, उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके बजाने वाले विशेषज्ञ भी होंगे और वे उन वीनों के साथ गाते भी होंगे क्योंकि आईन-ए-अकबरी में जिन गायकों का नाम मिलता है उनके उस नाम रूप का आधार वाद्य ही है। नीचे आईने-अकबरी के उन गायकों के नाम दिये जाते हैं जिनके वाद्य यंत्रों का उल्लेख पदमावती में है —

---

१ राजस्थान में प्रचलित वाद्यों का एक वर्णन 'परम्परा' में भी मिलता है। 'लोकगीत और साज' में श्री कोमल कोठारी जी ने ये वाद्य बताये हैं। तारवाद्य—सारंगी, कामायची, जंतर, रवाज, रावण हत्या, इकतारा, तंबूरा (वीणो, चौतारो या निशान)। फूक वाद्य—बांसुरी (वंशी), अलगोजा, शहनाई, टोटो, पूंगी, नड, बरगू और बांकिया, शंख, सींगी। तालवाद्य—ढोलक (धोलक), मादल, मृदंग ढोल (एहडा का ढोल, सेर का ढोल, जोरी का ढोल, मटकी का ढोल, ढमंका रो ढोल) नगाड़ा, नौबत, धूंसो, चंग, दफड़ा, डफ चंगड़ो, खंजरी, ढीबको, अपंग, मटकी, डमरू। मशक का उन्होंने नया बाजा बताया है। इनके बजाने वाले ये हैं—लंगे, शेख (माँगणियार) बगडावतों की कथा के गायक, राव-भाट, भोल और भोपे, गोसांई, नाथपंथी-स्वामी-कालबेलिये, बलाई-रमनामी-बीसनामी, रामदेवा, फकीर-साईं, हीजड़े, मदारी।
देखिए—परम्परा, चैत्र, संवत् २०१३ पृष्ठ १४६-१५६,

आईने अकबरी		पद्मावत का वाद्य	आईने अकबरी	तद्विषयक पद्मावत के वाद्य
गायक	वाद्य		वे वाद्य जिनका स्वतन्त्र उल्लेख है वादक के साथ नहीं	(पद्मावत–५२७ छंद पृ० ५६२)
			तत	
१. वैकार			१. यन्त्र	जन्त्र
२. सहकार			२ वीणा	बीन
३ कलावत			३ किन्नर	
४. ढाढी (पंजाबी	१. डड्ढ		४. सर-वीणा	
गायक)	२ किंगर		५. अमृती	अँविरती
५ कव्वाल			६ रबाब	रबाब
६ हुडकिया	१ हुडक	हुरुक	७. सरमण्डल	सुरमंडल
	(पुरुषों द्वारा)		८ सारंगी	
	२. ताल		९. पिनाक या	पिनाक
	(स्त्रियों द्वारा)		सुरवितान	
७ ढफजन	१ डफ	डफ	१०. आघोती	
	२ हुड्डुल		११ किंगर	
८. सैजद ताली	१ बड़े ढोल		वितत	
	(पुरुष)		१२ पखावज	पखाउझ
	२ तरह ताली		१३ आवज	आउझ
	(स्त्रियाँ)		१४. दुहुल	
			१५ डड्ढ	
९. नटवा	१. पखावज		१६. मर्दावज	
	२ रबाब		१७. डफ	डफ
	३ ताल		१८ मंजरी	
१० कीर्तनिया	प्राचीन वाद्य		घन	
११ भगतिया	—			
१२. भँवय्या	१. दुहुल		१९. ताल	झाँझ
१३. भाड	२. ताल		२० कठ-ताल	घनतारा
	१. पखावज		सुषिर	
१४. कंजरी	२ रबाब	पखाउज	२१ शहनाई	
	३ ताल	रबाब	२२. मदक	
१५. नट	१ ताल		२३. मुरली	बाँसि
	२. दहुल		२४. उपंग	उपंग

१६·३. आज के गायक जिन वाद्यों का उपयोग करते हैं उनमें से जिनका नाम हमें अकबर के समय में मिलता है वह नीचे की तालिका से प्रकट होगा:—

आधुनिक वाद्य	१	२	३	४	५	६	७	○ ८	९	* १०	+ ११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
जायसी में	×	×	×	×	×	+	अ +	×	आ +	×	×	×	×	इ +	+	×	×		×
अकबर के समय के	×	×	×	×	+	×	×	×	+	λ	+ h	×	×	×	+	×	×		×
अष्टछाप	a ×	b पटह	×	c +	d +	e +	f +	×	g +	×	×	×	×	k +	+	×	×		×

(a) तहाँ घुरें निसान नगारे की ध्वनि रह्यौ घाव सब गाज (कृष्णदास) अ० वाद्य० पृ० ३६।

(b) 'वाजत पटह निसान अहो होरी होरी है। (सूरदास) (वही पृ० ३६)। संगीत पारिजात में उल्लेख है कि 'पटह (ढोलक) इति भाषाया।'

(c) वाजत बीना मृदंग बाँसुरी उपंग चंग मदन भेरि ढफ झाँझ झालरी मंजीर। (कृष्णदास) वही पृ० ४८।

(d) इतहू बाजे बाजन लागे दुन्दुभी धौंसा गाजे। रुंज मुरज आवज सारंगी यंत्र किन्नरी बाजे। (परमानददास) वही, पृ० १६।

(e) खुनखुना कर हँसत मोहन नाचत डोल बजाय (सूरदास) वही, पृ० ४०।

(अ) औ तेहि गोहन झाँझ मजीरा। (पदमावत) ५२७।६।

(f) झाँझ झनक खजीर बजै भई झालर की झनकारें (कृष्णदास) (अ० वाद्य पृ० ४८।)

○ पाणिनी काल में इसका उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण तथा सांख्यायन आरण्यक में भूमि दुन्दुभि का वर्णन आता है। यह एक गढ़ा खोदकर तथा उसको चमड़े से ढक कर बनायी जाती थी और महाव्रत के समय बजायी जाती थी। (अ० वाद्य०) संभव है कि इसी से दुन्दुभी और घट वाद्य का जन्म हुआ हो।

(आ) हुडुक बाज डफ बाज गँभीरा (जायसी—५२७)।

(g) डफ बाँसुरी सुहावनो, रंग भीजी ग्वालिनि। (सूर) (अ० वाद्य० पृ० ४२)।

* संभवत: रावणहत्था ही 'चिकाडा' है।

\+ 'पोपले' ने 'श्रुति उपंग' नामक एक वाद्य का उल्लेख किया है, उसके लक्षण 'मसक वाद्य' से मिलते हैं।

(h) इसे आइने-अकबरी में केवल मसक लिखा गया है।

(इ) महुवरि बाज बसि भल पूरा (जायसी ५२७)।

(k) महुवरि, बाँसुरी, चंग लाल रंग भीजी ग्वालिनि (सूरदास) (अ० वाद्य०, पृ० २२)।

इस वर्णन से हमारा अभिप्राय वाद्यो का परिचय पाना नही, वरन यह बताना है कि इतने वाद्य हैं तो इनके साथ कुछ विशिष्ट गायक भी होगे ही। जैसे, 'मशक' वाद्य किसी वादित्र-समूह में सम्मिलित नही दिखायी पडता। स्पष्ट है कि वह किसी न किसी गाने वाले से सबधित होगा। मशक वाद्य का जन्म कब और कैसे हुआ, यह विदित नही, पर यह सिवाय भैंरो जी के भोपे के और किसी के द्वारा उपयोग में आज नही आता। लगता यह है कि पहले भी यह शायद ही किसी दूसरे के उपयोग में आता होगा। अत: भैंरो जी के गायक भोपे को अकबर के समय तक तो माना ही जा सकता है।

शांति ऑकडियाकर

मध्यकालीन गुजराती वाङ्मय में* मीताक्षरी परिचय

नरसी मेहता

नरसी मध्यकालीन गुजराती के आदि कवि माने जाते हैं। क्योंकि रस-दृष्टि से देखते हुए मन को मुदित करने वाली कविताएँ सर्व प्रथम और विपुल प्रमाण में उनके द्वारा ही गुर्जर वाङ्मय में प्रारंभ और फिर प्रवाहित हुईं। उनकी तुलना और गणना हिंदी के कवि सूरदास जी के साथ की जा सकती है। उनका व्यक्तित्व अग्नि की भाँति अविकारी और नितांत पवित्र था। नरसी के श्रीकृष्ण का स्वरूप, द्वारिकाधीश सम्राट अथवा कुरुक्षेत्र के तत्त्व दृष्टा जैसा नहीं था, अपितु हास विलास की अनेक तरंगों से तरंगित अनंत सौंदर्य का उदधि था। उस स्वरूप के प्रेमालंबन के समक्ष उनका भक्त-हृदय कोई अनूठे और दिव्य प्रेमलोक में सोत्साह विहार किया करता था। आठों प्रहर श्रीकृष्ण भक्ति में चकनाचूर रहते नरसी को दुनिया की, दुनिया की विविध विचित्र सृष्टि की, तनिक भी परवाह नहीं थी। मध्यकालीन गुजराती कविता उनके द्वारा ही सर्वोत्कृष्ट ऊर्मि काव्य प्राप्त कर सकी।

नरसी की सर्वप्रथमता की एक और दिशा भी है: उनके पूर्व के चार गणनीय जैनेतर कवियों ने लंबी रचनायें की थी जबकि नरसी ने सर्व प्रथम ही फुटकल पद लिखने का प्रारंभ किया।

उनका प्रेरक बल भक्ति था, फिर भी गुजराती कविता भंडार में उनके ऊर्मिगीत, कविता देवी के सुन्दर समृद्ध पत्र में ही हमें प्राप्त हुए हैं। भक्ति की उनकी तन्मयता उनकी सौंदर्य दृष्टि और सौंदर्य सृष्टि को भी प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकती है। अद्भुत विश्व लीला के प्रतीकसम श्री कृष्ण की रासलीला को अक्षुण्ण रस से गाते समय एवं गोपीभाव धारण करके कृष्ण को अपने संग रासलीला खेलने निमंत्रित करते समय, भक्त नरसी, कवि नरसी बनकर ही रहते हैं। कवि की उत्कट रसिकता किसी समय उनसे 'सामल रे तु सजनी मोरो' जैसे सुहागी सुभागी ऊर्मिगीत की रचना कराती है तो कभी

* दे०—भारतीय साहित्य वर्ष ५ अंक १ पृष्ठ ३५।

'चालो रे वरनो पालखी' जैसे मानव की अंतिम यात्रा का सुंदर और वास्तविक शब्दचित्र हमारे सामने प्रस्तुत कराती है। कभी वही उत्कट रसिकता कवि के द्वारा वेदांत का निरूपण करती हुई 'ते ज हु ते ज हु' के रूप में प्रस्फुटित होती है। इस भाँति नरसी भक्त और कवि के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

उनकी साधना अनुपम थी और आराधना सौंदर्यमयी। अपने अद्वैत ज्ञान से वे भारत भर में प्रसिद्ध हैं। उनके ईशभक्ति के पद मानो स्फुट देववाणी है। उन्होंने सर्वत्र पद के काव्याकार को अपनी सर्वशक्ति का वाहन माना है। श्रीमद् भागवत् में से अथवा प्रभास खंड में से; गीत गोविंद में से अथवा पूर्व के लोकप्रिय फागु काव्यों से जो भी प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रेरकबल उनको प्राप्त होता था उसका झेलने वाला वह काव्य प्रकार और काव्याकार, उनकी रचनाओं के प्रचार के लिए भी नितांत उपयोगी साबित हुआ एक एक छोटे पद की रचना होती रहती, और नरसी के स्वयं के मुख से वह गाई जाती। फिर इर्द-गिर्द के साधू-साध्वी विष्णुराम वा कहानदास, मानबाई और सुरसेना—उन पदों को कंठस्थ करते रहते। तत्पश्चात् उन साधू-साध्वियों के द्वारा भक्त नरसी के पद समाज के विशाल क्षेत्र में पहुँच जाते। इसलिए उनके पद कभी तक किसी ने अक्षरस्थ नहीं किये। यही कारण है कि वर्तमान में ये पद मूल भाषा में मिलना दुर्लभ हो गये हैं, चूंकि परिवर्तनशील भाषा के साथ-साथ पुरानी गुजराती के मूल शब्द-रूप भी बदलते चले आये हैं। नरसी के पदों में आज हम नितांत अर्वाचीन गुजराती का दर्शन करते हैं।

मीराबाई

साहित्य के इतिहास में यह घटना अद्वितीय है कि एक राजकुमारी और युवराज्ञी आजन्म कवियत्री हो, वह 'घायल की गति घायल जानें'—ऐसे दर्द से पीड़ित हो, प्रेम दीवानी' हो, और प्रभु के लिए उसका प्रेम इतना तो उत्कट हो कि 'तम रे विना हुँ तो जनम जोगण छु'—ऐसी भावाढ्य पंक्तियाँ उसके मुँह से निकल जायें! राजकवयित्री मीराबाई मध्यकालीन भारत की संसार को एक अमूल्य भेंट है। उनका जीवन सर्वत्र विदित है। उनकी कविता से भी सब भलीभाँति परिचित हैं। हम यहाँ केवल मीराबाई के हृदय को गुजराती दृष्टि से देखने की चेष्टा करेंगे।

मीराबाई के जमाने में गुजराती और राजस्थानी के बीच तात्त्विक भेदन की भाँति था, इसीलिए मीराबाई ने अपने पदों की रचना तो की थी पुरानी पश्चिमी राजस्थानी अथवा पुरानी गुजराती में, परंतु नरसी की तरह उनके पद भी आज अर्वाचीन गुजराती में ही दृष्टिगोचर होते हैं।

संसार के बंधनों की सतह से ऊपर जाकर मीरा ने अपने अपूर्व संवेदनों को उच्च वैराग्यमयता से गाया है। उन्होंने सगे-रिश्तेदारों की माया का त्याग किया साथ ही साथ अद्भुत धैर्य से लोक लज्जा को भी छोड़ा। फलस्वरूप उनके मुँह से अपने अवतार को धन्यवाद देते हुए 'हवे हुँ तो बडभागी रे' उद्गार निकले। जिन मथुरावासी 'प्राण पियाजी' के साथ मीरा का आत्मलग्न स्वयसिद्ध था, उनके विरह की सूक्ष्म व्यथा

में 'सेजलडी तो मूने सुनी रे लागे, रडता ता रजनी जाय' इतना विप्रलभ शृगार, उन अलौकिक देवपति को 'मारा भव भवनो भरथार' कहने वाली यदि खुशी से गा ले तो असूक्ष्म के एसे एकाध सूचन भी उनके लिए क्षम्य है। शप के प्रत्येक पद में, जहाँ कि वह अपने दरस की तरस तीव्र सवेग से गाती है, भावा की निरी निर्मलता के और मृदुता के सिवा, भाषा की मुग्धकर सरलता के सिवा, अन्य कुछ नही है।

एक सवाल उठ सकता है कि मीरा ने ईश्वर के मिलन की अपेक्षा उनके वियाग को ही अधिक अनुपात में क्यो गाया और प्रदर्शित किया ? गहरी गहरी बसी वजाते कृष्ण ने 'नारवेल प्रेमनी दारी'—के अनुभव उनके पास बहुत कम है जबकि 'पियुजी पारधी' की प्रेम—तलवार के 'कारी घाव' के सवेदना की प्रचुरता उनके हृदय में क्या है ? वह 'दासी जनम जनम की', उसने 'ताहारे कारन सब सुख छाँडियाँ', फिर भी उनका 'अब मोहें क्यो तरसाओ प्रभुजी —यह क्या गाना पडता है ? तुम प्रीति तोड डालागे परतु मैं तोडने वाली नही, तुम सरवर तो मैं मछली, तुम मोती ता मैं धागा, तुम सोना तो मैं सुहागा एसे भाव वह बारम्बार क्यो गाती हैं ? उन रगभीगे रासधारी को, उन प्राणप्यारे को, पियुजी पारधा को बारम्बार वह यह कहकर क्या पुकारती है कि, शीघ्र आकर वे दासी के दुख दूर करें ? वनैये के मुख की उन्हें माया लग गई थी, फिर भी उनके दर्शन के 'मुखडु म जोयु तारु —जैसे गीत, उनके लगभग ढाई सौ पदो में से, बहुत ही कम मला क्या मिलत है ? क्योकि—

आखिर वह भी एक नारी थी। इससे उनके बाह्य जीवन की विडबनाएँ भी प्रचुर थीं। उन तकलीफो के कारण हृदय में बारबार क्षोभ उत्पन्न होता था, भक्ति में भग पडता था। कुछ भक्त हृदयो की विशिष्ट वृत्ति स्थिति थी इसका एक दार्शनिक कारण हो सकता है। ज्यो ज्यो मीरा विशेष प्रमाण में हरि रस का आस्वादन करती जाती हैं, निद्रा की प्रेरक 'अज्ञाननी काटरी' स निकलकर 'प्रम प्रकाशमा हु जागी — यह कहने की सामर्थ्य उनमें बढती जाती है, त्या-त्या उनकी इसका तृपा में भी वृद्धि होती रहती है, प्रवास की विरह वदना अधिक जागृत होती रहती है। वह जितने अधिक समय 'अनहद का झनकार' सुनती हैं, 'राम-रोम रगसार' का अनुभव करती हैं, अथवा जो 'बरसत रग अपार' में नहाकर सद्य स्नाता होती हैं उतनी ही वह अधिक दुसह और आकुल व्याकुल हो उठती हैं। उनकी विरह वदना फिर विशप कष्टकर हो जाती है। मीरा ने उस झनकार का, रगसार का रग अपार का अनुभव किया अधिक, पर उन सबको गाया कम। क्योंकि वे वाणी क्षम स अनिर्वाच्य अधिक होते हैं। मीरा की उपरात दिव्य और उत्कट विरह वदना, सन्ध्या में कम पर मोहक पदावलिया में मूर्त्त हुई। फलस्वरूप गुजराती का सदा क लिए उच्चकोटि क ऊर्मिगीत प्राप्त हो गये।

पद्मनाभ

विसलनगर का नागर ब्राह्मण पद्मनाभ मारवाड के जाहलोरपति अखेराज का राज कवि था। उसकी कृति "कान्हडे प्रबध उपरान्त नृप का पचम पीढ़ी क पूर्वज कान्हडदे की पराक्रम गाथा है। 'कान्हडदे प्रबन्ध में वह काव्य (कवित्व) के तमाम गुण विद्यमान् हैं।

यह कृति 'रणमल्ल छंद' के पश्चात् यों प्रथम ही वीररसिक कृति है। कविता की दृष्टि से देखते हुए, ऐतिहासिक पात्रों के द्वारा रणपरिवेश तथा चित्रात्मक वर्णन करने वाले गर्जन के नाते पद्मनाभ प्राचीन गुजराती के जैनेतर कवियों में अद्वितीय है। इतिहास प्रसिद्ध कृति "कान्हडदे—प्रबंध" की कथा इस प्रकार है—

पाटण में उस जमाने में करणवाघेला नामक एक राजा राज्य करता था। उसका माधव नामक एक मंत्री था। किसी कारणवश माधव करणवाघेला से नाराज हो गया और क्रुद्ध होकर दिल्ली के मुस्लिम बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के पास जा पहुँचा। माधव खिलजी बादशाह से फरियाद करता है: हे बादशाह! करणवाघेला ने मेरे भाई की पत्नी का हरण करके राज-पद का नाश कर दिया है। इसलिए आप अपने लश्कर का, कृपया मेरे साथ भेजिए। मैं गुजरात का जीत कर आपके सुपुर्द करूंगा। बादशाह ने माधव के साथ लश्कर भेजा। लश्कर को गुजरात में जाने के लिए कान्हडदे के राज को पार करना पड़ता था। इसलिए माधव ने कान्हडदे को संदेश भेजा कि बादशाह सलामत के लश्कर को अपने राज से होकर गुजरने की इजाजत दें। परन्तु हिन्दू धर्माभिमानी राजा कान्हडदे ने मुस्लिम सेना के सिपाहियों का अपने राज-पथ से होकर गुजरने की मंजूरी नहीं दी। फलतः यह सेना चुपचाप अन्य रास्ते से होकर गुजरात में मोडासा शहर की ओर चल पड़ी। मोडासा के उस वक्त के भूप राउत बतडे की यवन सेना से किसी कारणवश दुश्मनी थी। उसी मुस्लिम सेना को अपने राज पथ से होकर गुजरती देख राउत बतडे ने अपनी सेना के साथ उन सिपाहियों पर हमला किया। खूंखार लड़ाई हुई। उस लड़ाई में राउत बतडे भी काम आया। राउत बतडे की मृत्यु के बाद मुस्लिम सेना, प्रजा पर घोर अत्याचार करती हुई पाटण की ओर आगे बढ़ी। पाटण में इतनी बड़ी मुस्लिम सेना देखकर करण वाघेला गुप्त रीति से चुपचाप भाग गया, उसकी रानी भी उसके साथ भाग गई। मुस्लिम सेना ने पाटण एवं समस्त गुजरात पर अपना अधिकार कर लिया। गुजरात की प्रजा पर उन सिपाहियों ने घोर अत्याचार भी किये। फिर चापानेर का अजेय गढ़ जीता। सौराष्ट्र के ऊपर भी अपना शासन जमा लिया। किन्तु सौराष्ट्र के राजपूत यों हार मानने वाले नहीं थे। सोमनाथ मंदिर के पास पुन. राजपूत और यवन सेना के बीच भीषण युद्ध हुआ। उस लड़ाई में माधव की मृत्यु हो गई। सौराष्ट्र के बाद कच्छ और ठेठ सिंध तक मुस्लिम सेना ने लोगों पर अत्याचार किये। दिल्ली लौटते वक्त उन सिपाहियों ने कान्हडदे के ऊपर भी हमला किया। किन्तु कान्हडदे की वीर राजपूत सेना ने अभिमानी मुस्लिम सिपाहियों को बुरी तरह पराजित किया। मुस्लिम सेना के सेनापति अलूखाँ के पास से कान्हडदे विख्यात सोमनाथ महादेव का लिंग, जो कि अलूखाँ ने सोमनाथ की लड़ाई के वक्त सोमनाथ का पुराना मंदिर, तोड़कर निकाल लिया था, छीन लिया। कान्हडदे ने उस लिंग के पाँच भाग किये और उन्हें क्रमशः सौराष्ट्र के सोमनाथ में, बागड (बड़ौदा के इर्दगिर्द वाला प्रदेश) में आबू पर्वत पर, जालहूर में और अपने राज महालय की वाड़ी में पुन स्थापित किया।

'कान्हडदे प्रबंध' के दूसरे भाग में जालहुरदुर्ग के रक्षक समियाणा की शौर्य गाथा है। मुस्लिम सेना की पराजय के बाद अलाउद्दीन खिलजी ने स्वयं जालहूर के दुर्ग के आजू बाजू अपने बाकी के लश्कर को जमा किया। किन्तु कान्हडदे के भतीजे सातल

और उसके वीर साथी सिपाहियों ने अलाउद्दीन तथा उसके सिपाहियों की जरा भी परवाह न की और न दुर्ग को पराजित होने दिया। आखिर अलाउद्दीन ने एक युक्ति निकाली। अलाउद्दीन ने अपनी उस युक्ति में हिंदुत्व की अनुभूति की निर्बलता का सहारा लिया। उसने दुर्ग के बाहर से ही दुर्ग के अंदर आए हुए तालाब में गो मांस के टुकड़े डलवाये। दुर्ग के अंदर वह तालाब ही एकमात्र जलाशय था। गो मांस के कारण वह दूषित हो गया। किले के अंदर के लोगों को तृषा बुझाने का कोई भी साधन न रहा। फलत राजपूतानियों ने जौहर किया। राजपूतों ने दुर्ग के द्वार खोल दिये और यवन सेना के साथ मुठभेड शुरू की। तीन प्रहर की खूंखार लड़ाई के बाद सातल की मृत्यु हो गई। आगे चलकर 'कान्हडदे प्रबंध' विग्रह के बाद बारह सालों की घटनाओं का वर्णन करता है। मुख्य वर्णन तो है कान्हडदे के पुत्र वीरमदे और अलाउद्दीन की शहजादी पिरोजा के बीच प्रणय का। पिरोजा ने संधि के लिए भी यत्न किये थे। वीरमदे की मृत्यु के बाद पिरोजा जीवन की नीरसता को स्वीकार करती हुई यमुना के जल में कूद पडी, और वीरमदे से स्वर्ग में मिलने के लिए फानी दुनिया छोड गई। सारी कथा अद्भुत रस और करुण रस से भरपूर है। सारी कथा में कई छंद और कई राग-रागिनियाँ इस्तेमाल हुई हैं।

तेरहवीं शताब्दी:

सन् १२१० म महेंद्रसूरि नामक जैन कवि और मुनि के धर्म नामक शिष्य ने 'जंबू सामि चरित्र' नामक चरित्रात्मक कथा-काव्य लिखा। धर्मजी ने उस काव्य में अपने गुरु के गुणों का वर्णन किया है। सन् १२३१ के करीब विजयसेन सूर नामक एक जैन मुनि ने 'रेवतगिरि रासो' नामक कथा-काव्य लिखा। उस काव्य में गिरनार (जूनागढ सौराष्ट्र, पर्वत पर के जैन मंदिरों का वर्णन और उन मंदिरों के जीर्णोद्धार के लिए 'अपील' है। कथा काव्य धार्मिक प्रकार व प्रसार का है।

चौदहवी शताब्दी:

सन् १३१५ म अंबदेवसूरि नामक एक जैन मुनि ने समरा रासो' नामक एक कथा काव्य लिखा। इस कथा काव्य में संघपति और स्तवनकार समरसिंह का जीवन वर्णित है। कथा काव्य का प्रकार है चरित्रात्मक। सन् १३५६ में विनयप्रभ नामक जैन मुनि ने गौतम स्वामी रासा' नामक कथा काव्य लिखकर रासनायक गणधर गौतम के गुणों का वर्णन किया है। उस कथा काव्य में सर्व प्रथम गुजराती प्रकृति वर्णन नजर आता है। सन् १३६१ में असाईन नामक एक कवि का 'हंसाउली' नामक एक कथा काव्य मिलता है, जो भ्रातृ विरह की एक अद्भुत एवम् रसिक लोक-कथा है। विरह के कथा काव्यों की सूची में 'हंसाउली' का नंबर प्रथम आता है।

पद्मनाभ प्रासंगिक तादृश्य शब्दचित्र अंकित करने में और नगर, उत्सव, युद्धादि के वर्णन करने में जितना कुशल है ठीक उतना ही वह प्रसंगानुसार तत्कालीन समाज के मानस, रीतिरिवाज, आदि के प्रकाशित करने में भी सिद्धहस्त है।

भालण

भालण संस्कृत का व्युत्पन्न पंडित है। उन्होंने ही गुजराती में सर्व प्रथम कादंबरी का अनुवाद किया। उपरांत कुछ संस्कृत ग्रंथों का गुजरातीकरण भी किया। व्यास, वाल्मीकि, श्री हर्ष, बाण आदि की अलौकिक प्रतिभा के प्रसाद का ग्रहण करने की शक्ति, अथवा उस प्रसाद को ग्रहण कराने की विद्वता, रसिकता और कला भालण के पूर्व और किसी गुजराती में दृष्टिगोचर नहीं हो पाती है। भालण ने ही अपनी बहुविध योग्यता के कारण आर्य संस्कृति के उन अमर अक्षय पात्रों में से यदृच्छया रस भरी चीजें बनाकर प्रीति सवि जाय' ऐसी 'संस्कृत कठिन' से मातृभाषा के रूप में लोगों के समक्ष, प्रेमपूर्वक रखी। यद्यपि पाटण तथा पाटण के आसपास के प्रदेश के निवासी, 'मुग्ध रसिक' नागर, एवम् दूसरे सस्कार पाच्छु, उपरान्त पथ्य मानसिक मिष्टान्नों के सही अर्थ में शौकीन थे। भालण की सर्वतोमुखी प्रतिभा का मुख्य कारण उनके गुरु श्रीपाद जी की कृपा मानी जाती है।

शृंगार, करुण और वत्सल रस भरी उनकी कृतियाँ जैसे कवि के कृति समूह में उत्कृष्ट हैं वैसे मध्यकालीन भारतीय साहित्य में भी महत्वपूर्ण हैं। गुजराती भाषा की सीमाओं के बाहर भी भालण ने अपना महत्व स्थापित किया है। सर्वप्रथम 'कादंबरी' का गुजराती काव्य में रसात्मक अनुवाद करके, तथा अन्य भाषा के साहित्य की तुलना में हम भी सगर्व और गौरवसहित अपना हस्त आगे बढ़ा सकें वैसा अद्भुत रस आलेखित करके उन्होंने गुजराती का मूल्य बढ़ा दिया है।

'कादंबरी' की रचना करके मध्य काल के कवियों की प्रथम पंक्ति में स्थित भालणने गुजराती साहित्य की दो रीति से गणना योग्य सेवा की है—(१) उन्होंने सर्व प्रथम 'गुर्जर भाषा' का प्रयोग किया, (२) उन्होंने आख्यान पद्धति के काव्यों का विशाल प्रमाण में प्रारंभ किया और यह करके नाकरसे लेकर प्रेमानंद तक के कवियों के वास्ते आख्यान पद्धति की रचनाओं की एक नितांत नई दिशा का उद्घाटन किया, जिसका लाभ मध्यकालीन कवियों में से दयाराम ने भी लिया एवम् अर्वाचीनों में से 'वेनचरित्रकार' दलपतराय ने मेघदूत' अनुवादक केशवलाल ध्रुवने, और 'उत्तर सुदामा-चरित्रकार' सुंदरम् ने लिया।

ईस्वी के पंद्रहवें शतक के उत्तरार्ध में और सोलहवें शतक के पूर्वार्ध में लगभग तीस जितने उपकवि और पद्यकारों का पता चला है। कवित्व की असाधारणता से नहीं परंतु काव्य विषय, भाषा और पद रचना की दृष्टि से देखने से, कुछ न कुछ मध्यकालीन विलक्षणता के प्रति विवकारों के रूप में उनमें से कोई पन्द्रह जितने साहित्यकारों की रचनाओं का विहंगावलोकन कर लेना यहाँ उचित ही समझा जायेगा। निम्न सात अक्षर आराधकों को हम सर्व प्रथम देखेंगे—(१) नाकर (२) माडण बधारो (३) भीम (४—५) भालण पुत्रद्वय: उद्धव और विष्णुदास (६) केशवदास कायस्थ (७) मधूसूदन व्यास।

नाकर (१५१६-६८)

वैश्य। बडौदे के निवासी। अब तक के कवियो की अपेक्षा नाकर ने जबरदस्त काव्य रचना की। गुजरात के सर्वप्रथम महाभारतकार नाकर माने जाते हैं। वह स्वय संस्कृतज्ञ नही थे। इससे गुरुमुख से श्रवण करके उन्होने पुराणादिक आख्यानो की गुजराती में रचनाएँ की। स्वय वणिक थे इसलिए कथाकार के व्यवसाय को वह स्वीकार नहीं कर सकते थे। इससे उन्होने मदन अथवा मदनसूत नामक वैदिक वर्ग के एक मित्र को उसकी उपजीविका के लिए दस महाभारत पर्व, नल, ध्रुव, हरिश्चन्द्र, अभिमन्यु, चन्द्रहास, लवकुश, मोरध्वज आदि बीसियो आख्यान लिख दिये थे। उन आख्यानो में उन्होने भालण की काव्य पद्धति का अनुकरण किया है। नाकर की भाषा सरल, लाघव युक्ति, और वेधक है। उन्होंने ही गुजरात के अमर और समर्थ महाकवि प्रेमानद को 'कच्चा सामान' दिया।

माडण बंधारो (१४८०)

माडण जाति से बधारा (रेशमी कपडो को रोशनदार करने वाला गुजराती वर्ग) था। उसकी तीन कृतियाँ प्राप्त हैं :

(१) प्रबोद बत्रीशी, (२) रामायण, (३) रुक्मागद कथा। अंतिम रचना एक पौराणिक आख्यान है। बीच का काव्य निराडबर आख्यान पद्धति का सुन्दर नमूना है। उसका प्रथम काव्य महत्त्वपूर्ण है। उसमें जो ज्ञानगोष्ठि है, लोकोक्ति और कहावतो का बाहुल्य है, छप्पय है वे सबके सब माडण को एक प्रतिभाशाली कवि ठहराते हैं। फिर भी उसके काव्यो में उपदेशक वृत्ति की प्रचुरता कृतियो को शिथिल बना देती है।

प्रेमानद नाकर के ऋणी हैं। इस भाँति अखो माडण के ऋणी हैं। दोनो उदाहरणो में अनुगामी कवि विशेष प्रतिभाशाली हैं—प्रेमानद समर्थतर कलाकार, अखो गहनतर आत्मानुभवी।

भीम (१४८५)

बोपदेव के भागवतसार के आधार पर सोलह कलाओ से 'हरिगुण' गाने की रीति को अगीकार करने वाला है। उसने 'हरिलीला षोडशकला' नामक रचना की है। तदुपरात पडित कृष्ण मिश्र कृत प्रसिद्ध रूपक ग्रथ मय सस्कृत नाटक 'प्रबोध चद्रोदय' का सक्षिप्त अनुवाद 'प्रबोध प्रकाश' नाम से उसने किया है। सामान्यतया वह ब्राह्मणेतर होगा।

उद्धव तथा विष्णुदास (१५००)

पिता के पश्चात् पुत्र भी काव्य प्रदान करे ऐसी दुर्लभ प्रणाली को भालण के पुत्रद्वय ने बनाये रखा है। उद्धव में पिता की रामभक्ति के सस्कार थे। वह संस्कृत ज्ञाता था। इसलिए उसने सुन्दर काड तक रामायण का कडवाबद्ध भाषातर किया। विष्णुदास के द्वारा उत्तरकाड के केवल दो कडवे ही गुजराती साहित्य को प्राप्त

हो सके हैं। हो सकता है उसकी और रचनाएँ भी होगी और संशोधकों की दृष्टितले नही आ पाई होंगी।

केशवदास (१४४३)

प्रभास पाटण का निवासी। कायस्थ ब्राह्मण। उसकी रचना श्रीकृष्णलीला काव्य', 'सारोध्धारी काव्य' माना गया है। क्योंकि उसमें कवि ने भागवत् के दशमस्कंध के उपरांत हरिवंश एवम् दूसरे पुराण, दंतकथाएँ आदि का उपयोग किया है। काव्य कोई सात हजार पंक्तियों का है। बहुत ही उच्चकोटि का है।

मधुसूदन व्यास (१६५०)

सांसारिक विषयो के कवि के रूप में ज्या.ह जाहिर है। उसके काव्यो में करुण-रस बहुत अच्छा है, उपरांत वह शब्द और अर्थ के अलंकार औचित्यपूर्वक प्रयोग में लाता है। भारत के भूगोल का वह बहुश्रुत विद्वान भासित होता है। वन, नगर आदि के वर्णन वह बहुत ही रसदायक कर सकता है। 'हंसावती विक्रमकुमार चरित'— उसकी पद्य कहानी है।

उपरोक्त सातों के सिवा जो विद्वान शेष रहते हैं उनमें से आमोद निवासी कायस्थ गणपति (१५१८) ने सुंदर युवान माधव और लावण्यमयी काम कुंडला की शृंगाररस प्रधान कहानी 'माधवा नल काम कदला दोधक'—की रचना की है। संस्कृतज्ञ और व्यवहार दक्ष नरपति (१४६८) वे नंद बत्रीसी' तथा 'पंच दण्ड' नामक प्रवाहवती एवम् रुचिकर रचनाएँ की हैं। वैष्णव वासु (१५००) ने करुणरस प्रधान और बोध परायण 'सगालशाख्यान' की रचना की। युवान चर्तुभुज (१५२०) ने भी एक फागुकी रचना की। वीरसिंह (१४६४) ने 'उदाहरण' और कर्मण मंत्री (१४७०) ने 'सीताहरण' की रचना की। 'सीताहरण' के लेखक ने कान्हाडदे प्रबंध' का अनुकरण और अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। ईसर बारोठ ने (१५६०) 'हरिरस' बस्ता डोडिया ने (१५६८-६७) 'शुकदेवाख्यान' की रचनाए की। विष्णुदास (१५६८-१६१२) के कोई चालीस आख्यान उपलब्ध हैं। उनमें से दो नरसी मेहता के जीवन के संबंध में हैं। शेष रामायण, महा-भारत और विविध पुराणो पर आधारित हैं। विष्णुदास के आख्यान ही प्रेमानंद का प्रेरक बल था। उसकी सबसे बडी विशेषता तो यह है कि उसने लोगो की जबान पर बनाये रहे नरसी मेहता के जीवन के चमत्कारिक प्रसंगो को सर्वप्रथम ही काव्य स्वरूप दिया। शिवदास ने (१६११) 'जालधराख्यान' आदि कोई दस पौराणिक आख्यान काव्य गुजराती को दिये हैं। उसके विविध आख्यानों की अपेक्षा उसकी कामावती और हंसा की लोक कथात्मक पद्य कहानियाँ विशेष प्रसिद्ध और अच्छी हैं। कवि की वर्णन शैली है तो प्रणालिकानुसारी पर नीरस बिलकुल नहीं हैं। उसके पद्य ग्रंथो की नायिकाएँ आदि कवि असाइतकी नायिका हंसाउलीकी भाँति पुरुष द्वेषिणी हैं। उसकी दोनों कहानियों से तत्कालीन समाज विषयक सूचनाएँ हमें प्राप्त होती हैं, जो नितांत महत्त्वपूर्ण भी हैं। विश्वनाथ जानी (१६५२) पाटण निवासी श्रीमाली-ब्राह्मण था। भालण के पश्चात वह 'गुर्जर भाषा' का प्रयोग प्रथम समय ही अपने काव्यो में करता है। उसकी रचनाएँ

ये हैं : 'प्रेम पच्चीसी', नरसी के जीवन संबधी 'मोसालु' और अर्ध लोक कथात्मक 'सगाल चरित्र'। प्रथम कृति का वरण रस मध्यम है जबकि अंतिम का उच्च। वल्लभ मेवाड़ो (१७००) अहमदाबाद का निवासी और बहुचराजी का भक्त था। गरबियों की रचना करने में वह बेजोड़ था। उसकी शक्ति विषयक गरबियों में भक्ति का प्रबल आवेश दृष्टिगोचर होता है। उसकी गरबियाँ मध्यकालीन गुजराती साहित्य के चित्तहर अलंकार हैं। मूल्यवान् निधि है।

ईस्वी १५९१ में अखा भक्त का जन्म हुआ। सन् १७६६ में शामल भट्ट की मृत्यु हो गई। सन् १६३६ में महाकवि प्रेमानंद का जन्म हुआ। इस भाँति पूरे पौने दो सौ वर्ष की कालावधि, गुजराती के मध्यकालीन साहित्य में विलक्षण है। उसकी प्रथम विलक्षणता यह है कि समस्त भारत के भाषा साहित्य के इतिहास में अपना स्थान प्राप्त कर सकें वैसे शक्तिशाली तीन कवि, गुजरात, उक्त अवधि में ही सर्व प्रथम भारत माता के चरणों में भेंट करता है दूसरी विलक्षणता यह है कि उन तीनों की उच्चकोटि की कविप्रतिभा गुजराती भाषा में सर्वप्रथम ही या तो तत्व ज्ञान को तत्व ज्ञान के रूप में सहानुभूतिमय कवितायें मूर्त करती है अथवा तो उक्त दृष्टि से मानवों के मौर्ख्य, दभाचारादि का उपहास करती है, अथवा तो अपूर्व और आह्लादक रस-निष्पतिमान्—और यही कारण है कि वे प्रतिभाएँ या तो कलात्मक आख्यान काव्यों का सर्ग करती हैं। अथवा तो ऐसी मनमोहक पद्य कहानियों का सर्जन करती हैं कि जिन से लोकजन अवश्य मुदित हों; परन्तु विद्वज्जन भी मुदित होने में तनिक भी हिचकिचाहट का अनुभव न करें। अंतिम और तीसरी विलक्षणता यह है कि प्रत्येक समर्थ कवि की सर्व प्रक्रिया परस्पर की परिपूरक बनती है, और यों वह सारा युग उन तीनों की अक्षर आराधना और साधना से दीप्तिमान हो उठता है।

अखो (१५९१–१६५६)

अखो सोनी और अखो भगत, और अखो मध्यकालीन गुजरात के महापुरुषों में से एक। परन्तु उक्त अवधि के हमारे प्रथम पंक्ति के पुरुषवर्यों में वह एक ही केवल ऐसे हैं कि जिनके हृदय में पयगंबरीय आवेश और पयगंबरीय प्रकोप सतत प्रज्वलित था। उन प्रभावशाली आत्मदर्शी महानुभव में कविपन कहीं से आ तो गया और इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई, परंतु हमें लाभ अतीव ही हुआ। बाकी उन्होंने तो जैसे 'कवि इति लब्धो मात्रा —यह कह डाला था।

उन्होंने तो कहा था 'मुझको आप लोग कवि क्यों कहते हैं ? कवि तो होना है रोहिणी के मेघों सा व्यर्थ गर्जना करने वाला, कवि को तो ब्रह्म अपरिचित ही रहता है, वह तो ठहरा वाणी का स्वामी, भीतर का कुछ जाने माने नहीं और बाहरी ठाठबाठ को कोई सीमा नहीं, उस रागद्वेषी को तो 'पूजावा मनमा बहु कोड, शब्दतणा जोड़े छे जोड़', वह वर्णित विलासी संसारीय रस को भले निरंतर वर्णित करता रहे, अपितु संसार पार के कैवल्य सूर्य नामक एक चीज तो वह है कि जिनकी कोटि-कोटि किरणें हैं और उनकी एक किरण तक को हम सही अर्थ में वर्णित नहीं कर पाते हैं। क्योंकि वह हैं शब्दातीत वह है बावन बहिर।'

अखाके बाह्य जीवन की प्रचलित घटनाओं में न्यूनाधिक सत्यांश की संभावना है अपितु एक बात तो आवश्य तय है कि उनका आंतर जीवन नितांत बहुत ही प्रतिभाशाली था। जो भव्य तत्व ज्ञान व दर्शन, सदियों तक, आर्यवरों ने अथवा समूची आर्य प्रजा ने उपनिषदों, गीता, शांतिपर्व, योग वसिष्ठ, पंचदशी अथवा शांकर भाष्य जैसी आध्यात्मिक और अमूल्य ग्रंथ श्रेणियों में बनाये रखा है। उसको उन्होंने स्वाध्ययन से नहीं तो श्रवण मनन से और सब से अधिक तो स्वानुभव से अर्जित कर लिया था और उसी के द्वारा ही आत्म साक्षात्कार करके 'गुरु था तारो तु ज'—गाया था। आत्मा के द्वारा ही उन्होंने आत्मउद्धार किया था और प्रचंड स्वर से अपने आत्मानुभव की बात जगत को इस प्रकार जताई थी 'अभिनवो आनंद आज, अगोचर गोचर हवु'।

कुछ कवियों की सर्ग शक्ति शैली और कीट्स की भांति उनके बालपन में ही अंकुरित होती है और युवावस्था में तो अपना श्रेष्ठ प्रदान कर देती है, जब कि कुछेक कवि, अखा और काऊपर की भांति, अपनी सर्ग शक्ति को घात, संयम की उष्णता से परिपक्व बनाकर, अपने आयुष्य की उत्तरावस्था में ही, हृदय के परिपक्व भावों को गाने की एषणा का अनुभव करते हैं तथा उस एषणा को गाकर संतुष्ट करते हैं। अखाने भी अपने अनुभवों की पुकार आयु के तिरपनवें वर्ष में सुनी। उसके पश्चात् उन्होंने कोई पंद्रह-सत्तरह बरसों तक, आंतर श्रुति का मधुर गहरा नाद अखेगीतादिक अपनी रचनाओं में प्रतिबिंबित किया और सर्वकाल के गुजरातियों के लिए उसे अमर बना दिया।

अखा की मुख्य रचनाएँ ये हैं : पंचीकरण, गुरु शिष्य संवाद, चित्तविचार संवाद, अनुभव बिंदु और अखेगीता। पहली कृति में अखो शास्त्रकार हैं। दूसरी, तीसरी और चौथी कृतियों में वह क्रमश: आगे बढते हुए साधक के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। 'अखेगीता' में उनकी सिद्धावस्था के गहनतम संवेदन शब्द देह के स्वरूप में मूर्तिमान होते हैं। उनके फुटकल छप्पय भी अनेक हैं। अनेक अंगों पर छप्पयों की रचना की है। अखा के समग्र कवि जीवन की संस्मरणीय पहचानी हमें उनके छप्पयों द्वारा ही होती है।

पंचीकरण अध्यात्मज्ञान जितना ही पुराना है। वह एक यौगिक प्रक्रिया है और 'पंचीकरण' उस प्रक्रिया का निरूपण करता हुआ एक शास्त्र है। अखा ने उक्त पुस्तक में सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का वर्णन किया है एवम् पिंड ब्रह्मांड को सविस्तर दिखाया है। ॐकार स्वरूप का वर्णन उक्त पुस्तक का उत्तमांश है।

'गुरु शिष्य संवाद' चौपाई में है। उसमें भी प्रारंभ के पृष्ठों में जगदुत्पत्ति के संबंध में लिखा है। गुरु शिष्य को शिक्षा देते हैं—'तत्त्व दर्शी महापुरुष' गुरु की कभी ज्ञाति जाति नहीं देखनी चाहिए। हम हमेशा ऐसी साधना करें कि सब में हम अपने निजात्म को ही देखें। कोई मताग्रह कभी नहीं रखो। उदधि की गंभीरता धारण करके बस सिद्धि के कल्याणकारी पथ पर आगे बढते चलो ताकि हम इस गुरु आत्मा के संग

एकत्व का अनुभव करें और निर्भयता से कर सकें—'हुं हुंने प्रणामी कहुं: नमो नमो निजधाम !'

अखा की उत्तम कृति तो है—'अखेगीता'। उक्त कृति में उनका तत्व-दर्शन निरूपण और सर्गः उभय स्वरूप विराजित हैं। उनके पांडित्य और कवित्व दोनों का गहरा और विशाल परिचय हमें अखेगीता में होता है। 'अखे गीता' अर्थात् सरल घरेलू गुजराती भाषा में ब्रह्मविद्याका सम्यक् निरूपण। उक्त काव्य ग्रंथ में अखाने चित्त शक्ति, शून्य स्वामिनी माया शक्ति, एवम् प्रकृति शक्ति : इन तीनों ब्रह्मचैतन्य की त्रिविध शक्तियों का शास्त्र दृष्टि से वर्णन किया है। विशेष करके शून्य, जिसका स्वामी ब्रह्म है, को 'मोटी नटी' माया का प्रभाव दिखाकर उसके आवरण से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान वैराग्य और शक्ति का महत्व बताया है। दुनिया भर के भक्ति साहित्य में दीप्तिमान हो उठे वैसे अद्भुतरम्य, अपूर्ण प्रतिभावत इस काव्य की रचना करके अखाने गुजराती साहित्य की अवश्य ही अनुपम सेवा की है।

'अनुभव बिन्दु' के अखा वेदान्त ज्ञान के रसिक को आकर्षित करते हैं। 'अखेगीता' के अखा चिंतक सविशेष अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। फुटकल छप्पयों के अखा जनसाधारण में से किसी भी जिज्ञासु को सतृप्ति भर करके सर्वप्रिय सामर्थ्यवान् हैं। अखा के छप्पय मध्यकालीन गुर्जर साहित्य की सबसे लोकप्रिय रचनाएँ हैं। वे छप्पय, काव्य नहीं अपितु प्रकाशित अग्नि किरणें हैं। पैंतालीस विविध 'अंगों में' बँटे हुए उनके छप्पयों में उनका व्यक्तित्व प्रतिभा और भाषा प्रभुत्व का पूरा पूरा परिचय हमें मिलता है। उनके छप्पय गुजराती साहित्य का सर्वोत्तम कटाक्ष और व्यंग साहित्य है। अखा विगत तीन सौ बरसों से गुजराती समाज का एक समर्थ आध्यात्मिक नेता के रूप में अक्षर देह में जीवित हैं।

मध्यकालीन कवियों में सबसे बुद्धि वैभवी अखो है। नरसी और दयाराम की भाँति उन्हें भी प्रभु का साक्षात्कार हुआ है और उस प्रसंग को वह अपने काव्यों में बड़ी मर्मशीलता से गाते हैं। कला लक्षी प्रेमानंद और रंजन विशारद शामल से उनकी बुद्धिमत्ता विशेष तीक्ष्ण है, प्रतापी है। इसी से उसका बारम्बार आश्चर्यजनक प्रागल्म्य प्रकट होता रहता है। फिर भी उनकी बुद्धि शुष्क नहीं है। अखा की स्थित प्रज्ञता में समता है और यही कारण है कि उनकी अक्षर सिद्धियों में अबोध प्राणवत्ता है।

प्रेमानन्द महाकवि (१६३६–१७३४)

प्रेमानदने गुजराती हृदयों का सब से विशेष परिचय प्राप्त किया इतना ही नहीं उनको संतुष्ट भी किया; क्योंकि उनकी नैसर्गिक प्रतिभा गुजराती होने के उपरात एक आजन्म कवि प्रदाता भी थी। उनकी नैसर्गिक प्रतिभा हर कोई देश व काल में और हर कोई भाषा के माध्यम से अपूर्व सर्जन करके ही रुके वैसी प्रबल थी वैसी क्षमता थी और वैसी ही सर्वसंतर्पक थी।

मध्यकालीन गुजरात के वह कविकुल रचना, एक सस्कार निधान ब्राह्मण जाति के कुटुब में बडोदे में पैदा हुए थे। उच्छ्रम, च्यवन और जमदग्नि सरीखे आर्य श्रेष्ठो की जिनके गोत्र प्रवर में गणना होती थी वैसे भाग्यवान् कृष्णराय भट्ट उनके पिता थे। माता पिता के अवमान के कारण वह मौसी के घर रहने लगे। वहाँ ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। उन्होने बहुत उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त की होगी यह माना जाता है। क्योंकि यौवन से वार्धक्य तक के पाँच छह दशकों में उन्होंने जो कोई छोटे-बडे ६० काव्यों की रचना की है, उन सब में उनका सस्कृत भाषा की पौराणिक एवम् अन्य शाखाओं का तथा पुरोगामियो के गुजराती काव्य साहित्य का ज्ञान स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

उच्च प्रकार के सस्कारोद्बोध का ज्ञान यो ही आत्मसात् नही हो पाता है। ज्ञान बुद्धिगम्य हो या उच्चतर कोटि का, और इससे आत्मगम्य भी हो; परन्तु विधाता उसका कोई भी दाता प्रदाता प्रत्येक महान् आत्मा के लिए निर्मित करती ही है। प्रेमानद के भी रामचरण नामक एक साधू गुरु थे। प्रेमानद उनसे बहुत ही प्रभावित हुए थे। अपनी रचनाओं में भी वह अपने गुरु की महानता का वारम्वार उल्लेख करते हैं। ग्रथ ज्ञान और गुरु की प्रेरणा के उपरात उत्तर भारत की पदयात्रा ने भी प्रेमानद प्रतिभा की निरापद यात्री के रूप में महत्तम कार्य योग दिया था।

कविने काव्य सर्जन अपनी २५-२७ वर्ष की आयु में प्रारभ किया। प्रारभ के पश्चात के कोई एक दशक पर्यन्त बडौदे में रह कर ही उन्होंने अपनी सर्व शक्ति को दाव्दा में प्रतिबिंबित किया। दरमियान उन्होने वाणपुत्री ओखा और अर्जुन पुत्र अभिमन्यु जैसे आर्य हृदयो के प्रिय पात्रो के आसपास, युवकजनोचित शृगार एवम् वीररस युक्त कोई पाँच भिन्न भिन्न प्रसगौर्यावित आख्यानो की रचना की। तदुपरात उन आख्यानो को बडौदे के रसिक नरनारियो के समक्ष माण (एक वाजित्र होता है ताम्रकी गागर जैसा, पर उसका मुह नितांत छोटा होता है जब कि उदर बहुत ही चौडा। माण बजाने वाला अपने हस्तों की निश्चित् अगुलियों में चाँदी की बडी बडी मोटी अगुठियाँ पहने होता है। फिर हाथो से माण बजाता है। गागर और अगुठियो के परस्पराघात से मधुर ध्वनि धारा प्रवाहित होती है।) की मधुर स्वर धारा के प्रवाह के बीच समुचित भाव भगिमाओ के सहित, समय-समय पर, उन्होंने गाया भी था। पर उन जबरदस्त जनप्रिय का बडोदा निवास एक दिन दुष्कर हो गया। सवत् १७२६ में गुजरात में भयकर अकाल पडा। 'माता पुत्र ने खाय'— इस भाँति स्वय प्रेमानद ने भी उस अकाल की भयकरता का वर्णन किया है। फलस्वरूप प्रेमानद ने बडौदा त्यागकर नदरबार का आश्रय लिया—'उदर काजे सेव्यु नदरबार।' नदरबार परदेस था फिर भी स्वदेश जैसा था। गुजरात की पूर्व सीमा पर, खानदेश में आया हुआ वह नगर, गुजरात के व्यापारियो से समृद्ध था। प्रेमानद को नदरबार की प्रजा और प्रजा के राजा दोनो ने आश्रय दिया। यहाँ वह कोई नौ वर्ष सुखपूर्वक रहे। नदरबार निवास के दरमिग्रान प्रेमानद की काव्य प्रवृत्ति एक से अधिक रीति से प्रसग प्रेरित थी। और परिस्थिति समाज के मानस के अनुकूल थी। 'ऋष्यशृगारस्यान्' के उनके ऋषि अनावृष्टि के निवारण करने वाले तपस्वी थे एवम् बलवान् असुर (समीप का सूरत शहर, उस दरमिग्रान ही, पडौसी प्रात के युद्धवीर ने तीन दफा लूटा था।) से लोगो की

रक्षा करने वाले साक्षात् विष्णु के अवतार थे। नदरबार निवासी भगवद् भक्तों में अपूज्य उन भक्त राज के द्वारा उनकी सर्वोत्तम कृति 'सुदामा चरित्र' भी वहाँ ही लिखी गई। शिष्ट बहुत कम ग्रंथों में पर स्फुट हास्यरस भरपूर 'मामातास्यान', द्रौपदी के स्वयवर का काव्य, गीता और दर्शन के कारण विशेष ज्ञात रसिक 'अष्टावक्राख्यान' भी उनके नंदरबार निवास के सस्मरणीय सर्ग हैं।

विक्रम सवत् १७३८ से ४१ तक लगभग तीनचार वर्ष प्रेमानद पुनः बडोदा आकर बसे। वहाँ 'मामेरु', 'शामलशानो विवाह', 'सुधन्वाख्यान', और 'रणयज्ञ' की रचनाएँ हुई। अतिम कृति कुछ अनुपात में रस विहीन होते हुए भी रमूज और उत्साह-युक्त है। बडोदे के दो श्रीमत वणिक शकरदास देसाई और लक्ष्मीनदन माधवदास प्रेमानद के ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवाते रहते थे तथा एक श्रीमत गृहस्थ तो अपने खर्च से उन प्रतिलिपियों को जरूरतमदों में हाथों मे नि.शुल्क बाँट दिया करते थे।

सवत् १७४१ में वह पुन नदरबार गये। पश्चात् के कोई पद्रह वर्षों में उनकी 'नलाख्यान', 'द्रौपदीहरण', 'सुभद्राहरण', 'हरिश्चन्द्राख्यान', 'देवीचरित्र', 'मार्कण्डेय पुराण'—आदि रचनाएँ लोगों के सामने आई। माना जाता है कि, 'नलाख्यान' नदरबार के तत्कालीन नृपति के पत्नी वियोग के दुःख को विस्मृत करने को लिखा गया था। 'सुभद्राहरण' में विस्मयभाव तथा अद्भुतरस की प्रधानता और प्रचुरता है।

प्रेमानद की उत्तरावस्था की एक ही कृति अगत्यपूर्ण है 'दशमस्कध'। यह कृति वत्सलभाव के हृदयगम आलेखन और रस सक्रान्ति के लिए सर्व सुप्रसिद्ध है। सुलोक प्रिय भी है। 'दशमस्कध' रचना स्वय कवि के द्वारा सपूर्ण नहीं हो पाई। प्रेमानद की मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्य सुन्दर मेवाडा ने उसे सपूर्ण किया।

दयाराम पर्यंत के मध्यकालीन गुजराती साहित्य में जैसे अखो अध्यात्म के साधक का दिलाराम है ठीक वैसे प्रेमानद ससारी रस के रसिक का दिलाराम है। अखा ने मानवीय जगत के उस पार देखा जब कि प्रेमानद ने जगत का उसके वास्तविक स्वरूप में देखा। अखो मानव जीवन के एक अनासक्त गवाह के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं, जब कि प्रेमानद सुख दु खादि अनेक द्वद्वमय जीवन को अपनी कलाकार की अनूठी अनासक्ति से देखते हुए हमारे समक्ष तैरने लगते हैं, उन द्वद्वों की कलात्मक गिरा में मूर्त करते हुए गुजरात में घूमते नजर आते हैं। यही कारण है कि वह आज कोई तीन सौ सालों से गुजराती सस्कारिता का नेतृत्व कर रहे हैं।

साहित्य दृष्टि से देखते हुए हम नि सकोच कह सकते हैं कि प्रेमानद कुछ बाबतों में सफल गुजराती वाङमय का सर्वोत्तम कवि है। प्रेमानद की यह सर्वोत्तमता उनकी विरल नैसर्गिक सर्वग्राही सर्ग शक्ति से उदभवित होती है। प्रत्येक उच्चकोटि के साहित्य-स्वामी की तरह उन्हें भी मानव में एवं मानव से सबध के गहरा रस था। उन्होंने एक व्यक्ति के रूप में मनुष्यों के प्रेमभाव, पराक्रम अथवा सकटों के साथ जिन सहानुकपाओं का अनुभव किया होगा, मनुष्य की दभवृत्ति देखकर जो तिरस्कार, एवम् वेढगापन तथा मूर्खता देखकर जिस समभावी रमूजवृत्ति का अनुभव किया होगा—उन तमाम अनेक विधि मनोभावों को उन्होंने एक कवि के नाते, श्रीकृष्ण या अनिरुद्ध, अर्जुन

अथवा अभिमन्यु; नल, सुदामा और नरसी; दमयंती तथा ओखा, मदालसा, सुभद्रा और कुँवरबाई—जैसे अनेक पात्रों के द्वारा उत्साहमहीन एवम् रगमय रीति से गाया है। उनके मुख्य पात्रों के आलेखन में अथवा महान् प्रसगों के वर्णन में जो मोहक-तादृश्यता है, जो चित्र शक्ति और सौंव है वह उनके गौण पात्रों और गौण प्रसगों में भी दृष्टायमान होते हैं, साथ ही साथ, कई विशिष्ट जीवन प्रसगों के प्रदेशों में एक समान आसानी से विहार करने की उनकी निसर्गसिद्ध शक्ति की हमें वहाँ प्रतीति भी हो जाती है। मानवता के अनेक और आश्चर्य भरपूर नमूनों से सपूर्ण परिचित, और उन नमूनों को अपने काव्यों में सफलतापूर्वक अकित करने वाले प्रेमानद गुजराती साहित्य के अत्यत सामर्थ्यवान् कवि हैं। रसनिष्पत्ति की भाँति रससक्राति के क्षेत्र में भी प्रेमानद अद्वितीय हैं। उनके सिवा और कौन कवि, अनिरुद्ध की छवि को आलिगन देने को तत्पर प्रेमविह्वल ओखा की सखी के मुँह से—'न होय स्वामी, वळज्यामा कागल फाटे' (शृगार को हास्यरस में बदलकर) उक्ति का उच्चारण करा सकते हैं।

प्रेमानद की विजयसिद्धि पौराणिक पात्रों के गुजरातीकरण करने में है। पर यह करने से उनकी कविता में एक गभीर मर्यादा दृष्टिगोचर होने लगती है : पुराण-कालीन भारतीय पात्र कुछ निकृष्ट हो जाते हैं, गौरवक्षत हो जाते हैं। पौराणिक पात्रों के गुजरातीकरण के द्वारा उन्होंने अठारहवीं शताब्दी (मुमुक्षों को यहाँ गुजरात के विगत दो सौ सालों का इतिहास देख लेना चाहिए। तभी प्रेमानद के महत्त्व का सच्चा खयाल आ सकता है।) के गुजराती समाज को सदा के लिए प्राणदान प्रदान किया।

अखा के बाल्यकाल से लेकर दयाराम की मृत्यु पर्यंत के कोई ढाई सौ बरसों में गुजराती साहित्य में बहुत से उपकवि हुए। उनमें से कुछ साहित्य विकास के सहायकर्त्ता उपकवियों के परिचय प्रस्तुत करना हम उपयोगी समझते हैं।

कबीर और गोरखनाथ के सुवाच्य चरित्रों का कवि मुकुन्द गुगली (१६६५) द्वारिका निवासी था। वह हिंदी का भी अच्छा ज्ञाता था। महादेव जी के विविध जीवन-प्रसग लेकर मुरारिने 'ईश्वर विवाह' नामक एक रमूजी काव्य की रचना की है। श्रीधर स्वामी ने शिवभिलनी के प्रसिद्ध प्रसग के आधार पर 'गौरी चरित्र' नामक कृति की रचना की है।

ये तीन कवि अखा के सहाध्यायी माने जाते हैं—नरहरि (*१६२१), गोपाल (१६५०) और बूटियो (१६५०)। नरहरिने कोई बारह काव्य ग्रथों की रचना की है। उनमें से 'नरहरिनी भगवद्गीता' विशेष प्रसिद्ध है। गोपाल शैवधर्मी था। उसने भी 'गोपाल गीता' नामक एक काव्य ग्रथ की रचना की है। 'गोपाल गीता' वेदात विषयक कृति है। बूटिया ने कैवलाद्वैत के प्रभाव में उच्चकोटि के कुछ स्फुट पद लिखे हैं।

प्रेमानद की एक बड़ी शिष्य मडली थी। उस मडली का नेता प्रेमानद पुत्र वल्लभ माना जाता है। वल्लभ के काव्य विषय कभी-कभी असभ्यकालीन भी हैं। उसके काव्य बिलकुल स्वतत्र, स्वत कल्पित और कभी उच्च साहित्यिक तत्त्वों से भरपूर हैं। अपने पिता की तरह वह भी बड़ा रसज्ञ और पहुँचा हुआ कवि था। उसका हर काव्य अलग-अलग रस के प्रकार पर रचित है। जितने रस प्रकार हैं उतने उसके काव्य हैं। फिर

भी 'कुंती प्रसन्नाख्यान' और 'यक्ष प्रश्नोत्तर' उसकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। 'कुंती प्रसन्ना-
ख्यान' के मंगलाचरण में उसने 'पृथ्वीराज रासो' के प्रसिद्ध शाक्त कवि 'चंदवरदाई' के
ऊपर साहित्यिक प्रहार किये हैं।[1] तदुपरांत द्वारिकादास (१६२४) ने 'बारमासा',
'वनलीला', 'दाणलीला'; हरिदास ने 'विवाह' एवम् 'भारतसार' (१६८१); वीरजी ने
'कामावती कथा' (१६८६) आदि की रचना की। कुछ प्रेमानंद-शिष्यों ने भी काव्य
ग्रंथों की रचना की। सुंदर मेवाडा ने प्रेमानंद की अपूर्ण कृति पूर्ण की।

पारसी कवि एरवद रुस्तम पेशोतन (१६१९) ने 'सियावक्षना मेह' नामक रचना
की। तदुपरांत रत्नेश्वर, सुन्दर आदि कवियों ने भी अपनी शक्ति अनुसार अक्षर
आराधना की।

खेडा का निवासी प्रीतमदास (१७७४-१७८३) भाट था। उसके काव्य ग्रंथों
में कृष्ण जीवन विषयक 'सरस गीता', 'ज्ञाननो ककको' और 'गुरु महिमा' मुख्य हैं।
स्फुट पद भी उसके कई हैं। उसके पद लय वाही भावपूर्ण और चित्रात्मक होते हैं।
'हरिनो मारग छे शूरानो नहीं कायरनुं काम रे।' नामक उसका सर्व प्रसिद्ध और
चिरजीव पद आज भी गुजरात में सर्वत्र गाया जाता है। शिवानंद (१६००-१६४४)
सूरत का नगर ब्राह्मण था। उत्तरावस्था में वह संन्यासी हो गया था। उसकी सनिष्ठ
शिवभक्ति भरी आरतियाँ आज भी गुजरात में आकर्षण का एक विषय रही है। नरभेराम
(१७६८-१८५२) ने स्फुट पद लिखे हैं। नाणुं आपे नरभो रे', 'सरस्वती वसो जीभ रे',
नामक उसके दो पद अत्यंत प्रसिद्ध हैं। खेडा के भावसार रत्ना ने (१७३९) 'बारमासा'
नामक एक रचना की।

अपने पद पत्रों को बाँस की नलियों के भीतर छिपाकर उनको मही नदी में
बहते छोडने की नितांतनूतन प्रचार पद्धति का अंगीकार करने वाला धीरा (१७५३-
१८२५) बडौदे जिले का निवासी था। जाति से था भाट और कुल धर्म से था वैष्णव,
पर मत स्फुरणा से वह शाकर वदोली था। अपने पास जोतने के लिए पर्याप्त भू होने
के कारण वह सुखी था, परंतु कोई पूर्व कर्म पश्चात् कुभार्या का भर्ता था। उसके गुरु
कोई एक सिद्ध पुरुष थे। अपने गुरु की महिमा उसने 'गुरु धर्म' में गाई है, क्योंकि
गुरु के प्रताप से ही उसे परमतत्त्व की झाँकी हो पाई थी। उसकी काफियाँ मशहूर हैं।
'तरणा ओथे डुंगर रे', रणकतुं भागी गई भव बेडियों'—आदी काफीयों में उसका
दैवी संवेदन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उसकी भाषा प्रवाही, सामर्थ्यवती और प्रसंगा-
नुसार मर्मवेधक होती है।

निगत भगत (१७७०-१८४६) देमाण का पाहीदार था। बात प्रचलित है कि
उसके एक इस्लाम सहयात्री ने उस पर अपना बहुत प्रभाव डाला था। फलस्वरूप
निगत भगत व्यक्ति की भक्ति से अव्यक्त की उपासना की ओर मुड गये थे। निगत ने

---

१ विशेष जानकारी के लिए देखिए : आगरा विश्वविद्यालय की हिंदी त्रैमासिक पत्रिका
'भारतीय साहित्य' के अक्तूबर १९५६ के अंक में मेरा लेख 'गुजराती कथा काव्यों
का संक्षिप्त इतिहास'। —आंकडियाकर

दानो प्रकार के निष्ठावान् ज्ञानोपदेश के पद लिखे हैं। ठीक उसी प्रकार बापू साहेब गायकवाड (१७७६-१८४३) जो कि धीरा का शिष्य था, ने भी काव्य रचना की थी।

ऊपापाजप की सफल शक्ति का धारक भोजा भगत (१७८५-१८५०) सौराष्ट्र के अमरेली जिले के फतेपुर गाँव का निवासी था। जाति से किसान। भोलों को भ्रम में डालने वाले साधुओं के सामने उसकी पद्यात्मक लडाई प्रसिद्धि के पात्र है। भोजा के चाबखे मशहूर हैं। धीरा की काफी। भोजा समाज सुधारक के रूप में भी जाहिर है। 'नवनघ तारा उगे अपारा, माण प्रगटे कोटि हजारा रे'—जैसी उसकी काव्य पक्ति में हम अलक्ष्य के अनुभव बिंदु को प्रकाशित होते देखते हैं। उसकी अन्य कृतियाँ 'छोटी भक्तमाल' और 'सलैयाख्यान' हैं। 'प्राणीआ भजी लेने किरतार', 'जीवने श्वास तणी सगाई'—उसके सबसे प्रसिद्ध जुगुप्सोत्पादक पद हैं, साथ ही साथ शायद मध्यकालीन काव्य साहित्य के सबसे विशेष विमरसरसिक नमूने हैं।

'रामायण और 'राजसूय यज्ञ' का कर्ता वैश्य कवि गिरिधर (१७८७ १८५२) मासर का वतनी था। वह शामल प्रेमानद की कविताओं से विशेष प्रभावित था और समकालीन दयाराम का तो विनम्र अनुकरणी था। दयाराम की भाँति उसने भी वैष्णव सप्रदाय के प्रभाव के कारण राधाकृष्ण सबधी काव्यो की रचना की। उसकी भगवद् भक्ति इतनी तो उत्कट थी कि उत्तर भारत के उसके सहयात्री रगीलाल जी महाराज ने उसे श्री नाथ द्वारा जाने नही दिया, फलस्वरूप प्रवास के दरमिआन ही, श्री जी के ध्यान में मग्न होकर उनके नामो का जप करते करते उसने देह त्याग किया था। गुजराती वाङ्मय की उसकी स्मरणीय सेवा यह है कि उसने प्रजा के अल्पशिक्षित परतु धर्म सस्कारी वर्ग को रामकथा का यथाशक्ति आस्वाद कराया। आज भी 'गिरधर रामायण' का गुजरात में काफी प्रचार और प्रसार है।

मूल अयोध्या के परतु गुजरात और सौराष्ट्र में एक अवतारी पुरुष के नाते प्रसिद्ध स्वामी सहजानद (१७८१-१८३०) ने आद्य प्रवर्तक रामानद स्थापित उद्धवी सप्रदाय को गुजरात भर में प्रवर्तित किया। उनके शिष्य ज्यादातर उद्दाम वृत्तिवान् राजपूत और कारीगरो में से थे। फलस्वरूप बारोठ, बढई आदि जाति से भी गुजराती भाषा को कवि प्राप्त हुए।

उच्च प्रकार की कठोर नैतिक विशुद्धि के आग्रह शील इस सप्रदाय के कवियो ने अपने छोटे बडे तमाम काव्यो में एकान्तिक प्रभु भक्ति का बोध दिया है, अपने पूज्य स्वामी नारायण का गहरे अनुभव से गुण सकीर्तन किया है।

ज्ञान लक्षी मुक्तानद सौराष्ट्र के आगन्ध्रा का निवासी था। पूर्वाश्रम में मुकुददास नाम से प्रसिद्ध मुक्तानद ने 'मुकुद बावनी', 'उद्धव गीता' और 'सती गीता' की रचना की है। उसने अपनी तेरह साल की आयु में ही वैराग्य का अनुभव किया था। सहजानद स्वामी का गुरुत्व स्वीकार करके उसने ईश्वर भक्ति में ही अपना सपूर्ण किया। —बारोठ को गढडे में सहजानद महाराज से मिलने का प्रसग प्राप्त हुआ और वह ‑ बन गया। ब्रह्मानद के कोई ८,००० से भी अधिक बोध प्रधान पद चारणी, हिंदी

और गुजराती भाषा में प्राप्त होते हैं। सम्प्रदाय के सर्व कवियों में सबसे विशेष प्रेमलक्षण भक्ति से भरपूर प्रेमानंद (२) भी गड्ढे के निवासी थे। वह संगीतज्ञ भी था। 'तुलसी विवाह', 'थाल', तथा करुण काव्य 'सहजानंद वियोग' उसकी शक्तिशाली रचनाएँ हैं। 'वंदु सहजानंद रसरूप अनुपम सारने रे लोल'' तथा 'सजनी श्री जी मुने साँभरिया रे'' —ये दो मस्तक उसकी उत्तम रचनाएँ हैं। हालार के शेखपाट गाँव में जन्म लेकर लाल जी सुतार (बढ़ई) गुरु प्रेरणा बल से तीव्र वैराग्यवान् बना, और निष्कुलानंद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसके काव्यों में 'भक्त चिंतामणी', 'धारणाख्यान' आदि बीस इक्कीस कृतियाँ हैं। 'जननी जीवो रे गोपीचंदनी', तथा 'त्याग न टके रे वैराग विना'—ये दो उसके लोकप्रिय पद हैं।

ईसा की १५वीं शताब्दी से लेकर १८वीं शताब्दी तक जो कुछ जैन कवि हुए हैं। उनमें से कोई पाँच महत्वपूर्ण कवियों की रचनाओं को देख लेना यहाँ मुनासिब ही होगा।

आठ वर्ष की उमर में दीक्षा अंगीकार करके सर्वत्र प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले लावण्य समय (१४६५) ने छोटे बड़े कोई २१ काव्य लिखे हैं। माना जाता है कि सोलह वर्ष की उमर में लावण्य समय के भीतर कवित्व शक्ति प्रस्फुटित हुई थी। 'विमल प्रबंध' (१५१२) उसकी सर्वोत्तम कृति है। ग्रंथ श्रुत कथात्मक है कि फिर भी महत्त्वपूर्ण है। उक्त कृति में आये हुए अनेक विध समाज स्थिति के—जाति, धर्म, सगुन, अपसगुन, विद्यार्जन रीतियाँ, ज्योतिष, युद्ध कौशल, आयुध आदि—चित्र अत्यंत उपयोगी हैं। कुशल लाभ (१५६०) ने माधवानल की कथा का वस्तु लेकर 'माधव काम कुंडलारास' की रचना की है। उक्त काव्य गुजराती भाषा का एक कुतूहल प्रिय शैली का काव्य रत्न है। नवसुंदर (१५६०) ने 'रूपचंद कुंवर रास' और 'नल दमयंती रास' आदि छः रासों की रचना की है। समय सुंदर (१५६०) ने भी 'नलदमयंती रास' की रचना की है। नेमिविजय (१६६४) ने 'शीलवती रास' की रचना की। उक्त काव्य नीति बोधक, मतरजतर एवं मानवेतर सृष्टि के सत्त्वोंवाला है, इसलिए वह अद्भूत रसिक है। नेमि विजय की भाषा प्राकृत, अपभ्रंश और मारवाड़ी के अंशों से मिश्रित है इसलिए इसका साहित्यिक मूल भी विशेष है।

शामल भट्ट (१७००-१७६६)

अहमदाबाद के समीप के वेंगणपुर ग्राम के निवासी। ब्राह्मण सिंहुज निवासी वेणीदास ने उनकी कीर्ति की चारों ओर प्रशस्ति सुनी। इसलिए वह एक दिन शामल के दर्शनार्थ उत्सुक हो उठा। वेंगणपुर गया। कवि की प्रभावशाली सर्ग शक्ति को देखकर वह उनकी ओर अत्यंत आकृष्ट हो गया। प्रार्थना करके वह कवि को अपने संग सिंहुज ले लिया। वहाँ उसने उनको कई बीघे जमीन दी। अब शामल का जीवन सिंहुज में सरल और स्थिर बना। उपजीविका के संबंध में नितांत निश्चिन्त बने 'आपाडो शामल-जी' की काव्य प्रवृत्ति अब सिंहुज में विस्तृत होने लगी। माना जाता है कि शामल ने सिंहुज में विक्रमादि १७८५ से १८२५ पर्यंत कोई ४० वर्ष बिताये। सिंहुज निवास उनकी मध्यम और उत्तरावस्था का काल था। प्राप्य सामग्री और साहित्य से हम देख

सकते हैं कि उनका मध्याह्न और सान्ध्यकाल विशेष और महत्वपूर्ण घटनाओं से रिक्त ही है।

जिस जमाने में कवि संस्कृत, पुराण और रामायण, महाभारत, भागवतादि ग्रंथों पर अपनी दृष्टि डालते थे ठीक उसी जमाने में वेंगणपुर के निवासी शामल भट्ट तनिक भी संकोच के बिना मानवी-मानवता को ही कहानी के रूप में कथन करके अपने गुजराती बंधुओं को आनंद के साथ चतुराई, लोक व्यवहार ज्ञान और नीति बोध देगया। शामल की कविता गुर्जर काव्य देवी के कंठ का एक अनुपम आभूषण है। उक्त आभूषण के बिना काव्य देवी का कंठ कुछ अनुपात में कम मनोहर ही भासित होता। एक ही कवि के द्वारा रचित, इस प्रकार की, इतनी आकर्षक, इतनी असंख्य पद्य कहानियाँ समस्त भारत के मध्यकालीन साहित्य में कदाचित् अन्यत्र कहीं नहीं होगी। इस दृष्टि से देखते हुए गुजरात के एक कोने में आये हुए सिंहुज के चौपाल को अथवा वहाँ के वीरेश्वर महादेव के मंदिर के प्रांगन को, आज से कोई दो सौ वर्ष पूर्व, प्रत्येक रात्रि अद्भुत रसिक वायुमंडल से भर देता वह साधारण ब्राह्मण असाधारणता धारण किये बिना नहीं रह सकता है।

उन्होंने अपनी अर्धशताब्दी की अक्षर आराधना और सौंदर्य साधना में निम्नानुसार कोई तीन प्रकार की रचनाएँ की—पौराणिक, अलौकिक और शृंगारिक। प्रथम प्रकार की कृतियाँ हैं शिवपुराण खंड' 'अंगद विष्टि' आदि। दूसरे प्रकार की कृतियां में 'सिंहासन बत्रीशी', 'नंद बत्रीशी' आदि हैं। जब कि तीसरे प्रकार मे 'मदन मोहना', 'विनेचटनी वार्ता' आदि प्रधान हैं। प्रथम प्रकार की कृतियों के लिए उन्होंने पुराणों का आधार लिया। जब कि दूसरे और तीसरे प्रकारों के लिए संस्कृत, प्राकृत, जैन, जैनेतर, कंठस्थ और ग्रंथस्थ साहित्य की सहायता ली। 'नंदबत्रीशी' का मूल किसी भी प्राचीन साहित्य से प्राप्त नहीं हुआ है इसलिए माना जाता है कि वह उनकी सर्वांशों से अपूर्व रचना होगी। तदुपरांत सिंहासन बत्रीशी', और 'सुडाबहोतेरी में से कुल कोई पाँच कहानियाँ शामल की अपनी मौलिक ही हैं। अंतिम दो प्रकार की कृतियों के द्वारा ही वे गुजराती भाषा के अगत्य के साहित्यकार ठहरते हैं और सदा के लिए अपना अपूर्व स्थान बनाये रखते हैं।

उनकी कहानियों की सृष्टि अनूठी और दिलपसंद है। उन कहानियों में, सिंहासन की प्रथम सीढ़ी पर कदम रखकर ऊपर चढने को तैयार राजा को, सिंहासन की कोई बत्तीस पुतलियों में से प्रतिदिन एक पुतली सजीव होकर दिलपसंद कहानी कहती है। सुनते रहें, सुनते ही रहें फिर भी संतुष्ट न हो पायें ऐसी वे कहानियाँ लोककथा प्रकीर्तित राजा विक्रम के संबंध में होती हैं। भैरव शक्ति वैताल विक्रम का सहायक होता है। दोनों की लोकोत्तर शक्ति के द्वारा पूर्ण किये गये कितने ही महा कार्य कहानियों को मोहक एवम् अद्भुत रसिक बना देते हैं।

उनकी अनेक चमत्कार प्रधान और शृंगार प्रधान कहानियों में से कोई कहानी कन्या मदारवती के संबंध में है। जिसको एक साथ तीन दुल्हे ब्याहने आते हैं पर वे मदारवती के घर पहुँचे उसके पूर्व मदारवती की करुण एवम् आकस्मिक मृत्यु हो जाती

है, पर मंत्र बल के कारण वह जीवित होती है। फिर तो शादी के लिए उन तीनों दुल्हों के बीच बडा संघर्ष होता है……। एक कहानी में पति वियोगी और पुरुष वेश में सुंदर दृष्टिगोचर होती पत्नी, जैसा कि मदन की प्रगल्भ चतुर पत्नी मोहन्ताने किया था, कुछ औरतों के साथ शादी करती है और कहानी में अन्त में उन औरतो का अपने पति चरण में अपनी सपत्नियों के रूप में समर्पित करती है ……। एक दूसरी कहानी में एक हंस अपनी समझदारी और आकाश में उडने की शक्ति के ज़रिये विरहवेदना से पीडित एक पित-भर्तृका और प्रोषित पत्नीक युगल को 'स्वाति योग' करा देता है। फलस्वरूप उन्हें नासिका से रत्नों की कै करता हुआ एक पुत्र प्राप्त होता है।

यों शामलकी कहानियों में विषय की अनेक विधता और पात्रों की सुंदर सुशोभित गूफन दृष्टिगोचर होते हैं। उन कहानियों में जो असीम कहानी तत्त्व भरा पडा है वह आज भी पृथक् मानस व्यापारों के श्रोताओं तथा पाठकों को अपनी ओर जबरदस्त रीति से आकर्षित करना है। उन कहानियों में कदम-कदम पर हमें शामल की महान् और नैसर्गिक बुद्धि प्रतिभा और चतुराई का दर्शन होता है। उनके नारी पात्र बहुविध आकर्षण से भरपूर, बुद्धि वैभवशील एवम् मधुर वार्तालाप करने वाले हैं। यही कारण है कि शामल की कहानियाँ आज भी आनंद करती हैं।

दयाराम भाई (१७७७-१८५२)

दक्षिण के रुचिर प्रयाग समान महासरित नर्मदा के उत्तर तट पर स्थित चादोद में मध्यकालीन गुजराती साहित्य के अंतिम प्रतिभा सम्पन्न कवि दयाराम भाई का, संवत् १८३३ के भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की एकादशी (वामन एकादशी) के दिन जन्म हुआ था। अत्यन्त स्वरूपवान और अजानबाहु दयाराम बारह साल के हुए कि उनके माता-पिता इस फानी दुनिया को छोड गये। निकटवर्ती कुटुम्बी जनो ने पाल पोसकर उन्हें बडा किया। उनकी माता अत्यन्त भावुक थी और प्रतिदिन अस्ताक्षर मंत्र को जपकर शेषशायी नारायण का दर्शन करने जाया करती थी। उनके पिता भी शांत और सुशील थे। माता पिता दोनो के सच्चरित्र का उनके पर बडा प्रभाव पडा था। माता-पिता की मृत्यु के बाद वे प्रतिदिन मंदिर में ईश्वर के दर्शनार्थ जाने लगे। वहाँ भक्ति-पोषक वायु मंडल में गाये जाते कीर्तन वह सुनते रहते और कई दफा वह स्वयं भी कीर्तन गाते। यों उनके कवि जीवन का शनैः शनैः प्रारम्भ होने लगा। 'साभल रे तू सजनी माहारी'—नामक उनकी प्रसिद्ध गरबो उक्त भक्तिपोषक वायुमंडल का फल है।

बाह्य जीवन में माता पिता और आंतर जीवन में गुरु व मार्गदर्शक के अभाव में उन्होंने कोई २० साल बिताये। एक दिन चादोद से दभोई जाते समय तेनतलाव में उनकी एक सुवैष्णव 'अणुभाष्य टीकाकार' सिद्धि प्राप्त अवतारी पुरुष ईच्छाराम भट्ट जी से मुलाकात हुई। दयाराम ने उनको अपनी कवितायें दिखाई। भट्ट जी खुश हो गए। फिर दयाराम ने अपनी कुछ शंकाओं के सम्बन्ध में उनमे प्रश्न पूछे। भट्ट जी ने उनकी शंकाओ का सम्पूर्ण समाधान किया। चित्त की स्थिरता प्राप्त करने के लिए देशाटन आवश्यक है—यह भी भट्ट जी ने कहा। तदुपरांत बात ही बात में उन्होंने ब्रह्म सम्बन्ध की ओर भी ईशारा किया। बस, मुलाकात एतिहासिक बन गई।

उक्त ऐतिहासिक मिलन के कारण दयाराम के—जो कि उस वक्त अल्प शिक्षित और निराधार-से थे—जीवन में निम्नानुसार त्रिविध परिवर्तन हुआ।

(अ) अपने भीतर के अकुरित रसात्मा की सामर्थ्य का उनको पता चला; और उसी दिन से मनमोहक गरबियों के भावि कवि को काव्य दीक्षा मिली।

(ब) उनकी भगवद् भक्ति, सच्चे साधु विद्वानों से सत्सग करने की उनकी तीव्र इच्छा, और उनका भाषाज्ञान एवम् ज्ञानस्वभाव निरीक्षण—इन तीनों को पोसती और विकसित करती उनकी तीन-तीन दफे की पवित्र तीर्थों की भारत यात्रा का प्रारम्भ हुआ।

(ब) भट्ट जी ने उनको 'श्रीकृष्ण शरण मम'—नामक रहस्यपूर्ण अष्टाक्षर मत्र दिया जिससे भविष्य के 'रसिक वल्लभ' कार वैष्णव सिद्धाताताभिमुख भी वहीं से स्वैर्यपूर्वक होने लगे ········।

दयाराम भाई ने अपने जीवन के दरमियान छोटे-बडे कोई पचास ग्रथों की रचना की है। गुजराती के सिवा उन्होंने व्रज, मराठी, पजाबी, उर्दू और सस्कृत में भी कई रचनाएँ की हैं। गुजराती के उनके काव्यों में दीर्घतम काव्य 'रसिक वल्लभ' सर्वश्रेष्ठ है और यही कारण है कि वह उनके अन्य काव्यों के समझने के लिए एक कुजीरूप भी है।

श्री कृष्ण ही परब्रह्म हैं और उनका जगत ही सत्य है, उपरान्त ब्रह्माश और सत्यरूपी हमारे आत्मा में सत् और चित् दोनों प्रकट हैं तथा आनन्द अप्रकट है अर्थात् आच्छादित है—इस प्रकार की दर्शन दृष्टि से प्रारभ होती रचना 'रसिक वल्लभ' में शुद्धाद्वैत वेदात पथ का, काव्यरूप से प्रतिपादन किया गया है। उक्त कृति में उनकी गूढभाव आदित उपमाएँ देखने लायक हैं: ज्ञान को गौण दिखाने के लिए वे उसकी तुलना एक दीपक—जो कि एक समय बुझकर ही रहने वाला है—के साथ करते हैं जबकि भक्ति की तुलना वे स्वय प्रकाशित मणि के साथ करते हैं। वे ज्ञान और वैराग्य को भक्ति मैया की सतानें बताते हैं। जैसे गाय के गृह के प्रागन में प्रविष्ट होते ही उसके पीछे पीछे वत्स भी चले ही आते हैं ठीक इसी प्रकार भक्ति के सग ज्ञान और वैराग्य आ ही जाते हैं। उनके विचार से इस दुनिया में प्रभु प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेम लक्षण भक्ति ही है।

उनके बारह पद्रह लघु काव्य भी हैं। उनमें से कुछ आख्यान रूप के हैं तो कुछ सिद्धात विषयक बोध परायण भी। लघु काव्य 'प्रेमरस गीता' में कृष्ण विरही गोपियों की, तरवत उद्धवजी के समक्ष कृष्ण के सम्बन्ध में फरियाद है। फिर दोनों पक्षों के बीच प्रेम परीक्षा के सम्बन्ध में सवाद होता है। भावोद्रेक, मर्मोक्तियाँ, यथा प्रसग सुरम्य शब्दचित्र और मधुरता के कारण 'प्रेमरस गीता' एक सुन्दर एवम् उच्चकोटि की रचना है।

'नहि नमे, विना एक श्री गिरिधरराय'—ऐसी अडिग मीराबाई के नाम के सग विगत तीन सौ वर्षों के दरमियान जो सुकीर्ति, इतिहास तथा दतकथाएँ जुडी हुई थी

उन सबका अपने काव्य में उचित उपयोग करके दयाराम भाई ने 'मीरा चरित्र' नामक एक उत्तम लघु काव्य की रचना की है। उक्त काव्य में कई चमत्कार पूर्ण प्रसगो का सुन्दर, सजीव वर्णन है। राणा को मीराबाई, एक समय, एक स्वरूप में, तुरत दो स्वरूपो में, फिर चार स्वरूपो में दृष्टिगोचर होती हैं—इस प्रसग का कवि ने बहुत आनदप्रद वर्णन किया है।

'प्रतिपद शुभ सिद्धात भर्यु छे'—ऐसी सक्षिप्ठ एक और रचना है—'भक्ति पोषण'। उक्त काव्य में करुण और भक्ति रस की प्रधानता है। 'भक्ति पोषण' की मध्यवर्ती भावना कुछ इस प्रकार है 'श्रीकृष्ण भक्ति अक छे, बीजा साधन सखे शून्य' अर्थात् शून्य का दस गुना करो तो भी नतीजा तो शून्य में ही आयेगा। इस प्रकार श्रीकृष्ण की भक्ति के बगैर और सर्वसाधनो में चाहे उतनी वृद्धि करेंगे तो भी वह सब निरर्थक ही जायेंगे। काव्य का प्रधान आदर्श पुष्टिमार्गीय दृष्टि से भक्ति का सही स्वरूप समझाना है।

'हनुमान गरुड सवाद' कृति में आनदप्रद श्रद्धा की प्रचुरता है। भगवान के 'निर्मल यशगान' गान के लिए उक्त काव्य की रचना की गई है।

'चातुरीनो गरबो' एक जुदा ही प्रकार का काव्य प्रयोग है। उक्त कृति में 'शिक्षा शाणानें'—ऐसा अर्थ सूचक ध्रुपद है। जिज्ञासुओ को मधुर शिक्षा देता हुआ यह काव्य तनिक भी अरसिक नही है। उसमें योग्य स्थलो पर सचोट मर्मोक्तियाँ हैं, साथ ही साथ कवि की मनुष्य स्वभाव के वैचित्र्य की जानकारी भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

'षड्ऋतु दर्शन' में छहो ऋतुओ का वर्णन है। प्रत्येक ऋतु कृष्ण लीला में किस प्रकार उपयोगी हुई है तथा ये सब ऋतुएँ भक्तो की विरह-अवस्था पर कैसा प्रभाव डालती है—इसका 'षड् ऋतु दर्शन में बहुत ही सुन्दर वर्णन है। दयाराम भाई के अन्य काव्यो की अपेक्षा इस कृति में भाषा विशेष श्रेष्ठ, शिष्ट और अलकारिक है।

लघु काव्यो के सिवा दयाराम भाई के अनेक स्फुट पद भी हैं। उपरात मनोहारी 'गरबियाँ' भी कई हैं। दयाराम भाई का जितना तेजोमय तथा समुन्नत स्थान गुजराती साहित्य में उनकी मनोहारी गरबियों के कारण ही है। नरसी तथा मीरा के कुछ छोटे-से मनोगम पदो के, अथवा अखा के 'अभिनवो आनन्द आज' वा प्रेमानद के 'मारु माणेकडु रिसाव्यु रे शामलिया!'—जैसे सदाप्रिय गुजराती गीतों के गुणो के महत्व को स्वीकार करते हुए हम नि सकोच कह सकते है कि दयाराम भाई क अभिगीत (गरबियाँ) तो कोई अनूठी ही वस्तु है। उन गरबियो में भक्ति रस की बाढ उमडती है, एवम् सुकुमार सौन्दर्य भी सुरक्षित होता रहता है। श्रीकृष्ण उनका एक आलबन। राधिका व गोपी दूसरा। सखी तीसरा। वशी मानों चौथा। पर वशी तो ठहरी कृष्ण कन्हैये की बडी सहायक। उनका प्रिय पात्र और समर्थ सत्ताधारिणी भी—

जोता तु वाण्ठ केरो करखड़ो, हो पामलडी ;
तुने ग्रान भली छे ठकरात, हो पासलडी !

इस प्रकार तीन चार पात्रों के ग्रास-पास कवि ने अपनी कोमल प्रबल सर्ग शक्ति के द्वारा जो भाव ग्रालेखित अंकित किये हैं उनमें मधुरता के साथ अद्भुत गति है, तीव्र झनझनाहट है। सर्व गरबियों में संयोग और वियोग, हर्ष और शोक, प्रेम और बाध, सुख और संताप, दु:ख और दर्द, ग्रातुरता और तृप्ति, सुमसंवेदन और प्रणयकलह—के विविध प्रसगों का सुन्दर, सचोट प्रयोजन है।

इस प्रकार के कविहृदय से प्रवाहित होते अमीरस के निर्झरों के सुस्वाद को चखते हुए हम अनुभव करते हैं कि गरबी की एक नायिका ने 'मुखे लीधो निम' (नियम बनाया) कि अभी 'श्याम रंग समीपे न जावु'। परन्तु कन्हाई की वंशी के अनुपम जादू ने उसके नियम को बनाये रहने नहीं दिया। वंशी बजी, और फलस्वरूप नायिका को विवश होकर 'दयाना प्रीतम' के शरण में आना पडा। एक ग्रन्य नायिका के दिल में बहुत दिनों से आशा जाग उठी है कि वह कब कृष्ण के संग रात्रि भर रास खेलती रहे। ग्राखिर एक दिन वह लज्जा छोडकर 'प्रेमरस प्यालो पीवा ग्रने पावा' (प्रेमरस पाने और पीने) के लिए 'पडती राते' (रात्रि के मध्य में) अपने घर पधारने के लिए बाले कृष्ण को ग्रामंत्रण देती है 'ग्रावोनी मारे घेर माणवा'। कृष्ण नायिका के सच्चे विरह को देखते हुए ग्रामंत्रण का स्वीकार करते हैं। फिर रात्रि के बहुत बीतने के बाद दोनों रास खेलते हैं। रास खेलकर मुदित मनसे नायिका अपने गृह जाने के लिए रवना होती है। रास्ते में उसकी सखी अप्रत्याशित मिल जाती है। सखी उससे पूछती है: 'रजनी क्या रमी ग्रावी जी ?' (रात्रि कहाँ खेल आई जी ?) उस वक्त नायिका अपने सर्वथा प्रकट रति भाव को अप्रकट रखने में जो स्तुत्य चातुर्य युक्त उत्तर देती है वह अत्यंत अनुपम और मनोहारी है।

नायक के चित्र में भी कवि को सफलता प्राप्त होती है। उनके नायक भी वैसे ही हैं— तेरे वहालाने तारी गाळो गमे छे !' प्रेम पाश से बद्ध वह एक स्थल पर एकरार करता है प्रीतलडीनु वाकु वचन ते लागे मुजने मीठु रे !' नायक जब 'चाल वहेली अलबेली राधे' कहकर प्रेम दूतनी-सी नायिका को हृदय के उमडते हुए प्रेम से संबोधित करके आगे का जो वर्णन करता है, अनर्गल प्रणय का जो एकरार करता है वहाँ हम सुंदर, अनुपम ऊर्मिगीतों को भी प्राप्त करते हैं।

दयाराम भाई की सुंदर गरबियों में से कोई ये प्रचुर प्रसिद्ध हैं—'प्रेमनो पीडा ते कोने कहिए, 'हो मधुकर', 'हावा हु सखी नहीं बोलु रे मने शशीवदनी कही छे रे', 'ऊभा रहो तो कहु वातडी बिहारी लाल', 'लोचन मननो रे, के झगडो', 'कामण दीसे छे अलबेला तारी ग्रांखमां', 'ग्राठ कुवा ने नव वावडी रे लोल !', 'हु शु जाणु जे वहाले मुजमा शु दीठु रे', 'गरबे रमवाने गोरी नीसर्या रे लोल', 'कानुडो कामण गारो रे, साहेली ग्रा तो !'

दयाराम भाई की गरबियों में शृगाररसिक भगवद्भक्ति है जब कि उनके स्फुट पदो में धर्म, नीति, वैराग्य और शृगाररसिक भक्ति है। उनकी पद कविता के प्रधान लक्षण ये हैं : अनुभूति की तीव्रता, मन की तन्मय स्थिति, इष्ट प्राप्ति और स्वीकृति की आतुरता, दृढ विश्वास, आग्रह, पश्चाताप दोषो का दोष विहीन स्वीकार और दीनता। उपरोक्त लक्षणो के दर्शन हम बाघ प्रधान कविताओ के सर्व कवियो में नहीं कर पाते हैं क्यो कि उन सबके भीतर दयाराम भाई की सी आरजू नही होती है, न तो भक्ति का व्याकुल तीव्र सवेग दृष्टिगोचर होता है। द्युतिमान् कल्पनाशक्ति का भी बडा अभाव वहाँ होता है।

उनके कुछ पदो के वस्तु सूचन को यहाँ प्रस्तुत करना सर्वथा उचित ही होगा : 'शरणागतवत्सल श्री जो' के वह 'दास दयो' आर्जवपूर्वक करुणासिंधु, दीनबधु हरि से प्रार्थना करते हैं कि, मैं जैसा भी होऊँ, पर हूँ आपका दास अवश्य, इसलिए कृपया मेरे 'अवगुण उर न आणो'; मैं विकल हूँ, कृपया मेरी पराधीन पीडा प्रजालो' क्योंकि आपके सिवा दुनिया में मेरा कोई आधार नही है। उनके वैराग्यमय अभय, सर्व समर्पण युक्त उत्तरावस्था के अथवा अतकालीन समुत्पन्न पद 'माहरे अतसमय अलवेला मुजने मूकशो मा'; 'मनजी मुसाफर रे चालो निज देश भणी'; 'शरण पडयो छू रे श्री हरि, नथा माहारे अपर आश विश्वास', 'दरशन द्योनी दासने—आदि उनकी भगवत्तन्मयता के नमूने हैं। उन तमाम पदों में जो नेकदिल परतु सीधा सादा कवित्व है वह अधिक सूक्ष्म और मुक्त विहारी बनता है, गहन श्रद्धा के कारण परिप्लावित 'चित्त तु शीदने चिंता धरे' नामक पद में; दृढ और प्रशात सकल्पवान् निश्चेना मेहेलमाँ वसे मारो वहालमो' नामक पद में; प्रेम भक्ति के सदेश को विविध समुचित दृष्टातों में प्रवाहित करते 'जे कोई प्रेम अश अवतरे' नामक पदमें; जगत भर के विद्वान् वेदाध्ययन शील जडों को केवल छह पक्तियो में ही कठाराघात करते 'शु जाणे व्याकरणो वस्तुने' नामक पद में; महामुनि भी जिसकी तृष्णा छोड नही सकते हैं ऐसे वैकुठ धाम को नितात नाचीज बना देते 'व्रज वहालु रे, वैकुठ नही आवु रे!' नामक पद में। दयाराम तो दयाराम ही है। गुजरात के भक्तकवियो की सुदृढ परपरा के पद अतिम समर्थ प्रतिनिधि हैं। नरसी मेहता ने सुन्दर गुजराती काव्य प्रासाद के द्वारो को खोला; महाकवि प्रेमानद ने उस प्रासाद के आतरिक सौंदर्य का दर्शन और अनुभव हमें कराया; दयाराम भाई ने उक्त प्रासाद में भक्ति के गानों की धुनें बजाई। दयाराम भाई के वचनानुसार स्नेह शास्त्र में व्रज की गोपी ही परम मर्मज्ञा है। वे उच्चकोटि के एक भगवद्भक्त थे। उनके तन पर झीनी हरी किनारी वाली अहमदाबादी धोती, झीने मलमल की चौवंदी और अगरखा, लाल रंग की नागरी पगडी का शृंगार अद्भुत और परम मनमोहक दीख पडता था। उनके जीवन की विभूति विनम्रता थी, वे मधुर एवम् शांत स्वभाव के भक्त थे। सम्वत् १९०९ के माघ कृष्ण पचमी की प्रभात काल में कृष्ण का स्मरण करते हुए वह गो लोक को गये।

उनके बाद बनी बोम नीरवता के गहन दहन में विलीन हो गये। उनका सद् जोवित गुजरात भी मानों उनके सग अदृश्य हो गया। फिर तो अर्वाचीन युग आरम्भ हुआ। दयाराम

भाई की वंशी के विरमित होते स्वर नूतन गुजरातियों को मानों यह भी सुनाते गये कि तुम्हारे भीतर से अभी पनिहारे के समीप बैठकर पानी भरने वाली गोपियों की छेड़ छाड़ करने वाला कोई न कोई पैदा होता रहेगा, पर अब वह बड़ा होकर एकलसो भगवद् भक्त नहीं बन पायेगा; तुम संस्कृत सीखकर भागवतादि पढ़ते रहोगे पर उन ग्रंथों की दैवी वाणी को अपने जीवन में चीरतार्थ—हमारी तरह और हमारी रीति से—नहीं कर सकोगे; तुम काशी मथुरा की यात्रा करते रहोगे परंतु जनता जनार्दन के बहुविध स्वरूपों को देख नहीं सकोगे; और चूंकि तुम गति पूर्वक यात्रा करोगे फलस्वरूप जनता जनार्दन के जीवन को प्रतिबिंबित करने वाले समर्थ काव्यों की रचनायें भी नहीं कर सकोगे। तुम हमारे संतोष को समझ नहीं सकोगे। हमारी सात्विकता की आप खिल्ली उड़ायेंगे, साथ ही साथ तुम हमारी धार्मिकता का भी लोप करोगे। यह सब कृत्यों के एवज में आपको मिलेगा, बहुत कुछ प्राप्त होगा। पर वह प्राप्ति कैसी होगी? रत्न देकर फूटी बादाम लेने जैसी ....।

दयाराम की मृत्यु एक शताब्दी के पश्चात् उपरोक्त दुःखकारी दर्शन क्या सच्चा साबित नहीं हुआ है? फिर भले वह तत्त्वतः ही सच्चा साबित हुआ हो। पश्चिमात्यों से युक्त और मिश्रित हमारी वर्तमान संस्कृति ने हमको कहाँ लाकर रखा है?

दयाराम भाई ने अपनी उत्तरावस्था में नये युग के प्रवाह को अवश्य देखा होगा। पर उस प्रवाह की तनिक भी प्रतिध्वनि उनके काव्यों में दृष्टिगोचर नहीं होती है। माना जाता है कि दयाराम भाई सन् १८५० में बम्बई गये थे। ठीक उसी वर्ष में गुजरात के अर्वाचीन काल के आंग्लविद्या प्राप्त प्रथम कवि नर्मदाशंकर ने बम्बई में मित्रों के समक्ष सर्व प्रथम गद्य लिखावट में 'मंडली मलवाथी थता लाभ' (मंडली मिलने से लाभ) भाषण दिया था। क्या दयाराम भाई ने अर्वाचीन कवि के विचारों को सुना होगा? सुनकर मान्य किया होगा?*

---

* इस लेख को तैयार करने में मैंने प्रो० वि० क० वैद्य की पुस्तक 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' का उपयोग किया है। अतएव मैं उनका आभारी हूँ।

श्री उदयशङ्कर शास्त्री

माधवानल कामकंदला में जयंती अप्सरा प्रसंग

आलम कवि की सुप्रसिद्ध रचना 'माधवानल कामकदला' एक आख्यान काव्य है। यह दोहे चौपाइयो में मसनवी पद्धति से लिखा गया है। कवि ने इसकी रचना अकबर के राज्यकाल में टोडरमल के आश्रय में रहकर की है। इस समय इस ग्रथ की दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती है। एक वे जिन में केवल ५ अर्द्धालियाँ और एक दोहा है, दूसरी वे जिनमें ५ अर्द्धालियो के बाद एक दोहा और एक सोरठा दिया हुआ है। आलम ने लिखा है--

आदि सौरठा येक बनाई, मध्य चोपई पाच लगाई।
तबही एक दोहरा लेपा, इह विधि पूरन ग्रथ विसेषा ॥

इन पक्तियो से रचना के स्वरूप का वही पता लगता है जैसा कि कुछ प्रतियो में पाया जाता है।

सूफी कवियो द्वारा रचे हुए अवधी भाषा के ग्रथो की परम्परा में इस प्रकार के दो[1] ग्रथ वर्तमान है जिनमें पाँच अर्द्धालियो के बाद एक दोहा और एक सोरठा मिलता है। मलिक मुहम्मद जायसी के अखरावट[2] में भी यही क्रम है। जिसमें पहिले एक सोरठा, फिर सात अर्द्धालियाँ, उनके बाद दोहा दिया गया है उस क्रम से आलम का कथन बिल्कुल समान है। किंतु लघु सस्करण में ये दो अर्द्धालियाँ नही है, उसमें इल अर्द्धालियो के स्थान पर यह दोहा है—

करे सोरठा दोहरा और चौपाई ठानि।
बिरही जन के कारनें अमृत रस सौं सानि ॥

इस दोहे से उपर्युक्त क्रम का समर्थन नही होता। केवल इतना ही पता चलता है कि आलम की रचना में, सोरठा, दोहा और चौपाई छद है। अतएव जब तक इस कृति का पाठानुसधान नही होता अथवा कोई प्राचीनतम प्रति उपलब्ध नही होती तब तक यह प्रश्न का ज्यों का त्यो बना रहेगा। इस लेख में मुख्य विचारणीय प्रश्न ज्यती अप्सरा का प्रसंग है। लघुपाठ की प्रतियों में यह प्रसग नही है। उसमें तो ईश्वर स्तुति, मुहम्मद

---

१. मैनासत, साधन, हस्तलेख।
२. अखरावट, जायसी, ना० प्र० सभा० सस्करण।

साहब और चार खलीफाओं की वदना, गुरु-वदना, शाहेवक्त की प्रशस्ति और आत्म निवेदन के बाद कथा आरभ होती है। जिसमें पुहपावती नगरी के राजा गोविंदचद की राजधानी की प्रशसा के अनतर उसके उपरोहित शकरदास की चर्चा है। शकरदास निस्सतान होने के कारण 'पुन्नाम' नरक से भयभीत रहता है। उसके निवारण के लिये वह शिव की उपासना करता है और उनसे सतान प्राप्ति की कामना करता है। शिव उसकी सेवा-पूजा से प्रसन्न होकर यहाँ पुत्र रूप में अवतरित होते हैं। बडे ठाट बाट से पुत्रोत्सव मनाया जाता है और उस बालक का नाम माधव रक्खा जाता है। अधिक पाठ की प्रति में यह सोरठा है—

कदल अपछर जान, माधव अस महेस कर।
वरनत उत्तिममान, जिहिविधि उतपत दोहुन की ॥

कथा इस प्रकार है —

सुरराज इद्र के दरबार में जयन्ती नाम की एक अप्सरा थी, जो अपने रूप और गुण में सब से बढचढ कर थी। इन्द्र उसकी अत्यत प्रशसा करते थे, उस प्रशसा के कारण जयती को अपने रूप और गुण का अभिमान हो गया। उसी अभिमान के वशीभूत होकर उसने इन्द्र के दरबारी अदब कायदे की अवमानता की, जिससे अप्रसन्न होकर इन्द्र न उसे शाप दे दिया। किं तु मानुषी होजा और बारह वर्ष तक शिला बनकर भूमि पर वही रह। जयती यह शाप सुनकर बहुत ही रोई बिलखी, उसके रोने बिलखने पर इन्द्र ने उसे बताया कि बारह वर्ष के बाद प्रोहित शकरदास के पुत्र माधव से तेरा विवाह हो जायगा। और तू मानुष शरीर प्राप्त कर लेगी। तदनुसारही अप्सरा पाहन की प्रतिमा बन गई। उधर माधव जब कुछ बडा हुआ और शाप के बारह वर्ष बीतने को आए तो माधव ने एक दिन स्वप्न देखा कि बन में एक अत्यन्त रूप लावण्यवती अप्सरा से उसका विवाह हुआ है। जागने पर कही कुछ नही, केवल स्वप्न की स्मृति ही उसे रह गई। कुछ दिनो बाद वह अन्य बालको के साथ जगल में अपने गुरू के लिए लकडियाँ चुनने गया। वहाँ उसे एक शिला दिखाई पडी, कुतूहलवश माधव उसके निकट गया, माधव का स्पर्श होते ही वह शिला मानव रूप में परिणत हो गई। और उस शिला का विवाह माधव के साथ हो गया। अब तक अप्सरा के शाप की अवधि पूरी हो गई थी, फलत वह फिर सुरपुर लौट गई।

जयन्ती के इन्द्रलोक में पहुँचने पर देवताओ ने उससे समाचार पूछे, इन्द्र ने भी उसकी बीती कथा सुनी। जयन्ती इन्द्रलोक में रहने को रहती तो थी परन्तु मन उसका माधव में ही रमा रहता था। इस लिए एक दिन वह अचानक आधी रात को माधव के पास पहुची, उसे देखकर माधव ने पूछा—तू कौन है। अप्सरा ने उत्तर दिया, मैं आपकी पत्नी हूँ। जिस शिला के साथ आप ने जगल में विवाह किया था, मैं वही अप्सरा हूँ, और आपकी सेवा के लिए आई हूँ। सवेरा होने पर अप्सरा इन्द्रलोक को चली गई और माधव अपने गुरू की पाठशाला को चला गया। इसी प्रकार जयन्ती प्रतिदिन रात को माधव के पास आती और प्रात चली जाती। अप्सरा के सयोग से माधव की

चेष्टाओं में कुछ अन्तर आया देखकर लोगों ने उसका कारण पूछा, तो उन्हें पता चला कि एक स्त्री प्रतिदिन यहाँ आती है।

एक दिन माधव ने जयन्ती के इन्द्रलोक दिखलाने की बात कही, जिसे सुनकर जयन्ती ने कहा कि यह असभव है, इन्द्रलोक में मनुष्य का प्रवेश किस प्रकार हो सकता है। यदि इन्द्र का कही पता चल गया तो उस व्यक्ति का जीवन नष्ट तो होगा ही मेरे प्राण भी सकट में पड जायेंगे। माधव के बहुत हठ करन पर जयन्ती ने उसे लोपाजन लगाया और भ्रमर बनाकर अपने वक्षस्थल में छिपा कर माधव को अमरावती ले गई। अपने स्थान पर पहुँच कर सारा सिंगार-पटार करके इन्द्र सभा में गई। और वहाँ नित्य की भाँति नृत्य गीत आदि का प्रदर्शन किया। इस प्रकार माधव ने जीवन का सुख प्राप्त किया। आधीरात बीतने पर माधव और जयन्ती दोनो अपने स्थान पर लौट आए। परन्तु रात बीतने पर भी माधव उसे अपने पास से जाने नही देना चाहता था। इस पर जयती रात्रि में आने का वचन देकर इन्द्रलोक लौट जाती थी।

कुछ दिन बीतने पर जयन्ती में कुछ परिवर्तन दृष्टि गोचर हुआ तब लोगो ने इन्द्र से शिकायत की, कि यह मनुष्य से सपर्क रखती है इसका स्नेह माधव नामक पुरुष से है। इन्द्र को यह सुन कर बडा ही क्रोध आया, वह बोला तू देवलोक की मर्यादा का तिरस्कार के नित्य ही मनुष्यलोक का जाती है जयन्ती ने माधव के प्रति अपने उत्कट प्रेम की बात कही और यह भी कहा, कि माधव के बिना मेरा इन्द्रलोक में जीवन न रहेगा। जयन्ती की बात सुन कर इन्द्र का क्रोध तो बहुत आया परन्तु उसने कोई दड नही दिदा—बोला—यदि मनुष्य में तेरी इतनी आसक्ति है तो तुझे मर्त्यलोक में गणिका होना पडेगा। यह शाप सुनकर जयती माधव-माधव कहती हुई मर्त्यलोक को चल पडी। कुछ काल बीते कामावती नगरी में एक वेश्या के यहाँ उसका जन्म हुआ और उसका नाम कदला रखा गया। कामकदला जब तेरह वर्ष की हुई तो अनेक लोग उसकी चाहना करने लगे।

इधर जब रात्रि को अप्सरा नही आई तो माधव उसके वियोग में व्याकुल होकर छटपटाने लगा। माधव की विकल का ध्यान करके महादेव ने उसे बताया कि अप्सरा को शाप मिला है जिसके कारण वह मानुषी होकर पृथ्वी पर जन्म ले चुकी है। कुछ दिनो के बाद वह तुमसे मिलेगी।

कुशललाभ की कृति "माधवानल कामकदला चउपई" में यह कथा इम प्रकार है—एक दिन इद्र अपनी राज सभा में बैठा था, उसने सभी अप्सराओं से एक सुन्दर नाटक खेलने की आज्ञा दी। इन्द्र की पाँच सौ अप्सराओ में एक सर्व सुंदरी जयन्ती नाम की अप्सरा थी। इन्द्र ने उसके गुणो पर मुग्ध होकर उसी बडी प्रशसा की जिसके कारण जयन्ती को अपने रूप गुण का अहकार हो गया। उसने यह समझ लिया कि मेरे बिना नाटक में पूर्णता आ ही नहीं सकती है। इससे उसने इद्र की अवमानना कर दी। इद्र बहुत ही क्रुद्ध हुआ। उसने जयन्ती को मारा तो नहीं वरन् 'पृथ्वी पर पाहन को शिला होजाने' का शाप दे दिया। शाप सुनकर जयन्ती ने इंद्र से बडी प्रार्थना की। और पूछा कि मेरा यह शाप कब छूटेगा तो इद्र ने कहा कि 'पुष्पावती नगरी के ब्राह्मण का पुत्र माधव जब तुझ से विवाह करेगा, तब तेरी काया अप्सरा की हो जायगी।'

उधर शिवजी कैलाश पर्वत पर तपस्या कर रहे थे। पुष्पावती नगरी के राजा गोविंदचंद का प्रोहित शंकरदास निस्संतान था। उसने बड़ा यत्न किया पर उसे संतान न हुई तब उसने हार कर शिव की शरण ली। शिव ने अपनी आराधना से प्रसन्न होकर उसे स्वप्न में वरदान दिया कि "मैं प्रसन्न हूँ और तेरी आशा शीघ्र ही पूर्ण करूँगा। शंकर के इन वचनों को सुनकर ब्राह्मण जग पड़ा और अपनी पत्नी से स्वप्न का सारा वृत्तात कहा। सवेरा होते ही ब्राह्मण गंगा स्नान करने गया, स्नान करके जब वह कुश लेने गया तो वहाँ उसे एक अत्यन्त रूपवान बालक दिखाई दिया। बालक को लाकर उसने अपनी पत्नी को सौंप दिया। और पुत्र प्राप्ति पर खूब उत्साह मनाया। जब वह बालक बारह बरस का हुआ तो अपने पाँच सात साथियों के साथ नगर के आस-पास घूमने के लिए गया। बालकों ने एक पत्थर की शिला देखी—तो उन्होंने माधव से कहा—हम लोग तुम्हारा विवाह इस शिला से करेंगे। वहाँ कोई अन्य सामग्री तो थी नहीं केवल कुश और नये कपड़े से माधव का शिला के साथ विवाह हो गया। अग्नि जला कर बालकों ने हवन किया और अपने घर लौट आए। शिलारूपी अप्सरा शाप मुक्त होकर इन्द्रलोक को चली गई।

एक दिन माधव अपने घर सो रहा था उसी समय जयन्ती उसके पास आई। जग कर माधव ने उससे पूछा तू कौन है, उसने कहा मैं वही शिला हूँ जिसके साथ आपने गंगा के किनारे विवाह किया है। और अपना सारा वृतात बताया। उस दिन से प्रतिदिन रात्रि में अप्सरा माधव के पास आने लगी। अप्सरा को एक दिन इन्द्रलोक पहुँचने में विलंब हो गया। तब लोगों ने इन्द्र से जा कर कहा कि जयन्ती मनुष्य के सपर्क में आगई है।' जिसे सुनकर इन्द्र ने अत्यन्त क्रोध करके पूछा कि तू इंद्रलोक छोड़ कर क्यों जाती है। जयन्तीने इन्द्र से अपराध की क्षमा मांगी और कहा कि अब मैं नहीं जाऊँगी। उधर अप्सरा के न आने से माधव बड़ा उदास हुआ। एक दिन जब जयती फिर आई तो उसने उसके न आने का कारण पूछा तो उसने इन्द्र की आज्ञा की बात कही। इस पर माधव ने उससे अपने को इन्द्रलोक ले चलने का आग्रह किया जयंती माधव का भ्रमर बना कर वक्षस्थल में छिपा कर ले गई। इन्द्रलोक में नृत्यकरते समय जयन्ती अंगभंगी में संकोच करती थी। उसका यह संकोच देख कर लोगों ने विचारा और सारी बात खुल गई। इन्द्र इस घटना से बड़ा क्रुद्ध हुआ और बोला कि यदि तुझे मनुष्य से इतनी रुचि है तो तू पृथ्वी पर वेश्या होकर जन्म ले। तब कामावती नगरी में कामा वेश्या के यहा उस का जन्म हुआ और उस का नाम कामकंदला पड़ा।

कुशललाभ की यह कथा आलम को रचना की प्राचीन प्रतियों में नहीं पाई जाती है। यहा तक कि बोधा ने अपने 'विरह-वारीश' में इसी प्रकार एक दूसरी कल्पना की है। अतएव कुशललाभ की इस कथा से अनुप्राणित होकर ही किसी ने इस जयन्ती-अप्सरा प्रसंग को आलम की कृति के साथ जोड़ा है।

सिंहासन बत्तीसी की इक्कीसवीं पुतली माधवानल की कथा कहती है। परन्तु संस्कृत में सिंहासन द्वात्रिंशतिका में इस प्रकार की कोई कथा नहीं है। और कई अन्य सिंहासन बत्तीसियों में भी यह कथा नहीं है। अतएव यह सही मालूम पड़ता है यह कथा मूल रूप से कुशललाभ ने ही इस के साथ जोड़ा था। फिर उसके आधार पर आलम की रचना में भी किसी अन्य ने जोड़ दिया है।

सोरठा

अन्तराज सुरराज मन वाछित सुष निकटही ।
अपछर सकलसमाज प्रस्ट राग रागनिसहित ।।

चौपाई

अपछर विविध रूप रग सोहै । मिलि गावति नाचति मन मोहै ।
एक तान तीपे सुर गावत । कोकिल कठ सुदेस रिझावत ।
मधुर सुरन इक गावत नीकी । ताकी धुनि सुनि लागत फीकी ।
येक लिये कर जत्र बजावै । मनहु मत्र मोहनी चलावै ।
उघटित येक अधिक छवि पावै । मनहु सवनि चटसार पढावै ।

दोहा

येक म्रिदग बजावही येक ताल कठताल ।
अपने अपन गुननि सब मोहत देव दयाल ।।

सोरठा

एक दिवस सुरराज इह बानी मुष ऊचरी ।
बन आवहु सब साज सकल मल सगीत कौ ।

चौपाई

सुनि एहि सकल अपछरा धाई । साजि सिगार फेरि तहा आई ।
कोटि कोटि सोहत इक ठौरी । मनहु मदन की उलटी ठगौरी ।
एक एक अधिक परवीनी । विविध भाति नाटक रस भीनी ।
चतुर रूप वय गुन अधिकानी । अपछर एक जयती जानी ।
मोहे सकल सभा सुर एसे । नापि ठगोरी ठगि गये जैसे ।

दोहा

सुत कामिनि जुत रागपट ग्राम ताल सुष साज ।
सकल भेद सगीत कर रीझिय सुर महाराज ।।

सोरठा

दान मान दे पान विदा करी अमरेस सब ।
सबगुन रूप निधान कही जयती आय मुष ।।

चौपाई

इद्र के हिय वसी अपछरा जबै । अधिक गरभ ताका उपजो तबै ।
आलस रमी रहत अधिकाई । मन में मान बडा दुषदाई ।

निडर भई कछु संक न मानत । सब तै अधिक आपुको जानत ।
जब कोउ व्रत नाटक स्तुति धारै । अतिरिस भरि बिसबोल उचारै ।
एहि विधि कर गरबे गरबई । प्रगटी बिपति जु विधि निरमई ।

दोहा

न्रिपति गर्ब मन मैं भयो गयो रूप गुन तासु ।
उलटि भई बिपरीत मति हुती जु सुपद सुबासु ।।

सोरठा

पुनि औसर को चाव मघवा मन आनंद अति ।
सठ हठ मन मद आव वचन लोप पुन तिय कियौ ।

चौपाई

दिवस येक नाटक पुनि सज्यौ । अपछर मिली जयंती तज्यौ ।
सुर समाज मिलि सब सुपदाई । तिन बहु बिधि अपछर समझाई ।
तजि हठ उठि चलि नाटक कीजे । जा वसि जग सू बस करि लीजे ।
मानत नही सकल पचि रहै । वचन परसपर इहि बिधि कहै ।
तब कछु दिन औगुन फल फलही । जब पंडित सब मारग चलही ।

दोहा

बायु बढ़ी कीधौं जुर चढी दरप करी बुध मद ।
बिधना लिष्यौ सो नां मिटै करो कोटि कोउ छंद ।।

सोरठा

कही इंद्र सौ जाय भई जयंती गरब बसि ।
रहे सकल समझाय नाटक तजि घर में रही ।
अति गति रोस इंद्र मन आवा । जमदूतन सम दूति पठावा ।
गहि ततकाल ताहि तहां आंनी । तन कंपत डारत द्रग पानी ।
दसन पीसि सुरईस रीस भरि । गहेउ धाइ अकुलाइ वज्र करि ।
सिर छेदन उरभेद बिचार्यौ । तब गुर कर गहि रोस निवार्यौ ।
हो प्रभु धरम भार भुज तेरी । क्यौ अबध्य बधिये घर चेरी ।

दोहा

गो तिय अरु गोती जती सिसुरोगी द्विज जान ।
सरनागत गुर दूत मति है अवध्य बलवान ।।

सोरठा

रिस रजित विकराल मघवा यह बानी सुनी ।
दिय सराप तिहि काल होय असम तन पापनी ।।

चौपाई

इहि सुनि हाय हाइ उच्चारै । करि आरति सुर अधिक पुकारै ।
महाराज मम दोष निवारौ । जलधि सराप बूडती उधारौ ।
इह असतूति मानि प्रभु लीजे । अपछर तन जिनि पथर नहि कीजे ।
पुनि तव बचन भग जो करौ । तौ प्रभू नरक सपत में परौ ।
अब हो दीन दरसन प्रभु आई । जो कीजै सो तुमहिं बडाई ।

दोहा

गरे चीर गहि दत त्रिन कर जोरे बिललाय ।
कनक डड सम इद्र पग परी अपछरा धाय ।।

सोरठा

सुरपति दयनिधान दीन्ह ताहि बरदान तब ।
बारह बरस प्रमान सिलाहोहु सताप सह ।।

चौपाई

इद्र सराप असति नहि होही । तेरो गरभ दहत तन तोही ।
द्वादस बरष असम तन धरिहै । तब यह रीति सू फेरि उधरिहै ।
पहुपावती नग्र को ठाव । ब्रह्म बस माधोनल नाव ।
व्याहन जोग तोर कर गहि है । तब तू पुनि अपछर वपु लहि है ।
इहें कहत थरहर अपछरी । हरि हरि करि थरहरि घर परी ।

दोहा

नाम जयती अपछरा सुरपति दीन सराप ।
सुरगलोक सू छाडि कै सिला लहै सताप ।।

सोरठा

गरब सरब दुप देत रतिपति लकापति भुए ।
कस आदि किये रेत जुरजोधन सीसपाल जुत ।।

चौपाई

कहा वह अमर पुरी सुप साता । कहा यह अरन छक्यो परभाता ।
कहा वह अगर मलय कस्तूरी । कहा यह वरत अगनि सम धूरी ।

कहा वह अमर सभा सुषसानी । कहा यह सिंघ बाघ दुपदानी ।
कहा वह म्रिदु कोमल परजंका । कहा यह द्रढ कठोर भुव वंका ।
कहा वह अपछर पूरन कला । कहा येह अति कठोर सठ सिला ।

दोहा

दुपदायक सुष नास करि येह समझी तन सार ।
पूरन कृदया करत जब गरब करत करतार ।।

सोरठा

अपछर सिल अवतार वही कही आलम सुकवि ।
माधो विप्र बिचार सावधान सुनियह चतुर ।।

चौपाई

यहि समये परवत कैलास । महादेव विलसैं सुषवास ।
द्वादस वरस पूर तप कीन्हा । वन विहार कह भवचित दीन्हा ।
देषी सलित नीझर वर धारी । गगा तट आए त्रिपुरारी ।
दिन गत भएउ निसाभई तहा । मकर कीन्हे आसन जहा ।
अर्धनिसा तिह थानक गई । निद्रा आइ रुद्र द्रिग छई ।

दोहा

गगापति गगासु तट पहुपावती निकट ।
सोचत सुषनतर तहा मोहिय काम सुभट ।।

सोरठा

अनहद नाद अपार मधुर सुरन सरवन सुनिय ।
अद्भुत गगा तीर मदन सैंन नैनन लखी ।

चौपाई

रितु बसत निरप्यो तिहि थान । षेलत फाग नारि गुनवान ।
कोकिल कलित फलित बरबाग । अबु कमल जुत लषेउ तडाग ।
विविध पवन रति रवन सुहाई । लपटत भई ईस तन छाई ।
लषेउ सुमदिर अति सुविसाल । रहे गुनी गावत बरवाल ।
तलप लषी तह फेन समान । महकि रही सुवास तेहि थान ।

दोहा

भूषन जुत अवर सरस षोरस किये सवांरि ।
सब लछन पूरन तहा लषी सु गिरिजा नारि ।।

सोरठा

यह आलीगन थान स्रवन कहूं नैनन लखिय ।
पाँच बान बलवांन रोम रोम संकरि बिधेउ ।

चौपाई

मनमथ प्रबल रुद्र तन छयौ । ततछिन हँसि उमया ढिग लयौ ।
औ रति गति नायक व्यवहार । किय सजूत संकर तिहि वार ।
और ज कछु अदिष्ट गति और । को कवि वरनि सकै इहि ठौर ।
उमया की संगति चित दीन्हा । सुपनतर मैं भयो तन छीना ।
रति के अंतर रतिपति ढरहो । तब सिव जानहि दुप होइ रही ।

दोहा

उमया सगति सुपन करि प्रगट लपत कछु नाह ।
द्वादस वरप प्रमीध तप विनसि गयौ छिन माह ।।

सोरठा

सकर हिय धर ध्यान होनहार कारन लपेउ ।
तेहि बर उपज्यौ ग्यान उतपति माधी विप्रकी ।

चौपाई

तीनिकाल जानै त्रिपुरारी । कारन लपेउ ध्यान अवधारी ।
इद्र॰ सराप परी अपछरी । वनहि नारि वपुरी भुवपरी ।
ताकू यहिकर होय विवाह । अस वरदान दीन सुरनाह ।
ताते गगा तट सुविसाल । नल सर माभ धर्यौ यह वाल ।
एह वीचार ईस करि जहाँ । सुदर नील निरष्यौ इक तहा ।

दोहा

रुद्र छिद्र द्रिढ गाढ करि धर्यौ बीज तेहि थान ।
कहै पुत्र कर पोपियो नभ पट तीन प्रमान ।।

सोरठा

एह कहि चले महेस ततछिन गिरि कैलास कह ।
नल सर मध्य सुदेस मैन तूल वालक भएउ ।।

चौपाई

दिन एक सभु सिवा सग लीन्हा । महिमडल देषन चित कीन्हा ।
पहुपावती नग्र चलि आवा । तह एक सिव मंडप दरसावा ।

तामे मूरत है सिव केरी । विधि जुत तहं सेवा सुचि हेरी ।
ताकह देपि सिव ऐसे कहई । इहि पुर वड़ो भाग कोउ रहहो ।
प्रभु इह सेव जथा विधि कीन्ही । भगति तुम्हारी पूरन चीन्हो ।

दोहा

कवन वंस किहि नाम यह कवन हेत इहि सेव ।
कहि समझावहु सकल विधि पूछै सकर देव ।।

सोरठा

इहि विधि सव व्यौहार पारवती पूछत भई ।
सकर सव परकार वार वार उचरति भई ।।

चौपाई

इहि पुर गोव्यदचद नरेसा । धरम रूप वासत सव देसा ।
सकरदास पुरोहित जास । सकल धरम को मनहु निवास ।
तेहि परनी रमनी पटतीस । पुत्र ताहि घर नहि जगदीस ।
तां दुप दुपित रहत दिन मान । कछू उपाव न पावत आन ।
निहचै सुरति करी इह रीति । मन सेवा सेवै कर प्रीति ।

दोहा

पुत्र आस सेवा करत इह दुप नयनन माह ।
विधि याको निज नारि ते पुत्र निरमयौ नाह ।।

सोरठा

कहै वचन त्रिपुरारि सुनि सु सिवा सोचत भई ।
विधि अव किहि उपचार द्विज मनसा पूरन कही ।

चौपाई

इह द्विज देव सेवा चित ठानी । प्रभू उचरी इह अकथ कहानी ।
विधि निरमयौ न केहि विधि होई । सकर सेवत विमुप न कोई ।
जो द्विज सेवत सुफल न पावै । तो को सिव सेवा चित लावै ।
मानस सेव काज सव सरै । देव देव सेवा फल धरै ।
दिज मनसा पूरन नहि करई । तो सव जग हांसी उचरई ।

दोहा

हूं है सकल जगत मै प्रगट जु जग की गाथ ।
संकरपन कर सेव ते कछु फल चड्यो न हाथ ।।

सोरठा

जिह कीनी मम सेव तेहि कर दुष पडन करहु ।
जाचत संकर देव गिरिजा सकर काज कहु ।

चौपाई

तुम प्रभु दीन दयाल कहावहु । हरन करन जग विरद बुलावहु ।
दया दिस्टि जेहि ऊपर करौ । अमह सताप ताहि के हरौ ।
त्रिन ते गिरि गिरि ते त्रिन साजहु । अधमहु इद्र समान निवाजहु ।
सुत सपति जौ सुप जग माही । तुम कह देव दुर्लभ क्छु नाही ।
जो तुव सेव करत दिन मान । ताको देहु पुत्र वरदान ।

दोहा

इह जाँचौ प्रभु जोरि कर होइ परसन वर देहु ।
जिह विधि पुत्र उछाह घर ह्वै सकर के ग्रेह ।।

सोरठा

सिव सकर सुनि बैन द्विज वर कौ परसन भयौ ।
लप्यौ ध्यान धरि नैन नल सर मै बालक बिमल ।।

चौपाई

गिरिजा हम इक दिन वनि आए । सोवत मैन सभै वहकाये ।
ताकहु चलित चीत अति भयौ । सो नल सर बालक निरमयौ ।
मैन रूप सो बालक जानी । सो बालक आपन सुत मानी ।
इद्र सराप अपछरी दीन्हे । ताकँह विधि उपाव यहु कीन्हे ।
सोई द्विज कौ वालक दीजे । ताकी मनसा पूरन कीजे ।

दोहा

एहि बिधि द्विजहि सतोपिये और उपाव न आन ।
करम लिष्यौ सो पाइये यो उचरे भगवान ।।

सोरठा

सुनत सिवा सिव बैन अप्रमान हरपित भई ।
धन प्रभु जग सुप दैन द्विज मनसा पूरन करन ।

चौपाई

जोग जग्य यह भली विचारी । अपनी सेवा जग विसतारी ।
अव दयाल भली विधि ठानी । जग मे जुग जुग चली वहानी ।

सुनहु देव अब ढील न कीजे । पुत्र आनि सेवक (ग) को दीजे ।
सकर चित गगा तट कीन्हे । नल सरगौं वृह वालक लीन्हे ।
छिन मह सिव वालक लै आवा । पारवती कौं लै दरसावा ।

दोहा

दोऊ मिलि वालक लिये गये दास के धाम ।
सोवत पायौ सेज पर निसा रही अध जाम ॥

सोरठा

रे उठि संकर दास पुत्र लेहु परसिध जग ।
पुरऊं तेरी आस सिव सेवा सुफल भई ॥

चौपाई

सोवत उठि प्रोहित पेपियौ । प्रगट सिभु सनमुप देपियौ ।
वालक एक लिये दोऊ कर । उदै भयौ मानो प्रगट प्रभाकर ।
पर्यौ पाय दिज बाहु पसारी । दियौ पुत्र सकर हितकारी ।
कुल मडन इह वालक जानहु । और न कछू सका जिय मानहु ।
यह कहि अलप भयो त्रिपुरारी । वोलि पुरोहित लीनी नारी ।

दोहा

मगल करि आनद भरि वहुत द्रव्य द्विज देहु ।
उमयापति परसन भयौ दीयौ पुत्र मम येहु ॥

सोरठा

घरी दोइ निसि जात गनी न अति आनद मै ।
प्रकट भयौ परभाति वहुत दान प्रोहित दियौ ।

चौपाई

पूरव दिसि प्रकट्यौ जब भान । एक सहस दीनौ गोदान ।
कचन हीर चीर वहु दीने । वदीजन मन पूरन कीने ।
अनूज अतनू जाय जनम को । अपनी लछि करी सव ताकी ।
गीत नाद वाजत्र वजाये । सजन मन आनंद वढाये ।
तोहि बिधि रैन पुत्र फल पाये । सकल सभा बिरतंत सुनावा ।

दोहा

जाति करम विधि जुत कियो आगम निगम विचारि ।
माधोनल किय नाम जस चिर राष्यौ करतार ॥

सोरठा

वरस एक सिसु और वधे सुमाधौ मास इक ।
सब जन मन चित चीत [चोर] वालपनँ पेलत रहै ।

चौपाई

सात वरस को जब नल भयौ । ले पाटी पढवे कू गयौ ।
दिन दिन अक्लि अधिकही होई । तासम और न पूजे कोई ।
दिन प्रति और अधिक ह्वै ग्यानी । चौदह विद्या भयौ निधानी ।
करै राग वेद धुनि (क) पढै । नित प्रति रूप सवायौ चढै ।
सात वरस कौ बैठ्यो साल । पाच वरष पढि भयौ वैताल ।

दोहा

द्वादस मैं माधो भयौ अधिक कला परवीन ।
सवल वाल चटसाल के निकट रहत आधीन ।

सोरठा

अपछर असह सराप बरस दोय दस भोगिये ।
द्विज माधव कौ जाप जपत मिलन समयौ भयौ ।

चौपाई

यह सुदर कामिनि परवीनी । तेहि व्याहन की अति रसभीनी ।
लज्या जू कछु कहत न वानी । परनहि याहि महा सुरग्यानी ।
घरी चारि इहि पेल पिलाये । पुनि चलिकै चटसालहि जाय ।
माधो मुसकि कहै रे गहला । को परनै या थर की महला ।
माधो सकति भगति गहि आनौ । कीयौ व्याह जैसे मन मानौ ।

दोहा

और न सामग्री कछू वद मत्र पढि वाल ।
कह प्रीति इन दोउन की चिर राख्या गोपाल ॥

सोरठा

भई अपछरा आय कियो गवन सुर मै गई ।
टर्‌यौ सराप जु आय भयो जु गर्भ प्रताप तै ।

चौपाई

अधभुत यह अचिरज लषि बाल । भाजि नग्र पहुच्यो तत्काल ।
सो ततत वन मैं तिहि कियौ । सो सव प्रोहित सू कहि दियौ ।

सुनत संक संकर मन भई । नये जनम सुत दीनो दई ।
बहुरि अधिक पुन्य दान करावै । मंगल जुत बाजंत्र बजावै ।
पसुपति महाराज सुपदाई । इह बालक तुमरी सरनाई ।

दोहा

इहि विधि संकरदास नैं दीयो दान अपार ।
आप अपछरा देवपुर सो अब सुनहु विचार ।

सोरठा

उड़ी अपछरा जाय मानो गुड़ी अकास मैं ।
मिले देव सब आय अमरपुरी छिन मैं गई ।

चौपाई

समै पाय देवसुर राज । करे सकल मन वंछत काज ।
समाचार पूछै सुरराइ । करी निवेदन सब सतभाइ ।
सावधान इंद्र कीयौ तास । मन वांछित किए भोग विलास ।
अब कछु संक न मन मैंह आनी । पहली प्रीति निरंतर जानी ।
आनद मगन जयंती-जयंती है । अतर गति माधो को चहै ।

दोहा

सज्जन द्रोही कृतघनी करत विसासहि घात ।
ते नर रवि ससि उदै लौ नरक परे पछितात ।।

सोरठा

तीनौ विधि इक साथ मोहि करी माधो चतुर ।
सो सांचो मम नाथ जनम सूध पीठना तकौ ।।

चौपई

इहै मतौ मन मैं द्रढ करि कैं । अरध निसा आई उतरिकैं ।
सूते ब्रह्म कुंवर तिह थानक । गई जयंती तहाँ अचानक ।
माधो कहै कवन तू नारी । मम कामिनि तुव कंथ विचारी ।
सिलाजु ब्याही वनहि मंझारी । सोइ अपछरा हों वलिहारी ।
नित प्रति नाथ तुम्हारी चेरी । करिहों सब ईछा मन केरी ।

दोहा

मनसा वाचा करमना सपत करों कर जोरि ।
जन्म जन्म नरकहि परो पीठितकौं प्रभु तोरि ।

सोरठा

माधो सुनि ये बैन, अति उछांह मन में भयो ।
कीयौ सनमुप नैन, द्रढभुज भरि भेटी विहसि ।।

चौपई

बिलसैं अति मन वांछित भोग । दोउ समान गुनवत सजोग ।
दोउ पूरन जोबन मयमत । रसबसि भये कामिनी कत ।
कोककला पूरन विधि कीनी । माधोनल अपछर परबीनी ।
भये एक तन मन यह जानी । बानी बरन बरन जिमि बानी ।
रीझेउ चतुर परसपर दोई । इकटक द्रिगन रहे मुप जोई ।

दोहा

हस रचत मन मानसर, भवर कवल मकरद ।
अनहित वन चदन रुचै, चतुर चतुर मद मद ।।

सोरठा

निसा रही कछु थोर, अपछर सुरपुर को गई ।
प्रात भयो तब भोर माधो गये चटसार कू ।

चौपाई

अपछर नित रजनी प्रति आवैं । प्रात भये सुर लोक सिधावैं ।
सकल कला माधो परबीनी । एक अधिक अपछर दइ दीनी ।
एक दिवस प्रोहित अपछर जानी । माधो मुख बोलत सुन्यौ सजनी ।
तब समझौ सकर मन भीतरि । कामिनि नित आवत कोइह घरि ।
तब घर रचेउ सिपर सम बका । तह अपछर नल रमत निसका ।

दोहा

मन मान्यौ मदिर रच्यौ, नयो जु उपज्यौ चैन ।
न्रित राग बाजत्र रस, सुनै न कोऊ बैन ।।

सोरठा

एक दिवस नल ताहि, कहे मनोरथ प्रगट कर ।
मो मन है अति चाह, सुरपति सुदर पुर लपो ।।

चौपाई

अहो नाथ यह गाथ न होई । नर सुरपुरी पहुचे क्यौ कोई ।
देवपथ दुप करि अवगाहत । मनस रूप कैसे देष्यो चाहत ।

जो प्रभु दुष मुष मरि पिरि जाई। होई जान तौ कौंन भलाई।
जों सुरराज सोध इह पावै। ताहि मरन मम जन्म गमावै।
सुनि नल पुन्य उतर सर मारे। हठ मैं सठ कठ बोल उचारे।

दोहा

महा मरन ममौ भयौ, मूरख मुगध गवांर।
सैंमल अंग के कारनै, निरमल प्रीति दई डार।

सोरठा

सुनि अपछर एह वैन, पतिवरता को व्रत वढ्यो।
दियो लुकंजन नैन, मंत्र मंत्रि भौंरा कियौ॥

चौपाई

दोउ कुच बीच मेलि करि ताही। लैगई उड़ि अमरावति मांही।
ज्यौ मनसा नल की सुप पाई। त्यौंही सकल विधि ताहि दिखाई।
पुनि माधो आतुर यह कीनी। लप्यौ कला नाटक रस भीनी।
तब अपछर औसर की बारी। चली सकल सिंगार सवांरी।
इद्र सभा मधि माधो कारन। अति अदभुत गुन ते विस्तारन।

दोहा

लपे न कवहू इंद्ररस, किए न क्यहूं नारि।
लपे सु माधव विप्र रस, पटपद के उनहारि।

सोरठा

अरघ निसा परवान, पति प्यारी रहे अमर पुर।
पुनि माधौ के थांन, आनंद सौं आए तहां॥

चौपई

माधोनल अपछर अनुरागी, अति अपछर माधो सौंपागी।
नन वंछित भोगवे भोगवती, रही न संक कछु मनमथ रती।
तुप सौं रहत बरस द्वै भय, तब माधौनल अति गरभये।
इंद्र संक मन मैं नहि आनै, को बपुरे प्रोहित गिरदानैं।
माधो सब रजनी सुखलेइ, प्रात भए तब चलन न देइ।

दोहा

तोर गवन सुरपुर दिसा अलप कलप उचोत।
तुव आगम आनंदमन कलप अलप सम होत।

सोरठा

अपछर दोउ कर जोरि दीन बचन विनती करत।
प्रान नाथ हय छोरि जान देहि मोहि चतुर मनि।

चौपई

रजनी प्रति सजनी मैं ऐहौं, तुव मन वंछित सो फल देहौं।
प्रात रहै प्रगटै प्रसनाई, तब परिहै दुर्लभ कठिनाई।
न करि प्रयान सयान सनेही, लषे दुप्ट मघवा दुप देही।
इहि विधि अधिक निहोरा कीन्ही, चउथौ पहर दिन तब सिष दीन्हां।
करि परिनाम अपछरा गई, मिलन यहै तन पूरंन भई।

दोहा

रति संगम पति अंग के प्रगट दिखाई देत।
लखि तरुनी संपूरनी ससि आनन भयौ सेत।।

सोरठा

सुर सोयौ दुष पाइ मुष मलीन करि टरि रहे।
अति दोषी दुष दाइ, प्रकट करी तहं वज्रधर।

चौपई

महाराज सुनिये यह गाथा, लगी जयंती रस नर साथा।
नित प्रति यह नाटक रस तजै, अधिक नेह माधौं सौं भजै।
देव सेव नहीं नेह निहारै, गरभ गई माधो के गारे।
कानि भंग इह पुर की कीनी, तुम्हरी सेव सकल तजि दीन्ही।
रही बैर वह इह पुर आई, सांच परै जो लषै बलाई।

दोहा

अति अनीति अपछर करै विद्यमान तुव नाथ।
सकल नवेदन हम करी दड देन तुम हाथ।

सोरठा

सकल सोचि तिन बैन सहस नैन चिंता भई।
दइ सावन की सैन तिन तिहि विधि आनी तहां।

चौपई

भ्रमत नैन पल कै लगि जाही, सिथिल अंग सोय कछु नांही।
सेष न परत पग गति तजि दीन्हीं, वियुरि रही अलकैं तजि वीनी।
सकल अभूषन उलटे अंगा, बसत बास वासै पिय संगा।
अगन दृष्टि सोभी न विराजै, कहूं कहूं पान पीक छवि छाजै।
अधर दंत दंपति अलसाई, अति अद्भुत उपमा तिन पाई।

दोहा

अधर सुधा पति पान करि प्रिया मिटाई श्राप।
रह्यो जु कछु रंचक मनहु मुसकि लगाई छाप।

सोरठा

लपी रंन यह रीति रोष सोग जुत विविध पति।
मन में पूरन प्रीति राज दंड वंडनि वर्न।

चौपई

अपछर सुर नरपुर नित जाई, तुव भाव नरसों ललचाई।
अमर सकल समर बिसारे, अगन गरन देखन के गारे।
यह मन असह गई नहीं करि हौं, द्वै में येकहि की सिर हरि हौं।
तो कबूल करि सिर धरि न्यारो, जो तोंहि लगे सनेही प्यारो।
होय प्रान प्यारो तोहि अपछर, तो बिन सीस करों नल इह वर।

दोहा

पति वल्लभ तजि आप तन तन वल्लभ पति नास।
जानि सत्य यह नहि असति द्वै में एक विनास।

सोरठा

अपछर निहचै जान आप मरन मान्यो सही।
छाड़ि इन्द्र की कानि माधो गुन गाथा जपति।

चौपई

का सुदेवता मुगध विचारै, यंड रोम नल के परिवारै।
मैंन मैंन माधो तन जोई, तव तव उलटि आप बसि होई।
जेहि प्रभुता तुव इन्द्र कहावै, सो माधो मन में नहि लावै।
तीनि लोक सम नांही, तै कत गरव करसि मन मांही।
यह तन मम माधो नल काजा, कोयो चहै सो करि सुरराजा।

दोहा

अपछर तन यह पुर सकल तुव समेत सुर नाह।
सकल भोग अमरावती माधो बिन जरि जाह।

सोरठा

असह वचन भुत धारि विषम क्रोध व्याकुल भयउ।
गह्यो वज्र असुरारि नयो जयंती सीस तंह॥

चौपई

अधिक प्रीति अपछर की जानी, जब धरि वज्र और मति ठांनी।
जो तोहि मांनत भोग पियारा, जाइ होह गनिका अवतारा।

जो नर रुचि है तो मन मांही, ताही सों रमि है गलबांही।
घर घर प्रति नाटक रस करि है, जन जन लखि सिर पर कर धरि है।
जो तोहि दान मान कछु दे है, सोई तो तन मन सुष लै है।

दोहा

को बपुरा माधौ तहाँ मन मैं बसत लगार।
फिरि है बन उपवन नगर माल लाल कै लार।

सोरठा

डसी ज्यौं सरप भुजंग नाहिन मंत्र उपाव तहाँ।
ततछन भई अनंग मुख माधो माधो कहत।

चौपई

सो अपछर तेहि पुर अवतरी, काम अंगना के उर परी।
कामावती नग्र मझार, काम कंदला कै अवतार।
रूपवंत बुधिवंत नागरी, भाग्यवत गुनवंत आगरी।
जो नाटिक पूरन बिधि कहिये, सो सगली बिधि तामें लहिये।
जोवन गुन कर पूरन भई, बारह बरस ईह विधि गई।

दोहा

तेरह बरष प्रवेस तब मनमथ बढ्यौ सरीर।
नर नागर निरषत नयन रचक धरत न धीर।

सोरठा

कंदल गनिका रूप कह वेही मातुर भई।
पति बरिता को जाप जपी जन्य करतार दे।

चौपई

राजपुत्र द्विजपुत्र प्रवीना, साहपुत्र पूरण आधीना।
कामकंदलहिं सो न सुहाई, जाति समर मन माधो लाई।
कंदल की जननी समुझावै, रंचक सो चित मो नहि लावै।
काम सेन भूपाल विचछन, ता आगे नाटिक ह्वै जा दिन।
आप प्रसाद प्रसाद उधरिहै, ता पीछे कुल रीति बिचरिहै।

दोहा

यह ऊतर सब सौं कहै मन माधो जस लाइ।
कै करता पूरन करै कै जन्म अबिरथा जाय।

सोरठा

अपघर भयौ सराप कंदल को उतपति भई।
तब माधव परताप मरन तुल्य संसय भयउ।

चौपाई

निसा भई अपछर नहिं आई, तब दुख सहस भयो दुख दाई।
तलफित तन ज्यों जल बिन मछरी, दिन भर भूखि भयो तन सकरो।
अरध निसा जब गई पराई, तब जिय रह्यो नैन में आई।
प्रात भयो अपछर नहिं पाई, तब कछु सुरति ईस की आई।
ततदिन महादेव घर दीयो, माधो सेवि दई की कीयो।

दोहा

अपछर मरि भरमी भई तिन आनन दुख देह।
बितेक दिन बीते बहुरि प्रगट पाप रहै नैन।

सोरठा

यह सबर बरदान कछुक गोप श्रवनन पर्यो।
तब माधो मति वान चेत पाय धीरज धर्यो।

चौपाई

मदन मूढ़ नरको है घरनी, सो मोहि रीति नहीं यह करनी।
जो जीवन जग में पुनि रहिये, गई लहि फिर पुन्य तब लहिये।
जो करतार क्रिया उपरिये, तो मिलाप अपछर पुनि करिये।
मरन कीय सहियें कछु नाहीं, यह धीरज धरियें मन माँहीं।
मो कँह कहूँ दई घर दीयो, देयो बरस पांच दस कीयो।

दोहा

अति दुख में धीरज अधिक धरयो महा मतिवान।
जौं सुझाइ दीनो दई सो फिर देह भगवान।

सोरठा

भयो प्रगट परभात विलसि वदन माघो उठयो।
दीन दसा लखि जात बडो चिंता मन में धरी।

चौपाई

माधो जोबन दसा सम्हारी, करियें याहि अबै घरबारी।
बडो जोग बांभन की कन्या, परनो ताहि भाग की धन्या।
ता संग माधो भोग विलास, करत अपछरा सुरति उदास।
मन में दुखी प्रगट नहिं कहे, बन उपवन देवल फिरि रहे।
कर पकरे की लाज विचार, ताते रहे कामिनि के लार।

दोहा

परम सनेही अपछरी सिखई कला प्रवीन।
सो सहिदानी रैन दिन फिरै बजावै बीन।

"माधवानल कामकंदला चउपई" मे जयन्ती प्रसंग

एक दिवसि मनि धरि आणंद, इंद्र सभाई बइठउ छइ इंद्र।
अपछर नइ दीध आदेस, "रचउ आज नाटक नउ वेस" ॥१२
संभलि बचन सज्या सिणगार, चालइ पंचसइ तिणि वारि।
जोइं सुरपति धरी जगीस, मांडिउ नाटिक बद्ध बत्रीस ॥
एक तिहां मांहि अभिराम, अपछर-नगउ जयंती नाम।
चंपक वर्ण सकोमल गात्र, प्रेम संपूरित नाचइं पात्र ॥
सभा मांहि ते अतिहि अनुप, तेह समानि नही केहि रूप।
ते वर्ण वइं देवसुर मिली, करि चित्रामि लिखी पूतली ॥
इंद्र प्रसंसा श्रवणे सुणी, कोयउ गर्व जौणि कामिनी।
नित प्रति अवसरि नाटिक नणइ, इंद्र कथन गर्वइं अवगणिइ ॥

गाहा

नासेइ \ जूएण धणं, नासेइ रज्जं कुमंत मंतीहो।
अइ रूपेण हिमहिला, नासेइ गुणाइ गव्वेण ॥

चउपई

एकिणि अवसरि नाटिक सजइ, अपछर मिली, जयंती तिजइ।
रूप तणउ आण्यउ मन गर्व, शक्र बचन तिणि लोप्या सर्व।

श्लोक

आज्ञाभगो नरेंद्राणा, महता मान मर्दनम्।
पृथक् शय्या च नारीणामशस्त्र वध उच्यते।

चउपई

नाटक भग किइउ तिणि वाल, कोप्यउ इद्र करि रूठउ काल।
तेडावी पूछइ सुरराज "नाटक भग किइउ किणि काज?
तइ मन मही जाणयउ मही, 'नाटक मुझ विण हुस्यइ नहीं'।
धार्यउ रूपमद तइ मनमाही, उठ्यउ इद्र वज्र करि साही।
सभादेव तव बोलइ सहु, "स्वामि ! कोप न कीजिइ बहु।
अस्त्री ब्राह्मण बालक गाइ, वेद पुराणि अवध्य कहिवाइ।"
ईणइ रूप मद आण्यउ, आप, कोप्यउ इद्र तसु दियउ सराप।
"भग हीण सिल पाहण-ह-तणी, पृथवी पीठि हुजे पापिणी।"
वहइ जयती करी प्रणामि, "मुझ अपराध खमउ तुम्हि सामि।"
वली न विलोपू तुझ आदेस, यादइ छूटावउ अपछर वेस?

गाथा

[नासइ वाग्मेण सुमं नासइ काया कुभोयणे भुत्ते।
कुकलत्तेण य जम्मो, नासंति गुणाइं गव्वेण]

चउपई

दीण हीण अति भासइ खणउ, "ए अन्याय खमउ मुझ तणउ।"
"हुउ सराप असत्य न होइ, "कदि छूटिसि ? दिन दाखउ सोइ।
पुहपावती नगरि नइ ठामि, ब्रह्मपुत्त माधव इणि नामि।
करि रामति तुझ परिणाविसइ, तदा तुझ काया अपछर हुस्यइ।

श्लोक

[सकृज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पंडिताः
सकृत् कन्या प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्।]

चउपई

इसिउ इंद्र नउ हूउ सराप, पहिलइ भवनउ लागउ पाप।
स्वर्ग लोक हूती खडहडी, सिला थइ नइ धरणी पडी।
पुहपावती नगरी नइ तीरि, सिलारूपि अपछरा सरीरि।
आपणि कियउ कर्म भोगवइ, अहंकार फल एहवा हुइ ॥३०॥

दूहा

नामि जयंती अपछरा, सुरपति तणइ सरापि।
स्वर्ग लोक सुख छडियां, सिला सहइ संतापि।
कंसासुर कौरव करण, रतिपति रावण राण।
गर्व प्रमाणि गमाडिया, राज रिद्धि मंडाण।
इंद्र सरापि इणि परिइ, अपछर सिल अवतार।
सावधान हिव संभलउ, माधव विप्र विचार।

चउपई

ऐणि अवसरि पर्वत कैलासि, महादेव विलसइ सुखवासि।
बार बरस तप पूरूं करी, धरापीठ जात्रा मनि धरी।
अंतरीख गयणंगणि-वहइ, गंगातटि इक वांसु रहइ।
पदमासनि पूरी निसिदीस, जोग निद्रा पुढिउ जगदीस।
लय लागीनइ थंभिउ नाद, सुखइ संभल्यइ अनाहत साद।
वसिउ गगनि सूनि मनि वसइ, आगिल वार सोलह अभ्यसइ।

अहनिसि अरहट अमली माल, सज्जइ जोग ते बचइ काल ।
घणा दिवसि सजमी सरीरि, साधइ जोग गगा नई तीर ।
एक दिवस लव लागी जिसइ, चूकउ ध्यान खिसिउ मन तिसिइ ।
उमया सगति मन-सिउ करइ, बारह वरस तप थरहरइ ।
चित्त चूकउ नइ छूटिउ विंद, जाग्यउ इस तिसिइ गोविंद ।
अजलि डावी ग्रहिउ असेस, ईश्वर पडिउ वडइ अदेस ।
मूकउ विंद धरणी असराल, तउ फाडइ सातइ पाताल ।
ऊंचई किमही जउ उछलइ, तउ सुर चक्र सहु परजलइ ।
जउ किमही जल अतरिखि रहइ, सातइ सायर जल तउ सुसइ ।
इसिउ विमासी-नइ तटि फिरइ, साहमी वस जालि सचरइ ।
सरल तरल नड ऊग्या जिहा, ईश्वर आवी जोवइ तिहा ।
नडनी नली कोरि नइ माहि, घालिउ विंदु ईस करि साहि ।
पछइ ईस आघउ सचरइ, करइ जात्र धरणीतलि फिरइ ।
तेह बिंदु तेणि थानकि रहइ, इणि प्रस्थावि हुऊ ते कहइ ।
तिहा ज गग वहइ सासती, तिणि तटि नगरी पुहपावती ।
गोविंद चद करइ तिहा राज, सारइ लोकतणा सवि काज ।
मोटा रायतणी कूयरी, तेहनइ सातमइ अतेउरी ।
पटराणी रुद्रादे नामि, प्रेम सपूरित मनमथ ठामि ।
तेहनउ प्रोहित सकरदास, ऋद्धिवत नइ सील विलास ।
वारकोडि धन सोवन तणी, हय गय लखमी पोता तणी ।
बीजी परि तस सगला सुख, पुत्रनाही ते मोटउ दुख ।
देवी देव मनावइ घणउ, तुहि न देखइ मुख सुत तणउ ।
तिणि परणी रमणी बत्रीस, तुहि न पूगी पुन-जगीस ।
सततिविण आमण दूमणउ, करइ उपाय धन खरचउ घणउ ।
तिसइ ईस जाणी तत्काल, तिणि नडमाहि निपनउ वाल ।
पुत्र भणी मनि घणउ सनेह, जाणिउ सुत अवतारू वेह ।
अेक राति प्रोहित दुख धरी, सूतउ सुहणइ आव्यउ हरिः ।
सभलि प्रोहित सकरदास, हूं तूठउ तुझ पूरउ आस ।'

श्लोक

"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गं नैव च नैव च ।
तस्मात्पुत्र मुख दृष्ट्वा पश्चाद्धर्मं समाचरेत ।

अपुत्रस्य गृहं शून्यं दिशः शून्याश्च बांधवाः ।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वं शून्यं दरिद्रता ।

गाथा

गेहं पि तं मसाणं जत्थ न दीसंति धूलि धूसरिया ।
उट्ठंति पडंति रडवडंति दुइ तिण्णि नु डिम्भाइं ।
पिय महिला मुह कमलं, बाल मुहं धूलि धूसरच्छाहं ।
सामिमुहं मुपसन्नं, तिण्णि वि पुण्णेहिं लब्भंति ।

दूहा

सिगालुउ अरु खिल्लणउ, जिणि कुलि एक न जाउ ।
तासु पुराणी वाड़िजउ, दिन दिन मच्छइ पाउ ।
वेश्या-नेह जुआरि धण, काती डंबर ठार ।
पच्छिम-पहुर अपुत्त घर, जत न लग्गइ वार ।

चउपई

तिणि वचनि प्रोहित जागीउ, पय प्रणमी-नइं सुत मागीउ ।
संकर प्रति कहइ त्रिपुरारि, "देसिउ पुत्र गंग नइ पारि ।।
तेहनु दीजि माधव नाम, रूपवंत ते अभिनव काम" ।
सुणी वात प्रोहित हर्षीयउ, तेतलइ ईस अदृष्टि हूउ ।
तेह सुपन नारीनइ कहइ, नर नारी हीयडइ गहगहइ ।
प्रोहित प्रभाति गंगनइ तीरि, करिवा गयउ पवित्र सरीरि ।
डाभ काज गंगनि कठि, लेता खंचाणी नड गठी ।
तिसिइ बालक रोतु साभलिउ, हुउ तमासु ते नड खणिउ ।
माहइ देखइ तु अदभुत बाल, सुदर रूपवंत सुकमाल ।
तेजि सूरिज जिम झलहलइ, प्रोहित ते लेई नीकलइ ।
आणि अस्त्रीनइ सूपीउः "एह पुत्र परमेसरि दिउ ।"
कीउ वधावउ पुत्र तणउ, खरचउ गरथ पुरोहित घणउ ।

वस्तु

कीयउ उच्छव कीयउ उच्छव, हुयउ आणंद ।
कुटुंब सहुइ सतोषीयउ, नगर माहि उच्छाह कीधउ ।
राजा मनि हरखित थयउ, माधवानल नाम दीधउ ।
सुदर अति सुकमाल तनु, रूपि मयण अवतार ।
कवियण ऊपम इम कहइ, जाणउं देव कुमार ।

चउपई

अधिक तेज ईश्वर नउ बीज, जाणे झबकइ पावसि वीज ।
रूप अनुपम असभम काय, दीठइ सहू को आवी धाय ।
कला बहुत्तरि नितु अभ्यस्यइ, सरसति बदन कमल तस वसइ ।
जाणइ लक्षण वेद पुराण, पडित कोइ न मेडइ माण ।
वार वरसनु माधव थयउ, नगर गोयँरइ रमिवा गयउ ।
पाँच सात बालक परिवार, रमता वेला थइ अपार ।
आधा बालक गया एकला, पाहणनी तिहा दीठी सिला ।
अस्त्रीनइ दीसइ अणुसारि, बालक कह "माधव" अवधारि ।
सामग्री ह्मे लेइ आविस्या, एह सिला तुझ परणाविस्या ।
रामति सही अपूरव होइ, जाइ घरे म कहिसिउ कोइ ।
इक न्हरावइ गगा नीरि, इक पहिरावइ कोरू चीर ।
धूडितणा करि ढगला च्यारि, कीधउ हथलेवा आचार ।
सिला साथि लेइ बाधिउ छेह, "तुझ विहु होज्यो अविहड नेह" ।
अगनि जगाडि होम विधि करइ, बालक विप्र वेद ऊचरइ ।
रामति इसी बालकइ करी, माधव परणिउ सिल-सुदरी ।

चउपई

आवइ अपछर दिन प्रतिराति, घरमाहि नवि जाणइ बात ।
माय ताय दीठउ सुत देह, सही किहाकणि लुबधउ श्रेह ।
मडाविउ प्रोहित आवासि, एक थभ ऊचउ आकासि ।
जाणउ पुन इहांकणि रहइ, तउ स्त्री परिचू नवि सो सहइ।
सात भूमि मदिरि ऊपरिइ, पर थल धन मनबाछित सरिइ।
साहमु सुरवीउ थयु मयक, अपछर आवइ तिहा निसक ।
सुख सेजइ पउढइ निसि दीस, जाणइ करि तूठउ जगदीस ।
अपछर साथि भोग भोगवइ, नित सारीखा मेलउ हुवइ ।

गाहा

हसा रज्जति सरे भमरा रज्जति केतकी कुसुमे ।
चदनवणे भुअगा सरिसा सरिसेहि रज्जति ।
अहिणव सुरयारभे ज सुक्ख होइ पोढ महिलाणम् ।
नवरस विलास हास जाणइ हियऊ न जपइ जीहा ।

चउपई

मोटा ब्राह्मणनी कूयरी, प्रोहित नइ दिइ आदर करी ।
करउ विवाह् इम पूछइ मात, माधव तेह न मानइ वात ।
एक दिवसि दिन ऊगइ जिसिइ, अपछर जावा लागइ तिसइ ।
छेह झाली माधव इम कहइ, "ताहरि विरहइ मयण मझ दहइ।"
अपछर कहइ मा हुइ अजाण, जावा दिउ मुझ, मंकरि पराण । '
दिन प्रतिइ हूं आविसि राति, विणमे सिउ दिन रहिता वाति ।
घणी वार ते दिन प्रति इहइ, एक दिवस सघली परि लहइ ।
जाई कहइ इन्द्रनइ वात, "अपछर लागी नर सघाति ।"
सुणी बात रीसाणउ जिसिइ, तेडावी ते अपछर तिसिइ ।
'अजी नहीं रे तुहनई लाज, मनुपलोक जाइ कुणि काज ।
न भली जेठ मासनी लाइ, न भली जे स्त्री परघरि जाइ ।
न भलऊ अतेऊर पइसार, न भलउ विहु तणउ भरथार ।"
मिली देव सुरपति वीनवइ, "बकसिउ गुनह न जास्यइं हिवइ।
कितला एक दिवस ते रही, तेतलइ विरहि व्यापति थइ।

दूहा

लागइ चित्त सुजाण-सिउ, विरजइ लोक अनाण ।
तिह-सिउ रूठा किम सरइ, जिह सिउ जीव पराण ।
खिणराची खिणि राचसिइ, जेह-सिउ मनविण नेह ।
तेह सिउ केहा रूसणा, जेह-सिउ घाठी देह ।
सालकार सुलक्खणा, सरसा छदा इत्त ।
अण आवता मन दहइ, गाहा महिला मित्त ।

चउपई

माधव नित प्रति जोवइ वाट, अपछर नावइ मनि ऊचाट ।
एक दिवसि आवी नइ मिली, विहु जणा मनि हूंती रली ।
पूछइ माधव "कहि वृत्तत" "किम आवू" तू सभलि कंत ।
आगइ इन्द्र सरापी हुती, आवी न सकू तेणि वोहती ।

गाथा

मा कुमइ चदवदणी तू रसरगेण पूरिय हियय ।
अनाह दिट्ठि पुट्ठि पाविअइ पुण्ण रेहाइ ।
नारी नेह विलद्धो, अप्पाण खिवइ सविल सम्मि ।
कमलिणि मज्झे भमरो, मरेइ न हु कोरण पत्तम् ।

चंउपई

"साचउ नेह जाणउ तुम्हि सामि, जउ आवू प्रिउ महारइं ठामि।
मन लागउ माधव न रहाइ, नित छानउ अपछर-घरिजाइ।
इन्द्रलोकि अपछर संजोग, माधव बिलसइ वंछित भोग।
एक दिवसि नाटिक आदेसि, हूइ अपछर पडी अंदेसि।
भमंरा रूपइ माधव कीयउ, कंचू-बिचि छानउ राखीयउ।
विविध प्रकार नाटिक करइ, कंचू-विचि प्रीउडो मनि संभरइ।
जोवइ इंद्रसभा सुर मिली, नाचइ पात्र प्रेम-पूतली।
बाजइ तंती वीणि सर ताल, बत्रीसइ मिलि अपछर वाल।
मोडइ अंग न ओटइ नाल, मनि सकइ अपछर ततकाल
मत चंपाइ कुच प्रीय-संगि, तीणइ संकती खंचइ अंग
इंद्रादिक सघला सुर कहइ:, "किणि कारणि अपछर खलहलइ
न्यान प्रमाणि जोवइ जाम, भमर रूपि नर दीठउ ताम
इंद्रइ जाणी सघली वात, "स्वर्गलोकि नर आणिउ घाति
देव भोगि अे तृपली नही, निगुणी नर-सिउ लागी रही
देखउ मोटउ कीधउ दोस, वली इद्रमनि वसीउ रोस
अपछर गई घरि आपणइ, प्रीऊ मूक्यउ घरि प्रोहित तणइ
इंद्रसभा बीजइ दिन मिली, तेडी अपछर बिरहा कुली
टलिउ सराप रहीउ तिणि पासि, अपछर हुइ ऊडी आकासि।
सवि बालक नाठां तिणी करि, नासी गयां ते नगर मझारि।
प्रोहित प्रीत बात सवि कही, वीहिउ प्रोहित हीयडि सही।
सकति कइ व्यंतर साकिनी, राक्षसि सीकोत्तरी डाकिनी।
आवी पुत्र लेपणनइ काजि, मोटउ कष्ट टलिउ छइ आजि।
खरच्या अरथ गरथ भडार, कीधा मंत्र यत्र उपचार।
वडा बडेरा पुण्य प्रमाणि, पुत्र उगरिउ बडइ विनाणि।
इंद्रलोक ते अपछर गइ, मिल्या देवमनि हरखित थइ।
सुखि समाधि सुख भोगवइ, अेक दिवसि अपछर चिंतवइ।

श्लोक

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च ये च विश्वास घातकाः।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ॥

गाहा

विरला जाणति गुणा, विरला पान्नंति निद्धणा नेहा ।
विरला परकज्ज करा, परदुक्खे दुक्खिया विरला ।

चउपई

मुझ कीधउ माधव उपगार, ते माहरु साचउ भरथार ।
इम जाणी तिहाँथी नीकलइ, मध्यराति माधव नइ मिलइ ।
माधव सूतु घरि आपणइ अपछर देखीनइ इम भणइ ।
"कुण नारी तू किहइ कामि" है तुझ घरणी, तू मुझ सामि ।
हूँ परणी तइ गंगा तीरि, पामिउ अपछर तणउ सरीरि ।
हिवइ आपणइ छइ अविहड नेह, निश्चइ कहीइ न दाखू छेह ।
रिखी वात तउ किहनइ किहइ, अेणि वाति माधव गहगहइ ।
छाना वाछित विलसइ भोग, सरिखानउ मिल्यउ संजोग ।

गाहा

देवाण वर, सिद्धाण दरसण गुरु नरदिं सम्माणम् ।
गइ भूमि, नट्ठदव्व पामिज्जइ पुण्ण-रेहाइं ।

सोरठा

माग्या मिलइ न च्यार, पूरव पूरादत्त विण ।
विद्या नइ वरनारि, सर्व गेह सरीर सुख ।

कुपिउ इद्र रोसइ धडहडइ, जाणइ वैस्वानर घृत पडइ ।
"देवतणा तू विलसइ भोग, स्वर्ग लोकि नर-सुख-सजोग ।
तउ हिं त्रिपति नुहि तुझतणी, मनुष्य लोकि जायइ नर भणी ।
आविउ उदय भवतर पाप, सहमुखि इद्रइ दीउ सराप ।
"जाइ वेस्या-पेटइ अवतरे, थोडइ भोगि घणा दुख भरे ।
ते अपछर तिहाथी चवी, हिवइ वात तिहा लेस्यइ नवी ।
कामावती नगरी मझारि, कामा गणिका उयरि अवतारि ।
तेहनइं पेटि पुत्रिका वसी, रूपवंत हुइ रंभा जिसी ।
आठ वरसनी हूइ जिस्यइ, नाटक गीत कला अभ्यसइ ।
तेहनु 'कामकदला' नाम, रूप लिखिउं जाणि चित्राम ।
सीखइ भरह पिंगल सगीत, गायइ किन्नर सरिसु गीत ।

अनुक्रमि वेस्या यौवनि चडी, जाणइ मयण-नीर-बावडी ।
चउसठि कला अगि तसुवहइ, दीठिउ रूपि तेज तनि खसइ ।
सुखइ तिहा छइ कामकदला, सीखी सघली नाटिक कला ।
माधवानल नउ हिवइ सबध, कवियण वोलइ कथा प्रबध ।११९*

* माधवानल काम कदला चउपई पृष्ठ ३८२—३९१ ।

डा० परमात्मा शरण

ब्रिटिश-पूर्व तथा प्रारम्भिक ब्रिटिश भारत में व्यापार और जीवन बीमा

जीवन और सम्पत्ति का बीमा करने के आधुनिक प्रकारों और व्यवस्थाओं के आविर्भाव के पूर्व मानव-जीवन और यात्राधीन वाणिज्य वस्तुओं की सुरक्षा के लिए बीमा करने की एक उत्कृष्ट व्यवस्था सम्पूर्ण भारत में विद्यमान थी। इस व्यवस्था के अस्तित्व और इसकी कार्यपद्धति के सम्बन्ध में १८वी और १९वीं शताब्दी के अभिलेख विशेषतः जिलो के अभिलेखों में बहुत से उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि इनसे मिलने वाली सूचना इतनी कम है कि उसके आधार पर सम्पूर्ण व्यवस्था का वर्णन नही किया जा सकता, फिर भी उस व्यवस्था की मुख्य मुख्य बातें और उसकी कार्य पद्धति समझने के लिए यह जानकारी पर्याप्त है। इस बीमा व्यवस्था का सारे देश में बडा व्यापक प्रचार था, इस बात का प्रमाण देश के विभिन्न भागों से सम्बन्धित उल्लेखों से से ही नहीं अपितु कानपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर बनारस, पटना, मुर्शिदाबाद तथा भागलपुर प्रभृति बडे बडे व्यापारिक नगरो में, प्रायः बहुत से उन परिवारो में से भी मिलता है, जिनका नाम आज भी 'बीमावाला' है। इस नामकरण का कारण केवल यह है कि कुछ ही सौ वर्ष पूर्व, किसी समय इन परिवारों का एकमात्र अथवा मुख्य धन्धा यही बीमा व्यवसाय था। इन परिवारों के निजी अभिलेखों से निश्चय ही व्यापार की इस मुख्य शाखा के पूर्ण तथा रोचक विवरणों का उद्‌घाटन होगा, किन्तु अभी उनका अध्ययन नही हुआ है।

सामान्य सिद्धान्त और पद्धतियाँ

व्यापारिक निजी वस्तुओं का परिवहन उन दिनों जलमार्ग से अर्थात् नदियों और नहरों में चलने वाली नावों के द्वारा होता था या सडकों से। वस्तुओं के परिवहन तथा परिवहन-काल में उनकी सुरक्षा के निमित्त ऊपर उल्लिखित बीमा कम्पनियों या बीमा घरानों के बडे बडे प्रतिष्ठान थे। देश के अन्तर्गत विविध नगरों के बीच होने वाला व्यापार जोरो पर था जिसका प्रमाण विदेशी व्यापारियों तथा यात्रियों के विवरणों में मिलता है। उनके अनुसार नदियों के किनारे बसे नगरों के बंदरगाह हमेशा माल से

नदी हजारों नावों से भरे रहते थे। ये नावें सदा आती-जाती रहती थीं और इन से बंदरगाहों का रास्ता रुंधा-सा रहता था। जलमार्गों से होने वाले यातायात के ह्रास का कारण जितना रेलों की स्पर्धा है उतना ही 'ग्रान्डट्रंक रोड' का वर्धमान उपयोग। नदियों से नहरों का निकाला जाना भी इस ह्रास का एक कारण है क्योंकि इसमे नदियाँ छिछली हो गईं और नदियों के किनारे बसे नगरों को पानी की आपूर्ति करने वाले वाटरवर्क्स भी अंशतः इस सामान्य तथा शान्त दिनों में ह्रास के लिए उत्तरदायी है। बीमा की दरें वस्तु की मात्रा और मूल्य के अनुसार निश्चित होती थी, जिन्हें परिवहन शुल्क के साथ ले लिया जाता था परन्तु असामान्य दिनों में बीमे की धन-राशि केवल सन्निहित खतरे पर ही निर्भर नहीं थी अपितु बीमा करने वाले के चातुर्य और साहस पर ही निर्भर थी।

मान लिया बनारस के किसी व्यापारी को कोई सामान कलकत्ते के अपने किसी ग्राहक के पास भेजना है। वह उक्त सामान प्रापक के पूरे पते के साथ स्थानीय 'बीमा-वाली' कम्पनी को सौंप देगा और भाड़ा तथा बीमा-शुल्क दे देगा। अब यह उस बीमा कम्पनी का उत्तरदायित्व हो गया कि वह सामान को प्रापक तक सुरक्षित पहुँचा दे और उससे प्राप्ति-स्वीकृति की रसीद लेकर प्रेषक को सौंप दे। जो नगर नहरों और नदियों पर या उनके पास होते थे, उनमें माल ढोने के लिए नावों का उपयोग अधिक होता था, सड़कों का कम क्योंकि इससे समय की बचत होती थी। किन्तु स्थल-परिवहन की अपेक्षा जल-परिवहन को पसंद करने के अन्य कारण भी थे। आगरे के एक अधिकारी पोलोक ने इसके एक रोचक उदाहरण का उल्लेख किया है। उसने १८५० ई० से १८५६ ई० के बीच कभी लिखा है कि "इन मार्गों से कलकत्ता जाने वाली अधिकांश रुई नावों में जाती है और मार्ग में तीस-चालीस दिन लग जाते हैं। सड़क की अपेक्षा परिवहन के इस साधन को पसन्द करने के दो कारण हैं। एक तो यह कि समय बचता है। दूसरे वातावरण की नमी से रुई का वजन बढ़ जाता है जिससे व्यापारी को कुछ अधिक प्राप्ति हो जाती है। इसलिए यद्यपि वह जल परिवहन में १।।) प्रतिमन नाव के भाड़े के तथा २।।।) बीमे के देकर कुल ४।) प्रति मन व्यय करता है, जबकि स्थल-परिवहन में २।।) किराए के तथा ।।=) बीमे के मिलकर कुल ३।।।) ही लगते; फिर भी वस्तु के बढ़े हुए वजन पर मिलने वाले अतिरिक्त लाभ से परिवहन पर हुए व्यय की भली-भाँति क्षति-पूर्ति हो जाती है।"[1] उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि जल-परिवहन का बीमा शुल्क स्थल-परिवहन से कहीं अधिक होता था और स्पष्ट: इसका कारण यही था कि माल से खचाखच भरी हुई नावों में खतरे की सम्भावना अधिक थी; किन्तु नावों के रख-रखाव का खर्च अपेक्षाकृत बहुत कम होने के कारण उनका किराया भी उसी अनुपात में कम था। प्रसंगत: इस विवरण से यह भी प्रमाणित हो जाता है कि १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भी सड़कें पूर्ण रूप से सुरक्षित थीं।

---

१. इंडिया ऐनशिएंट एण्ड माडर्न, जानविलियम कायें, इलस्ट्रेटेड बाई विलियम सिम्पसन (१८६८), पृ० १०, स्तंभ २।

इस प्रकार विभिन्न बीमा-कम्पिनियाँ सभी आकारों की बहुत-सी नावें और आवश्यक कामगार रखती थी, जिनमें नाविक और सशस्त्र रक्षक मुख्य थे। इसी भाँति गाड़ियों की तथा उनके कामगारों की व्यवस्था भी थी। यह भी सुविदित है कि बीमा बहुत लाभ-प्रद था और बड़े व्यापारिक नगरों के कुछ अत्यन्त धनाढ्य और प्रमुख परिवार यह धंधा करते थे। अभी कुछ समय पूर्व तक बनारस में ऐसे व्यक्ति मिल जाते थे जिन्हें इस बात की स्पष्ट स्मृति थी कि उनके पितामहों का मुख्य धंधा १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मालगाड़ियों के चलन तक, बीमा ही था। लगभग सभी विदेशी यात्रियों और व्यापारियों ने इस बात को प्रमाणित किया है समस्त तटीय नगरों के मल्लाह जाति बहुत बड़ी जन संख्या में रहती थी जिसका व्यवसाय सुदूर क्षेत्रों में मालवाली तथा यात्रियों की नावें ले जाना था। नदियों द्वारा होने वाला यातायात विशेषत: माल-यातायात अपेक्षाकृत इतना सस्ता था कि रेलवे के लिए भी उससे स्पर्धा करना असम्भव हो गया। इस स्थिति में सरकार ने नदी यातायात को निर्दयतापूर्वक समाप्त ही कर दिया। परिणामस्वरूप सहस्रों मल्लाह बेकार हो गए।[२]

देहली रेजीडेंसी और एजेंसी के अभिलेखों (जिल्द १, १८०७–१८५७, पंजाब गवर्नमेन्ट रिकार्डस) से ज्ञात होता है कि काबुल और देश के भीतरी शहरों में देहली, आगरा, कानपुर लखनऊ, फर्रुखाबाद आदि तथा और भीतर के क्षेत्रों के बीच बादाम तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं का व्यापार बहुतायत से होता था। इसी प्रकार की वस्तुएँ देश में समुद्री मार्ग द्वारा सूरत और बम्बई बन्दरगाहों से आयात की जाती थीं। परिवहन का खर्च इतना अधिक होता था कि अपने उत्पादन स्थान काबुल से नौगुने और दस गुने दामों में ये वस्तुएँ आकर यहाँ बिकती थी। परन्तु मार्ग सुरक्षित थे, इस कारण बीमा-शुल्क अपेक्षाकृत बहुत कम था। चुंगी और परिवहन का सामान्य व्यय मिलाकर तो ३६३ प्रतिशत हो जाता था, जब कि बीमा-शुल्क केवल २½ से ५ प्रतिशत तक ही पड़ता था।[३]

यूरोपीय नदी बीमा कम्पनियाँ

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में नदी बीमा व्यवसाय करने वाले स्वदेशी बीमा परिवारों की नदी बीमा कम्पनियाँ स्थापित हुई। कलकत्ते की 'रिवर इन्शोरेन्स कम्पनी'

---

२ रेल व्यवस्था डलहौजी के समय से प्रारम्भ हुई। यद्यपि पहली भारतीय रेलवे लाइन की योजना १८४३ ई० में मैकडोनल्ड स्टिफेंसन ने बनाई थी, किन्तु उसका कार्यान्वयन न हो सका। डलहौजी ने मुख्य लाइनों की योजना बनाई और उन पर पूँजी लगाने का ठेका इंगलैंड की कम्पनियों को दिया जिन्हें कम से कम ५% की गारंटी भारत की ब्रिटिश सरकार ने दी। इस ५% का वितरण उनके पूँजी नियोजन के अनुसार होता था। इनके बाद धन बचे तो उसका निबटारा सरकार और शेयर होल्डरों में होता था। बाद में मेयो के काल में फीडर ब्रांच लाइनें बनीं और कुछ स्थानीय कम्पनियों तथा भारतीयों से अपनी लाइनें बनवाने की अनुमति दी गई।

३. देहली रेजीडेंसी तथा एजेंसी रिकर्डस (जिल्द १ पृ० २३५) में दिल्ली के सिविल कमिश्नर (१८२०) टी० फोर्टेस्यू का प्रतिवेदन देखिए।

ने २० फरवरी १८१७ ई० को निम्नलिखित विज्ञापन प्रकाशित किया था। "यह विज्ञापित किया जाता है कि बुरे मौसम की प्रीमियम दरें अगले माह की पहली तारीख से प्रारम्भ होकर आगामी ३० सितम्बर तक इस प्रकार रहेंगी—तीन प्रतिशत और इससे अधिक की वर्तमान दरों पर एक प्रतिशत की वृद्धि।

समिति की आज्ञा से
ह० हेनरी मैथ्यू सचिव।

सूचना:—

सामान लेने और कार्यालय में कर्मचारियों की निगरानी में पुराने मार्ग व्यय पर यथास्थान पहुँचाने के लिए घाट पर नावें सदैव तैयार रहती हैं।

कलकत्ता फरवरी २०, १८१७[४]।

उक्त रोचक दस्तावेज से प्रसगतः यह भी मालूम हो जाता है कि बरसात के दिनों में अधिक खतरा होने के कारण शुल्क की दरें भी उसी अनुपात में बढा दी जाती थी।

हानि पूर्ति—

पुराने अभिलेखो में हमें हानिपूर्ति का भी एक उदाहरण मिलता है।[५] 'इंडियन ओक' नामक एक माल ढोने का जहाज जब कलकत्ते के एक नए लगर पर खड़ा था तब पाल जोन्स नामक किसी (एक समुद्री लुटेरा) व्यक्ति ने उसमें आग लगा दी। यद्यपि आग तुरन्त बुझा दी गई जिससे विशेष हानि नहीं हो पाई, फिर भी जहाज को निश्चित समय से कुछ दिन अधिक रुकना पडा और इस कारण काफी हानि हुई। इस घटना से उत्पन्न समस्याओं पर विचार करने के लिए कलकत्ते की कई बीमा-कम्पनियों के अधिकारियों की एक बैठक हुई जिसमें निम्नलिखित निर्णय किए गये—

(अ) 'इंडियन ओक' में आग लगाए जाने के प्रयत्न के कारणो तथा पृष्ठ-भूमि के सम्बन्ध में ठीक-ठीक और पूरी-पूरी जाँच की जाय।

(ब) जहाज के मालिक को उसकी मरम्मत का पूरा खर्च दिया जाय।

(स) जिन व्यक्तियों का समान जहाज पर था उन्हें उनकी हानि के फलस्वरूप बीमा-पालिसियों की राशि के १२% प्रतिवर्ष दर से तब तक का मुआवजा दिया जाय, जब तक जहाज रुका रहा।

(द) जहाज के मालिक को अभियुक्त के ऊपर मुकद्मा चलाने का खर्च दिया जाय। इसके अतिरिक्त यह प्रस्ताव भी पास हुआ कि कलकत्ता नगर के एक दडाधिकारी विलियम रुम्बोल्ड को सभा की ओर से सर्वसम्मत धन्यवाद प्रेषित किए जाँय जिन्होंने

४. सेलेक्शन्स फ्राम कलकत्ता गजट्स, जिल्द-५ (वर्ष १८१६-१८२३), एच० डी० संडेमन; पृ० ६६।
५. वही पृ० १३५-१३६।

आग बुझाने में प्रशंसनीय श्रम किया और 'इंडियन ओक' को पूर्णतः ध्वस्त होने से बचा लिया।

प्रसगतः इस विवरण से हमें यह पता चलता है कि नावो और जहाजो तथा उनपर लादे जाने वाले माल के लिए नियमित पालिसियाँ लेने की एक पद्धति प्रचलन में आ चुकी थी। यह पद्धति स्पष्टतः अंग्रेजी बीमा-कम्पनियो ने प्रदान की थी और इसके पहले पालिसियो का क्या रूप था, यह अभी खोज का विषय है।

रक्षाके दिनों में बीमा

सर जान मालकोम ने अपने 'मेम्वायर ऑव सेंट्रल इंडिया एण्ड मालवा' जिल्द-२ (१८३२ तृतीय सस्करण) में एक असामान्य प्रकार के व्यापार-बीमा का उल्लेख किया है, जिसका प्रचलन साध्वी रानी अहिल्याबाई की मृत्यु (१७९५ ई०) के पश्चात् मध्य-भारत में हुआ और लगभग १८३० तक के उपद्रवग्रस्त समय में रहा। इस अवधि में ऐसा कोई विशाल व्यापारिक उपक्रम एक फौजी साहस की वस्तु अधिक था, उद्योगों व्यापारियो का व्यवसाय कम। 'प्रत्येक व्यापारी सशस्त्र सैनिक रखता था, मत्रियो और सेनापतियो से सम्बन्ध स्थापित करता था, डाकुओ और लुटेरो से मेल रखता था, और अपने माल की रक्षा सेना की सामग्री की भांति करता था। उज्जैन, इदोर तथा मदसोर की बीमा-कम्पनियाँ छोटी सैनिक टुकडियाँ रखती थी। जिनका व्यय मालवा, गुजरात, दकन और हिन्दुस्तान के बीच आयात और निर्यात होने वाली सभी वस्तुओ पर ली जाने वाली प्रीमियम की मोटी मोटी राशियो से निकलता था। इन कम्पनियो का अपने समय के बड़े बड़े डाकुओ को बडी बडी रिश्वतें देनी पडती थी जिनकी माँगें बहुत बहुत बडी और अनिश्चित होती थी। जोर देने के लिए उत्थान काल (१७९५-१८१८) कहे जाने वाले इस अराजकतापूर्ण समय में, जब मालकाम की नियुक्ति मध्यभारत के सिविल और सैनिक उच्चाधिकारी के रूप में हुई, बीमा की दरें आकाश छू रही थी और बहुत सीमित वस्तुओ का बीमा करने की व्यवस्था थी। अन्न, नमक, लकडी तथा पशु आदि का बीमा कतई नही लिया जाता था। किन्तु चूंकि छोटे से छोटे राज्यों के शासक और राजा भी अपने राज्य से गुजरने वाले माल पर सभी प्रकार तम्बे लम्बे कर लगाने लगे थे, इसलिए बीमा करने वाले, अफीम, चाँदी और जवाहरात जैसी मूल्यवान वस्तुओ के खतरे या क्षय के लिये ही बीमा नही करते थे अपितु परिवहन-व्यय तथा सभी करो और चुगियों के भुगतान का दायित्व भी ले लते थे। प्रत्येक मराठा और राजपूत सरदार उन सभी पशुओं और सामानो पर चुगी लेने लगा था, जिनके लिए छूट की आज्ञा न दे दी गई हो। नदियो के घाटो पर भी चुंगी थी। यही नही, पैदल यात्रियों से भी कुछ न कुछ कर वसूल ही लिया जाता था। इस प्रथा से परेशानी तब खडी हो जाती थी, जब क्षेत्रो की सीमाओ के मिले-जुले तथा अस्पष्ट होने के कारण कही कम तो कही अधिक चुंगी देने के स्थानो की सख्या बडी लम्बी चौडी हो जाती थी। व्यापारी लोग प्राय इस झझट से बचने का प्रयत्न करते थे और इसके लिए ऐसे व्यक्तियों का सहारा लिया। करते थे जो किसी

निश्चित राशि के बदले माल को अभिप्रेत स्थान तक पहुँचायें ही नहीं, वरन् सारे करों की अदायगी या ठेका भी ले लें। इन कम्पनियों को 'हुडा भाडावाल' और इनके व्यापार में 'हुडा भाडा' कहा जाता था। 'हुडा' का अर्थ 'भुगतान' और 'भाडा' का अर्थ है 'परिवहन का ठेका'। ये व्यक्ति और कम्पनियाँ अशतः ईमानदारी से किन्तु अधिकता कर-विभाग के प्रभारी अधिकारियों से साँठ-गाँठ करके काफी पैसा पैदा कर लेती थी, जिससे सरदारो की आय बहुत कुछ मारी जाती थी। कभी कभी तो ये लोग स्वय ही चुंगीघर के किरायेदार या ठेकेदार होते थे।

केवल धनिक ही इस व्यापार को कर सकते थे। इनका प्रभाव बनजारों और जानवरो के मालिको पर उतना ही अधिक होता था, जितना राजस्व मे लगे साहूकारो का किसानो पर था। ये लोग बजारो का ब्याज की ऊँची ऊँची दरो पर रुपया उधार देते थे और इस नौकरी का एकाधिकार प्राप्त कर लेते थे। इस ढग मे उनका रुपया भी सुरक्षित हो जाता था और वाहन उन्ही के ऊपर निर्भर हो जाते थे। इन साधनों के अतिरिक्त वे अपने अधीन होने वाले परिवहन-व्यापार को किसी मार्ग में ही जब चुगी के किराएदार नही होते थे सचालित करने में समर्थ थे। फलत चुंगी के अधिकारी उनसे समझौता करने के लिए विवश थे। इस प्रभाव के कारण ये ठेकेदार भारी भारी कर दिए बिना ही व्यवसायियो का माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया करते थे।

मालकोम ने मध्य-भारत की अपने शौर्य और साहस के लिए प्रसिद्ध एक बीमा कम्पनी से सम्बन्धित एक अत्यन्त मनोरजक घटना का उल्लेख किया है। सन् १८०१ ई० में पिंडारियों से घिरे इन्दौर पर महादजी के आक्रमण से कुछ मास पूर्व मिर्जापुर में छह लाख रुपए का सामान माहीनदी के पार गुजरात जाने के लिए रुका पडा था। माल से भरी गाडियो के लिए दूरी अधिक नही थी, केवल सात या आठ पडावो का मामला था, वाहको को सरक्षण प्रदान करना अस्वीकृत कर दिया गया था, फलत खतरा बढ गया था। पूरनशाह मानसिंह फर्म के प्रमुख केवलजी ने २४००० रुपए प्रीमियम के तौर पर माँगे। सन्निहित खतरे और कम्पनी की साख को ध्यान में रखकर व्यापारियो ने रुपया देना तुरन्त स्वीकार कर लिया। केवलजी की स्थायी नौकरी में २०० सशस्त्र सैनिक पहले से ही थे, ४०० आदमी उसने और बढा दिए। इसके अतिरिक्त रक्षण के उसने ५००० रु० व्यय करके इन्दौर के जिलाधीश कृष्ण जी मूलजी से अतिरिक्त रक्षण के रूप में ३०० घोडे और २ बन्दूकें ले ली। वाहको का मुखिया वह स्वय बना और माही के पार गुजरात राज्य में सारा सामान सुरक्षित पहुँचा आया। उक्त फर्म के तत्कालीन व्यवस्थापक सीताचन्द ने मालकोम को इस मामले का विवरण निम्न प्रकार दिखलाया—

प्राप्त प्रीमियम	२४००० रु०
खर्च	१८००० रु०
लाभ	१०००० रु०

"सीताचन्द्र ने आगे कहा कि कोई भी बीमा वाला यह खतरा उठाने का साहस नहीं कर सकता था, लेकिन मेरे भाई केवलजी की छाती बड़ी थी, बहुत बड़ी थी।"

समुद्री मार्ग से जाने वाले माल का बीमा—

आन्तरिक परिवहन में माल का बीमा करने के अतिरिक्त पूर्वी द्वीप समूह तथा इंगलैंड और यूरोप के अन्य देशों के बीच आने जाने वाले सामान का भी बीमा होता था।

६, द गुड ओल्ड डेज आव दि आनरेबुल जान कम्पनी, डबल्यू० एच० कैरी (कैम्ब्रे एण्ड कम्पनी द्वारा प्रति मुद्रित), जिल्द १, पृ० ८८।

४

प्रकाशन

"अनुसंधान के मूल-तत्त्व।" हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में संलग्न शोध-छात्रों के लिए अनुसंधान-विषयक उपयोगिता-पूर्ण सामग्री। अनुसंधान के सिद्धान्त, पुस्तकालयों का उपयोग, शोध-प्रबन्ध की तैयारी, हस्तलिखित ग्रन्थों से आवश्यक सामग्री-चयन करने की पद्धति आदि महत्त्वपूर्ण, विषयों पर प्रामाणिक लेख तथा हस्तलिखित ग्रन्थों में प्रयुक्त अक्षरों, मात्राओं, अंकों के दर्शक-फलक सहित।

मूल्य २) रु० मात्र।

× × × × विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित अली आदिलशाह के काव्य-संग्रह पर प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने यह सम्मति दी है —

× × × × आप और आपके सहयोगी दक्खिनी बोली में प्राचीन हिन्दी की काव्य-निधि को नागरी लिपि में लाकर आधुनिक—भारतीय भाषाओं के अत्यन्त महत्ता के विपुल कार्य को कर रहे हैं। अली आदिलशाह ...

प्रकाशन

"अनुसंधान के मूल-तत्त्व।" हिन्दी साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में संलग्न शोध-छात्रों के लिए अनुसंधान-विषयक उपयोगिता-पूर्ण सामग्री। अनुसंधान के सिद्धान्त, पुस्तकालयों का उपयोग, शोध-प्रबन्ध की तैयारी, हस्तलिखित ग्रन्थों से आवश्यक सामग्री-चयन करने की पद्धति आदि महत्त्वपूर्ण, विषयों पर प्रामाणिक लेख तथा हस्तलिखित ग्रन्थों में प्रयुक्त अक्षरों, मात्राओं, अंकों के दर्शक-फलक सहित।

मूल्य २) रु० मात्र।

× × × × विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित अली आदिलशाह के काव्य-सग्रह पर प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने यह सम्मति दी है —

× × × × आप और आपके सहयोगी दक्खिनी बोली में प्राचीन हिन्दी-साहित्य की काव्य-निधि को नागरी लिपि में लाकर आधुनिक—भारतीय भाषाओं के अध्ययनार्थ एक अत्यन्त महत्ता के विपुल कार्य को कर रहे हैं। अली आदिलशाह के कुल्लियात का सम्पादन बहुत ही सुन्दर ढग से हुआ है। प्रत्येक कविता के बाद शब्द—टिप्पणी का देना मुझे बहुत ही पसन्द आया।

× × × ×

प्राप्ति स्थान :—

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के प्रकाशन

"भारतीय साहित्य।" त्रैमासिक मुखपत्र। वर्षभर में ८०० पृष्ठों गवेषणापूर्ण सामग्री। वार्षिक मूल्य—१२, रु०। एक प्रति—५, रु०। वर्ष के सजिल्द अंक १८,रु०; अजिल्द—१६, रु०। जनवरी १९५६ से प्रारम्

"ग्रंथ-वीथिका।" अलभ्य एवं अप्रकाशित हस्तलिखित तथा अप्राप्य मुद्रित का संग्रह। १९५६ के अंक में नौ ग्रंथ हैं और १९५७ के अंक में ग्रंथ हैं। मूल्य—१०, रु

"हिन्दी धातु-संग्रह।" प्रसिद्ध भाषातत्त्ववेत्ता हार्नले के निबन्ध का हि रूपान्तर। मूल्य—२, रु०

"जाहरपीर गुरु गुग्गा।" सं०—डा० सत्येन्द्र। जाहरपीर का लोक तथा उसकी गवेषणापूर्ण विवेचना। मूल्य—३·५०, रु

"भारतीय ऐतिहासिक उपन्यास।" प्रमुख भारतीय भाषाओं में ऐतिहासि उपन्यासों के विकास का अध्ययन। मूल्य—२·५०, रु०

"छन्दोहृदयप्रकाश।" मुरलीधर कविभूषण कृत।
सं०—डा० विश्वनाथ प्रसाद। मूल्य—५, रु

"मानस में उक्ति-सौष्ठव"। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र। मूल्य—२५, न० पै०

"अनुसंधान के मूल तत्त्व"। सं०—डा० विश्वनाथप्रसाद। मूल्य—२, रु०

"अली आदिलशाह का काव्य-संग्रह।" स०—श्री श्रीराम शर्मा श्री मुबारिजुद्दीन रफत। मूल्य—४·५०, रु०

"शोला का काव्य-संग्रह।" (मुं० बनवारीलाल 'शोला' सं०—डा० विश्वनाथ प्रसाद। मूल्य—७, रु०

प्रेस में

"चदायन।" (मुल्ला दाऊद) स०—डा० विश्वनाथ प्रस

"पद्मावत।" (अलाउल) स०—डा० सत्येन्द्रनाथ घोष

"पिंगल-संग्रह।" मध्यकालीन पिंगल-संबंधी ग्रंथो का संग्रह। सं०—डा० विश्वनाथ प्र

"नजीर का काव्य-संग्रह।" स०—डा० विश्वनाथ प्रस

"तुलनात्मक भाषाविज्ञान।" (भाग १) ले०—एफ० एफ० फर्तुनात
अनु० डा०—केसरी नारायण शु

"बंगाल की ब्रज-बोली।" (पद-शतक) स०—डा० सत्ये

"ब्रज-लोकवार्ता-कोश।" स०—डा० सत्ये

"शशिमाला-कथा।" (दयाल) स०—श्री उदय शङ्कर शास

"नल-दमन।" (सूरदास) सं०— { डा०—वासुदेव शरण अग्रवा, श्री—दौलतराम जुयाल। }